गोस्वामि–श्रीपुरुषोत्तम–विरचित–ग्रन्थमालायाः–प्रथमं–प्रसूनं

वेदान्ताधिकरणमाला

भाष्यप्रकाशिका

(सूत्रवृत्तिरूपा)

चेति ग्रन्थद्वयात्मकम्

पुष्टि–प्रकाशन

वि. सं. : २०३८ श्रीवल्लभाब्द : ५०३

प्रकाशक :

पुष्टि प्रकाशन
अडैल, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य मार्ग,
नया शहर, किशनगढ़, राजस्थान,
३०५ ८०२, भारत ।

प्रथम संस्करण : सं. १९७९–१९८२
द्वितीय संस्करण : सं. २०३८
प्रति : १००० ।

मुद्रक :
वी. वरदराजन
एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एंड प्रिंटर्स
५०५ तारदेव, आर्थर रोड,
बम्बई, ४०००३४.

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

प्राक्कथन

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण द्वारा विरचित अणुभाष्यके तात्पर्यको हृदयंगत करना हो तो सरल तथा सुनिश्चित उपाय है: सर्वप्रथम वेदान्ताधिकरणमाला पढ़नी चाहिये। तदनन्तर भावप्रकाशिका पढ़नी चाहिये। और सर्वान्तिमें भाष्यप्रकाशके साथ अणुभाष्य पढ़ने पर प्रायः सभी ग्रन्थग्रन्थियाँ सुलझ जाती हैं।

अणुभाष्यको यदि गायत्रीरूप माना जाये तो ये तीन ग्रन्थ व्याहृतीरूप हैं– "भूः भुवः स्वः" के जैसे !

इनमें वेदान्ताधिकरणमाला और भाष्यप्रकाश को तो निर्विवाद रूपमें गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीके द्वारा विरचित माना जाता है। भावप्रकाशिका के बारेमें किन्तु सम्प्रदायके विद्वानोंमें कुछ विसंमति दिखलायी पड़ती है। कुछ लोग इसे श्रीपुरुषोत्तमजीकी कृति न मान कर इनके गुरु श्रीकृष्णचन्द्रजीकी कृति मानते हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि यदि यह स्वयं श्रीपुरुषोत्तमजीकृत भी हो तो उन्होंने भी लिखी तो है अपने गुरु श्रीकृष्णचन्द्रजीके नामसे ही। वाल्लभ सम्प्रदायकी साहित्यसेवा करनेवाले अपरपुरुषोत्तम श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाको भी जो आदर्श पाण्डुलिपि मिली थी, वह ग्रन्थकारके निजहस्ताक्षरोंमें लिखित थी। और आज भी इस मुद्रित प्रतिमें प्रथमाध्यायके प्रथम और द्वितीय पादोंकी पुष्पिकामें हमें अधोनिर्दिष्ट शब्दावली मिलती है:

(क) **"इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणनखचन्द्रकिरणसुधासंसिक्तहृदयश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां तच्छिष्यपुरुषोत्तमसंग्रहीतायां भावप्रकाशिकायां..."**

(ख) **"...श्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां तच्छिष्यपुरुषोत्तमलिखितायां भावप्रकाशिकाभिधायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ..."**

भावप्रकाशिकाको श्रीकृष्णचन्द्रजीकी कृति माननेमें एकमात्र आधारभूत सूचना इतनी सी ही है, परन्तु यह स्वयं श्रीपुरुषोत्तमजी द्वारा निजहस्ताक्षरोंमें लिखित होनेपर भी कितनी अनिश्चयप्रद सूचना है, यह श्रीपुरुषोत्तमजीके लेखनसे परिचित एक साधारण विद्यार्थी भी समझ सकता है।

फिर भी युगोचित मांगके अनुरूप, सम्प्रदायमें अनेक विद्वान् और लेखकोंको खोज निकालनेकी लालसाके विवश तेलीवाला जैसे महान् शोधकर्ताओंकी अनिश्चयात्मिका मनोवृत्तिने अनेक विद्वानोंको सन्देहग्रस्त कर रखा है। परिणामस्वरूप आज भी कई विद्वान् इस 'भावप्रकाशिका' ग्रन्थको श्रीपुरुषोत्तमजीकी कृति माननेको उद्यत नहीं हैं। अतएव इस प्राक्कथन द्वारा कुछ ठोस हेतुओंपर हम विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। हमारी सुदृढ़ धारणा है कि यह कृति श्रीपुरुषोत्तमजीकी ही है और इसके समर्थनमें ये अधोनिर्दिष्ट हेतु हमारी समझमें आते हैं :

(१) केवल भावप्रकाशिका ही नहीं अपितु अन्य भी अनेक स्वरचित ग्रन्थ श्रीपुरुषोत्तमजीने अपने संमान्य गुरुजनोंके नामसे लिखे हैं :

उदाहरणतया–

दशमस्कन्ध-सुबोधिनी-प्रकाश
तत्त्वार्थदीपनिबन्धपर आवरणभंग व्याख्या
पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवरण

ये ग्रन्थ श्रीपुरुषोत्तमजीने अपने जनकपिता श्रीपीताम्बरजीके नामसे लिखे हैं।

भावार्थपादभाष्यविवरण

यह ग्रन्थ अपने पितामह श्रीयदुनाथजीके नामसे लिखा है।

विवेकधैर्याश्रयविवृति
कृष्णाश्रयविवृति

ये दोनों ग्रन्थ अपने धर्मपिता श्रीव्रजरायजीके नामसे लिखे हुए प्रतीत होते हैं।

एक रोचक तथ्य यह भी है कि कभी-कभी श्रीपुरुषोत्तमजी ग्रन्थोंमें अपनी स्वीकारोक्ति भी लिख देते हैं कि पुष्पिकामें दिये गये नामके विपरीत ये कृतियाँ स्वयं श्रीपुरुषोत्तमजीकी ही है। उदाहरणतया प्रहस्तवादके उपसंहारमें श्री पुरुषोत्तमजीने स्वीकारा है कि–

" इत्येवं श्रीमदाचार्यचरणाब्जप्रसादतः।
आद्यं वादं निजकृतौ व्यावृणोत्पुरुषोत्तमः॥"

इसके बावजूद तत्त्वार्थदीपनिबन्धकी व्याख्या आवरणभंग, जो आपने अपने जनकपिताके नामसे* लिखी है, में पुनः यह भी स्वीकार लेते हैं कि "इदं यथा तथोपपादितं मया विद्वत्करभिन्दिपाले प्रहस्ते च"।

प्राचीन कालमें राजाश्रित पण्डित बहुधा निज आश्रयदाता राजाको प्रसन्न करने के लिए स्वनामके बजाय अपने आश्रयदाताके नामसे ग्रन्थप्रणयन करते थे। यह सहज ही किसीको चाटुकारिताकी मनोवृत्ति लग सकती है। परन्तु श्रीपुरुषोत्तमजीका स्वनामके बजाय अपने जनकपिता, पितामह, धर्मपिता या गुरु के नामसे ग्रन्थप्रणयन चाटुकारिता नहीं है। यह तो गुरुजनोके प्रति आदर और समर्पण का ही भाव है।

निष्कर्षरूपेण भावप्रकाशिका सूत्रवृत्ति भी यदि श्रीपुरुषोत्तमजीने स्वगुरुके नामसे लिखी हो तो कोई अनहोनी बात नहीं है।

(२) दूसरी बात लक्ष्यमें रखने लायक यह है कि इस सूत्रवृत्तिके कर्ता यदि सचमुचमें श्रीकृष्णचन्द्रजी होते, अर्थात् श्रीपुरुषोत्तमजी केवल संग्रहकार या लिपिकार मात्र होते, तो ग्रन्थकी पुष्पिकामें अपना नाम देनेके बजाय, प्रचलित परिपाटीके अनुसार, ग्रन्थके अन्तिम पृष्ठपर इस बातका उल्लेख करना उचित था। ग्रन्थके मध्यमें (प्रथमाध्याय प्रथमपाद तथा प्रथमाध्याय द्वितीयपाद की पुष्पिकामें) स्वनामका उल्लेख, केवल लिपिकार होनेसे कुछ अधिकताकी ओर संकेत है।

---

* "इति श्रीमद् वल्लभाचार्यचरणनखचन्द्र-चन्द्रिकानिरस्तहार्दतमसः तद्दासस्य गोस्वामि-श्रीयदुपतिसुतस्य श्रीपीताम्बरस्य कृतौ तत्त्वदीप-प्रकाशावरणभंगे शास्त्रार्थप्रकरणं प्रथमं सम्पूर्णम्"।

इससे भी सिद्ध होता है कि भावप्रकाशिका श्रीपुरुषोत्तमजीकी ही कृति है।

(३) सरल-शब्दाडम्बररहित, स्फुट-नपेतुले शब्द प्रयोग, प्रौढ़-विचारगंभीर तथा नातिसंक्षिप्त-नातिविस्तृत शैलीमें लेखन श्रीपुरुषोत्तमजीकी विशेषता है। ये गुण भाष्यप्रकाश और भावप्रकाशिका में समानरूपमें उपलब्ध होते हैं। दोनों ग्रन्थोंमें प्रतिपाद्य विषयक्रमकी एकरूपताके अलावा पूर्वोत्तरभावसे परिमार्जित रूप भी स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। अतः अन्यान्य विद्वानोंकी धारणाके विपरीत हमें यह कहनेको बाधित होना पड़ता है कि पहले भावप्रकाशिका नहीं लिखी गयी किन्तु पहले भाष्यप्रकाश लिखा गया है। अतएव भावप्रकाशिकाकी भाषा तथा निरूपणशैली कुछ अधिक परिमार्जित सी दिखलायी देती है।

उदाहरणतया—

भाष्यप्रकाश : "प्रकाशाश्रयवदिति। प्रकाशस्याश्रयाः प्रकाशाश्रयास्तेरतुल्यम्। प्रथमार्थे वति। सूत्रं व्याकुर्वन्ति 'वा शब्द' इत्यादि। पूर्वाधिकरणे अहिकुण्डलनदृष्टान्तेन एकस्य ब्रह्मणः सधर्मकत्वनिर्धर्मकत्वसिद्धया धर्माणामपि ब्रह्मरूपत्वमेव सिद्धम्, अत्र तु धर्मधर्मिणोर्भेदाभेदः साध्यते। अन्यथा एतत्सूत्रवैयर्थ्यमेव स्यात्। भिन्नाभिन्नत्वं कार्यकारणभावेन पटतद्रूपयोः, धर्मधर्मिभावेन जातिव्यक्त्योः दृष्टम्...ब्रह्मतद्धर्मौ कार्यकारणभावेन एकरूपौ न भवतः, किन्तु यथा प्रकाशाश्रयाः सूर्यादयः प्रकाशेन सह न भिन्नाः, न विनाभूताः, नित्यसंहचारिण इति यावत्...प्रकाशरूपं वस्तु मूलाद् भिन्नमप्यभिन्नमेव उत्पत्तिसिद्धमिति मन्तव्यम्। युक्तिभिरनुचिन्तनीयम्। यथा अमित्रो न मित्रं, न मित्राभावः, किन्तु मित्रविरुद्धसम्पत्। यथा च अविद्या न विद्या, न विद्याभावः, किन्तु विद्याविरुद्धं भावरूपम् अज्ञानम्। एवं प्रकाशतदाश्रययोरभेदोपि न भेदः न भेदाभावः, किन्तु भेदविरुद्धसम्पदेव भावरूपः इति विभावनीयम्। सा च सम्पत् भावरूपत्वे सति स्वाश्रयाविनाभूतत्वं तद्विहाय अवर्तमानत्वमिति यावत्" (३-२-२८)।

भावप्रकाशिका : "प्रकाशाश्रयवत्। प्रकाशस्याश्रयाः प्रकाशाश्रयाः सूर्यादयः तद्वत्। ते यथा प्रकाशेन विनाभूताः कदापि न सन्ति, प्रकाशस्य ततः

पृथक्स्थित्यभावात्, तत्स्वाभाविकधर्मत्वात्। तदविभक्तरूपेण तदाधारतया स्थितत्वाच्च। नापि स सूर्य एव भिन्नप्रतीतेर्विद्यमानत्वाच्च। अतः प्रकाशरूपं वस्तु स्वाश्रयाद् भिन्नाभिन्नमेव निसर्गसिद्धम्। एवं ब्रह्मधर्मा अपि ब्रह्मणः सकाशाद् भिन्नाभिन्ना इति मन्तव्यम्। तथा च यथा अमित्रो न मित्रं, न मित्राभावः, किन्तु मित्रविरुद्धसम्पत्। एवमत्राप्येतयोरभेदो न भेदः, न भेदाभावः, किन्तु भेदविरुद्धसम्पदिति धर्माणां न कार्यत्वं, नापि ब्रह्मत्वं, किन्त्वेवं ब्रह्माभिन्नत्वम् इत्यर्थः, अस्मिन्नभेदे भेदविरुद्धा सम्पत्तु, भावरूपत्वे सति आश्रयाविनाभूतत्वं, तद्विहाय अवर्तमानत्वमितियावत्, तादृशी बोध्या" (३।२।२८)।

इन उद्धारणोंके अध्ययन करनेसे यह बात बिलकुल साफ हो जाती है कि पहले भाष्यप्रकाश लिखा गया है और बादमें अनपेक्षित विस्तारकी कांट-छांट करके, अस्पष्ट वाक्योंको अधिक चुस्त कसीली तथा स्पष्ट भाषामें परिमार्जित करके भावप्रकाशिका वृत्ति संकलित की गयी है।

इससे भी यही सिद्ध होता है कि यह श्रीपुरुषोत्तमजीकी कृति है।

(४) चौथी एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि भावप्रकाशिकामें— "शंकराचार्यमते जन्माद्यधिकरणं दशसूत्रम्। तत्र सूत्रद्वये पृथक्नामरूपकर्तृत्वप्रतिज्ञा शेषेष्वष्टसु हेतूक्तिरिति" यह एक त्रुटिपूर्ण विधान उपलब्ध होता है। क्योंकि शांकर भाष्यके अवलोकन करनेपर यह बात बिलकुल निराधार सिद्ध होती है।

अब मान लिया जाये कि यह अपदार्थ इदंप्रथमतया श्रीकृष्णचन्द्रजीकी असावधानिका दुष्परिणाम है। साथ ही साथ यह भी मान लिया जाये कि श्रीपुरुषोत्तमजीने भाष्यप्रकाश, श्रीकृष्णचन्द्रजी द्वारा विरचित इस भावप्रकाशिकामें ही थोडेसे हेरफेरके साथ, कुछ विस्तारपूर्वक लिखा है। फिर भी इतनी बड़ी असावधानि श्रीपुरुषोत्तमजीके कोटीके विद्वानमें सहसा दृष्टिगत हो नहीं सकती। यदि यह श्रीकृष्णचन्द्रजीकी गलती होती तो श्रीपुरुषोत्तमजीने उसका बचाव या परिहार किया ही होता। प्रतीत होता है कि किसी कारणवश, पूर्वपक्षीके मतको उद्धृत करनेमें सदैव सावधान श्रीपुरुषोत्तमजी ही इस प्रसंगमें मूलग्रन्थके बजाय स्वयंकी स्मृतिपर ही निर्भर होकर यह निरनुयो-

ज्यानुयोग कर बैठे हैं भाष्यप्रकाशमें। अब भावप्रकाशिका, क्योंकि पश्चात्कालमें भाष्यप्रकाशको ही आधार मान कर संकलित की गयी है, परिणामतः भाष्य-प्रकाशगत त्रुटियोंका पुनरावर्तन भी सहज ही सम्भव बन गया है।

इससे भी सिद्ध होता है कि भावप्रकाशिका श्रीकृष्णचन्द्रजीकी कृति नहीं है किन्तु श्रीपुरुषोत्तमजीकी ही कृति है।

(५) भावप्रकाशिकाके मुद्रित संस्करणके प्रथम सम्पादक तेलीवाला अपने प्रास्ताविकम्‌में एक-दो महत्त्वपूर्ण सूचना देते है :

"अस्य पाठादि श्रीपुरुषोत्तमानां श्रीहस्ताक्षरलिखितपुस्तकाधारेण योजितम् अस्मिन्नेव पुस्तके अन्तिमं पत्रं केनचित् कृष्णदत्तेन सं. १८५० वर्षे लिखितम्। तत्पत्रस्योपरि—'इयं वृत्तिः गोस्वामिपुरुषोत्तमैः स्वगुरुनाम्ना कृतेति श्रुतम्' इति कस्यचित् टिप्पणम्।"

इसमें दो-तीन बातोंपर लक्ष्य देना आवश्यक है। सर्वप्रथम यह कि जो पांडुलिपि तेलीवालाको मिली थी वह श्रीपुरुषोत्तमजीके निज हस्ताक्षरोंमें लिखित थी। दूसरी बात यह कि पुरुषोत्तमजीके सं. १८२० में नित्यलीला-प्रवेशके ३० वर्षों के भीतर ही अर्थात् सं. १८५० में यह अनुश्रुति लिखी गयी है कि भावप्रकाशिका श्रीपुरुषोत्तमजीने निजगुरुके नाममें लिखी है। तीसरी बात "कृष्णदत्त" नाम तथा इस कृष्णदत्तकी भाषाके प्रयोग पर ध्यान देनेसे यह प्रतीत होता है कि यह कृष्णदत्त श्रीपुरुषोत्तमजीको आदरकी दृष्टिसे देखने-वाला कोई व्यक्ति है तथा किसी दूसरे ऐसे व्यक्तिके साथ इसका सम्पर्क है, जो सम्भवतः श्रीपुरुषोत्तमजीके निकट सम्पर्कमें रहा हुआ हो।

श्रीहरिशंकर ओंकारजी शास्त्री, पंचमपीठ विद्याविभाग द्वारा प्रकाशित अवतारवादावलीकी भूमिकाके पृष्ठ ८ पर, इस विषयपर प्रकाशपात करने-वाली एक महत्त्वपूर्ण सूचना देते हैं। उनके अनुसार प्रसिद्ध शुक्लयजुर्वेद-भाष्यकार महीधरके वंशज काशीनिवासी तर्कपंचानन वेणीदत्त शास्त्री श्री-पुरुषोत्तमजीके शिष्य थे। श्रीपुरुषोत्तमजीने निज हस्ताक्षरोंसे लिखकर अपने अनेक ग्रन्थ इन वेणीदत्तजीको भेजे थे। जिनमेंका कुछ संग्रह (नामतः प्रहस्तवाद सुवर्णसूत्र प्रस्थानरत्नाकर आदिकी पांडुलिपियों) का श्रीहरिशंकर ओंकारजी

शास्त्रीजीने स्वयं काशीके सरस्वतीभवनके ग्रन्थागारमें निरीक्षण किया था। इसी संग्रहमें श्रीपुरुषोत्तमजी तथा वेणीदत्तजी के बीच हुए पत्रव्यवहारका भी संग्रह विद्यमान था। श्री ह. ओ. शास्त्रीजी द्वारा उद्धृत पत्रांशमें : "श्रीज्ञाना-वताराणां गुरुवर श्रीपुरुषोत्तम गोस्वामिनां चरणेषु वेणीदत्तस्य कोटिशः प्रण-तयः" उल्लेख मिलता है।

इन सभी बातोंपर लक्ष्य देनेसे यह सम्भावना प्रकट होती है कि पूर्वोक्त 'कृष्णदत्त' वेणीदत्तके ही वंशज हों और उन्हींके मुखसे कृष्णदत्तने सुना हो कि यह भावप्रकाशिका गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीने निजगुरुके नामसे लिखी है।

(६) अन्तमें एक प्रश्न यह भी उठता है कि श्रीपुरुषोत्तमजी जब अपनेको श्रीकृष्णचन्द्रजीका शिष्य बताते है तो यह श्रीकृष्णचन्द्रजीका गुरु होना साम्प्रदायिक दीक्षादानके अर्थमें है या विद्यादानके अर्थमें ?

तेलीवाला प्रभृती अनेक विद्वानोंकी धारणा है कि तुलनात्मक—आलोचना-त्मक अध्ययन—व्याख्यानशैलीका सूत्रपात श्रीकृष्णचन्द्रजीने हो किया था, जिसे परवर्ती कालमें उनके शिष्य श्रीपुरुषोत्तमजीने आगे बढ़ायी थी। परन्तु स्वयं श्रीपुरुषोत्तमजीके ग्रन्थोमें मिलते उद्गारोंके अन्तःसाक्ष्यसे ये धारणायें सर्वथा विपरीत है। भाष्यप्रकाशमें श्रीपुरुषोत्तमजीकी यह स्वीकारोक्ति इस सन्दर्भमें नितान्त अवधेय है :

क्रीडन् श्रीबालकृष्णः परमकरुणया मन्मनः प्रेरयित्वा
भाष्यार्थं योतिगूढं प्रकटितमकरोत् सम्प्रदाये निवृत्ते।
तं नित्याकुण्ठशक्तिं वृतनिखिलनिजाज्ञानसंसारहारं
स्मृत्वा स्मृत्वोपकारं प्रमुदितमुदितः स्वप्रभुं संनमामि॥

यदि भावप्रकाशिका जैसा प्रौढ़ ग्रन्थ श्रीपुरुषोत्तमजीको अपने गुरुसे विरासतमें मिला होता तो "मन्मनः प्रेरयित्वा भाष्यार्थं योतिगूढं प्रकटितम-करोत्सम्प्रदाये निवृत्ते" कहना श्रीपुरुषोत्तमजीकी एक कृतघ्नता ही कहलायेगी! क्योंकि भाष्यप्रकाशमेंसे भावप्रकाशिका द्वारा प्रतिपादित विषय अलग छांट लेनेपर ऐसी कोई विशेष महत्ता शेष नहीं बच जाती कि जिसे परमात्मा द्वारा प्रेरित मनकी सूझ मानी जा सके। श्रीकृष्णचन्द्रजी यदि

विद्यागुरु होते तो उनका उपकार न मान कर "सम्प्रदाये निवृत्ते" कहना, "मन्मनः प्रेरित्वा भाष्यार्थं योतिगूढं प्रकटितमकरोत्" कहना स्पष्ट ही इसकी गवाही देता है कि न तो भावप्रकाशिका और न अन्य ही कोई ऐसा ग्रन्थ श्रीपुरुषोत्तमजीको मिल पाया था।

प्रहस्तवादके मंगलाचरणमें स्पष्ट शब्दोंमें श्रीपुरुषोत्तमजी, श्रीकृष्णचन्द्रजीको स्वमार्गीय दीक्षांदाता गुरुके रूपमें मान्य करते हैं। तथा अपने ज्ञानार्जनमें निज परिश्रमको ही केवल लोकदृष्टिसे कारण मानते हैं। अलौकिक दृष्टिसे तो उनके सेव्य परब्रह्म परमात्मा यशोदोत्संगलालित श्रीबालकृष्ण भगवान् ही एकमात्र कारण है :

"मार्गप्रवर्तकान् गुर्वादीन् नमस्कुर्वन् लोकदृष्ट्यापि स्वस्य ज्ञानप्रकारस्य बोधनपूर्वकं ग्रन्थकरणं प्रतिजानीते–'तत्पुत्रान्सह सूनुभिः निजगुरून् श्रीकृष्ण-चन्द्राह्वयान्, भक्त्यानम्य पितामहं यदुपतिं तातं च पीताम्बरम्। संवीक्ष्यौप-निषच्छ्रुतिस्मृतिगणं भाष्याणि सूत्राण्यपि प्रस्थानैर्विविधैर्युतान्यथ मया वादावली तन्यते।"

श्रीकृष्णचन्द्रजी (जन्म संवत्: १६५६) श्रीपुरुषोत्तमजीके जन्मके समय ६८ वर्षके वृद्ध थे। और यह भी प्रसिद्ध ही है कि संवत् १७३४ वर्षके आसपास दस वर्षकी वयमें श्रीपुरुषोत्तमजी अपने धर्मपिता श्यामलसुत व्रजरायजीके साथ गोकुलसे सूरत आ गये थे। ऐसी स्थितिमें कब वे श्रीकृष्ण चन्द्रजीसे विद्याध्ययन कर पाये होंगे और कितना ?

इन सभी हेतुओंपर लक्ष्यपात करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि वल्लभ सम्प्रदायमें स्वसमानशील व्याख्याकार विद्वानोंमें श्रीपुरुषोत्तमजीकी पुरुषोत्तमता श्रीकृष्णचन्द्र नहीं किन्तु श्रीबालकृष्ण की ही कृपाका फल था ! निष्कर्षरूपेण यह कहनेमें हम समर्थ हैं कि भावप्रकाशिका भी वेदान्ताधिकरणमाला और भाष्यप्रकाश की तरह श्रीपुरुषोत्तमजीकी ही कृति है। तुलनात्मक-आलोचना-त्मक अध्ययन-व्याख्यानशैलीको इदंप्रथमतया अपनानेका श्रेय भी अतएव श्रीपुरुषोत्तमजीको ही जाता है।

शांकर वेदान्तमें जो स्थान श्रीवाचस्पति मिश्रका है, रामानुज वेदान्तमें

जो स्थान श्रीवेदान्त देशिकका है अथवा माध्व वेदान्तमें जो स्थान श्रीजयतीर्थ-मुनिका है, वाल्लभ वेदान्तमें वही स्थान गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीका है। इनके द्वारा प्रकटित साहित्यकी विपुलताका अन्दाज इस बातसे लगाया जा सकता है कि इनका साहित्य "नवलक्ष श्लोक परिमित" माना जाता है। एक श्लोक बराबर ३२ अक्षर, ऐसे नौ लाख श्लोक (!) जितना लेखन इन्होंने किया था।

इनकी लेखनशैलीकी विशेषता यह है कि विभिन्न दार्शनिक समस्याओं अथवा शास्त्रवचनों पर वाल्लभ वेदान्तके समाधान या व्याख्यान को ये सर्वदा अन्य सम्प्रदायोंके समाधान एवं व्याख्यान के तुलनात्मक विश्लेषणके साथ प्रस्तुत करते हैं। भाषामें कभी शब्दाडम्बर प्रकट नहीं करते। स्पष्ट सुलझी हुयी नपी-तुली शब्दावलीमें गंभीर विचारोंको प्रस्तुत करना इनकी एक अपनी ही विशेषता है। साम्प्रदायिक पुष्टिभक्तिमार्गीय सिद्धान्त या उपदेशपरक, आचार्यचरण अथवा प्रभुचरण के, ग्रन्थोंकी व्याख्याके हेतु जब ये प्रवृत्त होते है तो इनके पूर्ववर्ती एवं समकालिक साम्प्रदायिक व्याख्याकारोंके अभिप्रायोंका भी तुलनात्मक विश्लेषण करते ही रहते हैं। कभी मतभेद होनेपर उनके दोषोद्घाटनके बजाय अपनी मान्यताके आधारभूत हेतुओंके निरूपणपर इनका ध्यान अधिक रहता है: "मम तु एवं प्रतिभाति" कह कर अपना विनम्र मतभेद प्रस्तुत करते हैं।

इनके अनेक ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं फिरभी उपलब्ध ग्रन्थोंकी सूचि यों है :

व्याख्याग्रन्थ	**स्वतन्त्रग्रन्थ**
(१) भाष्यप्रकाश	(१) वेदान्ताधिकरणमाला
(२) भावार्थपादभाष्यविवरण	(२) भावप्रकाशिका
(३) तत्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशपर आवरणभंग व्याख्या तथा योजना	(३) अवतारवादावली+
(४) सुबोधिनीप्रकाश	(४) प्रस्थानरत्नाकर

+ अवतारवादावलीके अन्तर्गत कुछ वाद मिलते हैं और कुछ अब नहीं

मिलते 'अवतार'का अर्थ २४ संख्या है, तदनुसार २४ वाद अधोनिर्दिष्ट कहे जाते हैं :

(१) प्रहस्तवाद स्वरचितव्याख्योपेत	(प्रकाशित)
(२) पण्डितकरभिन्दिपालवाद	"
(३) आविर्भावतिरोभाववाद	"
(४) ख्यातिवाद	"
(५) सृष्टिभेदवाद	"
(६) भेदाभेदस्वरूपनिर्णयवाद	"
(७) अभाववाद	(अनुपलब्ध)
(८) प्रतिबिम्बवाद	(प्रकाशित)
(९) अन्धकारवाद	"
(१०) ब्राह्मणत्वादिदेवतावाद	"
(११) जीवव्यापकत्वखण्डनवादः/जीवाणुत्ववाद	(अप्रकाशित)
(१२) जीवप्रतिबिम्बत्वखण्डनवाद	(प्रकाशित)
(१३) भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवाद	"
(१४) स्ववृत्तिवाद	"
(१५) भगवत्प्रतिकृतिपूजनवाद	"
(१६) नामफलादिप्रकारवाद	"
(१७) तुलसीमालाधारणवाद	"
(१८) शंखचक्रधारणवाद	"
(१९) ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवाद	"
(२०) जयश्रीकृष्णोच्चारणवाद	(अप्रकाशित)
(२१) उपदेशविषयशंकानिरासवाद	(प्रकाशित)
(२२) वस्त्रसेवावाद	(अप्रकाशित)
(२३) भक्त्युत्कर्षवाद	(प्रकाशित)
(२४) भक्तिरसत्ववाद	"

व्याख्याग्रन्थ	स्वतन्त्रग्रन्थ
(५) षोडशग्रन्थान्तर्गत १५ ग्रन्थोंपर विवृत्तियां	(५) उपनिषदर्थसंग्रहः ϕ
(६) मीमांसाकारिका विवृत्ति	(६) माण्डूक्योपनिषद्दीपिका △
(७) पत्रावलम्बन विवरण	(७) नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्दीपिका।
(८) विद्वन्मण्डनसुवर्णसूत्रम्	(८) मूर्तिपूजनवादः
(९) भक्तिहंसतीर्थतरंगिणी	(९) उत्सवप्रतान (स्वतन्त्र)
(१०) भक्तिहंसविवेकः	(१०) षोडशग्रन्थानां प्रकरण संगतिः
(११) उत्सवप्रतान (व्याख्या)	(११) गीतामृततरंगिणी ⊛
(१२) गायत्र्यर्थकारिकाविवरण	(१२) खलालपनविध्वंसवाद
(१३) न्यासादेशविवरणव्याख्या	(१३) द्वात्रिंशदपराधक्षमापनटीका
(१४) वृत्रासुरचतुश्लोकीविवृति प्रकाश	(१४) द्रव्यशुद्धि
(१५) श्रीवल्लभाष्टकविवरण	

इस तरह हम देख सकते है कि गुण एवं अनुपात उभय दृष्टिसे श्रीपुरुषोत्तमजी द्वारा वाल्लभ वेदान्त तथा पुष्टिभक्तिके सिद्धान्त की जो असाधारण सेवा हुई है वह एक अपने-आपमें अनुपम बात है।

ϕ इसी तरह उपनिषदर्थसंग्रहमें अब यद्यपि केवल दो ही उपनिषदोंपर अर्थ-संग्रह उपलब्ध है। (१) ब्रह्मोपनिषद (२) कैवल्योपनिषद। अन्यथा कुछ विद्वानोंकी धारणा है ५२ उपनिषदोंपर श्रीपुरुषोत्तमजीने अर्थसंग्रह लिखा था।

△ इसी तरह प्रमुख दस-ग्यारह उपनिषदोंपर 'दीपिका' नामसे व्याख्या लिखी थी परन्तु अब केवल पूर्वोक्त दो उपनिषदोंपर ही उपलब्ध होती है।

⊛ गीतामृततरंगीणीके भी श्रीपुरुषोत्तमजीकी कृति होनेमें कई लोग सन्देह करते हैं।

अब प्रस्तुत ग्रन्थोंके कुछ अल्प सारांशको देकर इस प्राक्कथनका समापन करना है :

ब्रह्मसूत्रोंपर श्रीमहाप्रभुकृत अणुभाष्यका सार यदि भाष्यप्रकाश (अथवा भावप्रकाशिका)के आधारपर समझना हो तो वह श्रमसाध्य तथा समयसाध्य बात है। न्यायमालाके अवलोकन करनेपर अल्प समय और अल्प श्रम से ही उसका थोड़ा-बहुत परिचय तो मिल ही जाता है।

ब्रह्मसूत्रका प्रणयन महर्षि वेदव्यासने वेदके तात्पर्य न जाननेवाले पुरुषोंके लिये किया है, जिसमें यह समझाया गया है कि वेदका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म ही है। इस ब्रह्मके विविध स्वरूप, उसके बारेमें विभिन्न ऋषियोंके मत–मतान्तरका निराकरण, ब्रह्मज्ञानके विभिन्न साधन तथा ब्रह्मप्राप्तिरूप फलके विविध प्रकारोंकी विवेचना के लिये ब्रह्मसूत्रोंको चार अध्यायोंमें विभक्त कर के उपदेश दिया गया है। "समग्र वेदका मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है" यह दिखलाना ब्रह्मसूत्रका प्रमुख प्रयोजन है। अत: न केवल ब्रह्ममात्रका अपितु ब्रह्मसे सम्बन्धित अन्य भी अनेक गौण–मुख्य विषयोंकी चर्चा ब्रह्मसूत्रमें समाविष्ट की गयी है।

तदन्तर्गत **प्रथमाध्यायमें** सभी उपनिषदोंका एक ब्रह्मरूप प्रतिपाद्य-विषयके निरूपणमें समन्वय सिद्ध किया गया है। वेदोंके अर्थ या तात्पर्य का निर्णय वेदान्त विचारके बिना शक्य नही है। अत: सभी वेदोंकी एकवाक्यता–"वे ब्रह्मतत्त्वके प्रतिपादनार्थ प्रवृत्त प्रमाण हैं" इस आधारभूत धारणापर अवलंबित है। अन्यथा परस्पर असमन्वित वेदवचनोंकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध हो जायेगी। एतदर्थ प्रथमाध्यायको 'प्रमाणप्रकरण' या 'समन्वयाध्याय' कहा गया है।

द्वितीयाध्यायमें उपनिषदोंके परस्पर विरोधाभासी वचनोंमें विरोध-परिहारकी विचाररीति समझायी गयी है। जैसे श्रुतियोंमें अर्थात् वेदवचनोंमें परस्पर विरोधाभासका परिहार आवश्यक है, इसी तरह स्मृतियों (अर्थात् विभिन्न ऋषि-महर्षियोंके वचनों) के साथ भी वेदवचनोंके विरोधाभासका परिहार अभीष्ट माना गया है। द्वितीयाध्यायमें वेदविरोधी उत्प्रेक्षामूलक स्मृतिवचनोंका खण्डन करके वेदके एकमात्र प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मको सभी सत्प्रमाणोंसे अविरुद्ध प्रामाणिक प्रमेय सिद्ध किया गया है। अत: द्वितीयाध्यायको 'प्रमेयप्रकरण', अथवा 'अविरोधाध्याय' भी कहा जाता है।

तृतीयाध्यायमें उक्त ब्रह्मके ज्ञान एवं प्राप्ति के अन्तरंग एवं बहिरंग साधनोंका उनके अनेकविध उपकरणोंके साथ विचार किया गया है। अत: इस अध्यायको 'साधनप्रकरण' अथवा 'साधनाध्याय' भी कहा जाता है।

चतुर्थाध्यायमें फलप्राप्तिके अनेक प्रकार, फलानुभूतिके अनेक प्रकार तथा फल तो केवल ब्रह्म ही है यह समझाया गया है।

संक्षेपमें समग्र शास्त्रका सार यही है। अब इन एक एक-अध्यायोंको पुन: चार-चार पादोंमें विभक्त किया गया है।

प्रथमाध्यायमें : चारों पादोंमें उपनिषदोंके अनेकविध वचन ब्रह्मके प्रतिपादनमें परस्पर समन्वित है यह दिखलाना अभीष्ट है। जिन उपनिषद्वचनोंमें ब्रह्मका नि:संदिग्ध प्रतिपादन उपलब्ध होता है उनके बारेमें चर्चा तो अनावश्यक ही है। परन्तु कई उपनिषदोंमें ऐसे वचन भी दृष्टिगत होते हैं कि जिनमें नि:सन्देह यह कहा नहीं जा सकता कि उनका तात्पर्य क्या है। तदन्तर्गत अत: चार पादोंमें चार प्रकारके सन्दिग्ध वाक्योंपर विचार-विमर्श किया गया है।

प्रथमपादमें कार्यप्रतिपादक वचनोंका विचार करके यह समझाया गया है कि उपनिषदोंमें जहाँ-जहाँ इस सृष्टिके अनेकविध कार्योंका निरूपण किया गया है, वे सभी वचन ब्रह्मसे समन्वित हैं। द्वितीयपादमें अन्तर्यामीके रूपमें परमात्माके अनेकविध रूपोंका निरूपण करनेवाले सभी सन्दिग्ध वचन ब्रह्मसे समन्वित हैं यह दिखलाया गया है। तृतीयपादमें परमात्माके अनेकविध उपास्यरूपोंका निरूपण करनेवाले श्रुतिवचनोंका ब्रह्मसे समन्वय समझाया गया है। चतुर्थपादमें प्रकीर्ण वचनोंका ब्रह्मसे कैसे समन्वय है यह समझाया गया है।

द्वितीयाध्यायमें : श्रुतिवचनोंमें परस्पर विरोधाभासकी आपत्तिका निवारण किया गया है। क्योंकि यदि दो श्रुतियोंके बीच दिखलायी देते विरोधाभासका परिहार न किया जाये तो एक प्रतिपाद्य-विषयरूप ब्रह्ममें दोनों श्रुतियोंका साधित समन्वय भी अर्थहीन ही रहेगा। श्रुतियोंमें परस्पर विरोधाभासके

परिहासकी तरह श्रुति और स्मृति के बीच भी दिखलाई देते विरोधाभासका परिहार आवश्यक है। इसी तरह वेदविरोधी वाह्य मान्यताओंके साथ विरोधाभासका भी खण्डनके द्वारा परिहार अभिलषित है।

तदन्तर्गत प्रथमपादमें युक्तिद्वारा श्रुतियोंमें दृष्टिगत होते विरोधाभासका परिहार किया गया है। इसी तरह द्वितीयपादमें अवेदमूलक स्मृति तथा वेदविरोधी स्मृतियों में निरूपित सिद्धान्तोंका निरसन किया गया है। तृतीयपादमें पहले जड़ भूतोंकी उत्पत्तिके स्वरूप एवं क्रम के विचारके बाद जीवात्माके स्वरूप एवं धर्मों का विचार किया गया है। चतुर्थपादमें इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका क्रम तथा स्वरूप आदिके बारेमें विचार किया गया है।

तृतीयाध्यायमें : यह समझाया गया है कि निम्नकोटीके और मध्यम कोटीके अधिकारी यदि आध्यात्मिक साधनोंसे सम्पन्न होते हैं तब तो औपनिषद ज्ञान उन्हें फलप्रद होता है, अन्यथा सत्संप्रदायानुवर्ती होनेपर भी उपनिषदोंसे केवल परोक्षज्ञान ही उत्पन्न होता है।

अतः प्रथमपादमें पहले अधिकारीकी विभिन्न कोटियोंके निर्धारणके लिये ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने योग्य अधिकारीके देहग्रहणकी रीतिका वर्णन किया गया है। द्वितीयपादमें जीवोंकी, स्वरूपदृष्टिके विचारसे, मुक्तिलाभ कर पानेकी योग्यताके बारेमें विचार किया गया है। प्रथमपादमें निरूपित योग्यता ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके बारेमें विचारी गयी थी, किन्तु द्वितीयपाद मुक्तिकी प्राप्तिके बारेमें योग्यताका विमर्श करना चाहता है। तृतीयपादमें ब्रह्मसाक्षात्कारोपयोगी उपासनारूप साधनोंका विचार अभीष्ट है। उपासना करनेपर धारणा सिद्ध होती है। धारणा सिद्ध होनेपर मानसी मूर्ति अभिव्यक्त होती है। और इस तरह उपासना सम्पन्न होनेपर साक्षात्कार होता है। एतदर्थ इस तृतीयपादमें ब्रह्मसाक्षात्कारके हेतु ज्ञान एवं भक्ति को अन्तरंग उपाय दिखलाया गया है। कर्मको बहिरंग उपाय ब्रह्मसाक्षात्कारके हेतु माना गया है। चतुर्थपादमें यह दिखलाया गया है कि वेदके पूर्वोत्तर काण्ड मिल कर एकशास्त्र्य है। अतः ज्ञानके कर्मांगभूत न होनेपर भी ज्ञानमें भी कर्मापेक्षा तो रहती ही है, यह दिखलाया गया है।

चतुर्थाध्यायमें : फल सम्बन्धी विचार किया गया है। ब्रह्मवेत्ताको फलानुभूति होती है, अतः प्रथमपादमें जीवित ब्रह्मवेत्ताकी फलानुभूतिका स्वरूप विचारा गया है। द्वितीयपादमें म्रीयमाण (मरणासन्न) ब्रह्मवेत्ताकी फलानुभूतिका विचार किया गया है। तृतीयपादमें दिव्य परलोकोंमें जाते हुए ब्रह्मवेत्ताकी फलानुभूति का विचार किया गया है। चतुर्थपादमें फलप्राप्तिके बाद ब्रह्मवेत्ताके स्वरूप एवं अनुभव आदिका विचार किया गया है।

संक्षेप में यही विषय है वेदान्ताधिकरणमालाका और भावप्रकाशिकाका भी।

इस ग्रन्थद्वयीमें वेदान्ताधिकरणमाला वि. सं १९७६ में प्रकाशित हुई थी। भावप्रकाशिकाके चार अध्याय क्रमशः वि. सं. १९७९–१९८०–१९८२ और पुनः १९८२ में ही प्रकाशित हुए थे। इन सभीका सम्पादन श्रीमूलचन्द तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल सांकलिया ने किया था। तबसे लेकर अबतक ये अणुभाष्यके अध्येताओंके लिये पर्याप्त उपकारक सिद्ध होते रहे हैं। इधर कुछ वर्षोंसे ये दोनों ही ग्रन्थ बिलकुल अप्राप्य हो गये हैं। भाष्यप्रकाशके साथ इन्हें पुनः प्रकाशित करनेका मनोरथ था। परन्तु उस महाकाय ग्रन्थके पुनर्मुद्रणकी भागीरथी जबतक भूतलपर अवतीर्ण हो तब तक इन्हें रोके रखनेकी कोई तुक दिखलाई नहीं देती। अतः ऑफ सेट प्रोसेस द्वारा "गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तम ग्रन्थमाला" के प्रथम प्रसूनके रूपमें इन्हें पुनर्मुद्रित करते हुवे हमें अपार हर्षकी अनुभूति होती है! इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत गो. श्रीपुरुषोत्तमजी के सभी स्वतन्त्र ग्रन्थोंको पुनर्मुद्रित करानेका हमारा हार्दिक मनोरथ है। हमें विश्वास है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण उसे पूर्ण करेंगे!

इस पुनः प्रकाशनके अवसरपर प्रथम संस्करणके सम्पादक-प्रकाशक—सहयोगी महानुभावोंके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हैं।

गोस्वामी श्याम मनोहर

मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी,
श्रीगोकुलनाथोत्सवः २०३८
व्रजकमल, बम्बई

EDITORS' NOTE.

The *Vedântâdhikarana-Mâlâ* has been published from *funds* supplied to us by *Seth Tribhuvandâs Varjîvandâs of Madhav Baug* in order to perpetuate the memory of his *youngest and most beloved son Is'wardâs* who died prematurely in May 1919 and who was known for his amiable nature and religious tendencies.

Seth Tribhuvandâs has set apart a good sum for the memory of his deceased son Is'wardâs, and he has decided to devote a portion of the annual interest of this sum to the publication of the works of the Vallabhâchâryan literature according to the sentiments expressed by his deceased son during his life-time. All the publications from these funds will be included in the series to be named after his son Is'wardâs. For this act of judicious charity the literary world in general, and the Sampradâya in particular, will be very grateful to him.

Our obligations are also due to Paṇḍit Gaṭṭulâlâ's library, and the Bhâṇḍârkar Oriental Research Institute for the loan of MSS. of the present work. Our best thanks are due to Bâla Shâstrî of Kotah who very kindly sent to us his copy of this work, mostly copied and corrected by himself from the MSS. of the Nâthadwâra library.

Purushottamaji.

Purushottamaji, the author of this work, was born at Gokula in Muttra district on Bhadrapada S'ukla 11th, 1724 Samwat. He was 7th in descent from S'ree Vallabhacharya. He has written numerous works the bulk of which is said to equal nine Mahabharatas. They all bear the stamp of his masterly genious. Purushottamaji lived up to a very advanced age. In Samwat 1820 he is said to have had a religious discussion with one Veṇibhatta of Benaras. Serving his God S'ree Bâla-Krishṇaji he lived at Surat in Gujarat, where he had come with his uncle Vrajarâjaji.

Vedântâdhikaraṇamâlâ.

The text of this work is based on four MSS., two from the late Paṇḍit Gaṭṭulâlâ's library, one from the government collection now placed in the charge of the Bhâṇḍârkar Oriental Research Institute, and one kindly sent to us by BâlaShâstrî of Kotah from S'ri Nâthadwâra. The MSS. from the Bhâṇḍârkar Institute contained the 3rd and 4th Adhyâyas only, while the rest did not contain the 4th

Adhyâya. The 4th Adhyâya of this work seems to have been an extremely rare work. Yogi S'ree Gopes'warji did not get it and hence he wrote out the Adhikaraṇamâlâ of the fourth Adhyâya himself, as he says at the end of the appendix printed here. During our tour at Kotah, Kankaroli, Nâthadwâra, and Junâgaḍha we did not find the 4th Adhyâya in the libraries there. So it is a great satisfaction to us that we are able to publish the complete work here. Gopes'warji's Adhikaraṇamâlâ of the 4th Adhyâya has been therefore published here as an appendix. Gopes'warji is also a great master like Purushottamaji, but his style is not as vigorous and concise as that of Purushottamaji.

The object of this work as stated by Purushottamaji himself is to summarise the teaching of the sûtras according to the Aṇu-Bhâshya, and facilitate the understanding of the same by those who are unable to go through his Bhâshya-Prakâs'a. It seems to have been composed by him at a very advanced age—after he had finished his magnum opus-Bhâshya Prakâs'a, and the भावप्रकाशिकावृत्ति perhaps. These three works *viz.* भाष्यप्रकाश, भावप्रकाशिका, and वेदान्ताधिकरणमाला deal directly with the Brahma-Sûtras. Of these we are concerned here chiefly with the वेदान्ताधिकरणमाला. It contains the last word of Purushottamaji on the Brahma-Sûtras. Purushottamaji himself styles this work as न्यायमाला in the beginning and at the end; and there is some meaning in it. In an ordinary अधिकरणमाला we should have found at best the purport of each अधिकरण with its so called five अंगs, *viz:*-विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, and संगति. Purushottamaji in addition to these gives also the purport of all the Sûtras except in the 3rd and 4th pâdas of the third अध्याय. In the beginning, he gives the purport of the whole शास्त्र, then he sets out the purport of the four pâdas of each अध्याय at its beginning. At the beginning of the पाद he gives in brief the purport of the same. In the beginning of the अधिकरण he states the object of the अधिकरण, and then mentions the विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष and at the end the संगति—that is, shows the relation of the अधिकरण with what precedes and follows. The style here adopted throughout is explanatory, and not argumentative as in the भाष्यप्रकाश. The perusal of this will be very instructive and delightful.

With feelings of joy we offer this fruit of our labour of love at the lotus-feet of Lord Sree Krishṇa.

M. T. Telivala.

D. V. Sankalia.

पूर्णेन्दुश्रीमद्गोस्वामिश्रीगोपेश्वरचरणाः ।

प्रादुर्भावः संवत् १८३५ ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी ।

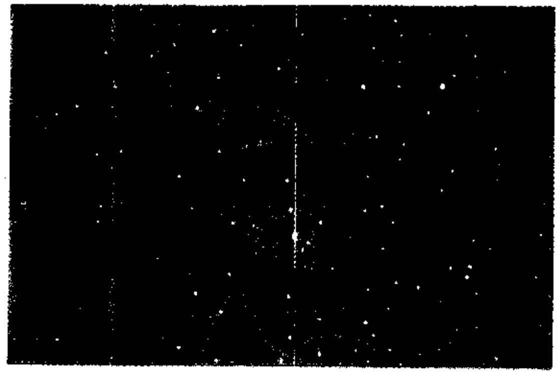

दशदिगन्तविजयिश्रीमद्गोस्वामि-
श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणाः ।

प्रादुर्भावः संवत् १७२४ भाद्रपद शुक्ल दशमी ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

वेदान्ताधिकरणमाला ।

श्रीपुरुषोत्तमविरचिता ।

प्रथमोध्यायः ।

श्रीबालकृष्णमाचार्यान् प्रभून् श्रीविठ्ठलेश्वरान् । व्यासाचार्यांस्तद्वचांसि प्रणमामि पुनः पुनः
भाष्यप्रकाशे विस्तीर्णोर्थोवगन्तुं न शक्यते । सर्वैरतोर्थं सङ्गृह्य न्यायमाला वितन्यते ॥२॥

तत्र तावद् व्यासचरणैरज्ञजनानुग्रहार्थं सर्ववेदार्थरूपस्य ब्रह्मणः स्वरूपसाधनफलमतान्तर-निराकरणभेदेन चतुर्धा विचारोत्र शास्त्रे क्रियते । तत्र सर्ववेदार्थरूपं ब्रह्मैवेति ज्ञापयितुं चतुर्लक्षण्यां तत्सम्बन्धि सर्वं विचारितम् । तत्र **प्रथमेध्याये** सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मण्येव समन्वयः, वेदार्थनिश्चयश्च वेदान्तविचाराधीन इति सर्वोपि वेदो ब्रह्मण्येव **प्रमाणमित्युक्तम्** । **द्वितीये** च श्रुतीनां परस्परविरोधपरिहारेण विरुद्धस्मृतीनां दूषणेन च ब्रह्मैव **प्रमेयमिति** निर्णीतम् । ततस्तृतीयेन्तरङ्गं बहिरङ्गं च **साधनं** सोपकरणं विचारितम् । **ततश्चतुर्थे** फलप्राप्तिप्रकारस्तदनुभवप्रकारो ब्रह्मैव च फलमिति निर्णीतमिति **शास्त्रार्थसङ्ग्रहः** ।

तत्र **प्रथमेध्याये** सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयश्चतुर्भिः पादैर्वक्तव्यः । तत्रास-न्दिग्धेषु वेदान्तवाक्येषु विचारासञ्चारात्सन्दिग्धान्येव निर्णेतव्यानि । तानि चतुर्धा, कार्यप्रतिपादकानि, अन्तर्यामिप्रतिपादकानि, उपास्यरूपप्रतिपादकानि प्रकीर्णकानि चेत्यतश्चत्वारः पादाः ।

तत्र **प्रथमपादे** ब्रह्मसम्बन्धिविचारं प्रतिज्ञाय ब्रह्म लक्षयित्वा ततः कार्यवाक्यानि विचारितानि ।

तत्र **प्रथमे एकसूत्रे जिज्ञासाधिकरणे** षडङ्गैरेव वेदार्थनिश्चयस्य सम्भवा-दत्यन्तनिश्चयस्य तपःप्रभृतिभिरेव सम्भवात्तदर्थं किं वेदान्तविचारेणेत्याशङ्क्य, ऋषिभि-र्नानाशास्त्राणां कृतत्वात्तच्छ्रवणेन बुद्धिदोषान्मन्दानां सन्देहसम्भवे तन्निवारणार्थं विचा-रशास्त्रं कर्तव्यम् । तत्र यद्यपि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'ति 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्ब्रह्मैव सर्ववेदार्थः, तथापीदं वाक्यं वेदान्ते श्रुतं 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी'ति, पुरुषरूपता च तत्रैव श्रुता, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इतिवाक्येन वेदान्तानामर्थनिश्चायकत्वं च तत्रैव श्रुतम्, अत इदानीं तपःप्रभृतीनामसम्भवाद्वेदान्तविचा-रेणैव वेदार्थरूपब्रह्मस्वरूपनिश्चय इत्यभिसन्धाय ब्रह्मसम्बन्धिविचारः श्रीबादरायणाचार्यैः प्रस्तुत इत्युक्तम् । अतोग्रिमाणि यान्यधिकरणानि शास्त्रसमाप्तिपर्यन्तं तानि सर्वाण्यस्यैव विषय इति तेषामस्य च विषयविषयिभावः सङ्गतिरित्यपि बोधितम् ॥ १ ॥

ततो **द्वितीये एकसूत्रे जन्माद्यधिकरणे ब्रह्म** किंलक्षणकं किंप्रमाणकं चेत्याकाङ्क्षायां जगदुत्पत्तिस्थितिकारणं ब्रह्मेति सूत्रांशेन लक्षितम् । ततोंशान्तरेण वेदरूपशास्त्रप्रमाणकं ब्रह्मेत्युक्तम् । तेन कर्तृरूपं निमित्ततया सिध्यति ॥ २ ॥

ततस्तृतीये एकसूत्रे समन्वयाधिकरणे ब्रह्म जगतः कर्तृ निमित्तं चेति चेत्, किं जगतः समवायीत्याशङ्कायामनारोपितानागन्तुकरूपेण समनुगमाद्ब्रह्मैव जगतः समवायीति निर्णीतम् । तेनाभिन्ननिमित्तोपादानवादोऽस्मिन् शास्त्र इति बोधितम् ॥ ३ ॥

एवं **त्रिसूत्र्या ब्रह्मणो** जिज्ञासा ब्रह्मलक्षणं तद्विचारस्य कर्तव्यता च साधिता । ये पुनः कर्तृत्वे वैषम्यादयो दोषाः, समवायित्वे च विकृतत्वादयः, ते सर्वेऽग्रिमाध्याये परिहर्तव्याः, विचारकर्तव्यतायाः प्रतिज्ञातत्वात् । तत्र सच्चिदानन्दरूपत्वस्य ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणत्वात्पूर्वोक्तं कार्यलक्षणं त्रिष्वप्यनुगतं वक्तव्यम्, अन्यथा लक्षणेऽव्याप्तिप्रसङ्गात् । अन्यतश्च निवारणीयम्, अन्यथातिव्याप्तिप्रसङ्गात् । असम्भवश्च निवारणीयः ।

तत्र द्वाभ्यामधिकरणाभ्यां सद्रूपे तल्लक्षणं योजितम् । अतःपरं चिद्रूपेऽव्याप्तिनिवारणाय प्रकृतिपरमाण्वादावतिव्याप्तिनिवारणाय च **चतुर्थं सप्तसूत्रमीक्षत्यधिकरणमारभ्यते** । तत्र **प्रथमसूत्रे** 'यतो वाचो निवर्तन्त'इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मणः सर्वव्यवहारातीतत्वेन सर्वप्रमाणागोचरतया तज्ज्ञानासम्भवाद्विचारो व्यर्थ इत्याशङ्क्य, ब्रह्म सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यम्, 'सदेव सौम्येदमग्र आसी'दित्युपक्रम्य 'तदैक्षत' 'बहु स्यां प्रजायेये'त्यनेनेक्षणस्य बहुभवनस्य च श्रावणात् । अतः सृष्टेः पूर्वमव्यवहार्यत्वेपि तदनन्तरं तत्कर्तृत्वेन तदुपादानत्वेन च व्यवहार्यत्वं श्रुत्योच्यत इति तया तज्ज्ञानस्य सम्भवात्तद्विचारो न व्यर्थ इति बोधितम् । ईक्षणकर्तृत्वेन चेतने तस्मिन् पूर्वोक्तलक्षणसमन्वयाच्चिद्रूपे लक्षणाव्याप्तिरपि परिहृता । तेनैव प्रकृतिपरमाण्वादावतिव्याप्तिरपि निवारिता, असम्भवश्च निवारितः । ततो **द्वितीयसूत्रे** तस्येक्षणकर्तुरात्मशब्दवाच्यत्वात्प्राकृतगुणवत्त्वं निवारितम् । ततस्**तृतीये** तदुपासकस्य मोक्षरूपफलकथनादपि तन्निवारितम् । ततश्चतुर्थे जगद्धेयत्वस्याकथनादपि तन्निवारितम् । एवं **चतुःसूत्र्यां** कार्यविधिमुखेन तद्विचार उक्तः । ततोऽग्रे **त्रिसूत्र्यां** कार्यनिषेधमुखेन तद्विचार्यते, निषेधश्च प्रलयात्मकः । तत्र **पञ्चमे** स्वाप्ययसूत्रे जीवसुषुप्तिर्ब्रह्मसम्बन्धेनोच्यते । सा च मोक्षभिन्नापि जाग्रदादिवत्कर्मसम्बन्धरहितेति प्रलयतुल्या । सा च स्वसम्बन्धेनैव जायत इति भगवतस्तत्कर्तृत्वम् । ततः **षष्ठे** मोक्षदशायां जीवस्य भगवत्तुल्यत्वं श्रुत्योक्तम् । तत्र **मैत्रेयीब्राह्मण** आदिमध्यावसानेषु ब्रह्मण एव बोधनात् तद्दातृत्वं ब्रह्मण एवेति बोधितम् । ततः **सप्तमे** सर्वप्रलये ब्रह्मैवावशिष्यत इति श्रुत्या बोध्यते । अतः प्रलयो ब्रह्मकर्तृक एवेति बोधितम् । एवमनेनाधिकरणेन चित्स्वरूपे कार्यलक्षणयोजनादव्याप्तिः परिहृता । चित्स्वरूपत्वबोधनात्प्रकृत्यादावतिव्याप्तिरपि परिहृता ॥ ४ ॥

ततः **पञ्चमेऽष्टसूत्र आनन्दमयाधिकरण** आनन्दे लक्षणयोजनेन तत्राव्याप्तिः परिह्रियते । तत्र **प्रथमसूत्रे**ऽविशेषेण पुनःकथनरूपादभ्यासानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं स्थापितम् । तत्र **प्रथमवर्णके** आनन्दस्यार्थतोऽभ्यासः शब्दतश्च । **द्वितीयवर्णके** तु 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्ये'तिवाक्याभ्यास उक्तः । एवमभ्यासेन मयट्प्रवाहाद्भेदे साधिते आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वम् । यथा पूर्वतन्त्रे यजत्यभ्यासात्कर्मणस्तद्वत् । ततो **द्वितीयसूत्रे** मयटो विकारार्थत्वादानन्दमयस्य न ब्रह्मत्वमिति सूत्रांशेनाशङ्क्य, मयटः प्राचुर्यार्थकत्वान्न मयट्प्रत्ययेनाब्रह्मत्वं वक्तुं शक्यत इत्यंशान्तरेण समाहितम् । ततस्**तृतीये सूत्रे** आनन्दजनकत्वेन तत्कारणत्वान्मयटो विकारार्थत्वं निवारितम् । ततश्**चतुर्थसूत्रे** 'सत्यं ज्ञान'मितिमन्त्रे योऽर्थ उक्तः स एव सम्पूर्णे प्रपाठके प्रपञ्च्य गीयते, अत आनन्दमयो ब्रह्मैवेति निर्णीतम् । ततः पुनरग्रिमया **चतुःसूत्र्या**यमेवार्थो निषेधमुखेन निर्णीयते । तत्र **प्रथमेन** जीवस्यानन्दमयत्वं निराक्रियते, जीवे निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वादिरूपस्य माहात्म्यस्यानुपपद्यमानत्वात् । **द्वितीये** 'चानन्दीभवती'त्यादिना जीवस्यानन्दनीयत्वमुच्यते, न त्वानन्दत्वम्, अतो भेदव्यपदेशादपि जीवस्य नानन्दमयत्वमित्युक्तम् । ततस्**तृतीये** 'सोकामयते'तिचेतनधर्मस्य कामस्य जडायां प्रकृतावनुपपद्यमानत्वात्सापि नानन्दमयीत्युच्यते । ततश्**चतुर्थेस्य** जीवस्यानन्दमये ब्रह्मणि योगमुपसङ्क्रमरूपं फलत्वेन कथयति श्रुतिः, तेन जीवापेक्षया उत्कृष्ट एवानन्दमयो, न तु जीवादपकृष्टः । तस्मादानन्दमयो ब्रह्मैवेति निरूपितम् । एवं **चतुःसूत्र्यां** जीवजडनिषेधमुखेनानन्दमयो विचारितः । एवमष्टसूत्र्यानन्दमयस्य ब्रह्मत्वे साधिते निरङ्कुशजगत्कारणत्वं तत्रैव पर्यवस्यतीत्यानन्देपि लक्षणसमन्वयात्तत्राव्याप्तिः परिहृता । जीवजडयोर्निवारणादतिव्याप्तिश्च । एव**मधिकरणचतुष्टयेन** सच्चिदानन्देषु लक्षणसमन्वयादसम्भवोऽप्यर्थादेव परिहृतः । तेन जन्माद्यधिकरणस्य शेषभूतमधिकरणत्रयमिति शेषशेषिभावः सङ्गतिः ॥ ५ ॥

ततः **षष्ठे द्विसूत्रेऽन्तस्तद्धर्माधिकरणे** आदित्यान्तरक्ष्यन्तश्च विद्यमानो हिरण्मयः पुरुष उदित्यादिब्रह्मधर्मोपदेशाद्ब्रह्मैवेत्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** 'यमादित्यो न वेदे'तिश्रुत्यादित्याद्भेदनिर्देशेनापि तस्य ब्रह्मत्वं स्थापितम् । तदज्ञाने सति, यदि तस्य ब्रह्मत्वं न विचार्येत तदा, तदज्ञाने सति, 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः स य एवंविदि'त्युक्त्वाग्रे 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रामती'त्यनेन श्रावितं तद्विदोऽक्षरसायुज्यं परब्रह्मप्राप्तिश्च नोपपद्येत । तस्माद्धेतुतागर्भया प्रसङ्गसङ्गत्यैतद्विचारितम् ।

किञ्च, अयं जन्मादिसूत्रस्थविचारः सर्वस्याग्रिमविचारस्य मूलम् । तत्राग्रे 'फलमत उपपत्ते'रित्यनेन सर्वफलदाता भगवानेवेति वक्तव्यम् । ततोऽग्रे चतुर्थेऽध्याये निषेधमुखेन प्रतीकोपासना, विधिमुखेनाङ्गोपासनाश्चादित्यादिमतिसूत्रे वक्तव्याः । तत्र मतान्तरोक्तरीत्या प्रतीकोपासनानामब्रह्मपरत्वेपि तद्वाभ्यांक्तफलसिद्धिस्तत्तदन्तःस्थाद्ब्रह्मण एवेतिज्ञाप-

नायाङ्गोपासनानां ब्रह्मपरत्वे तदुक्तमवान्तरफलं तत्क्रतुत्वरूपं मुख्यं फलं च भगवत एवेतिज्ञापनाय चाप्येतद् बोध्यम् ॥ ६ ॥

ततः **सप्तम एकसूत्रे तल्लिङ्गाधिकरणे, अष्टम एकसूत्रेतिदेशाधिकरणे** च ब्रह्मप्रकरणे आकाशप्राणादिशब्दैः ब्रह्मैवोच्यते, निरङ्कुशजगत्कारणत्वरूपब्रह्मलिङ्गादिति विचारितम् । तेन पूर्वोक्तलक्षणेतिव्याप्तिदोषः परिह्रियत इति पूर्वोक्तशेषभूतमिदमधिकरणद्वयम् । पञ्चमाद्यधिकरणद्वये प्रत्ययकृतसन्देहनिरासः, सप्तमाद्यधिकरणेषु तु प्रकृतिकृतसन्देहनिरास इति विशेषः, प्रकृतिप्रत्ययभेदेन शब्दस्य द्विविधत्वादिति । षष्ठाद्यधिकरणत्रयस्य विषयवाक्यान्युद्गीथविद्यास्थान्युक्तानि । तेन कर्माङ्गोपासनास्वपि ब्रह्मैव फलदम्, तज्ज्ञानेनैव च कर्मणो वीर्यवत्तरत्वमित्यपि बोधितम् । तेन प्रसङ्गोपि सङ्गतिः ॥ ७ ॥ ८ ॥

ततो **नवमे चतुःसूत्रे ज्योतिश्चरणाधिकरणे** 'अथ यदितः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यत' इतिवाक्ये ज्योतिःशब्देन ब्रह्मैवोच्यत इति निर्णीतम् । तत्र **प्रथमसूत्रे** 'एतावानस्य महिमे'तिमन्त्रे भूतात्मकानां चरणानां ब्रह्मधर्मत्वाज्ज्योतिःशब्देन ब्रह्मैवोच्यत इति निर्णीतम् । ततो **द्वितीयसूत्र** एतत्सन्दर्भारम्भे गायत्रीछन्द एवोच्यत इति न चरणानां ब्रह्मधर्मत्वमिति सूत्रांशेनाशङ्क्यांशान्तरेण समाहितम् । भगवति चेतोर्पणार्थं सन्दर्भादौ गायत्री प्रस्तुता, तयोपासने ब्रह्मदर्शनं भवतीति । तस्माद्ब्रह्मण एव पादाः, न गायत्र्या इत्युक्तम् । ततस्**तृतीये** गायत्रीछन्दो हि शब्दरूपम्, भूतपृथिवीशरीरहृदयान्यर्थरूपाणि । तेषां शब्दरूपछन्दःपादत्वं न सङ्गच्छते । अतो ब्रह्मण एव पादा इत्युक्तम् । ततश्**चतुर्थसूत्रे** यद्यप्येवं पादानां ब्रह्मधर्मत्वमायाति, तथापि 'एतावानि'तिमन्त्रे 'दिवी'तिसप्तम्या पादानां द्युलोकाधारत्वकथनेन विवक्षितस्य ज्योतिषस्तदाधारत्वमुक्तम् । 'अथ यदतः परो दिव' इतिपञ्चम्यानाधारत्वमुच्यत इत्युपदेशभेदाज्ज्योतिर्न ब्रह्मेत्याशङ्क्य, यथा 'वृक्षे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः श्येन' इतिविभक्तिभेदेपि यथैकार्थ्यप्रत्यभिज्ञा न विरुध्यते, तथात्रापीति न दोष इति समाहितम् । तस्मादत्र ज्योतिःशब्दवाच्यं ब्रह्मैवेति निर्णीतम् । यद्यपि पूर्वाधिकरणन्यायेन ज्योतिःशब्दस्य ब्रह्मवाचकत्वमायाति, तथाप्यत्र प्रकरणस्य लिङ्गस्य च सन्दिग्धत्वात्पुनर्विचारितम् । तेन सामान्यविशेषभावः पूर्वाधिकरणसङ्गतिः । एतेनान्या अपि पादसम्बद्धाः प्रणवादिविद्या अपि ब्रह्मपरा इत्यपि बोधितम् ॥ ९ ॥

ततो **दशमे चतुःसूत्रेनुगमाधिकरणे** कौशीतकिब्राह्मणस्थ इन्द्रप्रतर्दनसंवादे 'प्राणोहमस्मि प्रज्ञात्मे'त्यादिनोच्यमानः प्राणो ब्रह्मैव, नासन्यो, नापि जीवः, तस्य ब्रह्मस्वाङ्गीकार एव वाक्योक्तपदार्थसङ्गतेरित्युक्तम् । तदुपपादितं च **भाष्ये** । ततो **द्वितीयसूत्रे** वक्त्रेन्द्रेण प्रतर्दनं प्रति स्वात्मैव प्राणत्वेनोपदिश्यत इति न तस्य ब्रह्मबोधकत्वमिति सूत्रांशेनाशङ्क्य, ततोंशान्तरेण समाधानायास्मिन् प्रकरणे ब्रह्मसम्बन्ध एव भूयानुपलभ्यते, तस्मादत्र प्रतिपाद्यः प्राणः परमात्मेत्येवं प्रतिपादितम् । ततस्**तृतीये** यदि ब्रह्मैवात्र प्रतिपाद्यं तदा 'मामेव विजानीही'तिस्वात्मोपदेशस्य का गतिरित्याशङ्कायामयमुपदेशः शास्त्रदृष्ट्या, न तु लोकदृष्ट्या । शास्त्रे च ब्रह्मज्ञाने सति ज्ञातुर्ब्रह्माभेदेन सर्वत्वम् उच्यते । यथा श्रुत्यन्तरे वामदेवस्य सर्वात्मभाव उच्यते, 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेव' इत्यादिना, तद्वदत्रापि ज्ञानेन ब्रह्मात्मभावात्स्वस्योपास्यत्वेनोपदेश इत्युक्तम् । ततश्**चतुर्थे** नन्वस्मिन्प्रकरणे जीवधर्मा मुख्यप्राणधर्माश्च भूयांस उपदिश्यन्त इति नास्य ब्रह्मप्रकरणत्वमिति सूत्रांशेनाशङ्क्यांशान्तरेण समाधानमाह । यदि जीवप्राणब्रह्मणां धर्मदर्शनात्त्रयाणां मुख्यत्वं स्वीक्रियेत, तथा सत्युपासनात्रयप्रसङ्गाद्वाक्यभेद आपद्येत । स तु दुष्ट इति न युक्तः । तथा सति योत्र जीवधर्माणां प्राणधर्माणां चोपदेशः, सोत्र जीवस्य ब्रह्माश्रितत्वात्, प्राणस्य तु तद्योगात् । तस्मात्ते सर्वे ब्रह्मधर्मा एवेति प्राणो ब्रह्मैवेति प्रतिपादितम् । इदं चाधिकरणं पूर्वोक्तसर्वनिगमनार्थम् । इदं यथा तथा **भाष्यप्रकाशादवगन्तव्यम्** । **भाष्ये तु चिदचित्संश्लेषनिवारणार्थ**मित्युक्तम् । ब्रह्मवादे केवलस्यैव ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेन चिदचिच्छरीरापेक्षाराहित्यादिति । तेन न पुनरुक्तिदोषः । कार्यप्रतिपादनद्वारा वाक्यानां स्वरूपपरत्वं नवस्वप्यधिकरणेषु स्पष्टम् ॥ १० ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

एवं **प्रथमपादे** कार्यप्रतिपादकानां वाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयो विचारितः । प्रकृतिप्रत्ययभेदेन शब्दस्यान्यपरत्वसन्देहे तन्निवारणं च कृतम् । अतःपरं द्वितीयादिष्वर्थसन्देहो निवारणीयः । जीवजडतत्समुदायभेदेनार्थस्य त्रैविध्यात् । तत्र **द्वितीयपादे** जीवपुरःसरेणार्थसन्देहो निवारणीयः । अन्तर्यामिप्रतिपादकानां वाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयो वक्तव्यः । तेन पादानामेककार्यत्वं सङ्गतिः ।

तत्र **प्रथमे चतुःसूत्रे सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशाधिकरणे** छान्दोग्यस्था शाण्डिल्यविद्या विचार्यते । तत्रास्यां विद्यायां 'मनोमयः प्राणशरीर'इत्यनेन विज्ञानमयस्य जीवस्य मनोमयत्वादिधर्मवैशिष्ट्ये तैरेव च धर्मैः कर्तृत्वनिर्वाहाद्ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वमपि नोपपद्यत इत्याशङ्कायां, जीवस्य ब्रह्मत्वेनोपासनं निवार्य, सर्ववेदान्तप्रसिद्धस्य ब्रह्मण एवोपदेशाद्ब्रह्मैवात्रोच्यत इति **प्रथमसूत्रे** आक्षेपनिवारणादाक्षेपोधिकरणसङ्गतिरित्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे**स्यां विद्यायां फलत्वेन विवक्षिता ये गुणास्तेषां प्राप्तिर्भगवत्स्वरूपलाभात् तत्सारूप्यलाभाद्वोपपद्यते, अतोपि तथेत्युक्तम् । ततस्**तृतीयसूत्रे** तिरोहितानन्दत्वेन निराकारत्वादपि नात्र जीव उच्यते, किन्तु ब्रह्मैवेत्युक्तम् । ततस्**तुरीये** ब्रह्मात्र ध्येयत्वेन प्राप्तत्वेन च व्यपदिश्यते, जीवस्तु प्राप्तृत्वेन ध्यातृत्वेन च व्यपदिश्यत इत्युक्तम् । तेनात्रान्तर्यामिभूतं ब्रह्मैवोच्यत इति साधितम् ॥ १ ॥

ततो **द्वितीये चतुःसूत्रे शब्दविशेषाधिकरणे** वाजिशाखास्थं 'यथा व्रीहिर्वा यवो वे'त्यादिविषयवाक्यमुपन्यस्य, तत्रान्तरात्मन्युक्तो हिरण्मयः पुरुषो न जीवः, किन्तु ब्रह्मैव, शब्देनोक्ताद्धिरण्मयत्वरूपाद्विशेषादित्युक्तम् । ततो **द्वितीये सूत्रे** 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठती'तिगीतास्मृतेरपि हृद्देशे वर्तमानस्य ब्रह्मत्वमित्युक्तम् । ततस्**तृतीयसूत्रे** व्यापकस्येश्वरस्याल्पे हृदयस्थाने स्थितेरयुक्तत्वाच्छ्रुतौ व्रीह्यादितुल्यताश्रावणाच्च तस्य ब्रह्मत्वं न युक्तमिति सूत्रांशेनाशङ्क्यांशान्तरेण समाहितम् । हृदये निदिध्यासने कृते ब्रह्म ज्ञातुं शक्यते, तत्रैव साक्षात्कारात् । तस्माद् हृदयस्य स्थानत्वमुच्यते । अन्ये त्वत्र दृष्टान्तमप्याहुर्यथा सर्वलोकपतिरप्ययोध्यापतिरिति । तस्मान्न व्यापकत्वहानिः । यत्पुनर्व्रीह्यादितुल्यत्वकथनं तत्तु चतुर्विधभूतान्तरवर्तित्वज्ञापनार्थम् । अतो व्योमवत्सर्वत्र स्थितिर्बोध्यते । तस्मान्न दोष इत्युक्तम् । ततश्**चतुर्थसूत्रे** तस्य हृदये वर्तमानत्वे जीववत्सुखदुःखभोगोपि सम्भवतीति सूत्रांशेनाशङ्क्यांशान्तरेण समाहितम् । तस्य स भोगो न सम्भवति, तस्य सर्वरूपत्वानन्दरूपत्वादिरूपाणां विशेषाणां विद्यमानत्वादिति । तस्माद्ब्रह्मैवात्रोच्यते । इदं चाधिकरणमन्तर्यामिणो रूपनिश्चायनार्थं हिरण्मयपुरुषत्वेनान्तस्तद्धर्मोधिकरणविषयवाक्योक्ताकारस्य मासाग्निहोत्रे नित्याग्निहोत्रधर्मवद्वक्तुं शक्यत्वादिति मम प्रतिभाति । सङ्गतिरत्र प्रसङ्गो बोध्यः ॥ २ ॥

ततस्**तृतीये द्विसूत्रे अत्ता चराचरेत्यधिकरणे** 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चे'तिकाठकवाक्योक्तं ब्रह्मक्षत्रात्तृत्वं न जीवस्य, किन्तु ब्रह्मण एवेति निर्धारितम् । तत्र **प्रथमसूत्रे** चराचरग्रहणं हेतुः, चरो मृत्युरचरं कस्याप्यचाल्यम्, ब्रह्मक्षत्राणां संपद्यमानानां भोगः साधितः, सर्वरूपत्वात्मकं वैशेष्यं च । **द्वितीयसूत्रे** च प्रकरणं हेतुः । तथा च जीवाशक्यभोगस्य चराचरस्य ग्रहणरूपाल्लिङ्गादस्य वाक्यस्य ब्रह्मप्रकरणपठितत्वाच्चात्रोक्तं ब्रह्मैवेति सिध्यति । मोक्षापेक्षिब्रह्मक्षत्रप्राणान्मुत्क्रमणाभावेनान्तःप्रकटे भगवत्येव लयादन्तर्यामित्वमपि सिद्धम् । पूर्वाधिकरणे ब्रह्मणो जीवविलक्षणस्य भोगस्योक्तत्वात्तत्साधनायात्रोपोद्घातेनानन्दरूपाद्वैशेष्यात्सम्पन्नजीवसाहाय्येन भोगो विचारितः, अन्तर्यामिधर्मविचारस्यैव प्रकृतत्वादिति ॥ ३ ॥

ततश्**चतुर्थे द्विसूत्रे गुहां प्रविष्टावित्यधिकरणे** 'ऋतं पिबन्ता'वितिकाठकवाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्यात्र जीवद्वयं नोच्यते, किन्तु जीवब्रह्मणी उच्येते । अत्र जीवब्रह्मणोरेव प्रतिपाद्यत्वदर्शनात् । इतः पूर्वं 'येयं प्रेते विचिकित्से'ति 'अन्यत्र धर्मा'दितिवाक्यद्वयेन तयोरेव पृष्टत्वादिति **पूर्वसूत्र** उक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** पूर्वप्रकरणोक्तविशेषणबलादप्यत्र जीवब्रह्मणी एवोच्येते इति साधितम् । पूर्वाधिकरणोक्तब्रह्मक्षत्रभोगोप्यैवेतिज्ञापनार्थम् । तेनानुप्रसङ्गः सङ्गतिः ॥ ४ ॥

ततः **पञ्चमे पञ्चसूत्रे अन्तर उपपत्तेरित्यधिकरणे** छान्दोग्ये उपकोसलविद्यास्थं 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत'इतिवाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य अक्षिपुरुषस्य ब्रह्मत्वं निर्धारितम् । तत्र **प्रथमसूत्र** आर्षदर्शनस्योपपद्यमानत्वान्न तत्र प्रतिबिम्बस्य ब्रह्मत्वेनोपासना विधीयते, किन्तु ब्रह्मैवेत्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** सर्वलोकस्य भामवामनयनरूपस्थानादिव्यपदेशात्तदेव साधितम् । ततस्**तृतीये**ऽमृतादिपदकथनादपि तत्साधितम् । ततश्**चतुर्थसूत्रे** तदुपासकस्य ब्रह्मविद्गतिकथनादपि तत्साधितम् । ततः **पञ्चमसूत्रे** जीवो निवारितः । एवं चात्र **पञ्चसूत्र्यां** स्थानमाहात्म्यादिरूपं वैशेष्यं बोधितम् । अक्षिस्थितस्य भोगस्तु वाजिनां मण्डलब्राह्मणे प्रसिद्धः । एवमधिकरणत्रयेण भोगदोषासंसर्गहेतुभूतं वैशेष्यमक्षिस्थितस्य पुरुषस्यान्तर्यामित्वं च विचारितम् ॥ ५ ॥

ततः **षष्ठे त्रिसूत्रे अन्तर्याम्यधि**क**रणे** बृहदारण्यकस्थमन्तर्यामिब्राह्मणं विषयवाक्यत्वेनोपन्यस्तम् । अन्तर्यामी सर्वत्रैकः, अथवाधिदैवादिशब्दभेदाद्भिन्नः, तत्तदभिमानी जीवो वेत्याशङ्क्य **प्रथमसूत्रे** पृथिव्यादीनां तदभिमानिनां च ये धर्मास्तेषां भगवत्प्रयुक्तत्वबोधनादन्तर्यामी सर्वत्र भगवानेवेति निर्णीतम् । आधिदैवादिसञ्ज्ञोपि स एवेति च । ततो **द्वितीयसूत्रे**ऽन्तर्यामी ब्रह्मवादे न प्रसिद्धः, जीवब्रह्मजडानामेव प्रसिद्धत्वात् । ततोऽन्तर्यामी साङ्ख्यपरिकल्पितः कश्चिद्भविष्यतीत्याशङ्क्य, नात्र साङ्ख्यमतम्, तद्धर्माणामनभिलापात्, अतोऽन्तर्यामी भगवानेवेति ब्रह्मवादसिद्ध इत्युक्तम् । ततस्**तृतीयसूत्रे**ऽन्तर्यामी जीवो न सम्भवति, काण्वशाखायां 'यो विज्ञाने तिष्ठ'न्निति माध्यन्दिनशाखायां च 'य आत्मनि तिष्ठ'न्नितिवाक्याभ्यां जीवाद्भेदस्य श्रावणादित्युक्तम् । अस्मिन्नधिकरणे स्थितिकर्तृत्वनिर्वाहकतयोपोद्घातेन सर्वनियमनं विचारितम् । गुहांप्रविष्टावित्यधिकरणे प्रतिगुहं भिन्नतया प्रवेशादन्तर्यामिणां भेदे प्राप्ते तदभावाय तस्यैक्यमत्र साधितम् । तेन रूपभेदाद्भिन्नोप्येक एवान्तर्यामी नामेत्युक्तं भवति ॥ ६ ॥

ततः **सप्तमे त्रिसूत्रे अदृश्यत्वाधिकरणे** 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यत' इति मुण्डकस्थं वाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्येयमुपनिषत् साङ्ख्यविद्या ब्रह्मविद्या वेत्याशङ्क्येयं ब्रह्मविद्यैव । यद्यप्यत्राक्षरं पुरुषश्चेत्युभयमुच्यते, पुरुषस्याक्षरात्परत्वं चोच्यते, एवं परापरभावेप्यक्षरं परमात्मैवेति निर्णीतम् । तत्र **प्रथमसूत्रे** अदृश्यत्वादिगुणकोऽक्षरत्वेनोक्तः परमात्मैव, विश्वजनकत्वरूपस्य ब्रह्मधर्मस्य तत्रोक्तेरित्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** अत्राक्षरपुरुषौ साङ्ख्यविद्यासिद्धप्रकृतिपुरुषावेवेत्याशङ्क्य, तौ नात्र सम्भवतः, अक्षरस्य सर्वज्ञत्वादिना पुरुषत्वेन च विशेषणात्, पुरुषस्य च दिव्यत्वादिना प्राणादिजनकत्वेन च विशेषणात् । न हीदं साङ्ख्ये सिध्यति । किञ्च, अत्र हि समासावादौ मध्ये च ब्रह्मविद्या इति विद्याविशेषणमुक्तम् । तस्मादपि नात्र साङ्ख्यसिद्धौ प्रकृतिपुरुषावित्युक्तम् । ततस्**तृतीयसूत्रे** 'अग्निर्मूर्धे'त्यादिना यद्रूपमुक्तं तद्विश्वकायस्य ब्रह्मण एव सङ्गच्छते, न तु साङ्ख्यसिद्धस्येत्युक्तम् । तेन सृष्टिपूर्वदशायामप्यक्षरनियामकत्वाद्भगवतोऽन्तर्यामित्वं नित्यमित्युपोद्घातेन बोधितम् ॥ ७ ॥

ततोऽष्टमे नवसूत्रे वैश्वानराधिकरणे पूर्वाधिकरणोक्तं रूपं साङ्ख्यसिद्धस्य कार्येश्वरस्य कुतो न ? अक्षरपरमपुरुषयोर्भेदाभेदौ च कथमित्याकाङ्क्षायां, छान्दोग्यस्थां वैश्वानरविद्यां विषयवाक्यत्वेनोपन्यस्य, रूपस्य नित्यत्वं विरुद्धधर्माश्रयत्वं च तत्रोपोद्घातेन विचारितम् । तत्र **प्रथमसूत्रे** वैश्वानरशब्दवाच्यो हिरण्यगर्भादिः परमात्मा वेति संशये, हिरण्यगर्भादिबोधकसाधारणशब्दाद्यो विशेषः प्रादेशमात्रस्यैवाभितो विगतमानत्वरूपः, तस्मादित्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** 'केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाश'इत्यादिस्मृत्युक्तस्यानुमापकत्वम् । अतः प्रादेशमात्रो द्युमूर्धत्वादिविशिष्टः परमात्मैवेत्युक्तम् । ततस्तृतीयसूत्रे ननु प्रादेशमात्रस्मृत्या वैश्वानरपदस्य भगवत्परत्वं निर्णेतुं न शक्यम्, 'अहं वैश्वानरो भूत्वे'ति जाठराग्निपरत्वस्यापि स्मरणात्, समानप्रकरण 'एष वा अग्नि-वैश्वानर' इत्यग्निसमभिव्याहारेण श्रावणाद् भगवद्विभूतित्वाच्च । अत्राप्यग्नेः 'हृदयं गार्हपत्य' इत्यादिना त्रेताग्निकल्पनश्रावणात् पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वश्रावणाच्च न भगवत्परत्वं शक्यवचनमिति सूत्रांशेनाशङ्क्य, *नात्र भगवत्परत्वं निषेद्धुं शक्यम्, भगवतो भोक्तृत्वं* वक्तुं श्रुतावग्निदृष्ट्युपदेशाज्जाठरे द्युमूर्धत्वादिधर्माणामसम्भवाच्च । नच तदुपासनार्थमिति शङ्क्यम्, वाजसनेयिभिः पुरुषत्वस्य श्रावणादित्येवमंशान्तरेण समाहितम् । तस्माद्वैश्वानरः परमात्मैव । ततश्चतुर्थे उक्तहेतुभ्य एव जाठरोऽग्निर्देवतारूपोऽग्निश्च न सम्भवतीत्युक्तम् । एवं **चतुर्भिः सूत्रैर्वैश्वानरस्य** ब्रह्मत्वं निर्णीतम् । ततोऽग्रिमैः **पञ्चभिः** सूत्रैस्तस्य परिमाणं विचार्यते, ग्रहिलवादिनिवृत्त्यर्थम् । तत्र **पञ्चमे** जैमिनिमतेन परिमाणविरोधपरिहारमाह, व्यापकस्य प्रादेशमात्रत्वं कल्पनां विना साक्षादपि सम्भवति, यथाकाशस्य । तथा च 'प्रादेशमात्रमभिविमान'मित्यत्र शाब्दक्रमादर्थक्रमो बलिष्ठ इति जैमिनेराशयो बोधितः । ततः **षष्ठे** निराकारमेव ब्रह्म मायाजवनिकाच्छन्नं विष्ण्वादिदेवताधिष्ठितेन पुरुषाकारेणाभिव्यक्तः पुरुषविधोऽन्तर्यामी, न तु स्वाभाविकस्तस्याकार इत्याश्मरथ्यस्य मतमुक्तम् । ततः **सप्तमे**ऽनुस्मृतिवशात्पुरुषाकारो 'यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाये'तिस्मृतेः साधकानुग्रहार्थमिति बादरिमतमुक्तम् । ततोऽष्टमे पूर्वोक्तं नियतपरिमाणवादबोधकं जैमिनिमतं तदेकदेशिनो, न तस्येतिबोधनार्थं पुनर्जैमिनिमतमाह । श्रुतौ 'प्रादेशमात्रमिह वै देवा' इत्यारभ्य 'अभिसम्पादयिष्यामी'तिकथनात्सम्पत्तिनिमित्तं प्रादेशमात्रत्वम्, न तु वास्तवमिति तदाशय उक्तः । ततो **नवमे** 'आमनन्ति चैनमस्मि'न्निितिसूत्र 'एनं वैश्वानरमस्मिन्मूर्धचिबुकान्तराले जाबालाः समामनन्ति 'एषोव्यक्त' इत्यादिना । तस्मात्प्रादेशमात्र एव व्यापकः, अतो वस्तुभावादेव विरुद्धधर्माश्रय इति वैश्वानरो भगवानेवेति स्वसिद्धान्त उक्तः । एवमस्मिन्पादे स्थितिरूपकार्यनिर्वाहार्थमन्तर्यामिप्रतिपादकानि वाक्यानि विचारितानि ॥ ८ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अतःपरं मोक्षदातृत्वार्थमुपास्यरूपप्रतिपादकानि वाक्यान्यस्मिन्पादे विचार्यन्ते, साधनाध्याये गुणोपसंहारपादे तत्तन्मार्गभेदेनोपासनाया एव साधनत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् ।

तत्र **प्रथमे सप्तसूत्रे द्युभ्वाधिकरणे** 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी'तिमुण्डकवाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, तत्र किं साङ्ख्यसिद्धं प्रधानमुच्यते, ब्रह्म वेति संशये, प्रधानं निरस्य ब्रह्मैवेति साध्यते । तत्र **प्रथमसूत्रे** स्वशब्दो हेतुत्वेन, स च श्रुतिस्थ'स्वात्मान'मित्यात्मशब्दस्य वाचकः । तथा च द्युभ्वादीनां भारत्वं तदा स्याद्यदि तेषां सूत्रे मणिगणवत् प्रोतत्वं स्यात्, न तु तथा, तेषां कार्यतयैतदात्मकत्वेनैतत्स्वरूपान्तःपातित्वात् । न च सेतुत्वेन साधनत्वबोधनात्फलरूपत्वाभावे सति न ब्रह्मत्वमिति शङ्क्यम् । 'अमृतस्य सेतु'रित्यत्र षष्ठ्याऽभेदबोधकत्वेन फलरूपत्वानपायात् । तस्माद् द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैव । ब्रह्मणो व्यापकत्वव्युत्पादनं तु पूर्वमन्त्रे 'लक्ष्यं सर्वगतं चैवे'त्यनेन ब्रह्मणः सर्वगतत्वकथनात् तद्बोधनार्थमित्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** ननु भवतु ब्रह्मत्वं तथापि तज्ज्ञानेन सर्वविज्ञानस्योपक्रान्तत्वादन्यवाग्विमोकः कथं सङ्गत इत्याशङ्क्य, ब्रह्मणि मुक्तोपसृप्यत्वं वक्तुं शररूपस्य जीवस्य पूर्वमन्त्रे ब्रह्मणि योजनस्योक्तत्वात् तस्य निरध्यस्तत्वरूपं मुक्तत्वमन्यवाग्विमोकेन बोध्यत इति तदपि सङ्गच्छत इत्युक्तम् । **ततस्तृतीयसूत्रे** एतत्प्रकरणे जडधर्मबाहुल्यस्य जडदृष्टान्तस्य चोक्तत्वादत्र प्रधानमेवाङ्गीकार्यमित्याशङ्क्य, तद्बोधकानां निःसन्दिग्धानां धर्माणामदर्शनाद्ब्रह्मबोधकानामात्मसर्वज्ञानन्दरूपादिशब्दानां निःसन्दिग्धानां दर्शनान्न प्रधानमङ्गीकर्तुं शक्यम्, किन्तु परमात्मैवेत्युक्तम् । **ततश्चतुर्थसूत्रे** तर्हि जडजीवविशिष्टः साङ्ख्यवादोऽत्रास्त्वित्याशङ्क्य, तद्वाचकनिःसन्दिग्धशब्दाभावात् न जीवो, नापि प्रधानम्, किन्तु सर्वज्ञत्वादीनां ब्रह्मधर्माणां निःसन्दिग्धानां दर्शनाद्ब्रह्मैव । ततः **पञ्चमसूत्रे** 'तमेवैकं जानथात्मान'मिति ब्रह्मणि ज्ञानकर्मत्वस्य जीवे ज्ञानकर्तृत्वस्य बोधनेन भेदव्यपदेशात् न जीवपरत्वं तस्येत्युक्तम् । ततः **षष्ठे सूत्रे** अस्य वाक्यस्य ब्रह्मप्रकरणपठितत्वादपि न जीवपरत्वमित्युक्तम् । ततः **सप्तमे सूत्रे** 'द्वा सुपर्णा'वितिश्रुतौ परमात्मनः शरीरे स्थितिमात्रं प्रकाशकत्वं च श्राव्यते, जीवस्य तु कर्मफलभोगोपीति स्थित्यदनाभ्यां ब्रह्मजीवौ पृथगेव निर्णीयेते । तस्मादपीदं ब्रह्मवाक्यमेव, न तु प्रधानजीवसन्देहात् साङ्ख्यपरमिति निर्णीतम् । तेन पूर्वपादोक्तमन्तर्यामिरूपमपि व्यापकत्वसर्वात्मकत्वादिगुणविशिष्टमेवोपासनीयमिति साधितम् । अत्र शरधनुर्न्यायश्रावणात्पृथगुपासनं ज्ञानमार्गीयाणामपि कर्तव्यत्वेन बोधितम् ॥ १ ॥

ततो **द्वितीये द्विसूत्रे भूमाधिकरणे** 'यो वै भूमा तत्सुख'मिति छान्दोग्यस्थसनत्कुमारनारदसंवादगतं वाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, तत्र बाहुल्यं सुषुप्तिश्च नोच्यते, किन्तु ब्रह्मैवेति साधितम् । तत्र **प्रथमसूत्रे** सुषुप्तेः सकाशादाधिक्यस्य 'स एवाधस्तादि'त्यादिना बोधनात् मुख्यवृत्त्यात्मशब्दपरिग्रहसम्भवाद् ब्रह्मणः सर्वशब्दवाचकत्वेन भाववाचक-

शब्दानामपि ब्रह्मपरत्वसम्भवाच्च भूमा भगवानेवेत्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** 'नान्यत्पश्यती'त्यादिनोक्ता अन्यादर्शनादयो धर्मा अप्याविर्भूते परस्मिन् भगवति तद्दर्शनेन तदैक्यात्तदविभागाद्वा तदेकताततायां सम्भवन्तीति भूमा ब्रह्मैवेति साधितम् । तेन नित्यनिरवध्यानन्दरूप एवान्तर्याम्युपास्य इति पृथगपि भक्तिमार्गीयैरुपास्य इति बुद्धिस्थं प्रसङ्गाद्बोधितम् ॥ २ ॥

ततस्तृतीये **त्रिसूत्रे अक्षराधिकरणे** बृहदारण्यकस्थ'मेतद्वै तदक्षरं गार्गी'तिवाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, **सूत्रद्वयेन**ाज्ञया पृथिव्याद्यम्बरान्तधारकत्वेनाक्षरस्य ब्रह्मत्वं साधितम् । **ततस्तृतीये सूत्रे** तस्य प्रशासनस्य जीवधर्मत्वव्यावृत्त्याक्षरज्ञानफलबोधनेन च ब्रह्मत्वम् । अत्र च पूर्वपादेऽदृश्यत्वाधिकरणेन विचारितस्याक्षरस्य विरुद्धधर्मत्वबोधनमिति बुद्धिस्थोपोद्घातः सङ्गतिः । अक्षरोपासनं च ज्ञानमार्गीयाणां केषाञ्चिन्मुख्यम्, 'ये त्वक्षरमनिर्देश्य'मित्यादिगीतावाक्यात् । भक्तिमार्गीयाणां त्वक्षरज्ञानमङ्गत्वेन प्रविशतीत्यग्रे 'अक्षरधिया'मित्यत्र वाच्यम् । तेनेदं मार्गद्वयोपयोगीति तदुभयोरन्तरं प्रसङ्गत उक्तम् । तेनात्र क्रमनियामिका प्रसङ्गः सङ्गतिः ॥ ३ ॥

ततश्चतुर्थे **एकसूत्रे ईक्षतिकर्माधिकरणे** प्रश्नोपनिषत्पञ्चमप्रश्नस्थ 'मेतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कार'इतिवाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, अत्र ध्येयः परमात्मैव, न तु विराड्, ब्रह्मा वा । 'परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षत' इतिवाक्यशेषे ईक्षतिकर्मत्वेन जीवघनादक्षरात्परस्यैवोक्तत्वात् । अत्र ध्यानविषयस्येक्षतिकर्मत्वप्रतिपादनेनोपासनानां फलं साक्षात्कार इत्यप्यनेन साधितम् । तेन प्रसङ्गः सङ्गतिरिति बोधितम् ॥ ४ ॥

ततः **पञ्चमे अष्टसूत्रे दहराधिकरणे** 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्मे'त्यादि छान्दोग्यस्थं वाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, तत्र दहरशब्दवाच्य आकाशः परमात्मैव, न जीव इति निर्णीयते । तत्र **प्रथमसूत्रे** उक्तछान्दोग्यवाक्ये वक्ष्यमाणेभ्यो हेतुभ्यो दहरः परमात्मैवेत्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** 'यथा सुवर्णनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तोपि न विदुः एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ती'त्यनेनोक्तं प्रजाशब्दवाच्यानां जीवानां यद् ब्रह्मलोके गमनं सा गतिः 'एष आत्मापहतपाप्मा सत्यसङ्कल्प'इत्यत्रापहतपाप्मत्वादिविशिष्ट आत्मशब्दः पूर्वोक्तो ब्रह्मलोकशब्दश्च ताभ्यां हेतुभ्यां दहरः परमात्मैव । न च जीवपरमात्मनोस्ततो भेदाभावात्स्वप्नदशायामज्ञानकल्पितानामेव ब्रह्मलोकगमनमात्मशब्दश्च जीवसाधारण इति न ताभ्यां परमात्मसिद्धिरिति शङ्क्यम् । अत्र हि प्रजानां ब्रह्मलोके गच्छन्तीनां 'अनृतेन प्रत्यूढा' इति विशेषणं दृश्यते । तदर्थस्तु अनृतेन पिहितत्वम् । 'अनृतापिधाना' इतिश्रुत्यन्तरे तथादर्शनात् । तच्च सुषुप्तौ 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिष'मित्यनुभवस्तासां प्रजानामज्ञत्वं साधयति, न त्वज्ञानकल्पितत्वम्, अज्ञानकल्पितत्वे सति ब्रह्मलोकगतिर्न

सङ्गच्छते, तथापहतपाप्मत्वादिविशेषणादात्मशब्दश्च न सङ्गच्छते, अतो गतिशब्दयोर्ब्रह्मपरत्वाद्दहरः परमात्मैव । किञ्च, अत्र 'तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्ती'त्यात्माज्ञानं लोकक्षयहेतुत्वेनोच्यते । यद्यात्मा ब्रह्माभिन्नः स्यात्तदापहतपाप्मादिगुणकत्वात्स्वस्य स्वाज्ञानं न स्यात् । अत इदमज्ञानं जीवस्य ब्रह्मभिन्नत्वं बोधयद् गतेर्ब्रह्मविषयत्वे लिङ्गम् । एवमपहतपाप्मत्वादिविशेषणान्यप्यात्मशब्दस्य ब्रह्मपरत्वे लिङ्गमिति प्रागेवोक्तम् । अतो दहरः परमात्मैवेति साधितम् । ततः **तृतीयसूत्रे**'य आत्मा सेतुर्विधृति'रितिश्रुतेः सर्वलोकविधारकत्वात्स्वयं साधनीभूय संसारपारप्रापकत्वात् एकस्यैवाकाशद्यावापृथिव्यादेरन्तर्बहिःस्थापनेन तस्य सर्वलोकधारणस्य महिमरूपत्वात् तस्य महिम्नो विरुद्धधर्माश्रयत्वरूपतया श्रीयशोदादिभिरन्तर्बहिरुपलब्धश्च दहरः परमात्मैवेत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे आकाशशब्दवाच्यत्वप्रसिद्धेरपहतपाप्मत्वादिप्रसिद्धेः प्रकरणोक्तसर्वधर्मप्रसिद्धेश्च दहरः परमात्मैवेत्युक्तम् । एवं चतुःसूत्र्या विधिमुखेन दहरस्य परमात्मत्वं विचारितम् ।

अतः परमग्रिमचतुःसूत्र्येतरनिषेधमुखेन तस्यैव परमात्मत्वं पुनः साधयति । ततः पञ्चमे अस्मिन् प्रकरण आदिमध्यावसानेषु सम्प्रसादादिशब्दैर्जीवस्य परामर्शाज्जीव एव दहर इति सूत्रांशेनाशङ्क्य, जीवे जगदाधारत्वादेरसम्भवात् स न दहर इत्युक्तम् । ततः षष्ठ एतदनन्तरमुक्त इन्द्रप्रजापतिप्रकरणे जीवस्यैवामृताभयत्वादिरूपेणोक्ततयात्रापि स एव परामृश्यतामिति सूत्रांशेनाशङ्क्य, तत्र प्रजापतिरुपदेशसमय आविर्भूतब्रह्मरूपो जातः, यथा नृसिंहोपासको नृसिंहाविष्टो भवति, अतस्तथाभूतत्वात्सर्वत्रात्मानं पश्यन्नुपदिष्टवान्, अतो न तत्र जीवः प्रकरणार्थः । अतस्तदनुरोधेनात्र जीवस्य ब्रह्माभिन्नत्वं न वक्तुं शक्यम् । तस्माद्दहरः परमात्मैव । ततः **सप्तमे** तर्हि तत्र जीवपरामर्शस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां पूर्वप्रकरणे सत्यनामकस्य ब्रह्मणो ज्ञानेन ब्रह्मसुखरूपं फलमुक्तम् । तदपेक्षायां तादृशं ब्रह्मज्ञानमावश्यकम् । तत्र सच्छब्देनामृतस्य जीवस्य, तिशब्देन मर्त्यस्य जडस्य, यशब्देनोभयनियामकस्य ब्रह्मण उक्तत्वात् । नियम्यद्वयज्ञानाभावे नियामकस्य ब्रह्मणो ज्ञानासम्भवात् । तदर्थं शब्दोक्तस्य नियम्यस्य जीवस्य स्वरूपज्ञानाय जीवपरामर्शः, न तु प्रकरणित्वेनेत्युक्तम् । ततोऽष्टमे भवत्वेवं तथाप्यल्पे हृदयपुण्डरीके आकाशरूपस्य ज्यायसो ब्रह्मणः स्थितिर्न सम्भवतीत्यतो जीव एवोच्यतामित्याशङ्कायां 'निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्चे'त्यत्र विरुद्धधर्माश्रयत्वेन ब्रह्मणः स्थितिर्वक्तुं शक्येत्युक्तम् । तादृशत्वस्यात्राप्यनुसन्धेयत्वात्तेन तत्समाधिसिद्धिरिति दहरः परमात्मैव । अत्र बुद्धिस्थस्य विचारादुपोद्घातगर्भः प्रसङ्गः सङ्गतिः । किञ्च, परामर्शसूत्रे जीवस्य सर्वावस्थासु ब्रह्मनियम्यत्वस्यैव सिद्धत्वात्, अतो जीवस्य परममुक्तिदशायामपि ब्रह्मनियम्यत्वमेव सिध्यति । वेदस्तुतावपि 'अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवे'दित्यत्र तथैव सिद्धत्वाच्च ॥ ५ ॥

ततः **षष्ठे द्विसूत्रे अनुकृत्यधिकरणे** 'न तत्र सूर्यो भाती'ति कठवल्लीस्थं वाक्यं विषयत्वेनोदाहृत्य, लोकप्रकाशकानां सूर्यादीनां दहरान्तःस्थत्वकथनात् कठवल्लीस्थमुक्तवाक्यं तद्विरुद्धमित्याशङ्क्य, तेषां स्वतो न प्रकाशकत्वम्, किन्तु भगवदनुकारित्वाद्भगवत्प्रकाशेनैव प्रकाशकत्वं सर्वत्र सर्वदेतिप्रसङ्गान्निर्णीतम् । तेन जीवस्य मुक्तिदशायां तदनुकारित्वरूपमेव साम्यम्, न तु परममित्यपि बोधितम् । अन्यथैतद्विचारस्यात्र निष्प्रयोजनत्वापत्तेरिति ॥ ६ ॥

ततः **सप्तमे द्विसूत्रे शब्दादेव प्रमित इत्यधिकरणे** कठवल्लीस्थमङ्गुष्ठमात्रवाक्यं विषयत्वेनोदाहृत्याङ्गुष्ठमात्रस्य भूतभव्येशानत्वं शब्दादेव प्रमीयते इति **प्रथमसूत्रे** निर्णीतम् । **द्वितीये** च तस्य तत्र स्थितिर्मनुष्याणामधिकारार्थेति निर्णीतम् । अत्रापि प्रसङ्ग एव सङ्गतिः । इदं च जीवस्य मुक्तिदशायां ब्रह्माविर्भावेन विरुद्धधर्माश्रयत्वे फलिष्यति ॥ ७ ॥

ततोऽष्टमेऽष्टसूत्रे तदुपर्यपीत्यधिकरणे प्रसङ्गाद्देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारो विचारितः । तत्र **प्रथमे सूत्रे** मनुष्येषु त्रैवर्णिकानामुपनयनादिसंस्कारवतां कर्माधिकाराद् ब्रह्मविद्यायामप्यधिकार इति पूर्वतन्त्रादेव सिध्यति । ततो मनुष्याद्धीनजातीयानां तु योग्यताऽभावादेव नाधिकारः । अतः परं मनुष्यादुत्कृष्टानां ब्रह्मविद्यायामधिकारः सम्भवादुक्तः । यद्यपि देवादीनामुपनयनादिकं न प्रसिद्धम्, तथापि यज्ञोपवीतमन्त्रे 'प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तादि'तिश्रावणात्तन्न्यायेनान्यत्रापि जन्मानुग्रहविशेषतपःप्रभृतिभिर्मतङ्गविश्वामित्रादीनामिवाधिकारः सम्भवति । तस्मादप्यधिकार इत्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** पूर्वसूत्रोक्तस्य देवादीनामधिकारस्य विप्रतिपन्नतया तद्बलेन तेषु ब्राह्मण्यादेर्वक्तुमशक्यत्वात्, तेषां स्वर्गस्थत्वेन पृथिवीरूपदेशस्य, व्रीह्यादिरूपद्रव्यस्य तत्र सूर्यगत्यभावेन दर्शादिरूपकालस्य च, तदतिरिक्तदेवाभावेनोद्देश्यदेवतान्तरस्यापि वक्तुमशक्यतया तदभावेपि कर्मकरणे श्रुतिविरोध इति सूत्रांशेनाशङ्क्य, अंशान्तरेण प्रजापतिन्यायाद् वर्णसत्तायाः साधितप्रायत्वात्, 'इन्द्रो द्वात्रिंशद्वर्षाणि प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवासे'तिश्रावणादाश्रमसत्तायाः, 'साध्या वै देवाः सुवर्गकामा एतꣳ षड्रात्रमपश्यन् तमाहरन् तेनायजन्ते'तियज्ञकरणश्रावणाद्, 'देवा वै सत्रमासते'त्यादौ भूमावागत्य ऋषीन् वृत्वा यज्ञकरणश्रावणाच्चानेकधोपयोगो देवानां वेदे दृश्यते । भगवदवयवरूपा ये देवास्ते तेषामुद्देश्या अपि भवन्ति । 'उभौ वै देवानाꣳ शमितारौ अधृगुश्चापापश्चे'त्यादौ ऋत्विजोपि श्राव्यन्ते । तस्मान्न श्रुतिविरोध इत्युक्तम् । ततस्तृतीये ननु वेदात् कर्म ज्ञात्वा पश्चात् कर्तव्यं देवैः, तत्र देवानां कर्मकरणं वदन् वेदो देवानामधिकारं वदेत् । देवाश्च जन्या इति वेदार्थज्ञानसमये तेषामभावाद्, ज्ञप्तौ चात्माश्रय इति कर्मकर्तृणां ज्ञातृत्वेन वक्तुमशक्यत्वात् कर्मकर्तृविरोधः । वेदश्च तेषां वृत्तान्तं वदन् स्वयं कथं नित्यो भवेत् । अतो वेदानित्यत्वापादकत्वादयं देवाधिकारपक्षो न सङ्गत इति सूत्रांशेनाशङ्क्य, अंशान्तरेण समाधिमाह, शब्दोक्ताः पदार्थाः सर्वे एवाधिदैविका भगवदवयवरूपाः, शब्द एव विद्यन्ते, नित्यास्तैः सह पदानां सम्बन्धोपि नित्य इति न वेदस्यानित्यत्वम् । इदमेव **चतुर्थेन सूत्रेण** वक्तव्यम् । न च वैदिकपदार्थानामतिरिक्तत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षविरोधः शङ्क्यः । इदानीमपि यजमानर्त्विक्प्रभृतीनां वेदादेव सपरिकरकर्मावगतेर्वृद्धव्यवहारादिना दर्शनेन वैदिकपदार्थान्तरेष्वपि तेनैवावगतिसम्भवात् । अतो यैर्भगवान् दृष्टस्तेषां तु तत्रैव सर्वपदार्थदर्शनात्तेष्वेव सङ्केतग्रहः, ततोर्वाचीनानामिदानीन्तनपर्यन्तानां तूपमानात्तेषु सङ्केतग्रहः, भगवतः सर्वानुकारित्वात् । किञ्च, यथा 'जमदग्नीनां पञ्चावत्त'मित्यत्र स्वस्मिन् जामदग्न्य इति प्रत्यक्षज्ञानाभावेपि परोक्षानुभवो भवति, तथा वैदिकप्रपञ्चस्यापि परोक्षानुभवो भवत्येवेति वैदिकप्रपञ्चोतिरिक्त एव । तस्मान्न ज्ञाने कर्मकर्तृविरोध इति सूत्रद्वयेनोक्तम् । ततः **पञ्चमे** ननु भवत्वेवं वैदिकसृष्टिरतिरिक्ता, तथापि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'इत्यादिषु सृष्ट्यादिरुच्यते इति तदनुरोधेनानित्यापि सृष्टिर्वेदे उच्यते इत्यङ्गीकार्यम् । तथा ये देवाः कर्म कुर्वन्ति तेप्यनित्या इति च । एवं सति वेदस्य तद्वाचकत्वे शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धविरोधः, अतस्तदभावार्थमाकृतावेव सम्बन्धो वक्तव्यः । तथासति किं जैमिनिमतदूषणेनेत्याशङ्क्य, लोकदृष्टिमङ्गीकृत्य तद्रीत्यापि समाधानमाह । यद्यपि सर्वस्य भगवद्रूपत्वादुत्पत्तिप्रलययोः सञ्चरप्रतिसञ्चररूपत्वेन वस्तुनित्यत्वाबाधकतया दर्शनादर्शनयोरेव नित्यानित्यत्वपर्यवसानम्, न तु वस्तुनीति न काचिदाशङ्का । तथापि लोकदृष्ट्या प्रपञ्चस्य देवादीनां चानित्यत्वाङ्गीकारे तत्तत्प्रवाहे एव शब्दसम्बन्धः । लोकेपि शरीरगङ्गाप्रभृतिषु प्रवाहे एव शब्दसम्बन्धदर्शनात् । अतो देवादीनां तत्कर्मणां चानित्यत्वेपि तत्प्रवाहस्य नित्यत्वात् तद्बोधके वेदेपि नानित्यत्वं शङ्कितुं शक्यते इति । ततः **षष्ठसूत्रे** ननु यद्यपि श्रुतिविरोधपरिहारेण कर्मण्युपासने च देवानामधिकारः प्रतिपादितस्तथापि छान्दोग्ये 'असौ वा आदित्यो देवमध्वि'त्यादिनोक्तायां मधुविद्यायां स न सङ्गच्छते । तत्र मधुत्वेनोपवर्ण्यमानस्यादित्यस्य विद्याविषयत्वात् स कमन्यमादित्यमुपासीत । एवं संवर्गविद्यादिषु वाय्वादीनां विषयत्वा[2]त्तेषामप्यनधिकारो बोध्य इत्याद्युक्तम् । ततः **सप्तमे** 'अग्निः पुच्छस्य प्रथमं काण्ड'मित्यादिश्रुतिष्वग्न्यादीनां देवानां ज्योतिर्गणे विद्यमानत्वकथनात्तेषां च तत्र महाभोगकथनात्प्राप्तफलत्वेनोपासनायामधिकारो न सङ्गत इत्येवं जैमिनिमतेनाशङ्कितम् । **ततोऽष्टमे** तत्परिहारमाह, वेदे हि प्रजापत्यादीनां कर्माधिकारो निरूप्यते, 'प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति', 'स एतमग्निहोत्रमिथुनमपश्यत्, तदुदिते सूर्येऽजुहोदि'त्यादिषु । तथा ज्ञानेपि श्रूयते, 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तत्तदभव'दित्यादिषु । अत्र च भूतार्थवादः, तेन स्वार्थे प्रमाणं न स्यात् तदा तादृशाग्निहोत्रहोमेन तादृशज्ञानेनान्यस्यापि फलं न

१ आदित्यानामिति पाठः । २ विषयतया देवानामधिकार इति पाठः ।

स्यात् । अतः कर्मणि ज्ञाने चाधिकारोयमवश्यमभ्युपेयः । ये पुनरुपास्यत्वेन तत्रोक्तास्ते भगवदंशा एव । 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ती'त्यनशनत्वादिरूपाल्लिंगात् । इदं च पूर्वमेव साधितम्, तथापि जैमिनिमतनिराकरणाय पुनरुक्तम् । एवमष्टभिः सूत्रैर्देवानामधिकारो वेदनित्यत्वं च प्रसङ्गान्निर्णीतम् ॥ ८ ॥

ततो नवमे पञ्चसूत्रे शुगस्येत्यधिकरणे शूद्राणां ब्रह्मविद्यायामधिकारोनुप्रसङ्गान्निराकृतः । तत्र प्रथमसूत्रे छान्दोग्यस्था संवर्गविद्या विषयत्वेनोपन्यस्ता । तत्र च जानश्रुतिं 'हा शूद्रे'त्येवं सम्बोध्य पश्चात् संवर्गविद्योपदिष्टा । तस्माज्जातिशूद्रस्याप्यधिकार इत्याशङ्कायाम्, नात्र शूद्रशब्दो जातिवाची, किन्तु शुचा आद्रवतीति शूद्र इति यौगिकः । अतो योगेन जानश्रुतेर्मत्सरित्वं बोधयति । तेन पूर्वं धिक्कारः, पश्चाच्चोपसरणेन मत्सरत्यागे विद्योपदेश इति नात्र जातिशूद्रस्याप्यधिकार इत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे जानश्रुतिजातेः श्रुतावनुक्तत्वात् योगापेक्षया च रूढेः प्रबलत्वादत्र शूद्रशब्दो रूढ एव सन् जानश्रुतिजातिं बोधयतीति जातिशूद्रस्याप्यधिकारोस्त्वित्याशङ्कायां जानश्रुतेः क्षत्रियत्वमुत्तरत्र प्रकरणान्तरे काक्षसेनिपदादवगम्यते । कक्षा स्पर्धास्थानं सेना रथा यस्येति कक्षसेनस्तस्यापत्यं काक्षसेनिरिति क्षत्रियलिङ्गात् । यद्यपि तत् प्रकरणान्तरम्, तथापि छन्दोगानां द्विरात्रे 'एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजय'न्नितिश्रवणात् 'समानान्वयानां समानान्वया एव याजका भवन्ती'ति कापेयसम्बन्धेन काक्षसेनेः क्षत्रियत्वमवगतम् । अतो लिङ्गचतुष्टयस्य क्षत्रियत्वावगतेः जानश्रुतेः जातिर्निर्धार्यते । तस्माज्जातिशूद्रस्य नाधिकारः । यत्र परम्परितब्रह्मविद्यायामपि नाधिकारस्तत्र साक्षाद्ब्रह्मविद्यायां तु शङ्कितुमपि न शक्यते इत्युक्तम् । ततस्तृतीये श्रौतेषु साधनेषु सर्वत्रोपनयनसंस्कारपरामर्शाच्छूद्रे च तदभावान्नाधिकार इत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे 'सत्यकामो ह जाबाल' इत्यत्र जाबाले शूद्रत्वाभावनिर्धारण एव गौतमेन तस्मिन् शिष्यभावः प्रवर्तितः । तस्मादपि जातिशूद्रस्य नाधिकार इत्युक्तम् । ततः पञ्चमे शूद्रस्य वेदे श्रवणाध्ययनार्थज्ञानानां निषेधश्रावणात् स्मृतिष्वपि वेदाक्षरविचारेण शूद्रस्य पातकथनाच्च नाधिकार इत्युक्तम् । एवमिदं प्रासङ्गिकमधिकरणद्वयम् ॥ ९ ॥

ततो दशमे एकसूत्रे कम्पनाधिकरणे कठवल्लीस्थं 'यदिदं किञ्च जगत् सर्व'मितिवाक्यं विषयत्वेनोदाहृत्य, किमत्रेन्द्रः प्राणो ब्रह्म वा निरूप्यते इति सन्देहे, प्राणेन्द्रौ निवार्य, सर्वजगत्कम्पनाद्धेतोर्ब्रह्मैवात्रोच्यते इति निर्धारितम् । तेनावतारदशायामपि भगवतो दण्डपाणित्वबोधनाय तत्र जीवानां सन्नतये च भगवत इदं कार्यं प्रसङ्गेनावसरेण वा विचारितम् ॥ १० ॥

तत एकादशे एकसूत्रे ज्योतिर्दर्शनाधिकरणे दहरविद्यास्थं 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य'तिवाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, ज्योतिःशब्देन महाभूतरूपं ज्योतिरुच्यते, उत ब्रह्म वेति सन्देहे, महाभूतरूपं ज्योतिर्निवार्य, सम्पत्तिरूपादर्शनाद्ब्रह्मैवात्र निरूप्यते इति प्रसङ्गाद्विचारितम् । तत्प्रयोजनं तूपसम्पत्तव्यत्वोपसम्पन्नस्वरूपाभिनिष्पादकत्वपूर्ववाक्यगतहृदयत्वोत्तरवाक्यगतसत्यपदोक्तमर्त्यामृतनियामकत्वरूपाणां चतुर्णां धर्माणां निष्कर्षार्थत्वान्न ज्योतिश्चरणाधिकरणेन गतार्थता ॥ ११ ॥

ततो द्वादशे एकसूत्रेऽर्थान्तरव्यपदेशाधिकरणे छान्दोग्यसमाप्तिस्थ'माकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिते'तिवाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, तत्र भूताकाशो ब्रह्म वेति सन्देहे, भूताकाशस्य यत्प्रयोजनं वायुजननं तस्माद्भिन्नस्य प्रयोजनस्य नामरूपनिर्वाहकत्वरूपस्य कथनाद्, ब्रह्मादिश्रुतीनां च कथनाद्, ब्रह्मैवाकाश इत्युक्तम् । तेनान्यवाचकपदवाच्यस्य यत्रैव तद्धर्मातिरिक्तधर्मकथनं तत्रान्यवाचकपदस्य ब्रह्मपरत्वमिति न्यायबोधकमिदमधिकरणमिति प्रसङ्गादुक्तम् । अतो न तद्धर्माद्यधिकरणादिना गतार्थता ॥ १२ ॥

ततस्त्रयोदशे द्विसूत्रे सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरित्यधिकरणे बृहदारण्यकस्थं ज्योतिर्ब्राह्मणं शारीरब्राह्मणं चेत्युभयं विषयत्वेनोपन्यस्य, तयोः किं जीववाक्यत्वमुत ब्रह्मवाक्यत्वमिति सन्देहे, उपक्रमस्यासञ्जातविरोधत्वेन प्राबल्यात्, तत्र च 'कतम आत्मे' तिप्रश्ने 'योयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष' इति शारीरलिङ्गात्, 'योयं विज्ञानमयः प्राणे' ष्वितिं काण्वपाठे उपसंहारे च तादृशवाक्याद्, यद्यपि संसारी प्रतीयते, तथापि मध्ये 'ध्यायतीवे'त्यादिसंसारिधर्मनिराकरणादुपसंहारे च 'स वा एष महानज आत्मे'तिसंसारधर्मरहितपरमेश्वरात्मबोधनादन्यैश्च हेतुभिः परमात्माभिन्नो संसारी मुक्तो जीवः प्रतिपाद्यते इति पूर्वपक्षे, यदि मुक्तो जीवो ब्रह्माभेदेनात्र प्रतिपाद्यः स्यात्तदावस्थाभेदस्याप्रयोजकत्वात्सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च जीवं परमेश्वरान्न भिन्द्यात्, प्रतिपिपादयिषितेऽभेदे अवस्थया भेदकथनस्य निष्प्रयोजनतया वैयर्थ्यप्रसङ्गात्, जाग्रत्स्वप्नयोरज्ञत्वादिवैशिष्ट्यस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन सुषुप्तिमरणयोस्तमोभिभवादज्ञानादिवैशिष्ट्याज्ञानेपि सौषुप्तिकस्मरणेन मृतानां भूतादिभावदर्शनेन चानुमानसिद्धतया तत्कथनवैयर्थ्यानपायाच्च । अतो यत् ज्ञायमानावस्थासिद्धं भेदमनुवदति तदसंसार्यवस्थायामपि भेदबोधनायैवानुवदति । 'यथोदकं शुद्धं शुद्धे आसिक्तं तादृगेव भवति एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतमे'ति काठकेपि तथैव श्रावणात् । न च तर्ह्युपक्रमाद्यनुरोधादसंसारी परमेश्वरसमानधर्मा जीवो वाच्योस्त्विति शक्यम् । उपक्रमादिष्वपि तथार्थाभावात् । तथा हि । उपक्रमे 'किं ज्योतिरयं पुरुष'इति प्रकाशकप्रश्ने 'आदित्याद्यनन्तरमात्मज्योति'रित्युत्तरे संसारिणः पुरुषस्य प्रकाशापेक्षित्वेनाप्रकाशकत्वात् 'प्रकाशक आत्मा क' इत्याशयेन पृच्छति 'कतम आत्मेति?' । तत्र स्पष्टतया वक्तव्येप्युत्तरे याज्ञवल्क्यो 'न वदिष्ये' इति स्वाभिसन्धेर्वरदानस्य चानुरोधात् श्लिष्टमेवोत्तरं दत्तवान् । अतस्तद्विचारे 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवती'ति निगमनवाक्ये परमात्मैव स्वयंपदवाच्यः सिध्यतीत्युपक्रमगतः प्रश्नः सामान्योप्युत्तरे तत्पर एव पर्यवस्यति ।

तथापि श्लिष्टप्रयोगात् जनकेन सोर्थः सम्यङ् न ज्ञातः, किन्त्वेतावत् ज्ञातं संसारिव्यतिरिक्त आत्मा प्रकाशक इति । ततस्तत्सन्देहवारणाय पृच्छति 'विमोक्षाय ब्रूही'ति । तदापि पूर्वोक्तानुरोधात् 'स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वे'त्यादि श्लिष्टमेवोत्तरं दत्तवान् । तदा सुषुप्तौ जीवस्यासङ्गत्वे उक्तेपि जनकस्य सन्देहो न निवृत्त इति पुनर्मोक्षाय पृच्छति । तदा पुनरपि तथैव वदन् मत्स्यादिदृष्टान्तेन स्वप्नसुषुप्ती अवस्थे उक्त्वा, सुषुप्तौ असङ्गादपि जीवात् परमात्मानं भेदेनाह, सम्परिष्वक्तस्त्रीपुंदृष्टान्तेन । तदापि जनकस्य प्रकाशकसन्देहो न निवृत्त इति पुनर्मोक्षाय पृच्छति । तदा पुनरपि श्लिष्टवाक्येनैवोत्तरे, पुनरपि मोक्षाय पप्रच्छ । तदा याज्ञवल्क्यो राज्ञो मेधावित्वाद्भीतः संसारिणो जीवस्य मरणावस्थां वदन् परमेश्वराज्जीवस्य भेदमाह । तदापि श्लिष्टप्रयोगात्तस्य सन्देहो न निवृत्त इति तदानीमकामयमानस्य सद्योमुक्तिमाह । तत्र 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'तिश्रुतेः 'प्राज्ञ आत्मा ब्रह्मैवे'ति च श्रुतेर्जीवस्य ब्रह्मभाव एव मुक्तिः । प्राज्ञ आत्मा ब्रह्म योस्ति स एव प्रकाशकस्तज्ज्योतिषैवायं जीवः सर्वं करोतीति ज्ञात्वा जनकः 'सोहं भगवते सहस्रं ददामी'त्युक्तवान् । तदा याज्ञवल्क्यः श्लोकैः सर्वं शास्त्रार्थमुक्त्वा 'स एष आत्मे'त्यादिना तमेवार्थं स्पष्टमुक्तवान् । तदा जनको विदेहान् स्वात्मानं च तस्मै दत्तवान् । याज्ञवल्क्योपि तथा विद्यां समापितवान् । अत उपक्रमोपसंहारयोः परमात्मन एव प्रकृतत्वसिद्ध्या तस्यैव प्रकरणित्वम्, न तु ब्रह्मभावापन्नस्य जीवस्येति सिध्यति, समाप्तौ पत्यादिशब्देभ्यश्च । तस्मादिदं ब्रह्मवाक्यमेवेति ।

अत्र **पादे** उपास्यरूपाण्याधाररूपाणि च विचार्य ब्रह्मातिरिक्तानामनुकारित्वं च विचार्य समाप्तौ यत् जीवब्रह्मणोर्भेदः साधितः, तेन मुक्तिदशायामपि जीवस्यानुकारित्वमेव, तदात्मकत्वात्, न त्वत्यन्ताभेदः, सर्वथा तौल्यं वेति प्रसङ्गादुपोद्घाताद्वेति विचारितम् १३

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अतीतेषु पादेषु **प्रथमे** कार्यरूपवाक्यानि, **द्वितीये** अन्तर्यामिवाक्यानि, **तृतीये** उपास्यरूपवाक्यानि विचार्य, सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयः प्रतिपादितः । तद्दार्ढ्यार्थं प्रकीर्णकानि वाक्यानि विचार्यन्ते । तेषां च जीवजडसमुदायात्मकार्यनिरूपकतया कापिलमतश्रौतताभ्रमजनकत्वं प्रकीर्णत्वमिति तद्भ्रमनिरासायोपोद्घाततया तेषां विचारः ।

तत्र **प्रथमस्य सप्तसूत्रस्यानुमानिकाधिकरणस्य प्रथमसूत्रे** 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था' इति काठकवाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, तत्र ज्ञानकर्मभयाणि दशेन्द्रियाणि भूतमात्राभेदभिन्ना दशार्था मनोबुद्ध्यहङ्कारमहत्तत्त्वाव्यक्तपुरुषाः साङ्ख्यमतसिद्धाः पदार्थास्तत्रोच्यन्ते इति कापिलमतमपि श्रौतमिति 'आनुमानिकमप्येकेषामिति चेदि'तिसूत्रांशेनाशङ्क्य, अंशान्तरेण समाधानमाह । नात्र तन्मतसिद्धाः पदार्था उच्यन्ते, किन्तु पूर्वं 'मात्मानं रथिनं विद्धी'त्यादिना शरीररूपकं यदुक्तं तत्रत्या ये रथादिभावेन पदार्था निविष्टास्त एवात्रास्मिन् वाक्ये गृह्यन्ते । एतद्धि जीवप्रकरणम् । अत्र च तस्य मुक्त्युपायो निरूप्यते । 'योग्यं शरीरमारुह्य हरेः पदं गच्छे'दिति । तत्र योग्यं शरीरं रथः, आत्मा रथी, इन्द्रियाणि हयाः, बुद्धिः सारथिः, मनः प्रग्रहः, भगवदीया विषयाः, तेषां हयानामात्मरूपाः सम्यक्त्वेन भावितत्वात् । बुद्धेरात्मा ब्रह्मविषयं विज्ञानं तन्महत्तत्त्वेनोच्यते । अव्यक्तं तु भगवत्कृपैव, पुरुषस्तु भगवानेवेति ब्रह्मवाद एवात्र सिध्यति, न साङ्ख्यमतम् । यतोग्रे 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि'रितिमन्त्रेणात्मदर्शनपरिकरतयैव त उच्यन्ते । तस्माद्ब्रह्मवाद एवात्रेत्युक्तम् । ततो **द्वितीये सूत्रे** अव्यक्तशब्देन भगवत्कृपा वक्तुं न शक्यते, अत्र धर्मिप्रवाहमध्ये धर्मरूपायास्तस्या वक्तुमशक्यत्वादित्याशङ्क्य, अत्राव्यक्तशब्देन सूक्ष्ममुच्यते, तच्च ब्रह्मैव, धर्मधर्मिणोश्चाविनाभावेन स्थितत्वादभेद इति तदभिन्ना कृपैवात्रोच्यते इत्यदोष इत्युक्तम्, योग्यताबलात् । तथा च न प्रायपाठविरोध इत्युक्तम् । ततस्**तृतीये** ननु यद्युक्तयुक्त्या कृपाया ब्रह्मत्वम्, तदाऽभिन्नत्वे ब्रह्मभिन्नत्वमसङ्गतम् । अथ कयाचिद्युक्त्या तस्या धर्मत्वम्, तदा धर्मिप्रायपाठविरोध इत्युभयथापि दोषात्पूर्वसूत्रोक्तमसङ्गतमित्याशङ्क्य, कृपाया ब्रह्माभिन्नत्वेपि ब्रह्माधीनत्वाद्ब्रह्मभिन्नत्वम्, ब्रह्मभिन्नत्वात् ब्रह्मनियम्यत्वम् । अतो यथैकरूप्येण ग्रहणमभेदे युक्तिः, तथा नियम्यनियामकभावोपि भेदे युक्तिरित्युभयथाप्युपपन्नम् । न चाभेदेनैकत्वे नियम्यनियामकभावानुपपत्तिरिति शङ्क्यम् । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्रैकस्यैव ब्रह्मणः सच्चिद्रूपेण विषयत्वम्, आनन्दरूपेण फलत्वमितिवदुपपत्तेः । तथा च कृपाविष्टः साधनम्, आनन्दरूपः फलम् । अथवा, अव्यक्तं सच्चिद्रूपमक्षरम्, आनन्दरूपः पुरुष इति तयोरभेदेपि परापरभावो युक्तः । अदृश्यत्वाद्यधिकरणे तथा साधितत्वात् । तस्मा'दिन्द्रियेभ्यः परा' इतिवाक्ये आनुमानिकं न किञ्चिदस्तीत्युक्तम् । एवं त्रिभिः सूत्रैर्वाक्यानां पूर्वापरसम्बन्धेन मतान्तरं निराकृत्य ब्रह्मवादः प्रतिपादितः । इदानीं तु केवलैतद्वाक्यविचारेण मतान्तरं निराकरोति । ततश्**चतुर्थे**ऽस्मिन् वाक्येऽव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते । कापिलमते तु 'गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्य'मितिप्रवचनसूत्रात् प्रकृतिपुरुषयोरन्तरं मोक्षार्थं ज्ञेयम्, न त्वव्यक्तरूपा प्रकृतिः । अतो ज्ञेयत्वावचनादपि नात्र तन्मतसिद्धिरित्युक्तम् । ततः **पञ्चमे** ननु ज्ञेयत्वावचनमसिद्धम्, एतदुत्तरवाक्ये 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय'मित्यत्राव्ययस्य 'महतः परमव्यक्त'मित्यत्र महतः परस्याव्यक्तस्य ज्ञानान्मुक्तिश्रावणादितिसूत्रांशेनाशङ्क्य, अंशान्तरेण समाधानमाह । अत्र सन्दर्भे श्रुतिलिङ्गवाक्यानां सन्दिग्धत्वान्न निर्णायकत्वम्, अतो 'महतः पर'मितिवाक्यस्य 'शब्दमस्पर्श'मितिवाक्यस्य चेति द्वयोरेकवाक्यत्वम्, नान्येषामित्यत्र नियामकाभावेन प्रकरणस्यैव निर्णायकत्वं वक्तव्यम् । तत्र 'ऋतं पिबन्ता'वित्यारभ्य 'नाचिकेतमुपाख्यान'मित्यन्तमेकं प्रकरणम् । तत्र चात्मानावेव परा-

मृश्य जीवात्मनो रथित्वं तदुपकरणं फलं चोक्त्वा, अग्रे 'एष सर्वेषु भूतेष्वि'त्यारभ्यासमाप्ति परमात्मैव ज्ञेयत्वेन परामृश्यते इति मृत्युमुखात्प्रमोकरूपं फलं चोच्यते । अतः प्राज्ञः परमेश्वर एवात्रार्थः, नाव्यक्तं प्रधानम् । अतो ज्ञेयत्वावचनं नासिद्धमित्युक्तम् । तेन प्रकरणस्य नियामकत्वादशब्दवाक्यमपि भगवत्परमेवेत्युक्तम् । ततः **षष्ठे** ननु नेदमेकं प्रकरणम्, किन्त्वि'न्द्रियेभ्यः परा' इत्यारभ्य 'नाचिकेतमुपाख्यान'मित्येकं भिन्नं प्रकरणम् । तत्र प्रथमं पदार्थान्निर्दिश्य, ततोग्रे पुरुषज्ञानं चोच्यते इति साङ्ख्यमतस्यापि निरूपणात्तस्याश्रौतत्वमसङ्गतमित्याशङ्क्य, तत्र परिहारमाह । अत्र हि त्रयः प्रश्नाः, अग्निजीवब्रह्मविषयकाः । तेषामुत्तराणि च त्रीणि । तत्र 'स त्वमग्नि'मितिप्रश्ने 'प्रतिब्रवीमी'त्याद्युत्तरम्, ततो 'येयं प्रेते' इतिजीवप्रश्ने 'देवैरत्रापी'त्याद्युत्तरम् । ततो'न्यत्रधर्मादि'तिब्रह्मप्रश्ने 'सर्वे वेदा' इत्याद्युत्तरम् । अतस्त्रय एव प्रश्नाः त्रीण्येवोत्तराणि च । यदि साङ्ख्यमत'मिन्द्रियेभ्य'इत्यादि स्यात्तदा चतुर्थे प्रश्नोत्तरे स्याताम् । ते तु न स्त इति नात्र तन्मतसिद्धिरित्युक्तम् । ततः **सप्तमे** ननु मतान्तरेन्यत्र प्रसिद्धाः शब्दा ब्रह्मवादे ब्रह्मपरतया कथं योजयितुं शक्या इत्याशङ्क्य, महद्दृष्टान्त उक्तः । यथा महच्छब्दो 'महान्तं विभुमात्मान'मित्यादौ ब्रह्मपरः, तथाव्यक्तशब्दोप्यक्षरपरः । तस्मादिन्द्रियादिवाक्येन न साङ्ख्यमतसिद्धिः, किन्तु ब्रह्मवाद एवात्र सिध्यतीत्युक्तम् ॥ १ ॥

ततो **द्वितीये त्रिसूत्रे चमसवदित्यधिकरणे** 'अजामेका'मित्यादीनि श्वेताश्वतरवाक्यानि विषयत्वेनोपन्यस्य, एतेषु मन्त्रेष्वजादिशब्दैः प्रकृतिः परामृश्यते, मुक्तामुक्तभेदेन जीवद्वैविध्यमजायाः प्रकृतेरेकत्वमग्रे कपिलस्य नाम च पठ्यते । यद्यपि किंकारणेत्युपक्रमाद्ब्रह्मविद्यात्वेनोपनिषत् प्रतीयते, तथापि पूर्वकाण्डे यथा प्रणवादिमन्त्राणां नानास्थले विनियोगान्न प्रकरणानुरोधः, तथैतेष्वपि मन्त्रेषु कपिलमतप्रत्यभिज्ञानान्नोपक्रमाद्यनुरोध इति साङ्ख्यमतमपि वैदिकमितिशङ्कायाम्, पूर्वसूत्रेण समाधिमाह । यथा 'अर्वाग्बिलश्चमस' इतिबृहदारण्यकमन्त्रे कर्मविशेषः । तत्रार्वाग्बिलं चमसं यशोरूपं सोमं सप्त होतारो भक्षयेयुरिति कल्पयितुं न शक्यते, तथा प्रकृतमन्त्रे लोहितशुक्लादिशब्दैः रजःसत्त्वादि कल्पयित्वा तद्वशेन सर्वमेव मतं कल्पयितुं न शक्यते, विशेषाभावात् । कपिलवाक्येपि कपिलशब्देन ब्रह्मैवोच्यते, न त्वनित्यर्षिः, नित्यानित्यसंयोगप्रसङ्गादित्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** ननूक्तस्य चमसमन्त्रस्य व्याख्यानं 'शिरश्चमस'इत्यादिना श्रुतौ क्रियते, तथात्र मन्त्रव्याख्यानाभावात्तद्दृष्टान्तोत्र न युक्त इत्याशङ्कां तुशब्देन परिहरन्नजाशब्दार्थकथनमुखेन समाधत्ते । अत्राजाशब्देन ज्योतिरुच्यते, प्रथमकार्यरूपत्वाच्चतुर्मुखाजत्वन्यायेन । यथाजाल्पदोग्ध्री, तथैवेयं नश्वरफलदात्रीतिबोधनाय चाजाशब्देनोच्यते । सत्यकामब्राह्मणेग्निसोमसूर्यविद्युद्रूपचरणरूपतया हंसेनोक्तश्चतुष्कलो यो ब्रह्मणः पादस्तद्रूपत्वात् ज्योतीरूपा त्रिवृत्कृतत्वात्त्रिवर्णा ज्योतिरेवाजाशब्देनोच्यते । अत्रोपक्रमे ब्रह्मणः प्रकृतत्वात् 'तदेवाग्नि-

स्तद्वायुस्तदादित्यस्तदु चन्द्रमा'इतिकथनाच्च । सा च चेतनाधिष्ठिता, मध्ये '**द्वासुपर्णे**'ति मन्त्रकथनात्, अजद्वयं च जीवब्रह्मरूपं ताभ्यामधिष्ठिता । सा च प्रथमसृष्टिरवादिजननेन बहुप्रजास्रष्ट्री चेति । एतच्छन्दोगशाखायामधीयते । अतस्तदनुसारेणायमेवार्थः, न तु मतान्तररूप इत्युक्तम् । ततस्**तृतीये** ननु शब्दस्य वृत्तिद्वयं योगो रूढिर्वा । तत्र न जायते इति योगः प्रथमसृष्टौ न सङ्गच्छते, जननात् । रूढिस्तु छागयाम्, साप्यत्र न सङ्गच्छते, तदाकाराभावात् । अतः कथमजाशब्देन प्रथमसृष्टिप्राप्तिः । साङ्ख्यमते तु प्रधानस्य जननानङ्गीकाराद्योगो निर्बाधः । तस्मात्साङ्ख्यमतमेवादर्तव्यमित्याशङ्कायां समाधिमाह । अत्र हि किञ्चित्कार्यार्थं परोक्षवादेनाजाशब्दस्तस्यां कल्पनयोपदिश्यते । यथाजा बर्करसहिता सवत्सा स्वामिहिता, तथेयं जीवविशिष्टा कार्यवती भगवल्लीलोपयोगायेति भगवतः परोक्षप्रियत्वाच्चेति । तथा च यथा मध्वादिविद्यायां 'असावादित्यो देवमध्वि'त्यादौ (कल्पना, तथैवात्र) । अतो गौण्या तथोपदिश्यते । तस्मान्नाजामन्त्रेण साङ्ख्यमतसिद्धिरित्युक्तम् ॥ २ ॥

ततस्**तृतीये त्रिसूत्रे न सङ्ख्योपसङ्ग्रहाधिकरणे** 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठित'इतिवाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, तत्र 'पञ्च पञ्चजना' इतिशब्दे पञ्च च ते पञ्च च पञ्चपञ्च, तादृशाश्च ते जनाश्च पञ्चपञ्चजना इत्येवं समस्य, अनेन शब्देन पञ्चविंशतिसङ्ख्यासङ्ग्रहादत्र साङ्ख्यसिद्धानि पञ्चविंशतितत्त्वान्युच्यन्ते इति साङ्ख्यमतसिद्धिरित्याशङ्क्य निषेधति । अत्रानेन समासेन पञ्चानां समूहानां पञ्चतया तदुक्ता सङ्ख्या सिध्यति, न त्वन्यथा । तेषां तु न समूहाः पञ्च । 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष' इतिभिन्नप्रकारेण सङ्ख्यान्युत्पादनात् । मन्त्रे आकाशस्यात्मनश्च ततोतिरेकेणोक्तत्वाच्च । तस्मान्न तन्मतसिद्धिरिति **प्रथमसूत्र उक्तम्** । ततो **द्वितीयसूत्रे** तर्हि को वा मन्त्रार्थः, किं च तत्र प्रमाणमित्याकाङ्क्षायां बुद्धेः संशयाद्याः पञ्च वृत्तीर्जनयन्तीति पञ्चजनास्तादृशा ये प्राणादयः पञ्च तेत्र पञ्च पञ्चजनशब्देनोच्यन्ते । अत्र 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदु'रितिवाक्यशेषः प्रमाणम्, 'सन्दिग्धेषु वाक्यशेषा'दितिन्यायात् । तस्मान्न तन्मतसिद्धिरित्युक्तम् । ततस्**तृतीयसूत्रे** ननु वाक्यशेषे कण्वशाखायां 'अन्नस्यान्न'मिति पाठाभावात् पञ्चवृत्तिजनकानां प्राणादीनां पञ्चसङ्ख्याकत्वं नास्तीति न वाक्यशेषस्य निर्णायकत्वमितिशङ्कायाम्, 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृत'मिति पञ्चमस्य ज्योतिषः पाठवत्त्वेन सङ्ख्यापूर्तिरिति वाक्यशेषस्य निर्णायकत्वमक्षुण्णम् । तस्माद्ब्रह्मवाद एवात्र, न साङ्ख्यमतसिद्धिरित्युक्तम् । एवमेतैस्त्रिभिरधिकरणैः श्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वयार्थमुपोद्घातेन साङ्ख्यमतस्य श्रौतत्वं निराकृतम् ॥ ३ ॥

अतः परमग्रिमैः श्रुतिविप्रतिषेधं निराकरोति । तत्र **चतुर्थे एकसूत्रे यथाव्यपदि-**

ष्ठाधिकरणे ननु श्रुतौ सृष्टिप्रकारा बहुधा दृश्यन्ते, क्वचिदाकाशादिका, क्वचित्तेजआदिका, क्वचिच्च युगपत् सर्वसृष्टिः । तत्रैकस्य पदार्थस्य नानाप्रकारतया वक्तुमशक्यत्वात्सृष्टिवाक्यानामर्थवादत्वेन ब्रह्मस्वरूपमात्रज्ञापकत्वं वक्तव्यम् ,न तु सृष्टौ तत्प्रकारे वा तात्पर्यम् । अतोध्यारोपापवादेन ब्रह्मणस्तटस्थत्वसिद्ध्या न पूर्वोक्तरूपं कारणत्वं सिध्यतीति श्रुतिं विहाय कपिलस्मृत्युक्तप्रकारेणैव जगद्व्यवस्थाङ्गीकार्येत्याशङ्कायाम्, आकाशादिवाक्येषु यद्यपि क्रमादिविप्रतिपत्तिः, तथापि ब्रह्मणः कारणत्वविप्रतिपत्तिर्नास्ति । एकत्र यादृशं ब्रह्मोच्यते तादृशमेव सर्वेषु सृष्टिवाक्येषु कारणत्वेनाभिप्रेयते । क्रमप्रकारादिभेदस्तु माहात्म्यस्यैव सूचकः । तस्मात् श्रुत्यैव निर्णय इति कारणत्वांशे स्मृतिर्न ग्राह्येत्युक्तम् ॥ ४ ॥

ततः **पञ्चमे एकसूत्रे समाकर्षाधिकरणे** ननु श्रुतौ क्वचित्सतः कारणत्वमुच्यते, क्वचिदसतः, क्वचिदुभौ निषिध्य तमसः, क्वचिदव्याकृतस्येत्येवं विप्रतिषेधाद् ब्रह्मणोपि कारणत्वं न सिध्यति। तस्मात्स्मृतिरेव कारणबोधिका ग्राह्येत्याशङ्कायाम्, असदादिशब्देषु न निरात्मकत्वाद्यर्था उच्यन्ते, किन्तु ततः समाकृष्य सर्वैः शब्दैर्ब्रह्मैवोच्यते। सर्वेषां शब्दानां प्रणवविकृतित्वेन प्रणवार्थे एव पर्यवसानात् । प्रणवस्य च ब्रह्मवाचकत्वात् । तस्मान्न विप्रतिषेध इत्युक्तम् । एवं **द्वाभ्यां** श्रुतौ शब्दविप्रतिषेध उपोद्घातेन परिहृतः ॥ ५ ॥

ततः **षष्ठे त्रिसूत्रे जगद्वाचित्वाधिकरणे** कौषीतकिब्राह्मणषष्ठाध्यायस्थं बालाक्यजातशत्रुसंवादं विषयत्वेनोपन्यस्य तत्र किं ब्रह्मसहितो जीवः कर्तृत्वेनोच्यते, उत ब्रह्मैव वेतिसन्देहे, ब्रह्मसहितस्य जीवस्यैव कर्तृत्वमाशङ्क्य, 'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वै तत्कर्म स वै वेदितव्य' इत्यजातशत्रुणा सिद्धान्तकथनोपक्रमे एतच्छब्देनादित्यमण्डलादिजडोल्लेखात्पुरुषशब्देन च जीवोल्लेखात् जीवजडात्मकं जगद्यत्कर्तृकं तस्य वेदितव्यत्वकथनेन श्रुत्यन्तरसिद्धब्रह्मण एव कर्तृत्वम् , न प्रकृत्यभिमानिजीवस्येति **प्रथमसूत्रे** उक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** जीवमुख्यप्राणलिङ्गदर्शनान्न ब्रह्मणः कर्तृत्वमितिसूत्रांशेनाशङ्क्य, अंशान्तरेण पूर्वमनुगमाधिकरणे उक्तं समाधानं स्मारयामास । जीवस्य ब्रह्माश्रितत्वान्मुख्यप्राणस्य च ब्रह्मयोगादत्र तथात्वेन कथनं न स्वेन रूपेण । तस्माद्ब्रह्मैव कर्त्रीत्युक्तम् । ततस्**तृतीये सूत्रे** प्रकृत्यभिमानिजीवस्य कर्तृत्वमप्यस्मिन् वाक्येऽनभिमतम् , जीवलयोद्गमयोर्ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वात् । प्रश्नव्याख्यानाभ्यां तथावसायात् । वाजसनेयिनामेतत्समानप्रकरणेपि तथावसायाच्चेत्युक्तम् । एवमत्र जीवब्रह्मवादनिराकरणेन जीवविशिष्टा प्रकृतिरेव कारणमित्येतदुपोद्घातेन निराकृतम् ॥ ६ ॥

ततः **सप्तमे चतुःसूत्रे वाक्यान्वयाधिकरणे** जीवब्रह्मवादनिराकरणेन प्रकृतिकारणवादो निराक्रियते । तत्र बृहदारण्यकस्थं मैत्रेयीब्राह्मणद्वयं विषयत्वेनोपन्यस्य, तत्र जीवस्य प्रकरणित्वं ब्रह्मणो वेति संशये, वेदरूपमहावाक्यस्य ब्रह्मण्येवान्वयदर्शनात्, सुखरूपभगवदन्वयेनैव जीवस्यापि प्रियत्वात्, सर्वोपनिषदनुरोधेनास्यापि वाक्यस्य ब्रह्मण्येवान्वयादत्रापि ब्रह्मैवोच्यत इत्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रेऽस्मिन्** वाक्ये **ब्रह्मैवोच्यते** इत्यत्रान्येषां ब्रह्मवादैकदेशिनां सम्मतिं वक्तुं प्रथममाश्मरथ्यमतेनाह । तन्मते हि **ब्रह्मणा** स्वस्य भोगनिष्पत्त्यर्थं विस्फुलिङ्गवत्प्रकटीकृतः स्वांशो जीवः, तेन जीवेनोपक्रमः, तस्यैव प्रियत्वेन संसूचनात्, उपक्रमस्य च बलिष्ठत्वात् जीवात्मैव प्रकरणीति स एव ज्ञेयत्वेनोपदिश्यते इतिशङ्कायाम्, नात्र जीवात्मनो ज्ञेयत्वेनोपदेशः, किन्तु परमात्मन एव । जीवेनोपक्रमस्तु 'आत्मनि वा विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवती'तिप्रतिज्ञायाः सिद्धिः तस्याः लिङ्गम्, यदि हि जीवः परमात्मनः सकाशाद्भिन्नः स्यात्, तदा परमात्मज्ञाने तदज्ञानादात्मज्ञानेन सर्वज्ञानप्रतिज्ञा न सिध्येत् । अतस्तदर्थमुपक्रमे जीवः परामृश्यते, न तु प्रकृतिसंसृष्टस्य जीवस्य कारणत्वार्थमित्याश्मरथ्यमतमुक्तम् । ततस्**तृतीये सूत्रे**, यदत्रोपक्रमे गौणप्रियवैराग्यार्थं जीवकथनं, तत्त्वनादिसिद्धस्यापि जीवस्य संसारभावादुत्क्रमिष्यतो मुक्तौ जीवो भगवानेव भविष्यतीति बोधनार्थं लिङ्गम्, नतु प्रकृतिसंसृष्टजीवस्य कारणत्वार्थम्। तस्मान्नात्र प्रकृतिसंसृष्टजीवकारणवाद इत्यौडुलोमिमतमुक्तम्।ततश्**चतुर्थे सूत्रे** कयाचिदवस्थयावस्थितं ब्रह्मैव जीवः । अतः संसारदशायामपि जीवो ब्रह्मैवेति ज्ञापनार्थं तदुपक्रमो, नतु प्रकृतिसंसृष्टस्य जीवस्य कारणत्वार्थमितिकाशकृत्स्नमतमुक्तम् । तस्माद्ब्रह्मैवात्र कारणत्वेनोच्यते ॥ ७ ॥

ततोष्टमे **पञ्चसूत्रे प्रकृतिश्चेत्यधिकरणे** प्रकृतिः समवायिकारणम्, ब्रह्म तु निमित्तादिकारणमित्येवमाशङ्क्य, प्रकृतिशब्दवाच्यं ब्रह्मैवेति साधितम् । छान्दोग्ये एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं यत् प्रतिज्ञातं, मृत्पिण्डादिदृष्टान्तत्रयं च यदुक्तं, तदनुपरोधादितिहेतुश्च **प्रथमसूत्रे** उक्तः । तथा च यदि मूलकारणे ब्रह्मणि समवायिकारणत्वरूपं प्रकृतित्वं न स्वीक्रियेत, तदा प्रतिज्ञादिसामञ्जस्यं न स्यात्, अतस्तथेत्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** सृष्टौ भगवत्कृतमभिध्यानं 'बहु स्यां प्रजायेये'ति स्वस्य बहुरूपत्वेन उच्चनीचभावेन च यद्विचारणं तद्धेतुत्वेनोक्तम् । तेन स्वयमेव तत्तद्रूप इति सिध्यति । किञ्च, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्येवमुपासनाप्युपदिश्यते । अतोपि प्रकृतिशब्दवाच्यं ब्रह्मैव । ततस्**तृतीये** 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यस्तं यन्ती'तिश्रुत्या ब्रह्मणः प्रपञ्चोत्पत्तिलयाधारत्वं साक्षादेवोच्यते । तच्च समवायित्वस्यैव लिङ्गम् । अतोपि प्रकृतिशब्दवाच्यं ब्रह्मैव । ततश्**चतुर्थे** 'तदात्मानं स्वयमकुरुते'तिश्रुतिः **ब्रह्मणः परिणाममाह** । परिणामश्चोपादानसमसत्ताककार्यापत्तिरूपः । अतोपि ब्रह्मैव प्रकृतिशब्दवाच्यम् । ततः **पञ्चमे** ननु जडस्य समवायिकारणं ब्रह्मास्तु, यत्तु चेतनाधिष्ठितं शरीरं तस्य शुक्रशोणितजन्यत्वदर्शनात् तत्र ब्रह्मणो निमित्तत्वम्, प्रधानस्य तु समवायित्वमित्यस्त्वित्याशङ्कायाम्, 'सदेव सौम्येद'मित्यादिषु सृष्टिबोधकश्रुतिष्ववधारणदर्शनात् ब्रह्मैवोभयरूपम्, अन्यथावधारण[illegible]त्तेः । किञ्च, 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनि'

मित्यादिषु योनित्वमपि ब्रह्मण एवोच्यते, पुरुषत्वं च । तस्मादक्षरपुरुषभावेनोभयरूपो भगवानेव, योनिर्बीजं च । अतः कथञ्चिदपि न प्रकृतिप्रवेशः । एवं त्रिभिरधिकरणैरुपोद्घातेनार्थविप्रतिषेधः परिहृतः । अतः साङ्ख्यमतमशब्दमेव ॥ ८ ॥

ततो **नवमेधिकरणे एकसूत्रे** अन्येपि स्मार्ता वादाः येषु ब्रह्मणः सर्वविधं कारणत्वं नोच्यते, ते सर्वे अश्रौता एवेत्यतिदिष्टम् । तदेवाग्रिमाध्याये विस्तरेण वक्ष्यते ॥ ९ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

प्रथमाध्यायः समाप्तः ।

द्वितीयोध्यायः ।

प्रथमाध्याये सर्वासां श्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वयः प्रतिपादितः । स तदा स्थिरो भवति यदा श्रुतीनां **परस्पर**विरोधः परिह्रियते, अन्ये **विरुद्धाः स्मार्ता** वादाश्च निराक्रियन्ते। अतस्तदर्थं **द्वितीयेध्याये** श्रुत्यविरोधं प्रतिपादयति, विरुद्धवादांश्च निराकरोति ।

तत्र **प्रथमे पादे युक्त्या** श्रुतिविरोधपरिहारः । ततो **द्वितीयपादे** स्मृतीनां वेदबोधकत्वाभावेपि ताभिः **स्वातन्त्र्येण** कश्चित् पुरुषार्थः सेत्स्यतीत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं बाह्याबाह्यमतान्येकीकृत्य तेषां निराकरणम् । मतैकीकरणं च भ्रान्तेस्तुल्यत्वबोधनार्थम् । **तृतीयपादे** प्रथमं भूतानामुत्पत्तिस्वरूपमुत्पत्तिक्रमश्च विचार्यते, ततो **जीवात्मस्वरूपं** तद्धर्माश्च । **चतुर्थे** च **इन्द्रियोत्पत्तिक्रमस्तत्स्वरूपादिकं** च विचार्यते ।

तत्र **प्रथमाध्याये** 'अपि स्मर्यते, स्मृतेश्चे'तिकथनेन स्मृतिप्रामाण्याङ्गीकारात् तयैव श्रुत्यर्थनिर्णयः कार्यः, अन्यथा तद्वैयर्थ्यप्रसङ्ग इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं प्रथमं **सूत्रत्रयेण** साङ्ख्ययोगस्मृत्योर्नित्यानुमेयश्रुतिमूलकत्वाभावाय प्रामाण्यमुपोद्घातेन निराकृतम् । ततः **प्रथमे सूत्रे** साङ्ख्यस्मृतेर्मोक्षैकोपयोगित्वात् तत्प्रामाण्यमङ्गीकृत्य तदनुरोधेनैव श्रुतिविप्रतिषेधः परिहार्यः, अन्यथा तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गादितिसूत्रांशेनाशङ्क्य, तत्प्रामाण्याङ्गीकारे 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथे'त्यादिगीतास्मृतिविरोधः । तदप्रामाण्याङ्गीकारे च ब्रह्मकारणत्वबोधकश्रुतिविरोधः । अतो गीतास्मृतिप्रामाण्यमावश्यकम् । तेन श्रुतिविप्रतिषेधनिराकरणे कपिलस्मृतेर्न प्रामाण्यमित्युक्तम् । ततो **द्वितीये सूत्रे** प्रकृतिव्यतिरिक्तानां महदादीनां लोके वेदे चानुपलम्भात् तदुक्तयुक्तीनामप्रयोजकत्वमित्युक्तम् । **ततस्तृतीये सूत्रे** पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिविरोधाद् योगस्मृतिरपि साङ्ख्यवत् प्रधानकारणत्वांशेऽप्रमाणमित्युक्तम् । एतेषु पूर्वपादोक्तस्यैवार्थस्य परामर्शात् तदुपोद्घातगर्भः प्रसङ्गः सङ्गतिः । एवमग्रेपि बोध्यम् । त्रीण्येतानि प्रत्येकमधिकरणानीति भाष्यप्रकाशादवगन्तव्यम् ॥ १,२,३ ॥

ततश्चतुर्थे त्रिसूत्रे न विलक्षणत्वाधिकरणे प्रथमसूत्रद्वयेन पूर्वः पक्षः ।

एकेनाग्रे सिद्धान्तः । तत्र **प्रथमसूत्रे** चेतनं ब्रह्म जगदुपादानं न भवति, जगतो **जडत्वेन** ब्रह्मणस्तद्विलक्षणत्वात् । विलक्षणत्वस्य 'विज्ञानं चाविज्ञानं चे'तिश्रौतशब्दादेव प्रतीतेरित्युक्तम् । ततो **द्वितीये सूत्रे** ननु 'मृदब्रवी'दितिश्रुतौ मृदादेर्वक्तृत्वादिकथनेन मृदादिष्वपि चेतनत्वस्य श्रुत्यभिप्रेतत्वात् जगतोपि चेतनतया ब्रह्मसालक्षण्याद् **ब्रह्मकार्यत्व**मिति सिद्धान्तिनाशङ्किते, अत्र मृदाद्यभिमानिनी देवतैव वक्तृत्वादिरूपेण व्यपदिश्यते, अन्यथा 'विज्ञानं चाविज्ञानं चे'तिचेतनाचेतनविभागरूपो विशेषो नोच्येत । 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविश'दितिश्रुतौ देवताप्रवेशो वागादिषु नोच्येत । तस्माच्चेतनाचेतनात्मकं जगत् न ब्रह्मोपादेयमिति सूत्रद्वयेन पूर्वपक्ष उक्तः । **ततस्तृतीये** समाधिमाह । कार्यकारणयोर्वैलक्षण्यं लोके गोमयवृश्चिकादौ देहकेशादौ च दृश्यते । अतो **विलक्षणत्वेन** हेतुना जगति ब्रह्मोपादेयत्वबाधनं न शक्यवचनम् । सदंशस्य कार्यकारणयोस्तुल्यत्वेन सालक्षण्याच्च । तस्मान्न जगतो ब्रह्मकार्यत्वप्रतिषेधः ॥ ४ ॥

ततः **पञ्चमे पञ्चसूत्रे असदिति चेदित्यधिकरणे** असत्कारणत्वसत्कारणत्वबोधकश्रुत्योः परस्परविरोधः परिह्रियते । तत्र **प्रथमे सूत्रे** 'असद्वा इदमग्र आसी'दितिश्रुतावसतः कारणत्वमुच्यते । 'सदेव सौम्येद'मित्यत्र च सतः कारणत्वमुच्यते, तयोः कथं विरोधपरिहार इत्याशङ्क्य, उक्तश्रुतौ 'असदि'ति यत् कथनं तत् छान्दोग्ये 'कथमसतः सज्जायेते'तिकथनात् असतः कारणत्वनिषेधार्थम् । यत् पुनस्तैत्तिरीये तथावचनं तत् स्रक्ष्यमाणापेक्षया पूर्वसृष्टस्यासाधुत्वार्थम्, असाधुन्यप्यसदितिप्रयोगात् । कार्यस्थूलरूपसत्ताभावार्थं वा । अतो न श्रुत्योर्विरोध इत्युक्तम् । ततो **द्वितीये सूत्रे** ब्रह्मकारणवादे पूर्वपक्ष उच्यते । ब्रह्मकारणवादे यदा कार्यस्य ब्रह्मणि लयः, तदा कार्यधर्माः परिच्छिन्नत्वाशुद्धत्वादयो ब्रह्मणि भविष्यन्तीत्यसङ्गतं ब्रह्मकारणत्वमित्येवं शङ्काकरणात् । ततोग्रिमेषु तत्परिहार उक्तः । **ततस्तृतीये** ब्रह्मकारणवादो नासंगतः । कार्यस्य कारणे लये **कार्यधर्मा न कारणे दृश्यन्ते**, शरावरुचकादीनां मृदि लये शरावादिधर्मादर्शनादित्युक्तम् । **ततश्चतुर्थे प्रतिबन्दी उक्तः** । तवापि सत्कार्यवादित्वात्सविशेषस्य कार्यस्य ये धर्माः परिच्छिन्नत्वव्यक्तत्वादयस्ते अव्यक्ते प्रधाने भविष्यन्ति । अतो न वयं पर्यनुयोक्तव्या इत्युक्तम् । ततः **पञ्चमे** सावद्यतर्कस्याप्रतिष्ठितत्वात्प्रतिवादिना तदनङ्गीकारेण दोषादविमोक इत्युक्तम् ॥ ५ ॥

ततः **षष्ठे एकसूत्रे एतेनेत्यधिकरणे** सांख्यनिराकरणेनान्येपि वादा निराकृता इत्युक्तम् ॥ ६ ॥

ततः **सप्तमे एकसूत्रे भोक्त्रापत्तेरित्यधिकरणे** ननु प्रलये सर्वस्य कार्यस्य कारणरूपतया एकरूपत्वे जाते पुनरुत्पत्तिदशायां भोग्यस्य स्रक्चन्दनादेः भोक्तृत्वापत्तिः, भोक्तुश्चेतनस्य भोग्यत्वापत्तिरित्येवमविभागः स्यादितिसूत्रांशेनाशंक्य, अंशान्तरेण समाहितम् । यथा लोके कटकमुपमृद्य रुचके क्रियमाणे कटकत्वं न भवति, तथोत्पत्तिदशायां भोग्यस्य भोग्य-

त्वेनैवोत्पत्तिः, भोक्तुर्भोक्तृत्वेनैवेति न विभागाभावः। कारणस्य चेतनत्वेन तस्य तस्य तथैवोत्पादनादित्युक्तम् । तेन 'विज्ञानं चाविज्ञानं चे'ति श्रुतौ कार्ये विभागाभावरूपो दोषः परिहृतः ॥ ७ ॥

ततो**ष्टमे त्रिसूत्रे तदनन्यत्वाधिकरणे** छान्दोग्यस्थे वाचारम्भणवाक्ये कार्यस्य कारणाभिन्नत्वं प्रतिपादितम्, न तु कार्यमिथ्यात्वमित्युक्तं **प्रथमसूत्रे** । ततो **द्वितीयसूत्रे** कार्यस्य घटादेर्विद्यमानत्व एवोपलम्भः । नत्वविद्यमानत्वे । अतः श्रुत्यविरुद्धं प्रत्यक्षमपि कार्यस्य कारणानन्यत्वे प्रमाणमित्युक्तम् । तत**स्तृतीये** प्रपञ्चस्य सदैव सत्त्वम्, 'सदेव सौम्येदमग्र आसी'दित्यादिश्रुतौ परिदृश्यमानबोधकादिदंपदात् । 'तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम् । आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पव' दितिविष्णुपुराणवाक्याच्च । एवमनेनाधिकरणेन श्रुतिप्रत्यक्षाभ्यां कार्यस्य सदात्मकत्वेन ब्रह्मानन्यत्वं साधितम् ॥ ८ ॥

ततो **नवमे चतुःसूत्रे असद्व्यपदेशाधिकरणे** असत्कार्यवादो निराकृतः। ततः **प्रथमसूत्रे** 'असद्वा इदमग्र आसी'दितिश्रुतौ कार्यमसदितिव्यपदेशात् असत्कार्यवाद आस्थेय इतिसूत्रांशेनाशंक्य, सूत्रांशेन समाहितम् । एतद्वाक्यशेषे 'स आत्मानं स्वयमकुरुते'तिश्रावणात् कार्यस्य प्रागुत्पत्तेरात्मत्वेनैव रूपेण सत्त्वम्, नतु व्याकृतस्वरूपेण । तस्मादसत्त्वमुच्यते, न त्वसत्त्वेनेत्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** सत्कार्यवादस्थाभिर्युक्तिभिरात्मानमितिशब्दान्तराच्च नासत्कार्यवाद आस्थेय इत्युक्तम् । युक्तयस्तु भाष्यप्रकाशादवगन्तव्याः । तत**स्तृतीये** पटदृष्टान्त उक्तः । यथा पटः संवेष्टितो न तावान् प्रतीयते, तथा कारणे कार्यं सूक्ष्मरूपत्वान्न प्रतीयते, प्रकटं तु प्रतीयत इत्युक्तम् । तत**श्चतुर्थे** प्राणादिदृष्टान्त उक्तः। यथा प्राणादीनां नियमने जीवनमात्रम्, अनियमने त्वाकुञ्चनादिः संभवति, तथा जगदपि कारणे प्रविष्टं सन्मात्रं तिष्ठति, बहिःप्रकटं कार्यं करोति। अतोऽसत्कार्यवादो न प्रामाणिक इत्युक्तम् ॥ ९ ॥

ततो **दशमे त्रिसूत्रे इतरव्यपदेशाधिकरणे** चेतनकारणतायां प्राप्ता दोषाः परिह्रियन्ते । तत्र **प्रथमे** चेतनस्य जीवस्यापि ब्रह्मत्वात्सृष्टौ तस्य प्रवेशे दुःखित्वादिकं भवति । तच्च ब्रह्मणो हिताकरणत्वादिदोषप्रसक्त्या असंगतमित्याशंक्य, अग्रिमसूत्रद्वये परिहारमाह। तत्र **द्वितीये** ब्रह्म जीवादधिकम्, न तु जीवमात्रम्, तेन तद्दोषेपि न दुष्यति। यथा सुवर्णखण्डस्यान्यमेलनेन दुष्टत्वेपि न सुवर्णस्य दुष्टत्वम्, तद्धिताहितं च करोति, लोके स्वदेहेपि नखनिकृन्तनकेशप्रसाधनादिदर्शनात् । जीवपरमात्मनोर्भेदस्तु विज्ञानानन्दप्राधान्यभेदात् । आनन्दस्याधिक्यं तु भूमविद्यायां तत्रैव ज्ञेयत्वस्य पर्यवसानात् । तत**स्तृतीये** यथा पार्थिवत्वाविशेषेपि हीरकपाषाणयोश्चन्दननिम्बयोश्च स्वभावभेदः, तथा जीवानामपि । तथा च ब्रह्मवादे लोकन्यायेन प्रत्यवस्थानं नोचितमिति साधितम् ॥ १० ॥

तत **एकादशे षट्सूत्रे उपसंहारदर्शनाधिकरणे** तत्रैकस्यैव ब्रह्मणः सर्वविधकारणत्वे ये दोषास्ते परिह्रियन्ते । तत्र **प्रथमसूत्रे** लोके मृत्कुलालचक्रचीवरादीनामुपादानकर्तृनिमित्तान्तराणां परस्परभिन्नानां दर्शनादेकस्यैव सर्वविधकारणत्वमसंगतमिति सूत्रांशेनाशंक्य, क्षीरं यथा यदा दध्याकारेण परिणमति, तदा नान्यत्किञ्चिदपेक्षते, तथा ब्रह्मापीत्यंशान्तरेण समाहितम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** यथा देवर्षिपितर इतरनिरपेक्षा योगबलेन सर्वं कुर्वन्ति, तथा ब्रह्मापीच्छयेति समाधानान्तरमुक्तम् । तत**स्तृतीये** ब्रह्मण उपादानत्वे कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोष आशंकितः । तत**श्चतुर्थे** ब्रह्मणः स्वरूपं कारणत्वं च न लोकगम्यं येनैवमाशंक्येत, किन्तु श्रुत्येकसमधिगम्यम् । सा च स्वत एव प्रमाणम् । सा च यथा वदति, तथैवांगीकार्यमित्येवं समाहितम् । ततः **पञ्चमे** ब्रह्मणः सर्वविधकारणत्वेपि देशकालाधिकरणापेक्षा त्वावश्यकीत्याशंक्य, 'परास्य शक्ति'रिति श्रुतेर्ब्रह्मणो विचित्रशक्तित्वाद्देशकालाद्यनपेक्षा युक्ता । 'आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजेहमनुपालय' इत्यात्मन्यपि सृष्टिर्युक्तेत्युक्तम् । ततः **षष्ठे** प्रधानकारणवादेपि ते दोषास्तुल्या ये ब्रह्मकारणवादे दीयन्ते । तस्मात्पर्यनुयोगो न युक्त इत्युक्तम् ॥ ११ ॥

ततो **द्वादशेष्टसूत्रे सर्वोपेता इत्यधिकरणे** भगवतः कर्तृत्वे दोषान् परिहरति । तत्र 'स विश्वकृ'दिति श्रुतौ कर्तृत्वं बोध्यते, निर्वाहकाभावे तत्कथं संगच्छत इत्याकांक्षायां **प्रथमसूत्रे** सर्वशक्तियुक्तत्वं साधितम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** ब्रह्मणो निरिन्द्रियकत्वात्कथं कर्तृत्वम् । तत**स्तृतीयसूत्रे** ब्रह्मणः प्रयोजनाभावात्किमर्थं कर्तृत्वमित्येवमाशंकितम् । तत**श्चतुर्थे** लोकवल्लीलया समाहितम्। ततः **पञ्चमे** ब्रह्मणः सृष्टिकरणे जीवानां सुखदुःखसंभवात् वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामित्याशंक्य, जीवकर्मसापेक्षत्वान्न ब्रह्मणि दोष इत्युक्तम् । कर्मसापेक्षत्वेपि नेश्वरत्वहानिरिति चोक्तम्। ततः **षष्ठे** जीवानां प्रपञ्चप्रलयदशायां ब्रह्माविभागात्कथं कर्मसत्तेति[1] सूत्रांशेनाशंक्य, बीजाङ्कुरवत्प्रवाहानादित्वादिति सूत्रांशेन समाहितम्। ततः **सप्तमे** उपपत्त्या श्रुतिस्मृत्योस्तदुपलम्भाच्च जीवस्यानादित्वं समर्थितम्। ततो**ष्टमे** ब्रह्मणः सर्वसमर्थत्वात्सर्वं संगच्छत इत्युक्तम् । एवं चास्मिन्पादे पूर्वाध्यायचतुर्थपादस्थितं हृदिकृत्य सर्वं चिन्तितम् । तेन बुद्धिस्थानात्मकोपोद्घातात्तद्गर्भः प्रसङ्गः सङ्गतिरिति ॥१२॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

अथ **द्वितीयपादे** वेदविरुद्धा बाह्या अबाह्याश्च स्मृतयो दूष्यन्ते, तासां न परमफलसाधकत्वमिति ज्ञापनार्थम् ।

तत्र **प्रथमे षट्सूत्रे रचनानुपपत्तेरित्यधिकरणे** प्रधानस्य कर्तृत्वं दूष्यते । तत्र **प्रथमसूत्रे** अचेतनस्य प्रधानस्य बुद्धिपूर्वकक्रियारूपा या रचना सा नोपपद्यते, प्रधानस्याचेतनत्वेन क्रियाकारणभूताया बुद्धेस्तत्र वक्तुमशक्यत्वादित्युक्तम् । ततो

---

[1] कर्मसत्तेति मूले पाठः ।

द्वितीये सूत्रे लोकरचना यथा केवलादचेतनान्नोपपद्यते, तथा शुक्रशोणितजन्या शरीररचनापि । तत्र मातापित्रोरुभयोश्चेतनयोः प्रवृत्तिदर्शनात्, अचेतने केवले तादृशप्रवृत्त्यदर्शनादित्युक्तम् । ततस्तृतीये ननु केवलाचेतनेपि दुग्धे फेनरचनादयो विचित्रा दृश्यन्ते, तादृशे नदीजले च स्पन्दनादयः । तद्दृष्टान्तेनाचेतनस्य केवलस्य प्रधानस्यापि रचनाकर्तृत्वं प्रवृत्तिश्चास्त्विति सूत्रांशेनाशंक्य, अशांतरेण समाधत्ते । तत्रापि दोहनाधिश्रयणयोश्चेतनकर्तृकयोर्निमित्तत्वेन दर्शनात् । नदीजले च मेघानां चेतनानां निमित्तत्वेन दर्शनादित्युक्तम् । ततश्चतुर्थे एवं त्रिभिः सूत्रैः केवलप्रधानस्य कर्तृत्वं दूषयित्वा केवलस्य तस्य परिणामं दूषयति । केवलं प्रधानं चेत् स्वतः परिणमेत्, सर्वदैव परिणमेत्, तथा सति प्रलयो न स्यात् । गुणाश्च साम्यावस्थयावस्थिताः स्वत एव संक्षुभ्येरन्, तदा सृष्टिस्थितिप्रलया युगपदेव स्युः, कार्यं च सात्त्विकादिभेदेन न विभज्येतेत्युक्तम् । ततः पञ्चमे ननु तृणपल्लवादयः पशुभक्षिताः स्वभावादेव क्षीरभावेन परिणमन्ते इत्याशङ्कायां समाधीयते । यदि तृणादिकं स्वभावत एव क्षीरभावेन परिणमेत, तदा शृङ्गेपि क्षीरं लभ्येत, तत्तु न लभ्यते, धेन्वादिकृता भक्षणक्रिया च तत्र सहकरोतीति न केवलस्य प्रधानस्य परिणामः शक्यवचन इत्युक्तम् । ततः षष्ठे 'तुष्यतु दुर्जन' इति न्यायेन केवलस्य प्रधानस्य परिणाममभ्युपगम्य पुनर्दूषयति । यदि केवलस्य प्रधानस्य परिणामोऽभ्युपगम्यते, तदापि स किमर्थः । न च पुरुषार्थ इति वक्तव्यम् । प्रयोजनप्रेक्षापूर्वकप्रवृत्तेश्चेतनधर्मत्वेन केवले प्रधाने सा न वक्तुं शक्यते । तस्माद् दूषणतादवस्थ्यम् । एवमनेनाधिकरणेन केवलप्रधानकारणवादो निराकृतः ॥ १ ॥

ततो **द्वितीये चतुःसूत्रे पुरुषाश्मवदित्यधिकरणे** पुरुषप्रेरितप्रधानकारणवादो निराक्रियते । पंग्वारूढोन्धो यथा गच्छति, तथा पुरुषाश्लिष्टं तत्प्रेरितं प्रधानं महदादिसृष्टिं करोतीत्येकं मतम् । अन्यच्च, यथा अयःकान्तसन्निधौ लोहस्य क्रिया, तथा पुरुषसन्निधानमात्रेण प्रधानस्य महदादिकर्तृत्वमिति द्वितीयम् । तत्पुनः सूत्रांशेनाशंक्य, अंशान्तरेण दूषयति । प्रधानपुरुषयोर्व्यापकत्वेन संसर्गस्य सन्निधेश्च सार्वदिकत्वात्पूर्वोक्तदोषस्तदवस्थः । अनिर्मोक्षश्चाधिकः । तस्मान्मतद्वयमप्यसंगतमिति पूर्वसूत्रे उक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** प्रधानपुरुषयोर्मध्ये किं पुरुषस्यांगित्वं प्रधानस्य वा । तत्र नाद्यः, सर्वेषां पुरुषाणां समत्वेनैकस्य नियामकत्वम्, नान्येषामिति विभागो न स्यात् । न द्वितीयः, स्वतन्त्रेण प्रधानेन पुरुषाय स्वदोषा न प्रदर्शनीयाः । तथा सति दुःखाभावेन वैराग्याभावात् मोक्षार्थं प्रयत्न उच्छिद्येत । तस्मादंगित्वमनुपपन्नमित्युक्तम् । ततस्तृतीये ननु गुणा एवं विभागशः प्रवृत्तिमन्तः, चलस्वभावत्वात्, चलदलदलवदित्येवमनुमाने पूर्वोक्ताः सर्वे दोषाः निराकृताः स्युरित्याशङ्क्य, तत्र दूषणमाह । एवं प्रकारान्तरेणानुमितावपि न दोषपरिहारः, कार्यक्रमानुपपत्त्यादिदूषणग्रासात् । नहि गुणैः कालो ज्ञायते, येन प्रथमं रजः

क्षुभ्यति, ततः सत्त्वम्, ततस्तम इति । अतो गुणेषु ज्ञानशक्तिवियोगात् **सर्वमसमञ्जसमित्युक्तम्** । ततश्चतुर्थे सांख्यमतवर्तिनां नानाविधानि मतानि लोके दृश्यन्ते । एकादशस्कन्धे उद्धवप्रश्ने भगवता चानूदितानि । अतः परस्परविरोधादपि तन्मतमसंगतमित्युक्तम् । एवं दशभिः सूत्रैरधिकरणद्वयेन प्रधानकारणवादो निराकृतः ॥ २ ॥

ततस्तृतीये **सप्तसूत्रे महद्दीर्घवद्वेत्यधिकरणे** न्यायवैशेषिकादिमतमवसरसंगत्या दूष्यते । ते हि परमाणूनां समवायित्वमंगीकृत्य, ईश्वरकृतात्तत्संयोगाद्द्व्यणुकादिसृष्टिमंगीकुर्वन्ति । तत्र संयोगप्रकारो दूष्यते । परमाणूनां स्वरूपं ह्रस्वं परिमण्डलं च । तयोर्यद्युपर्युपरि संयोगः, तदा कार्यं यष्टिवन्महत्स्यात् । यदि तिर्यक्, तदा नौकादिवद्दीर्घं स्यात् । पुञ्जसंयोगस्तु तैर्नेष्यते । अतस्तन्मतमसंगतमिति प्रथमसूत्रेणोक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** परमाणुद्वयसंयोगः सार्वदेशिको वैकदेशिको वा । नान्त्यः । प्रदेशाङ्गीकारे प्रदेशवत्त्वस्य सावयवत्वव्याप्यत्वात्परमाणोः सावयवत्वमनित्यत्वं चापद्येत । नाद्यः । संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वनियमात् । किञ्च, कर्मजोऽवयवजश्च संयोगो द्विविधः । तत्र निरवयवत्वान्नावयवज इत्युक्तम् । अथ कर्मजः । तत्र किं स्वभावादुत्पद्यते, ईश्वरसिसृक्षया वा । तयोरुभयोरपि नित्यत्वात्सर्वदा सृष्टिप्रसङ्गः । तस्मान्न स वक्तुं शक्यते इत्युक्तम् । ततस्तृतीये समवायो दूष्यते । स हि संबन्धः, संबन्धिद्वयनिरूप्यः । तथा सति द्व्यणुकस्य पूर्वमभावेन स कथं वक्तुं शक्यत इत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे, किञ्च, परमाणोः समवायिन ईश्वरेच्छाजीवादृष्टयोर्निमित्तयोश्च सृष्टिप्राक्काले सत्त्वात् सामग्रीसमवधानजन्यस्य परमाणुकर्मणस्तज्जन्यस्य संयोगस्य च सर्वदा आपत्त्या तयोरपि नित्यत्वापत्तिरित्युक्तम् । ततः **पञ्चमे** परमाणुनित्यत्वं दूष्यते । परमाणुषु तै रूपाद्यंगीक्रियते । यच्च रूपादिमत्, [illegible] लोके दृष्टम् । अतः परमाणुरनित्य इत्युक्तम् । ततः **षष्ठे** यदि परमाणुषु रूपादिकं नांगीक्रियते, तदा द्व्यणुकादिषु रूपाद्यभावापत्तिः । कारणगुणाः कार्यगुणारंभका इति तन्नियमात् । अतो रूपाद्यंगीकारे तदनंगीकारे च दोषादसङ्गतः परमाणुकारणवाद इत्युक्तम् । ततः **सप्तमे** सर्ववैदिकानादृतत्वादप्यसङ्गतः परमाणुकारणवाद इत्युक्तम् ॥ ३ ॥

ततश्चतुर्थे **दशसूत्रे समुदाय उभयहेतुकेपीत्यधिकरणे** । एकोनविंशतिसूत्रैर्बाह्यमतान्यवसरसंगत्या निराक्रियन्ते । तत्र सौगताश्चतुर्विधाः, वैभाषिकसौत्रान्तिकविज्ञानवादिमाध्यमिकभेदात् । तत्र पूर्वं वैभाषिकमतं निराक्रियते । तेषां मते समुदायद्वयं जीवभोगार्थं संहन्यते । तत्र पृथिव्यादिपरमाणुसमुदाय एकः । रूपादिस्कन्धसमुदायश्चापरः । रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारनामकाः पञ्चस्कन्धाः । तदुभयसंबन्धे जीवस्य संसारः, तदपगमे मोक्ष इति तेषां मतं प्रथमसूत्रे दूषयति । जीवस्य क्षणिकत्वेन तदुभयसमुदायाप्राप्तिः, तेन तदुक्तः संसारप्रकारो मोक्षश्चासंगत इत्युक्तम् । ततो **द्वितीये** क्षणिकत्वदूषणपरिहारं सूत्रांशेनोद्भाव्य, अंशान्तरेण दूषयति । तन्मते प्रत्ययः कारणसमुदायः । तत्र संस्कारः ।

सर्वक्षणिकत्वेपि मध्यपातिभ्योऽविद्यादिभ्यः स्कन्धप्रत्ययेभ्यो जन्मादयः, जन्मादिभ्यः प्रत्ययेभ्यश्चाविद्यादय इत्येवं चक्रवत्परिवृत्तावपि न कारणव्यक्तिं प्रति कार्यव्यक्तेः प्रत्ययता, किन्तु पूर्वपूर्वप्रत्ययस्योत्तरोत्तरप्रत्ययं प्रति कारणत्वम् । उत्तरोत्तरक्षणिकविज्ञानसंततेरेव जीवत्वम्, तादृशार्थं संततेरेव जडत्वम् । अतः क्षणिकविज्ञानसंतत्यात्मकस्य जीवस्य क्षणिकार्थं संतत्यात्मकसविषयेन्द्रियशरीराख्यरूपस्कन्धसंबन्ध इति संसारः । रागादिरूपसंस्कारस्कन्धविरामादेव तदभावरूपो मोक्षः । अतो न काप्यनुपपत्तिरितिसूत्रांशेनाशंक्य, अंशांतरेण तद्दूषयति । ये हि प्रत्यया उक्तास्ते सदृशीं संततिमुत्पाद्य नश्यन्ति । तथा सति विज्ञानसंततिरूपस्य जीवस्य पूर्वकालीनप्रियाप्रियसंस्पर्शाननुसन्धानात् कथं वेदनादिस्कन्धात्मसंसारसिद्धिः; कथं च तदभावसिद्धिः, स्थिरस्य कस्याप्यभावात् । तस्मादसंगतं तन्मतम् । ततस्**तृतीये** । किञ्च तन्मते स्थितिक्षणस्याभावात्प्रथमक्षणे उत्पत्तिः, द्वितीयक्षणे नाश इति प्रत्ययत्वस्यैवासंभवः, संघातस्य चासंभव इत्युक्तम् । एवं त्रिभिः सूत्रैः पुञ्जस्य कारणता दूषिता । ततश्**चतुर्थे** । असत्ये हेतौ फलोत्पत्तिरित्याकस्मिकत्वपक्षं दूषयति । तेषां हि प्रतिज्ञाद्वयम् । एका तु सर्वं क्षणिकमिति प्रतिज्ञा । द्वितीया तु आलंबनप्रत्ययसमनंतरप्रत्ययाधिपतिप्रत्ययसहकारिप्रत्ययाख्यांश्चतुर्विधान् हेतून् प्राप्य विज्ञानस्कन्धात्मकं चित्तं वेदनास्कन्धात्मकाश्चैत्ता उत्पद्यन्त इति । तत्र द्वितीयांगीकारे वस्तुनः क्षणान्तरसंबन्धात्प्रथमप्रतिज्ञा नश्यति । द्वितीया चेन्नांगीक्रियते, तदा प्रतिनियतहेत्वभावात्सर्वं सर्वतो युगपदेव स्यात् । तस्मात्तदसंगतमित्युक्तम् । ततः **पञ्चमे** एवं तदुक्तमुत्पत्तिप्रकारं दूषयित्वा नाशप्रकारं दूषयति च । तत्र तेषां मते पञ्चपदार्थाः । एनं नाशयामीति बुद्धिपूर्वको विनाशः प्रतिसंख्यानिरोधः । तां विना यो नाशः स अप्रतिसंख्यानिरोधः । आकाशश्च । एतत्त्रयं निरूपाख्यम् । अवस्त्विति यावत् । तत्राकाशस्वरूपं तद्दूषणसूत्रे वाच्यम् । क्षणिकं संस्कृतं चेति पञ्च । तत्र क्षणिकं संस्कृतं चेति द्वयं पूर्वसूत्रेषु दूषितम् । अधुना निरोधद्वयं दूष्यते । तन्मते पदार्थाः सर्वे क्षणिकाः सदृशसंतानजननस्वभावाः । क्षणिकानां च नाशकसंबन्धो न पूर्वं दृष्ट इत्यन्त्यानामपि पदार्थानां नाशकसंबन्धाभावात्पूर्ववदेव संततिप्रतिबंधाभाव इत्यविच्छेदादित्युक्तम् । एवमत्र कार्यविचारेण निरोधद्वयं दूषितम् । ततः **षष्ठे** तद्द्वयस्वरूपविचारेण तद्दूषयति । तत्र वैभाषिकाः सौत्रान्तिकाः योगाचाराश्च उक्तनिरोधैकदेशभूतेऽविद्याविनाशे मोक्षस्तद्दर्शनोक्तरीतिको भवतीति मन्यन्ते । तदसंगतम् । अविद्या(या)निर्हेतुके नाशेंगीक्रियमाणे तन्मतीयसाधनविधायकशास्त्रवैफल्यम् । सहेतुकनाशांगीकारे निर्हेतुकत्वप्रतिज्ञाहानिरित्युभयथापि दोष इत्युक्तम् । एवं सूत्रद्वयेन तदुक्तनाशप्रकारो दूषितः । ततः **सप्तमे** आकाशं दूषयति । तेषां मते आवरणाभाव एवाकाशः । सोपि निरूपाख्यः । तादृशेपि भूतान्तरवद्वस्तुत्वव्यवहारस्याविशिष्टत्वात् । अत्र गृध्रः, अत्र श्येन इत्यादिव्यवहारस्य तत्रापि दर्शनात् । अवकाशरूपेण प्रत्यक्षत्वाच्चावस्तु-

त्वमसंगतमित्युक्तम् । ततोऽ**ष्टमे** पुनःसंक्षेपेण क्षणिकवादं निराकरोति । **सर्वत्र स एवाय**मिति प्रत्यभिज्ञा दृश्यते । क्षणिकत्वे तु तस्य नष्टत्वात्कालान्तरे प्रत्यभिज्ञा बाध्येत । तस्मादसङ्गतः क्षणिकवाद इत्युक्तम् । ततो **नवमे** तदभिमतामभावाद्भावोत्पत्तिं निराकरोति । ते हि बीजोपमर्दं विनांकुरोत्पत्तिं, दुग्धोपमर्दं विना दध्युत्पत्तिमपश्यन्तो नष्टेभ्य एव बीजादिभ्यस्तत्तदुत्पत्तिं पश्यन्तः केवलादभावादेव भावोत्पत्तिं मन्यन्ते । तथाचालीकादेवोत्पत्तिरिति सिध्यति । तदसंगतम् । दृष्टविरोधात् । यदि ह्यलीकादभावादेव केवलात्कार्यं स्यात्तदा बीजाद्दधि स्यात्, दुग्धादङ्कुरं च । तत्तु न दृश्यते । तस्मान्नाभावाद्भावोत्पत्तिरित्युक्तम् । ततो **दशमे** यद्यभावादेव सर्वं स्यात्, तदा तस्य सर्वत्र सुलभत्वात् कृषिहलादिसाधनरहितानामपि धान्यादिः सिध्येत् । तत्तु न दृश्यते । अतोपि नाभावाद् भावोत्पत्तिरित्युक्तम् । एवं दशभिः सूत्रैः वैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्मतं निराकृतम् ॥ ४ ॥

ततः **पञ्चमे पञ्चसूत्रे नाभाव उपलब्धेरित्यधिकरणे** कारणांशे पूर्वं निराकृतोपि विज्ञानवादी कार्यांशे निराक्रियते । विज्ञानवाद्येव योगाचारः । स हि बाह्यं प्रपञ्चं नीलं पीतं घट इत्येतत्सर्वं विज्ञानाकारं मन्यते, न तु बाह्यार्थोस्तीति । अनादिवासनयैव च भासत इति तन्मतम् । एवं यस्तेन बाह्यार्थाभाव उक्तः, स न युक्तः । यदि सर्वं ज्ञानाकारमेवानादिवासनया भासेत, तदा वासनाया अन्तः विद्यमानत्वात् सर्वं सर्वदा सर्वत्र भासेत । तत्तु नास्ति । अतः कदाचित्कचिदुपलंभात् बाह्यार्थोस्तीति मन्तव्यमित्युक्तम् । ततो **द्वितीये** उपलब्धिमात्रेण वस्तुसत्त्वं चेत्तदा स्वप्नमायाभ्रमादिषु ये उपलब्धास्तेपि सत्याः स्युः । तस्मान्नोपलब्धिमात्रेण वस्तुसत्त्वं वक्तुं शक्यमित्याशङ्क्य निराकरोति । **बाह्यः प्रपञ्चः** स्वप्नादिविलक्षणः, बहुकालस्थायित्वात् । नहि तथा स्वप्नादिषु दृश्यते । तस्मात्तद्दृष्टान्तोप्यसङ्गत इत्युक्तम् । ततस्**तृतीये** यत्तैर्बाह्यार्थं विनैव वासनया ज्ञानवैचित्र्यमंगीक्रियते, तत्र बाह्यार्थं विना वासनैवानुपपन्ना, बाह्यार्थस्यैव वासनाजनकत्वात् । तस्य च तन्मतेऽभावादित्युक्तम् । ततश्**चतुर्थे** वासनाया आधारभूतस्य, अहमित्याकारो रूपादिविषय इन्द्रियादिजन्योयं क्षणिकविज्ञानसंतानः कर्ता भोक्तेत्यभिमानवान् आलयविज्ञानाख्यः, तस्य क्षणिकत्वाद्वासनायाः आधारोपि न वक्तुं शक्यः । तस्मादपि तन्मतमसङ्गतमित्युक्तम् । ततः **पञ्चमे** सर्वथानुपपन्नत्वादपि तन्मतमसङ्गतम् । तेन माध्यमिकोप्यसंबद्धभाषित्वादुपेक्षित इत्यपि सूचितम् । एवं पञ्चदशभिः सौगता निराकृताः ॥ ५ ॥

ततः **षष्ठे चतुःसूत्रे नैकस्मिन्नसंभवादित्यधिकरणे** विवसनस्य स्याद्वादिनो निराकरणम् । स हि स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यः, स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्य इत्येवं सप्तभङ्गीं मन्यते । सप्तभङ्गी नाम सप्तानां भंगानां समाहारः । सा च सार्वत्रिकी । तदिदं **प्रत्यक्षविरुद्धम्** । न ह्यस्तिनास्त्यादिभंग एककालं सर्वेषां दर्शनगोचरीभवतीति । तस्मादसंभवन्नसङ्गतः ।

किञ्चेयं सप्तभंगी सार्वत्रिकीति तदुक्तसाधनेषु तदुपदेष्टृषु तीर्थंकरेषु तदुक्ते मोक्षरूपे फले चानुवर्तमाना सर्वेष्वेव तदुक्तेष्वनाश्वासं जनयतीत्यतोऽप्यसङ्गतस्तद्वाद इत्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** तदुक्तमात्मस्वरूपं दूष्यते । स हि आत्मानं कृत्स्नं मन्यते । सृष्टिं च परमाणुभ्योऽङ्गीकरोति । मोक्षे च निरावरण आत्मा तिष्ठतीति । तदिदं दूष्यते । परमाणुभ्य एव सृष्ट्यङ्गीकारेणात्मनो वस्तुपरिच्छेदाङ्गीकाराद्कात्स्न्यं सर्वत्वं न भवति । तथा च मोक्षदशायामवलोकाकाशवर्तित्वेन तत्कृतावरणसंभवान्निरावरणप्रतिज्ञाहानिः । किञ्च, सर्ववस्तुष्वात्माभावादात्मनामस्तिकायत्वप्रतिज्ञाहानिश्चेत्यर्थं इत्युक्तम् । ततस्**तृतीये** तदभ्युपगतो देहपरिमाणात्मवादो दूष्यते । स हि देहपरिमाण आत्मेति मन्यते । सूक्ष्मदेहे सूक्ष्मः । स एव स्थूलदेहे स्थूल इति । एवं पर्यायेण तत्तत्परिमाणांगीकारे अवयवोपचयापचयाभ्यामात्मनोपि विकारापत्तिः । संकोचविकाशेपि विकारस्य दुःपरिहारत्वादित्युक्तम् । ततश्**चतुर्थे** तदुक्तमात्मपरिमाणमेव दूष्यते । स हि मोक्षावस्थावस्थितजीवस्य परिमाणं नित्यं वदति । तदग्रे देहाभावात् । संसारावस्थायां त्वनित्यम् । तथा सति संसारावस्थायां चार्वाकवदात्मन अनित्यत्वापत्तिः । तथा सति मोक्षः कस्य स्यात् । अतः संसारावस्थायामपि तस्य नित्यं परिमाणमङ्गीकार्यम् । अणु वा महद्वा । तथा सति देहपरिमाणात्मवादस्त्वसङ्गत इत्येवं दूषितमित्युक्तम् ।

एतेषु षट्स्वप्यधिकरणेषु ब्रह्म जगदुपादानं न वेति सन्देहः, तत्तन्मतविरोधः सन्देहबीजम्, नेति पूर्वः पक्षः, सर्वसमयानामयुक्तत्वाद् ब्रह्मैवोपादानमिति सिद्धान्तो ज्ञेयः । षष्ठे तु ब्रह्मैव विरुद्धधर्माधारम्, नेतरदिति नियमो युक्तो न वेति सन्देहे, स्याद्वादिभिः सर्वत्र तथाभ्युपगमान्नेति पूर्वः पक्षः, स्याद्वादस्यासंगतत्वाद्ब्रह्मैव तथेति नियमो युक्त एव, श्रुत्या भक्तप्रत्यक्षेण च प्रमितत्वादिति सिद्धान्त इति प्रकारान्तरमधिकं ज्ञेयम् ॥ ६ ॥

ततः **सप्तमे पञ्चसूत्रे पत्युरसामञ्जस्यादित्यधिकरणे** नैयायिकवैशेषिकहैरण्यगर्भपातञ्जलकापालिककालामुखपाशुपतशैवा ईश्वरस्य निमित्तमात्रत्वं मन्यन्ते, न तूपादानत्वम्, तद्दूषयति । यदीश्वरः निमित्तमात्रं स्यात्तदा केषाञ्चित्सुखं केषाञ्चिद्दुःखं ददद्विषमो निर्घृणश्च स्यात् । अतोसामञ्जस्यात्तन्मतमसङ्गतम् । ततो **द्वितीये** तन्मते जीवब्रह्मणोर्विभुत्वादजसंयोगस्य वक्तुमयुक्तत्वेन पतित्वानुपपत्तिः । यदि च संबन्धोऽङ्गीक्रियेत, तदापि विभुत्वनित्यत्वाभ्यां तुल्यत्वापत्त्या नियम्यनियामकभावानुपपत्तेः संबन्धानुपपत्तिरित्युक्तम् । ततस्**तृतीये** ईश्वरः शरीरं किञ्चिदाधारं चाधिष्ठाय करोति, तद्विना वा । आद्ये तन्नित्यमनित्यं वा । आद्ये परमाणुपुञ्जरूपस्य तस्य कार्यानिर्वाहकत्वम्, अवयवित्वाभावात् । द्वितीये तु जन्यत्वम् । तथा सति तत्कर्तुर्निर्वक्तुमशक्यत्वादनवस्थापत्तिः । अथाशरीर एव करोतीति मतम्, तदा तु मुक्तानामिव तस्यापि कर्तृत्वानुपपत्तिः । अतोधिष्ठानानुपपत्त्या तन्मतमसङ्गतम् । ततश्**चतुर्थे** यथा जीवोऽशरीर एवेन्द्रियादीनि करणान्यधितिष्ठति, नियमयति, तथेश्वरोप्यशरीर एव जीवान् नियमयिष्यतीति **सूत्रांशेनाशङ्क्य, सूत्रांशेन समाहितम्** । यदि जीवदृष्टान्तेन तथाङ्गीक्रियते, तदा तद्दृष्टान्तेनैव तस्य सुखदुःखभोगाद्यापत्तिः । (ततः **पञ्चमे** तैर्जडजीवनियमनार्थं हीश्वरोभ्युपगम्यते । नियमनं चेयत्तायां संभवति । ततश्च तेषामियत्तापत्तिः । तथा सति तेषामन्तवत्त्वम् । इयत्तापरिच्छिन्नेषु घटादिष्वन्तवत्त्वस्य दृष्टत्वात् । एतद्दोषपरिहाराय जीवानां व्यापकत्वमसंख्येयत्वं चाङ्गीक्रियते, तदा असंख्येयत्वस्य सर्वाज्ञेयत्वनियमात् सर्वतद्विषयकज्ञानस्येश्वरेऽभावेनासर्वज्ञता स्यात् ।) तदनापत्तौ नियामकाभावादित्युक्तम् । तेनेश्वरविषयेपि तन्मतमसङ्गतमित्युक्तं भवति ७ ॥

ततोऽष्टमे **चतुःसूत्रे उत्पत्त्यसंभवादित्यधिकरणे** पाञ्चरात्रमते योंशो हि श्रुतिविरुद्धः सोंशो दूष्यते । पञ्चरात्रस्य भगवत्प्रणीतत्वेपि तावतोंशस्य बुद्धिपूर्वकमेव गौतमशप्तानामृषीणामर्थे स्थापनात् । सोंशस्त्वयम् । ते हि परब्रह्मणो वासुदेवात् संकर्षणस्य जीवस्य, तस्मात्प्रद्युम्नस्य मनसः, ततोऽनिरुद्धस्याहंकारस्योत्पत्तिं वदन्ति । तेषां चतुर्णां व्यूहतां च वदन्ति । तदेतच्छ्रुतिविरुद्धम् । एवमुत्पत्तौ व्यूहत्वासंभवात् । व्यूहत्वे चैवमुत्पत्त्यसंभवात् । जीवोत्पत्तौ मोक्षस्याप्यसंभवात् । तस्मादयमंशो विरुद्ध इति पूर्वसूत्रे दूषितः । ततो **द्वितीये** संकर्षणात्प्रद्युम्नोत्पत्तिर्दूष्यते । कर्तुर्जीवात् करणस्य उत्पत्तिर्लोकविरुद्धा; मनसः करणादहंकारोत्पत्तिरपि तथा । अतः प्रद्युम्नादनिरुद्धोत्पत्तिरप्यसंगता । ततस्**तृतीये** तेषां सर्वेषां परमेश्वरत्वं चेदङ्गीक्रियते, तदा अनेकेश्वरत्वापत्तिरित्युक्तम् । ततश्**चतुर्थे** शाण्डिल्यश्चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयः अलब्ध्वा इदं शास्त्रमधीतवान् । तथा तप्तचक्रादिधारणं च तत्र विहितम् । तदेतच्छ्रुतिविरुद्धम् । तप्तचक्रादिधारणस्य पुराणेषु शूद्रधर्मत्वेनोक्तत्वात् । वेदेषु परमश्रेयोलाभाभावकथनस्यापि तथात्वात् । तस्मादेतत्सूत्रचतुष्टयोक्तं दूष्यं यत् तद्वेदविरुद्धम् । एवं स्मृतिषु वेदविरुद्धांशदूषणेन सर्वाण्येव वेदविरुद्धानि शास्त्राण्युपलक्षणविधया दूषितानि ज्ञेयानि ॥ ८ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य पीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अथ ततस्तृतीये पादे पूर्वं क्रमसृष्टौ भूतोत्पत्तिप्रकारस्तत्स्वरूपं च विचार्यते ।

तत्र **प्रथमे सप्तसूत्रे न वियदित्यधिकरणे** आकाशोत्पत्तिर्विचारिता । तत्र छान्दोग्ये तेजआदिका सृष्टिः, तैत्तिरीयके आकाशादिका, तत्रासृजतेति पदाभावादाकाशस्योत्पत्तिः संदिग्धा । तत्र **प्रथमसूत्रे** आकाशस्योत्पत्तिः छान्दोग्ये न श्रूयते । तस्मान्नोत्पत्तिरित्याशंकितम् । ततो **द्वितीये** तैत्तिरीये द्वितीये सृष्टिप्रकरणे 'इदं सर्वमसृजते'ति श्रावणात् पूर्वं 'चात्मन आकाशः संभूत' इति कथनादस्त्युत्पत्तिरित्युक्तम् । तेन छान्दोग्येपि तत्सृष्टिरनुमातव्येति सिध्यति । ततस्**तृतीये** आकाशस्य निरवयवत्वेन व्यापकत्वेन चाकाशस्यो-

त्पत्तिर्न संभवति । तस्मादाकाशोत्पत्तिर्गौणीत्याशंकितम् । ततश्चतुर्थे 'वायुश्चान्तरिक्षं चे'ति श्रुतावमृतत्वश्रवणादपि नोत्पत्तिः संभवतीत्युक्तम् । ततः पञ्चमे ननु तैत्तिरीये संभूत इतिपदस्य सर्वत्रानुवृत्तिदर्शनादेकत्र गौणी, अन्यत्र मुख्या, संभूतिपदस्य वृत्तिरिति न वक्तुं शक्यम् । युगपद्वृत्तिद्वयविरोधादित्याशंक्य, यथा 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्मे'-तिश्रुतौ एकस्यैव ब्रह्मशब्दस्यैकत्र मुख्या, तपसि गौणी, तथात्रापि पदावृत्त्या विरोधाभावो भविष्यतीत्युक्तम् । एवं त्रिभिः सूत्रैः पूर्वपक्षमुक्त्वा, **षष्ठे सप्तमे** च समाधानमाह । तत्र स्यादेवं यदि छान्दोग्योक्ता एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा न बाध्येत । तत्रैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्ते कार्यकारणभावेन तद्व्युत्पादितम् । तदनंगीकारे तद्बाध्येत । तस्मादाकाशोत्पत्तिरंगीकार्यैवेत्युक्तम् । ततः **सप्तमे** ननु निरवयवत्वादीनां बाधकानामुक्तत्वात्सा कथं संभवतीत्याशङ्कायाम्, आकाशो नोत्पद्यते, निरवयवत्वादित्येवं साधने, उत्पद्यते लौकिकव्यवहारविषयत्वादित्येवं साधने, उत्पद्यते, लौकिकव्यवहारविषयत्वादित्येवं सत्प्रतिपक्षत्वेन युक्तीनामप्रयोजकत्वमुक्तम् । तस्माच्छ्रुत्युक्ता आकाशोत्पत्तिरंगीकार्येत्युक्तम् ॥ १ ॥

ततो **द्वितीये एकसूत्रे एतेन मातरिश्वेत्यधिकरणे** एवमेव वायूत्पत्तिरिति साधितम् ॥ २ ॥

ततोऽग्रिमसूत्रे ब्रह्मणोप्युत्पत्तिरस्त्विति वितण्डयाशङ्क्य, मूलभूतस्य सतः नित्यत्वव्यापकत्वयोर्निरंकुशत्वादुत्पत्तिर्न संभवतीत्युक्तम् ॥ ३ ॥

ततश्चतुर्थे **एकसूत्रे तेजोत इत्यधिकरणे** वायुतस्तेजस उत्पत्तिः समर्थिता ॥४॥

ततः **पञ्चमे एकसूत्रे आप इत्यधिकरणे** तेजस अपामुत्पत्तिः समर्थिता ॥ ५ ॥

ततः **षष्ठे एकसूत्रे पृथिव्यधिकारेत्यधिकरणे** छान्दोग्ये अद्भ्यः सकाशादन्नोत्पत्तिरुक्ता, तैत्तिरीये च पृथिव्युत्पत्तिरिति विरोधपरिहारार्थमन्नशब्देन पृथिव्येवोच्यते। छान्दोग्ये भूताधिकारात् 'यत्कृष्णं तदन्नस्ये'ति नीलरूपकथनात्तैत्तिरीये अद्भ्यः पृथिवीति शब्दान्तराच्चेत्युक्तम् ॥ ६ ॥

ततः **सप्तमे एकसूत्रे तदभिध्यानादेवेत्यधिकरणे** आकाशभावापन्नात्परमेश्वराद्वायोरुत्पत्तिः, एवं वाय्वादिभावापन्नादग्रेपि तेजआदीनां ज्ञेया । सर्वकर्तृत्वस्य ब्रह्मलिङ्गत्वादित्युक्तम् ॥ ७ ॥

ततोऽष्टमे **एकसूत्रे विपर्ययेणेत्यधिकरणे** प्रसङ्गात्प्रलयप्रकारो विचारितः । क्रमसृष्टौ येन क्रमेणोत्पत्तिस्तद्विपरीतक्रमेण प्रलय इत्युक्तम् ॥ ८ ॥

ततो **नवमे द्विसूत्रे अन्तरा विज्ञानमनसीत्यधिकरणे** विज्ञानशब्देन जीवः मनश्च एतयोरपि क्रमेण मध्ये उत्पत्तिरिति सूत्रांशेनाशंक्य, अंशांतरेण समाहितम् । विज्ञानमयो जीवात्मकः, मनोमयस्तु वेदात्मकस्तैत्तिरीये उक्तः । अतस्तयोरुत्पत्तिर्न वेदाभिप्रेता । नामरूपव्याकरणात्मिकायां सृष्टौ जीवस्य करणत्वेन वेदस्य च द्वारत्वेन तत्पूर्वभावितया सृष्ट्यावुत्पत्त्यभावात् । यद्यपि न्यूनांशपूरणाय प्राणेन्द्रियमनसां क्वचिदुत्पत्तिर्वक्तव्येति चेत् ? पुराणानां श्रुत्युपबृंहणत्वात्तदनुसारेणाकाशात्पूर्वमेव तत्कारणभावापन्नाद्ब्रह्मण एवेति जानीहि । ततो **द्वितीये** ननु विज्ञानमयस्य जीवस्यानुत्पत्तौ सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्ग इत्याशंक्य, जीवस्यापि स्थावरजंगमशरीरे समागमरूपोत्पत्तिस्तु भवत्येव, न तु स्वरूपोत्पत्तिरूपा । अतो न व्यवहारोच्छेद इत्युक्तम् । तेन जीवोत्पत्तिर्भाक्तेति सूचितम् ॥ ९ ॥

ततो **दशमे एकसूत्रे नात्माऽश्रुतेरित्यधिकरणे** जीवस्य स्वरूपत उत्पत्तिर्निवारिता । देवदत्तो जात इत्यादौ देहोत्पत्तेरेव श्रवणेन जीवोत्पत्त्यश्रवणात् । 'न जायते न म्रियते वा विपश्चि'दित्यादिषु जन्ममरणाभावश्रावणेन नित्यत्वबोधनाच्चेति ॥ १० ॥

तत **एकादशे एकसूत्रे ज्ञोत एवेत्यधिकरणे** जीवो ज्ञानस्वरूपो ज्ञानधर्मा च विज्ञानमयः, 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादिस्वरूपबोधकश्रुतिभ्यः । 'न पश्यो मृत्युं पश्यति' 'द्रष्टा श्रोता मन्ते'त्यादिज्ञानधर्मत्वबोधकश्रुतिभ्यश्चेत्युक्तम् ॥ ११ ॥

ततो **द्वादशे दशसूत्रे उत्क्रान्तिगत्यागतीनामित्यधिकरणे** तत्र जीवस्य नित्यत्वेन मध्यमपरिमाणस्य वक्तुमशक्यत्वात्परमाणु वा परिमाणं महद्वा संभवति । तत्र किं युक्तमित्याकांक्षायां परिमाणं विचारितम् । तत्र **प्रथमसूत्रे** 'स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामती'ति 'ये के चास्माल्लोकात्प्रयान्ती'ति 'तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मण' इति श्रुतिषु उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रावणात् जीवोऽणुरित्युक्तम् । ततो **द्वितीये** 'ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून्सृजते हरत्यपि, जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुन'रिति श्रुताविन्द्रियरहितस्य केवलस्यैव गत्यागतिश्रवणादपि तथेत्युक्तम् । ततस्तृतीये जीवोऽणुर्भवितुं नार्हति, 'स वा एष महानज आत्मा योयं विज्ञानमयः प्राणेष्वि'ति विज्ञानमयस्य जीवस्य महत्त्वश्रावणात् जीवो नाणुरिति सूत्रांशेनाशंक्य, अंशान्तरेण समाहितम् । उक्तश्रुतेर्ब्रह्मप्रकरणपठितत्वान्न तया जीवमहत्त्वसिद्धिरित्युक्तम् । ततश्चतुर्थे 'स्वयं विहत्य स्वयं निर्माये'ति स्वप्नविषयकश्रुतौ स्वशब्दः जीवस्याणुत्वं बोधयति । स्वप्ने शरीरमध्ये तावत्परिमाणस्य व्यापकस्य च विहारकर्तृत्वासंभवात् । 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' इतिश्रुतौ जीवमुपक्रम्य तत्परिमाणबोधनाच्चाणुरित्युक्तम् । ततः **पञ्चमे** अणोर्जीवस्य सर्वशरीरव्याप्तिः कथं संगच्छते इत्याशंकायां यथा स्वल्पश्चन्दनखण्डः महाकटाहे तप्ततैले निक्षिप्तस्तैलं शीतलं करोति, तथा जीवोपि सामर्थ्यात्करोतीति व्यासौ युक्तिरुक्ता । ततः **षष्ठे** ननु चन्दनस्यावस्थानं प्रत्यक्षतो निश्चितम्, तेन तस्य तथात्वम् । जीवस्य स्थितिस्तु नैकत्र निश्चितेति स दृष्टान्तो न वक्तुं शक्यते इति सूत्रांशेनाशंक्य, 'गुहां प्रविष्टा'वितिश्रुत्या जीवस्य हृदि स्थितिः शास्त्रान्निश्चितेति न दृष्टान्तवैषम्यमित्युक्तम् । ततः **सप्तमे** जीवस्य यो गुणश्चैतन्यं तेन जीवः सर्वशरीरं व्याप्नोति । यथा मणेः कान्ति-

बहुदेशव्यापिनी, तद्वदित्युक्तम् । ततो**ऽष्टमे** चैतन्यगुणस्य स्वाश्रयाधिकदेशवृत्तित्वं चम्पकादिगन्धवदवगन्तव्यमित्युक्तम् । ततो **नवमे** चैतन्यगुणेन सर्वशरीरव्याप्तौ कौशीतकिब्राह्मणे 'हिता नाम पुरुषस्य नाड्य' इत्यादिना तासां नाडीनामणुत्वं तासु जीवस्य स्थितिं चाभिधाय, स एष इह प्रविष्टः 'आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य' इत्यनेन व्याप्तिं प्रदर्शयति । तस्मात्सामर्थ्येन गुणेन च व्याप्तिरुपपन्नेत्युक्तम् । ततो **दशमे** 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्ये'ति श्रुतौ प्रज्ञायाः करणत्वनिर्देशात्स्वरूपचैतन्याद्भिन्नं गुणरूपं चैतन्यं निरूपितम् । अतो गुणेन व्याप्तिरुपपन्नेति साधितम् ॥ १२ ॥

ततस्त्रयोदशे चतुःसूत्रे तद्गुणसारत्वादित्यधिकरणे जीवे ब्रह्मत्वव्यपदेशो मुख्यो गौणो वेत्याशंकायाम्, सुषुप्तिसाक्षिणि प्राज्ञे यथा ब्रह्मत्वव्यपदेशो गौणस्तथा 'प्रज्ञानघनस्तत्त्वमसी'त्यादावपि ब्रह्मगुणसारत्वाद्ब्रह्मत्वव्यपदेशो गौण इत्युक्तम् । ततो **द्वितीये** ननु नीचस्योत्कृष्टत्वव्यपदेशो न युक्तः । न च प्राज्ञवदिति वाच्यम् । तथा सति प्राज्ञवत्तत्तिरोहितं स्यात् । तथा सति किं व्यपदेशेनेत्याशंक्य, समाधानमाह । यावदात्मा वर्तते, तावत्सर्वोत्कृष्टत्वं तस्य स्फुरति । अर्थादात्मा नित्य इति सर्वदैव स्फुरति । तस्मान्न दोष इत्युक्तम् । ततस्**तृतीये** (ननु) जीवे आनन्दांशाभिव्यक्त्या ब्रह्मधर्माविर्भाव इत्युक्तम् । तन्न युक्तम् । आनन्दांशस्य पूर्वमसत्त्वेन पश्चाज्जन्यत्वात्, जन्यत्वेन नश्वरत्वेन च व्याप्त्या तस्य नश्वरत्वप्रसंगादित्याशंक्य, यथा बालकस्य सदेव पुंस्त्वं यौवनेऽभिव्यज्यते, तथा पूर्वं सूक्ष्मरूपेण वर्तमान एवानन्दो ब्रह्मभावे सत्यभिव्यज्यते । अतो न तस्य नश्वरत्वमित्युक्तम् । ततश्**चतुर्थे** नन्विदानीं सच्चिदंशावेव प्रकटौ, मोक्षे त्वानन्दांशोपि प्रकटो भवतीत्येवमवस्थाभेदेन विभागे को हेतुरित्याशंक्य, तत्र हेतुमाह । यदीदानीमप्यानन्दः प्रकटः स्यात्तदा सच्चिदंशवदिदानीमप्यानन्द उपलभ्येत, संसारश्च न स्यात् । यदि कदापि न स्यात्तदा मोक्षावस्था विरुध्येत । नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तेरेव मोक्षत्वात् । यदि जीवो निरानन्द एव, ब्रह्मैवानन्दमयमिति नियमोऽङ्गीक्रियते, तदा 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'तिश्रुतिर्विरुध्येत । अतः प्रमाणाद्यविरोध एवमङ्गीकारे हेतुरित्युक्तम् ॥ १३ ॥

ततश्चतुर्दशेऽष्टसूत्रे कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादित्यधिकरणे जीवस्य कर्तृत्वं व्यवस्थापितम् । सांख्यैः प्रकृतिगतमेव जीवे तत् प्रतीयत इत्यंगीक्रियते, तन्निवृत्त्यर्थम् । तत्र **प्रथमसूत्रे** शास्त्रार्थवत्त्वं हेतुरुक्तः । वेदादिषु जीवमेवाधिकृत्याभ्युदयनिःश्रेयसफलकानां यज्ञोपासनारूपाणां कर्मणां विज्ञानदर्शनादित्युक्तम् । ततो **द्वितीये** जीवस्य स्वतः कर्तृत्वाभावेपि संसारदशायां प्रकृतिसंसृष्टत्वेन विवेकाग्रहात्प्राकृतकर्तृत्वग्रहणेपि न शास्त्रानर्थक्यमित्याशंक्य, विहारोपदेशादिति हेतुरुक्तः । विहारः स्वेच्छाक्रीडात्मकभोगरूपो दहरविद्यायामुपदिश्यते, स च दहरविदः कर्तृत्वमाक्षिपतीति जीव एव कर्ता इत्युक्तम् । ततस्**तृतीये** 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाये'तिश्रुतौ विज्ञानादानकथनेन जीवस्य

स्वातन्त्र्यबोधनात्तस्यैव कर्तृत्वमित्युक्तम् । ततश्**चतुर्थे** 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेपि चे'तिश्रुतौ साक्षादेव कर्मकर्तृत्वव्यपदेशात् । तच्चेन्नाङ्गीक्रियते, तदा श्रुतौ प्रथमानिर्देशो विरुध्येत । प्रथमानिर्देशाद्विपरीतस्तृतीयाविभक्तिनिर्देशश्चापद्येतेत्युक्तम् । ततः **पञ्चमे** यदि जीवस्य कर्तृत्वं स्यात्तदा स्वतन्त्रत्वात्स्वाहितं न कुर्यादित्याशंक्य, यथा चक्षुषेष्टमनिष्टं चोपलभते, तथैवेन्द्रियैः कर्म कुर्वन्निष्टमनिष्टं चाप्नोति । तथाच सांख्यवत् केवलभोक्तृत्वाङ्गीकारेप्ययं दोषस्तुल्य इति कर्तृत्वे पर्यनुयोगो न कार्य इत्युक्तम् । ततः **षष्ठे** ननु स्वतन्त्रश्चेदीश्वरवत् स्वार्थमन्यथा न कुर्यादित्याशंक्य, अस्य शक्तिस्तिरोहितेति तथा करोति । तावता न कर्तृत्वहानिरित्युक्तम् । ततः **सप्तमे** जीवस्य शक्तितिरोभाव एव कुत इत्याशंक्य, जीवस्य क्रियाज्ञानशक्तियोगेन घृतद्रवत्ववत् सिध्यति । अतस्तदभावाच्छक्तितिरोभाव इत्युक्तम् । ततो**ऽष्टमे** ननु कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्भिन्नधर्मत्वं दृष्टम्, यथैको गृहं निर्मिमीते, अन्यस्तु तद्भुङ्क्ते, तस्मान्नेदं साधीय इत्याशंक्य, यथा तक्षा रथं पीठं वा निर्माय तत्रारूढो विहरति, तथा तयोरैकाधिकरण्यस्यापि दर्शनान्न दोष इत्युक्तम् । एवमनेनाधिकरणेन जीवस्य कर्तृत्वं साधितम् ॥ १४ ॥

ततः पञ्चदशे द्विसूत्रे परात्तु तच्छ्रुतेरित्यधिकरणे जीवस्य कर्तृत्वं स्वतो वा भगवतो वेत्याशंकायां भगवद्दत्तमेव कर्तृत्वं भगवदंशत्वाज्जीवे भासते । 'एष एव साधु कर्म कारयती'तिश्रुतेः । ब्रह्मणः सर्वरूपत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्यादिदोष इति **प्रथमसूत्रे** उक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** क्रीडार्थं यो भगवता उद्यमः कृतो वर्तते, तदपेक्ष एव भगवान् स्वांशं जीवं तत्र तत्र तथा प्रवर्तयतीत्युक्तम् । दोषपरिहारस्तु सर्वरूपत्वादेव कृतः ॥ १५ ॥

ततः षोडशे एकादशसूत्रे अंशो नानाव्यपदेशादित्यधिकरणे जीवस्य ब्रह्मसंबन्धिरूपमुच्यते । तत्र **प्रथमसूत्रे** जीवो ब्रह्मणोंश एव । 'सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ति, कपूयचरणा रमणीयचरणा'इतिश्रुतौ बहुत्वेन व्यपदेशाद् 'ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवा उते'तिश्रुतौ ब्रह्मत्वेन च व्यपदेशाच्च । नह्येकस्य जीवस्य बहुत्वं ब्रह्मरूपत्वं चेत्युभयमंशत्वं विना संगच्छते । तस्मादंश इत्युक्तम् । ततो **द्वितीये** 'पादोऽस्य विश्वा भूतानी'तिमन्त्रवर्णे जीवस्य पादत्वादप्यंशत्वमित्युक्तम् । ततस्**तृतीये** 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन'इति स्मृतौ कण्ठत एवांशत्वमुक्तम् । एवं त्रिभिः सूत्रैर्जीवस्य ब्रह्मसंबन्धिरूपमुक्तम् । ततश्**चतुर्थे** जीवस्य ब्रह्मांशत्वे तद्द्वारा ब्रह्मण्यपि या दोषसंबन्धशंका सा द्वाभ्यां परिहृता इति न वक्तुं शक्यम् । जीवस्य दुःखित्वेन तदंशिभूते ब्रह्मण्यपि दुःखित्वादिप्रसंगात् । पाददुःखे पुरुषदुःखवदित्याशंक्य, तस्य परिहार उक्तः । तथाहि प्रकाशादीनां दुष्टप्रकाश्यसंसर्गेपि न सूर्यादेर्दुष्टत्वम्, तथा ब्रह्मणोपि । वस्तुतस्तु दुष्टप्रकाश्यसंसर्गेपि प्रकाशस्यापि न दुष्टत्वम् । कुतः सूर्यादेः,तथा जीवस्य ब्रह्मणश्चेत्यदोष इति । ततः **पंचमे** स्मृत्यादिदोषपरिहार उक्तः 'तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवांभसे'ति । 'कर्मात्माप्यपरो योसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते' इति जीवस्य दोषसंसर्गो, न ब्रह्मण इति । ततः **षष्ठे**

ननु जीवस्य यदि ब्रह्मांशत्वम्, तदा विधिविषयत्वाभावात्कर्मसंबन्धाभावः फलासंबन्धश्चेत्याशंक्य, जीवस्यापि न स्वतो विध्यादिविषयत्वम्, किन्तु देहयोगादेव विधिनिषेधाधीनत्वमपि । तत एव यथा शवाग्निश्चण्डालोदकं तद्घटादिश्च परिह्रियते, शिष्टसंबन्धिनस्ते गृह्यन्ते, एवं जीवस्य देहसंबन्धकृतौ गुणदोषौ न स्वत इत्युक्तम् । तेनैव फलसंबन्धश्चेत्यपि साधितम् । ततः **सप्तमे** जीवस्य देहसंबन्धाद्गुणदोषसंसर्गकथनं न युक्तम्, कालिकनित्यप्रलयेन देहस्य प्रतिक्षणमन्यान्यत्वादाधानकाले ब्राह्मण्यस्य वक्तुमशक्यत्वेन कर्मानधिकारप्रसक्तेर्जीवैक्यमादायाधिकारसाधने तु देहान्तरेपि तदापत्तेरित्याशंक्य, देहान्तरे पूर्वदेहसंतत्यभावान्न पूर्वदैहिककर्माद्यापत्तिः । एकस्मिन् देहे तु संततिसामान्यात्कर्माधिकारः सुघटः । ततः सिद्धे देहसंतत्यैक्ये तद्द्वारा जीवस्य गुणदोषसंसर्गौ न दुर्घटावित्युक्तम् । ततोऽ**ष्टमे** सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणोंशोपि तादृश एव वक्तव्यः तथासति कथं तस्य देहसंबन्ध इत्याशंक्य, जीवो ब्रह्माभास इत्युक्तम् । यथा अनाचारी ब्राह्मणो ब्राह्मणाभासः, अखिलब्राह्मणधर्माणामभावात्, एवमानन्दांशस्य तिरोधानेन ऐश्वर्यादीनां ब्रह्मधर्माणामभावात् तादृशाकारस्य चाभावात् जीवोपि ब्रह्माभासः । तथा चानन्दांशाभावाद्देहसंबन्ध इत्युक्तम् । एवं त्रिभिः सूत्रैर्जीवस्य स्वतो निर्दुष्टत्वे देहसंबन्धाद्दोषसंबन्धो देहसंबन्धहेतुश्च साधितः ।

ततोग्रिमेषु त्रिषु यन्नैयायिकादिभिर्भोगव्यवस्थया जीवनानात्वं व्यापकत्वं चांगीकृतं तद्दूष्यते । तत्र **प्रथमे** तेषामात्मनां व्यापकत्वेन सर्वमनइन्द्रियदेहसंबन्धाधेनकेनचित्करणग्रामेण यत् कर्म क्रियते, तज्जन्यादृष्टस्य सर्वत्र तुल्यत्वाददृष्टनियमो न स्यात् । तस्मात्तदुक्तप्रकारेण जीवव्यापकत्वनानात्वस्थापनमसंगतमित्यर्थः । ततो **द्वितीये** विलक्षणमनःसंयोगेन पूर्वोक्तं सर्वं साधयन्ति । तद्दूष्यते । तत्र दृष्टादृष्टकारणकलापसामान्ये एकस्यैव वैलक्षण्यम्, नान्यस्येत्यत्र हेतोर्वक्तुमशक्यत्वादिति बोधितम् । तत**स्तृतीये** जीवस्य व्यापकत्वेपि प्रदेशभेदान्न दोष इति ते वदन्ति । तद्दूष्यते । यदि तथांगीक्रियते, तदा यत्र कर्मकरणेन यस्मिन्प्रदेशेऽदृष्टमुत्पन्नं, तस्य प्रदेशस्य देशान्तरेऽभावात् तत्रोत्पन्नानां वस्तूनां भोगो न स्यात्, अदृष्टस्याचञ्चलत्वात् । तस्मान्न तदुक्तरीत्या तन्मतसिद्धिरिति त्रिभिः सूत्रैरुक्तम् । एवमेकादशभिः सूत्रैर्जीवस्य ब्रह्मसंबन्धिरूपमुक्तम् ॥ १६ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य पीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

पूर्वपादे जीवस्य स्थूलशरीरनिष्पादकानां भूतानां स्वरूपमुत्पत्त्यादिकं च विचारितम् । अस्मिन् पादे इन्द्रियादीनां तदवसरसंगत्या विचार्यते ।

तत्र **प्रथमे पञ्चसूत्रे तथा प्राणा इत्यधिकरणे** इन्द्रियाणां भूतवत् कार्यत्वं वा, जीववदंशत्वं वेति संदेहे जीववदंशत्वमिति निर्णीतम् । तत्र **प्रथमसूत्रे** पूर्वपादे निरूपितजीवस्य ये चिदंशत्वातिरिक्ता धर्मा उत्क्रान्त्यादयस्ते सर्वेतिदिश्यन्ते । ततो **द्वितीये** ननु प्राणेषु नित्यत्वाश्रवणादुत्क्रान्त्यादिश्रुतिर्गौणी भविष्यतीत्याशंक्य, एकैव श्रुतिर्जीवे मुख्या, प्राणादौ गौणीति वक्तुं न शक्यत इत्युक्तम् । तत**स्तृतीये** सूत्रे: पूर्वमपि प्राणादीनां स्थितिः श्रूयते । 'असद्वा इदमग्र आसी'दित्यारभ्य, 'प्राणा वा ऋषय' इत्यन्तेन तन्निगमनात् । तत**श्चतुर्थे** मनःपूर्वो वागुत्तर' इतिश्रुतेर्मनसो वाक्पूर्वरूपत्वात् । वाचश्च वेदरूपाया 'वाचा विरूपनित्यये'ति श्रुत्या नित्यत्वश्रावणात्तत्पूर्वरूपस्य मनसः कथमनित्यत्वं भवेत् । ततः **पञ्चमे** 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामती'तिश्रुतौ सप्तानां भक्तिभिर्जीवगतिर्विशेष्यते । अतो जीवसमानयोगक्षेमत्वात्तेषामपि जीवतुल्यत्वमित्युक्तम् ॥ १ ॥

ततो **द्वितीये एकसूत्रे हस्तादय इत्यधिकरणे** उत्क्रान्तिश्रुतौ प्राणानां जीवेन सहोत्क्रमणकथनात् तेषां नित्यत्वमंशत्वं चांगीकृतम् । अतः परं ते कतीति विचार्यते । श्रुतौ क्वचित् सप्तोक्ताः, क्वचिदष्टौ, क्वचिन्नव, क्वचिद्दश, क्वचिदेकादशेति नानापक्षाः श्रूयन्ते । तद्विप्रतिषेधपरिहारार्थं विचारः । तत्र 'हस्तौ चादातव्यं चे'ति श्रुतौ हस्तोपस्थपायुपादानां सप्तभ्योधिकानां कथनात् चक्षुस्त्वग्घ्राणरसनश्रवणमनोवाचां सप्तानां पूर्वं कथनाच्चैकादश, न तु सप्तैवेत्युक्तम् । तेषु पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयनायकमन्तःकरणं मन इत्येवं तेषां विभागो ज्ञेयः ॥ २ ॥

तत**स्तृतीये एकसूत्रे अणवश्चेत्यधिकरणे** तेषां जीववत् परमाणुपरिमाणं विचारितम् ।

तत**श्चतुर्थे द्विसूत्रे श्रेष्ठश्चेत्यधिकरणे** मुख्यप्राणस्याणुत्वं विचारितम् । 'आनीदवातं स्वधया तदेक'मितिश्रुत्या अननात्मकत्वेन सृष्टेः पूर्वं सत्ता च प्रदर्शिता । ततो **द्वितीयसूत्रे** वायुर्वा, इन्द्रियक्रिया वा, मुख्यः प्राणोस्त्वित्याशंक्य, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुर्ज्योतिरापः पृथ्वी विश्वस्य धारिणी'तिश्रुतौ वायुभिन्नत्वेन पृथगुपदेशात् । वृत्तिवृत्तिमतोरभेदेन क्रियाया इन्द्रियान्तःपातित्वे सिद्धे तेभ्योपि प्राणस्य पृथक्त्वात् भिन्न एवासन्य इति साधितम् ॥ ४ ॥

ततः **पञ्चमे चतुःसूत्रे चक्षुरादिवत्त्वित्यधिकरणे** प्राणः स्वतन्त्रः, परतन्त्रो वेति शंकायाम्, मुख्यः प्राणोपि आसन्यत्वाद्भगवदधीनः । व्यवहारे तु जीवाधीनः । श्वेताश्वतरे इन्द्रियादिजयवत् तज्जयस्याप्यनुशासनादित्युक्तम् । ततो **द्वितीये** प्राणश्चेज्जीवाधीनः, तदा करणवत् किञ्चिद्व्यापारं कुर्वन् जीवोपकरणरूपो भवेत् । तत्तु न करोतीति कथं तस्य जीवोपकरणत्वमित्याशंक्य, मुख्यप्राणस्य यः व्यापाराभावः सः करणत्वाभावात् । उपकरणत्वं तु देहस्थितिरूपकार्यस्य करणात् । अतो व्यापाराभावेपि तस्य जीवोपकरणत्वं न विरुद्धमित्युक्तम् । तत**स्तृतीये** ननु व्यापाराभावे तस्य जीवोपकारित्वमसमञ्जसमित्याशंक्य, श्रुतौ 'अहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामी'ति व्यपदिश्यते । अतो यथा मनसो द्वारभेदेन स्वरूपत एकादशवृत्तयस्तथा प्राणेपि पञ्चवृत्तयो व्यपदेशप्रामाण्यादंगीक्रियन्ते ।

१. वस्तुत इति पाठः ।

ताभिरेव देहं स्थापयञ्जीवस्योपकरणं संभवतीत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे तस्याप्यणुत्वं साधितम् ॥५

ततः **षष्ठे एकसूत्रे ज्योतिराद्यधिष्ठानं त्वित्यधिकरणे** वागादयः किं देवताधिष्ठानेन स्वस्वकार्ये प्रवर्तन्ते, स्वत एवेत्याशंक्य, आधिभौतिकाः आध्यात्मिकास्ते स्वस्वाधिदैविकाधीना इत्यग्न्यादिस्वस्वदेवताधिष्ठानेनैव प्रवर्तन्ते, न तु स्वत इति निर्णीतम् ॥ ६ ॥

ततः **सप्तमे द्विसूत्रे प्राणवतेत्यधिकरणे** अग्न्यादिदेवताः किं स्वत एव केवला वागादीनधितिष्ठन्ति, मुख्यप्राणसहिता वेत्याशङ्क्य, मुख्यप्राणसहिता एवाधितिष्ठन्ति । 'सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यत' इतिश्रुतेरित्युक्तम् । ततो **द्वितीये** प्राणस्य तत्संबन्धस्य च नित्यत्वमुक्तम् । तेन प्राणसहिता एव देवा वागादीनधितिष्ठन्ति । तेनैव जीवस्य भोगसिद्धिः, तेषां जीवोपकारकत्वं च सिद्धमित्युक्तम् ॥ ७ ॥

ततोऽष्टमे **त्रिसूत्रे इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादित्यधिकरणे** इन्द्रियाणां प्राणाधीनसर्वव्यापारत्वात् प्राणशब्दवाच्यत्वाच्च प्राणवृत्तिरूपाणीन्द्रियाणीत्याशंक्य, तत्त्वान्तराणीति सिद्धान्तितम् । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे'ति तत्त्वोत्पत्तिबोधकश्रुतौ प्राणाद्भिन्नतयेन्द्रियत्वेन व्यपदेशात् । नन्वेवं व्यपदेशमात्रेण भेदे सति प्राणापानादिव्यपदेशभेदादासन्योपि प्राणादिभ्यो भिन्नः स्यादिति नाशंकनीयम् । प्राणादिशब्दानां पाचकपाठकादिवदासन्ये यौगिकत्वान्न तद्भेदकत्वम् । इन्द्रियशब्दस्य तु न यौगिकत्वम् । अतो नैतद्दृष्टान्तेनाशंकनीयमित्युक्तम् । ततोऽग्रिमसूत्रद्वये हेत्वन्तरमित्युक्तम् । यत्रापि प्राणशब्दप्रयोगस्तत्रापि भेदेन श्रूयते । 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामती'ति 'प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती'ति । वैलक्षण्यं च, प्राणस्य चेन्द्रियाणां च । 'सुप्तेषु वागादिषु प्राणो जागर्ति । स्वामिसेवकवच्चानेकं वैलक्षण्यम्' ॥ ८ ॥

ततो **नवमे एकसूत्रे संज्ञामूर्तिक्लृप्तिरित्यधिकरणे** भूतभौतिकसृष्टिः परमेश्वरादेवेति निर्णीय, नामरूपव्याकरणमपि परमेश्वरादेवेति निर्णीयते । तत्र नामरूपव्याकरणं लोके जीवानामेव दृष्टमिति हिरण्यगर्भादेव तद्व्याकरणमित्याशंक्य, नामरूपव्याकर्ता परमेश्वर एव । छान्दोग्ये 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी'तिश्रुतौ नामरूपव्याकर्तृत्वेन त्रिवृत्कुर्वतः परमेश्वरस्यैवोक्तत्वात् । नामव्याकरणं हि वाक्साध्यम् । रूपव्याकरणं क्रियासाध्यम् । वाक्क्रिये च शरीरं विना जीवस्य न संभवतः । शरीरं नामरूपव्याकरणोत्तरं भावि । तस्मान्न जीवस्तत्कर्ता, किन्तु परमेश्वर एव तत्कर्तेत्युक्तम् ॥ ९ ॥

ततो **दशमे द्विसूत्रे मांसादिभौममित्यधिकरणे** 'एतस्माज्जायते प्राण' इतिश्रुतौ प्राणस्येन्द्रियाणां च भगवतः सकाशात्सृष्टिरुक्ता । छान्दोग्ये तु 'अन्नमशितं त्रेधा विधीयत' इतिश्रुतौ मनःप्राणवाचां भौतिकत्वं श्राव्यते । 'अन्नमयं हि सौम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वागि'त्यनेन, 'एतस्माज्जायत' इतिश्रुत्युक्ताया उत्पत्तेः परम्परयाप्युपपद्यमानत्वात् । 'अन्नमय'मित्यादिश्रुतेस्तु मांसादिसाहचर्येण विशेषबोधकत्वात् । मनआदीनां भौतिकत्वमेवेति **प्रथमसूत्रेणा**शंक्य, **द्वितीयसूत्रे** तेषां तत्त्वान्तरत्वमेवेति स्थापितम् । मनःप्रभृतीनामन्नमयत्वादिकं तु अन्नादिपोषितत्वेनाप्युपपद्यते । 'पञ्चदशाहानि माशी'रित्याद्युपपादकदर्शनात् । सर्ववाक्ये साक्षात्सृष्टेरुक्तत्वेन तत्र परम्परायाः प्रवेष्टुमशक्यत्वात् । तस्मात्तत्त्वरूपाणि तानि भगवत एवेति सिद्धान्तितम् । एवमस्मिन्नध्याये सर्वोपि विरोधः परिहृतः ॥ १० ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

द्वितीयाध्यायः समाप्तः ।

तृतीयोऽध्यायः ।

तृतीयाध्यायस्याधिकरणार्थसंग्रहः । ततस्तृतीयेऽध्याये जघन्यमध्यमाधिकारिणां साधनसंपत्तावुपनिषदां विद्याजनकता, अन्यथा तु सत्संप्रदायेपि परोक्षज्ञानजनकतैवेत्यतः **प्रथमे** पादेऽधिकारिणो जन्मनिर्धारः क्रियते । तत्र पञ्चाग्निविद्यया निष्पन्नदेहः स्वरूपतोऽधिकारीति तदर्थं तद्विद्यास्थाः पञ्चाप्याहुतयो विचार्यन्ते । तत्र ब्रह्मसंबन्धिविचारविशेषरूपत्वाच्छास्त्रसंगतिः । साधनविचारशेषत्वादध्यायसंगतिः । तत्राष्टावधिकरणानि ।

तत्र **प्रथमेऽधिकरणे** जीवेन्द्रियाणां होमाभावेनाशुद्धिमाशङ्क्य, तेषामपि शुद्ध्यर्थं जीवस्येतो लोकान्तरगमनावसरे संस्कृतभूतसूक्ष्मेन्द्रियसाहित्यं सप्तभिः सूत्रैः साध्यते । तत्र **प्रथमसूत्रे** संस्कृतभूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्त एव परलोकं गच्छतीत्युच्यते । ततो **द्वितीये सूत्रे** श्रुत्युक्तप्रश्ननिरूपणाभ्यामद्भिः संपरिष्वक्त एव गच्छतीति ज्ञायते, नतु भूतान्तरसंपरिष्वक्त इत्याशंक्य, अपां भूतत्रयात्मकत्वं साध्यते । ततस्**तृतीय**सूत्रे, प्राणस्यापि गमनं बोध्यते । ततश्**चतुर्थे** प्राणगमनस्याग्न्यादिभावश्रुत्या बाधमाशंक्य, तन्निवारणेन प्राणानां परलोकगतिः साध्यते । ततः **पञ्चमे** श्रुतौ श्रद्धापदान्नापां होम इत्याशङ्क्य, श्रद्धापदेनाप एवोच्यन्ते इति निर्धार्यते । ततः **षष्ठे** सूत्रे, सर्वे जीवास्तथा गच्छन्ति, उत ज्ञानोपयोगिन एवेत्याशंक्य, ज्ञानोपयोगिनो यज्ञादिकृतो गच्छन्तीति निर्णीयते । ततः **सप्तमे** तेषां होमेन सोमभावेऽनिष्टमाशंक्य, तन्निवार्यत इति । एवं प्रथमाहुतिः सफला विचारिता भवति ॥ १ ॥

ततो **द्वितीये चतुःसूत्रे कृतात्ययाधिकरणे**ऽवसरसंगत्या सोमभावोत्तरं वृष्टिभावं प्राप्नोतीति द्वितीयाहुतिर्विचार्यते । तत्र **प्रथमसूत्रे** सानुशयो वृष्टिभावं प्राप्नोतीति बोधनार्थमनुशयो विचार्यते । अनुशयो द्विविधः । 'यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषित'मिति श्रीभागवतवाक्याद्भोगसाधकसामग्रीशेषरूपं [illegible] फलं तदात्मकः सुखलेशरूप एकः, कर्मशेषरूपो द्वितीय इति निर्णीतम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** आचरणात्तत्तद्योनिप्राप्तिमाशंक्य,

चरणस्य पूर्वजन्मीनकर्मोपलक्षकत्वम्, नत्वग्रिमजन्मनि समीचीनकरणाहेतुत्वम् । तस्मादग्रिमार्थं कर्मशेषरूपोऽनुशयोऽवश्यमपेक्षणीय इत्युच्यते । ततस्**तृतीयसूत्रे** चरणस्य पूर्वजन्मीनकर्मोपलक्षकत्वे प्रयोजनाभावेन चरणश्रुतेरानर्थक्यप्राप्तौ तस्याः जन्मविधायकत्वमङ्गीकर्तव्यम् । तथा सति कर्मशेषरूपानुशयवैयर्थ्यमित्याशंक्य, निष्कामसकामभेदेन द्विविधानां कर्मिणां मध्ये निष्कामस्य पूर्वोक्तफलशेषरूपोनुशयः । द्वितीयस्य तु सुकृतदुःकृतकर्मशेषरूप इति तस्य दुःशरीरप्राप्तिः, 'सुखानन्तरं दुःख'मितिन्यायेनोपपद्यते, तन्निवारणार्थं चरणश्रुत्या शरीरप्राप्तिरिति बोध्यत इति दुःशरीरनिषेधार्थं सा धूममार्गमुपक्रम्योक्ता । अतो धूममार्गस्य तदपेक्षत्वान्न सा कर्मशेषरूपानुशयप्रतिषेधिका । तस्मान्न सोमभावापन्नस्य वृष्टिभावबाधः, अन्यथा तादृशशरीरप्राप्तेराकस्मिकता स्यात्, अतोनुशय आवश्यक इति निर्णीयते । ततश्**चतुर्थे** द्विविधकर्मशेषरूप एवानुशय इति बादरिमतम् । तेन मोक्षपर्यन्तमनुशयानुवृत्तिरिति बोध्यते । एवं द्वितीयाहुतिः सफला विचारिता ॥ २ ॥

ततो**ऽनिष्टादिकारिणामिति पञ्चसूत्रे तृतीयाधिकरणे** इष्टादिकारिव्यतिरिक्तानां पञ्चाहुतिधूममार्गयोः संबन्ध इति **प्रथमसूत्रे** आशंक्यते । तेन सर्वेषां सोमभावप्राप्त्यनन्तरं जन्मेत्याशंक्यते । ततो **द्वितीयसूत्रे** तन्निषिध्यते । यदि सर्वेषां सः स्यात्तदा यमगतिश्रुतिर्विरुध्येत । तस्मान्न सर्वेषां सोमभावः । ततः सूत्रद्वयेन स्मृत्यापि यमगतिः स्थाप्यते । ततः **पञ्चमे सूत्रे** चित्रगुप्तादीनामपि यमसेवकत्वं निर्णीयते । तेन यमगतेरपि सत्वान्न सर्वेषां सोमभावः, किन्तु मार्गद्वयस्थानामेवेत्युपोद्घातप्रसंगाभ्यां निर्णीयते ॥ ३ ॥

ततश्**चतुर्थे चतुःसूत्रे विद्याकर्मणो**रित्यधिकरणे । सर्वेषां चन्द्रलोकप्राप्तिः श्रुता । पञ्चाग्निविद्याप्रस्तावे यमगतिस्तु नोक्ता । अतो विद्यया कर्मणा सोममार्ग इति न यममार्ग इति आशंक्य, वेदान्ते गौणमुख्यफलभेदार्थं तत्कारणत्वेन विद्याकर्मणोरुक्तत्वान्न तृतीयमार्गबाधकत्वमिति **प्रथमसूत्रे** निर्णीयते । ततो **द्वितीये सूत्रे** 'जायस्व म्रियस्वे'तिश्रुत्युक्तस्य तृतीयमार्गत्वमाशंक्य, तस्मिन्मार्गे पुण्यपापभोगस्यातिस्वल्पत्वान्न तेन यममार्गबाध इत्युक्तम् । अयं च पञ्चाहुतिनियमो मर्यादामार्गे एव, न सर्वत्र चेति निर्णीतम् । ततः सूत्रद्वये स्मृतिलौकिकदर्शनाभ्यां यममार्गसत्ता साधिता । तेन 'जायस्वे'ति मार्गो विवेचकसापेक्षत्वात् यममार्गे एव प्रविशतीति साधितम् ॥ ४ ॥

ततः **पञ्चमे त्रिसूत्रे तृतीयशब्दावरोध इत्यधिकरणे** । वृष्टेरन्नभावस्तृतीयाहुतेः फलम् । तत्र बीजावापं विना केवलवृष्टेरन्नासंभवात्प्रत्यक्षविरोधमाशङ्क्य, तृतीयाहुतौ देवहोमात्कारणभूतमेव जलं वर्षतीत्युच्यते । तस्माच्चान्नं श्रुतावेवोक्तम् । 'ता आप अन्नमसृजन्ते'ति । तस्मात्प्रत्यक्षस्य लौकिकत्वात्तद्विरोधो न दोषायेत्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे**, 'वायुर्भूत्वा धूमो भवती'तिश्रावणात्ते वाय्वादयो जन्या इति तदनन्तरभाविनी वृष्टिरपि जन्या, अपामिवेति कारणभूतं जलं न वक्तुं शक्यत इत्याशंक्य, वाय्वाद्याकृतिमात्रेण स्वरूपान्यथाभावाभावाद्वायुभवनाद्युक्तिर्गौणी । अतस्तदनुरोधेन वृष्टौ जन्या आपो वक्तुमशक्याः । तस्मात्कारणभूता एव ता आप इति निर्बाधमित्युक्तम् । ततस्**तृतीये सूत्रे**, शीघ्रमेव वृष्टेः सकाशादन्नरूपो भवतीत्युक्तम् । तेन तृतीयाहुतिः सफला विचारिता ॥ ५ ॥

ततः **षष्ठे द्विसूत्रे, अन्याधिष्ठित** इत्यधिकरणे, अन्नाद्रेतोभवनरूपा चतुर्थी आहुतिर्विचार्यते । तत्रान्नस्य कण्डनपाकादौ क्रियमाणे जीवस्यापगमात्कथं जीवस्य रेतोभाव इत्याशंक्य, उप्ते बीजे पापिजीवान्तराधिष्ठितेऽन्नरूपेण जायमाने पश्चाद्वृष्टौ देवहुतौ जीवोऽन्ने प्रविश्यातिथिवन्निरभिमानस्तत्र तिष्ठतीति न तस्य कण्डनादिक्लेशः, किन्तु पापिन एव सः । न च तस्यागमः शंकनीयः । सिद्धान्नादेर्बहुकालपर्युषितत्वे कृमिभावदर्शनात् । एवं तस्यान्नस्य भक्षणेपि पापिन एवान्नभूतस्य जरणादिक्लेशः, नास्य निरभिमानस्येति तस्य रेतोभावो युक्त इत्युक्तम् । ततो **द्वितीये सूत्रे** तस्मिन्नन्ने पापिजीवसहभावादन्नस्याशुद्धौ कथं तेन योग्यदेहसंपत्तिरित्याशंक्य, यथा वैदिकेन प्रोक्षणादिसंस्कारेण लौकिकव्रीहीणां शुद्धिः, तथा वैदिकेन देवकृतहोमरूपसंस्कारेण तस्यान्नस्य शुद्धिरिति । तेन योग्यदेहनिष्पत्तिः निष्प्रत्यूहेत्युक्तम् ॥ ६ ॥

ततः **सप्तमे एकसूत्रे रेतःसिग**धिकरणे, रेतसः पुरुषभावो विचारितः ॥ ७ ॥

ततोष्टमे **एकसूत्रे योनेःशरीर**मित्यधिकरणे, गर्भस्य न पुरुषत्वम्, किन्तु बहिर्निर्गतस्यैव पुरुषत्वमिति निर्णीतम् । अत्र सर्वत्रावसर एव संगतिरिति बोध्यम् ॥ ८ ॥

तेन जघन्याधिकारिणो देहनिष्पत्तिविचारः, मध्यमस्य च योगादिना देहसंपत्तौ पुनर्विचालनाभावाय वैराग्यविचारः पादार्थत्वेन सिध्यति । मुख्याधिकारिणां तु वरणादेव तत्सिद्धिरिति नात्र तद्विचार इति बोध्यम् ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

अथ **द्वितीये पादे** जीवस्य स्वरूपतो मुक्तियोग्यता विचार्यते । प्रथमपादोक्ताया योग्यताया ज्ञानोक्तिरूपे साधने एव पर्यवसानात् । तदुत्तरं विषयनिश्चयश्च क्रियते । तेनाधिकारसिद्ध्यनन्तरं विषयस्य निश्चयो वेदान्तार्थरूपब्रह्मस्वरूपस्य शाब्दं परोक्षज्ञानं हृदि स्थिरीभवतीत्येतदर्थं पादारम्भः । तथा सति पादयोरेककार्यत्वं सङ्गतिः । आनन्तर्यनियामक उपजीव्योपजीवकभावश्चेति बोध्यम् । अत्रै**कादशाधिकरणानि** । तत्र प्रथमैस्त्रिभिः जीवस्य स्वप्नसुषुप्तिजाग्रदवस्था मुक्तियोग्यताज्ञापनार्थमुपोद्घातेन विचार्यन्ते । अन्तिमैरष्टभिः ब्रह्मस्वरूपम् ।

तत्र **प्रथमे षट्सूत्रे सन्ध्याधिकरणे** द्वाभ्यां स्वप्नसृष्टिर्भगवतस्तत्कर्तृत्वं च यद्बृहदारण्यके काठके च श्रावितं तत्सृष्टिसंबन्धो जीवस्य भवतीति निरूपिता शुद्धिर्व्यर्थेत्या-

शंक्य, तृतीये तस्याः सृष्टेः मायामात्रत्वेन मिथ्यात्वं साध्यते । तेन जीवस्य तत्कृतगुणदोषसंबन्धाभावान्न पूर्वोक्तशुद्धिनिरूपणस्य वैयर्थ्यम् । ततश्चतुर्थे स्वप्नसृष्टेर्मिथ्यात्वे तत्करणस्य किं प्रयोजनमित्याकांक्षाया स्वप्नस्य क्वचित् शुभाशुभसूचकत्वात्फलतः सत्यत्वम्, अन्यत्र तु तादृशभगवल्लीलाप्रदर्शनमात्रं प्रयोजनमित्युच्यते, तच्च वैराग्याय फलिष्यति । ततः **पञ्चमे** जीवस्यापि भगवदंशत्वात्कथं स्वप्ने दुःखसंबन्धः, दुःखाद्यभिमानो वेत्याकांक्षायां भगवदभिध्यानात् जीवस्यैश्वर्यादिषड्धर्मतिरोभावेन जीवस्य बन्धो भगवद्धर्मविपरीतधर्मवत्त्वं च भवति । तेन दुःखित्वादिकं तदभिमानश्च । ततो भगवदिच्छया कथञ्चिन्मोक्षश्चेति स्वमतमुक्तम् । ततः **षष्ठे** देहयोगाद्वा ऐश्वर्यादितिरोभावो बन्धदुःखादिकं चेति मतान्तरमुक्तम् । अस्मिन्पक्षे देहवियोगे सत्येवैश्वर्याद्याविर्भावः, पूर्वस्मिन्पक्षे तु देहसद्भावेऽपि भगवदिच्छया ऐश्वर्याद्याविर्भावो बन्धाभावश्चेत्यैश्वर्याद्याविर्भावदशायां दुःखित्वादिसर्वदोषाभावाद् मुक्तियोग्यता निष्प्रत्यूहेति सिद्धम् ॥ १ ॥

ततः **द्वितीये एकसूत्रे तदभावो नाडीष्वित्यधिकरणे** जीवस्य द्विविधा सुषुप्तिः । एका नाडीषु, द्वितीया सत्संपत्तौ । तत्र प्रथमायां दुःखाभावमात्रम्, द्वितीयायां तु सुखमपीति द्विविधायामपि सुषुप्तौ न प्रपञ्चसृष्टिरिति प्रसंगाद्विचारितम् ॥ २ ॥

ततस्तृतीये त्रिसूत्रे अतःप्रबोध इत्यधिकरणे प्रथमसूत्रे जाग्रदवस्थापि भगवत एव भवतीति, यत्र स्वपिति तत्रैव जागर्ति, पश्चाद्धृदयं समागच्छति चेति निरूपितम् । ततो द्वितीये सूत्रे स एव जीवः समायाति, अन्यो वेत्याशंक्य, कर्मानुस्मृत्यादिभिर्हेतुभिः स एव समायातीति निर्णीतम् । ततस्तृतीये सूत्रे मूर्च्छाविशेषेऽतिमुग्धे कर्मानुस्मृत्यादयो न संभवन्ति । तत्र स एवान्यो वेत्याशंक्य, तत्र स वाऽन्यो वेति संदेह एव पर्यवस्यतीति सिद्धान्तितम् । अयं च विचारः प्रसंगानुप्रसंगायात एव ।

एवमधिकरणत्रयेण स्वप्नसुषुप्तिजाग्रद्रूपावस्थात्रयं भगवत्कृतमेव । तत्र जाग्रति जीवस्य मात्रासंसर्गवारणार्थमुपनिषदर्थनिश्चय आवश्यक इति सूचितम् । एताश्च गुणतो बुद्ध्यवस्थाः । तत्र स्वप्नो राजसः, सुषुप्तिः तामसी, जाग्रदवस्था सात्त्विकी । जीवस्तु देहयोगेन स्वस्मिन्नभिमन्यते, तस्मादेक एव जीवः स्वप्नादिदोषसंबन्धरहितस्तादृशजन्मयुक्तो भगवज्ज्ञानरहितो ज्ञानाधिकारीति त्रिभिरधिकरणैः सिद्धमिति ज्ञेयम् ॥ ३ ॥

ततश्चतुर्थे त्रिसूत्रे उभयलिङ्गाधिकरणे ब्रह्मणः साकारत्वं निराकारत्वं चेत्युभयं सर्वत्र श्रूयत इति स्थानोपाधिकं तत्तदवच्छेदभेदेन च न वक्तुं शक्यत इत्युच्यते । न चोक्तप्रकारेण ब्रह्मभेदेङ्गीकृते न दोष इति वक्तुं शक्यम्, सर्वत्र ब्रह्मण एकस्यैव कथनाद्, भेददर्शने दोषकथनाच्च । एवमुभयलिङ्गविरोधे सिद्धे उपनिषदां पूर्वाध्यायद्वयोक्ता ब्रह्मबोधकता वक्तुं न शक्यत इत्याक्षेपसंगत्योक्तम् ॥ ४ ॥

---

१ दोषसंबन्धाभावादसत्त्वादिति पाठः ।

ततः **पञ्चमे पञ्चसूत्रे अरूपवदेव हीत्यधिकरणे** एकदेशिमतेन समाधानमुच्यते । सत्यमुभयलिंगविरोधस्तथापि 'सर्वकामः सर्वगन्धः' इत्यादयो जडजीवधर्मा ब्रह्मण्युपदिश्यमाना उपसनार्था भवन्ति । न च जडस्य भगवत्कार्यत्वाज्जीवस्य भगवदंशत्वात्तद्धर्मा अपि भगवद्धर्मा एवेति कथमुपासनार्थत्वमिति शंक्यम् । 'बहु स्या'मितीच्छया भगवत एव कार्यरूपतयांशरूपतया चैकदेशेन भवनात्कारणरूपस्य ततो भिन्नतया तस्मिन् रूपे जडजीवधर्मनिषेध एव युक्तः । तथा चाद्वैतपक्षे जडजीवधर्माणामपि ब्रह्मात्मकत्वाद् ब्रह्मत्वमेव, न तु ब्रह्मधर्मत्वम्, अतः सर्वक[illegible]दीनां ब्रह्मण्युपचार एव, अरूपवतः सर्वप्रपञ्चविलक्षणस्यैवास्थूलादिवाक्यैः प्रधानत्वेन निरूपणात् । ततो **द्वितीयसूत्रे** एवं ब्रह्मणः सर्वव्यवहारातीतत्वे शास्त्रवैफल्यम्, 'मनसैवैतदाप्तव्य'मित्यादिश्रुतिविरोधश्चेत्याशंक्य, यथा सौरः प्रकाशो व्यवहार्योऽव्यवहार्यश्च स्वतो न कर्तुं शक्यते, आगते तु सूर्ये मेघाद्यभावेन सान्निध्यात् व्यवहर्तुं शक्यते, तथा लौकिकवाङ्मनोभिर्ब्रह्म स्वतो न व्यवहर्तुं शक्यते, ईश्वरसंनिधाने तु शक्यते, अतोऽसन्निधाने सर्वव्यवहारातीतत्वम्, सन्निधाने तु धर्मवत्त्वेन व्यवहार्यत्वमिति न शास्त्रवैफल्यम् । नापि श्रुतिविरोधः । अन्यथा 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्यादिष्वन्यतरवैयर्थ्यं स्यात् । अतः सन्निधानासन्निधानाभ्यां सधर्मकत्वनिर्धर्मकत्वबोधनव्यवस्था मन्तव्येत्युक्तम् । **ततस्तृतीयसूत्रे** 'आसीनो दूरं व्रजति,' 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीते'त्यादौ परस्परविरुद्धा अलौकिकधर्माः अकारणककार्यवचनान्नित्याः श्राव्यन्त इत्यव्यवहार्येपि तादृशधर्मसिद्ध्या शास्त्रवैफल्यनिरास इति किमर्थं सन्निधानासन्निधानाभ्यां व्यवस्थांगीक्रियते, अलौकिकानीन्द्रियाण्येव कुतो नांगीक्रियन्त इत्याशंक्य, बृहदारण्यके 'स यथा सैन्धवघन' इत्यादिना कृत्स्नस्य ब्रह्मणः प्रज्ञानघनत्वश्रावणान्नेन्द्रियाणि कल्पयितुं शक्यानि । न च क्रियाभावोपि । तत्रैव वेदानां निःश्वसितत्वस्य भूतसमुत्थानादेश्च श्रावणेन, तत्रैव निःश्वासोत्थानक्रिययोरुक्तत्वात् । अतो ब्रह्मैव सर्वाकारस्वरूपं, कृत्स्नत्वश्रावणात् । तस्मादिन्द्रियकल्पनया विरोधपरिहारो न युक्त इत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे **सूत्रे** नन्वभिन्ननिमित्तोपादानतया ब्रह्म जगत्कारणत्वेन सिद्धम्, कारणधर्मा एव च कार्ये भवन्ति, कामादयस्तु श्राव्यन्ते निषिध्यन्ते च, वेदवादिभिस्त्वव्यन्यथा न कल्पनीयम्, अतः कथं विरोधपरिहार इत्याशंक्य, मूर्तामूर्तब्राह्मणे ब्रह्मणो रूपद्वयमुक्त्वा, 'अथात आदेशो नेति नेती'तिवारद्वयं कथनेन कार्यकारणयोः समानप्रकारनिषेधः, कारणस्य ब्रह्मण एव त्वनिषेधश्च क्रियते । एवं रूपं निरूप्य 'सत्यस्य सत्य'मिति नाम च श्राव्यते, तेन प्रपञ्चातिरिक्तस्य ब्रह्मणो विद्यमानत्वात् तस्मिन् जडजीवधर्माणामौपचारिकत्वमेव युक्तम् । गीतास्मृतावपि 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जित'मिति 'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते' इति चोच्यते । तेन श्रुतिस्मृतिभ्यां जडजीवधर्मरहितं ब्रह्मेति सिध्यतीत्युक्तम् । ततः पञ्चमे प्रपञ्चधर्मा ब्रह्मण्यौपचारिका इत्यत्र

निदर्शनान्तरमप्युच्यते, 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोनुगच्छन्, उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोयमात्मे'तिस्मृतौ उपाधिना रूपभेदकथनात्, 'सम प्लुषिणे'त्यादावपि निरुपमस्य भगवतो यत् प्लुष्यादिकमुपमानं तदप्युपाधिसंबन्धादेव जलसूर्यन्यायेन संभवति । तस्मात् साकारेपि ब्रह्मणि ते धर्मा न सन्तीत्यौपचारिका मन्तव्याः, उपासनार्थमिति नोभयलिंगविरोध इत्येकदेशिमतेन समाधानम् । एतस्य मतस्य किञ्चिदंशेनोपादेयत्वाय प्रसंगादुक्तम् ॥ ५ ॥

ततः **षष्ठे चतुःसूत्रे अम्बुवदग्रहणादित्यधिकरणे** एकदेशिमतं दूषयित्वा स्वमतेन विरोधः समाधीयते । यदुक्तं समवाय्यतिरिक्तस्य ब्रह्मणः समवेतजडजीवसंबन्धात् सर्वकामत्वादयः प्रतिबिम्बे बिम्बधर्मवत् प्रतीयन्ते, तस्मादौपचारिका इति । तदयुक्तम् । तथाहि । समवाय्यतिरिक्तस्य ब्रह्मणो जडजीवेषु प्रतिबिम्बो न वक्तुं शक्यः, तेषामस्वच्छत्वेन प्रतिबिम्बाग्राहकत्वात् । ब्रह्मणो व्यापकत्वेन तत्र विद्यमानत्वाच्च । यदि ह्यस्वच्छे व्यापकस्य प्रतिबिम्बः स्यात्, दारुण्याकाशस्य स्यात्, स तु न दृश्यत इति । तस्मादुक्तरीत्यौपचारिकत्वमंगीकृत्य समाधानमसंगतमिति **प्रथमसूत्रे** उक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** यथा व्यापकस्याप्याकाशस्य करकादिप्रवेशे वृद्धिह्रासभाक्त्वं, महानाकाशः स्वल्प आकाश इत्याद्यभ्रमप्रतीतेः । नच महत्त्वाल्पत्वादीनामौपाधिकत्वम् । करकादीनां व्यञ्जकत्वेन जनकत्वानङ्गीकारात् । तथा च यथाकाशे सदोदितव्यंग्यभेदेन व्यापकत्वाल्पत्वयोः सामञ्जस्यम्, तथा ब्रह्मणि निर्धर्मकत्वसधर्मकत्वयोरपि सामञ्जस्यात् ब्रह्मगता एव सर्वकामत्वादयो जडजीवाभ्यामभिव्यज्यन्ते । तस्मात्ते ब्रह्मगता एवेति आकाशधर्मवदुभयलिङ्गत्वविरोधपरिहारः । ततस्तृतीये **सूत्रे** दर्शनादपि विरोधपरिहारः क्रियते । न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, व्याघातात्, अतो विरुद्धधर्माश्रयमेव ब्रह्मेत्यवगन्तव्यम् । दर्शनं च मृत्स्नाभक्षणोलूखलबन्धनादिषु स्पष्टमिति परमार्थतः स्वरूपविचारेण ब्रह्मस्वभावादेव विरोधपरिहारः । ततश्चतुर्थे युक्त्यापि विरोधः परिह्रियते । प्रकृते ब्रह्मणि लौकिका जडजीवधर्माः निषिध्यन्ते । अस्थूलादिवाक्येषु स्थूलादिपर्युदासस्यैव दर्शनात् । तथा च पर्युदासः सदृग्ग्राहीति स्थूलसदृशं ब्रह्मेत्येवं सर्वत्र ब्रह्मस्वरूपं ग्राहयति । तथा सति सदोदितमेव तत् । न च व्यंग्यमेव तदिति वाच्यम् । यतो यत्रैव धर्मान् निषेधति, तत्रैवालौकिकान् वक्ति, यथाऽस्थूलादिवाक्ये 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गी'त्यादिनालौकिकं प्रशासितृत्वादिकं वदति, तथा सति तत्सहचरितत्वात् स्थूलत्वादयोप्यलौकिका एव सदोदिताः सेत्स्यन्तीति लौकिकानां निषेधः, अलौकिकानां सत्ता, इति युक्त्या विरोधपरिहार इति मतेन शब्दबलविचारेण द्वेधा समाधानम् ॥ ६ ॥

ततः **सप्तमे द्विसूत्रे तदव्यक्तमाह हीत्यधिकरणे**ऽर्थबलविचारेण विरोधः परिह्रियते, अन्यथा अर्थबलेन विचारकाणामृषीणामाक्षेप उत्तिष्ठेदिति तन्निवारणायायमारंभः ।

तत्र सर्वाणि विरुद्धवाक्यान्युदाहृत्य चिन्त्यन्ते, 'न चक्षुषा गृह्यते,' 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत,' 'अपाणिपादः,' 'विश्वतश्चक्षु'रित्यादीनि विरुद्धवाक्यानि श्रौतत्वात् प्रमाणानि । वस्तुविचारे तु एकं वस्तु द्विरूपं न संभवति । अतः प्रमाणान्तरानुरोधेन एकस्य स्वार्थे प्रामाण्यमन्यस्योपचरितार्थत्वं वक्तव्यम् । तत्र कस्य स्वार्थत्वं, कस्योपचरितार्थत्वमित्याकांक्षायां 'अगृह्यो नहि गृह्यते,' इति श्रुतिः प्रत्यक्षानुरोधिनी । नहि ब्रह्म केनचित् चक्षुषा वा मनसा वा दृष्टमस्ति, सर्व(स्व)रूपत्वे तु सर्वैर्द्रष्टुं शक्येत, तस्मात् सर्वधर्मवत्त्वेन प्रतिपादकानि वचनान्युपचरितार्थानि, अनुभवविरोधात्, अव्यक्तत्वबोधकानि तु स्वार्थप्रतिपादकानि, अनुभवसंवादादिति **प्रथमसूत्रे** पूर्वपक्षमुक्त्वा, **अपि संराधने** इति **द्वितीयेन** समाधानमाह । 'श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगादवैहि,' 'यमेवैष वृणुते' इत्यादिश्रुतिभिः, 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य' इत्यादिस्मृतिभिश्च साकारब्रह्मणो दर्शनमुच्यते । 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान' इत्यनेन निष्कलस्यापि दर्शनमुच्यते । अतः प्रत्यक्षस्य रूपद्वयसाधारणत्वात् साकारमनन्तगुणपरिपूर्णं निर्गुणं विरुद्धधर्माश्रयं ब्रह्मेति साक्षात्क्रियमाणार्थबलेन साक्षात्काररूपार्थबलेन वा निर्णय इति साधितम् ॥ ७ ॥

ततोऽष्टमे **त्रिसूत्रे प्रकाशादिवच्चेत्यधिकरणे** पूर्वोक्त एवार्थः प्रकारान्तरेण स्थिरीक्रियते । तत्र यथा सूर्यचन्द्रमणिप्रकाशादिषूष्णशीतौ उभयरूपाः स्पर्शाः प्रतीयमाना अपि तेजसि तावन्तो नाङ्गीक्रियन्ते, किन्तूष्ण एव स्पर्शोंगीक्रियते, एवं हिमतप्तकुण्डादिषु प्रतीयमाना अपि जले तावन्तो नांगीक्रियन्ते, किन्तु शीतस्पर्श एवाङ्गीक्रियते, एवं सुवर्णे वर्णभेदा अपि, अतो न ते स्वाभाविकाः, तेजस्त्वादिस्वभावहानिप्रसङ्गात्, तथा ब्रह्मणोऽपि निर्विशेषत्वमेवाङ्गीकर्तव्यं, सर्वत्र निर्विशेषं ब्रह्मेत्येव प्रसिद्धेः । अत एव 'अगृह्यो नहि गृह्यते' इत्यादिश्रुतयोऽपि सङ्गच्छन्ते । न च पूर्वोक्तश्रुतिप्रत्यक्षादेः का गतिरिति शंकनीयम् । तपःप्रणिधानादिकर्मणि यथा तेषामुपासकानां कामस्तथा प्रकटीभवतीति तत्कामहेतुकं तादृशप्रत्यक्षम् । अतएव क्वचित्प्रत्यक्षं क्वचिदन्यथाप्रत्यक्षं च । यद्येकवारमेकरूप एव प्रकटः स्यात्तादृशरूपमङ्गीक्रियेतापि, किन्तु वारंवारं किञ्चिद्वैलक्षण्येन प्रकटीभवति । अतः प्रकाशोऽपि कृत्रिम एव, दीपप्रकाशवदित्येका शंका । तस्मान्न भक्तप्रत्यक्षेण निर्णय इति **प्रथमसूत्रे** उक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** एकस्य वस्तुनः निमित्तं विना प्रतिक्षणमन्यान्यादृशत्वं न वक्तुं शक्यते, अतोनन्तरूपेणाविर्भावे भक्तकाम एव निमित्तम् । तथा सति तद्विग्रह एव, न तु ब्रह्मस्वरूपम् । अतएव 'यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाये'ति तृतीयस्कन्धे ब्रह्मणाप्युक्तम् । अतस्तच्छरीरमेव, न तु ब्रह्मस्वरूपमिति द्वितीया शंका । तस्मान्न श्रुत्या निर्णयः, नापि भक्तप्रत्यक्षेणेति सूत्रद्वयेनाशंक्य, **तृतीयसूत्रेण** सिद्धान्तमाह । नैवं केवलयुक्त्या लौकिकदृष्टान्तेन निर्णयः कर्तुं शक्यः,

१ विरुद्धधर्माश्रयत्वरूपप्रत्यक्षप्रामाण्यं दृढीक्रियते । २ शीतानुभवरूपा इति पाठः ।

शास्त्रवैयर्थ्यप्रसंगात् । अत्र हि वेदादेव ब्रह्मस्वरूपमवगम्यते, तत्कथं स्वरूपशक्त्यैकतरनिर्णयः, वेदे निर्गुणत्वेनानन्तगुणपूर्णत्वेन च व्यपदेशात् । तर्ह्येकस्यानेकधामानं कथमिति तु न शंक्यम् । यथा एक एव सर्प ऋजुरनेकाकारः कुण्डलश्च भवति, तद्वदुभयरूपताया उपपत्तेः । न चैवं यथाश्रुताङ्गीकारे शास्त्रवैफल्यं शङ्क्यम्, .नानास्वभावैः सूरिव्यामोहे तन्निवारणार्थत्वेन शास्त्रसाफल्यात् । तस्माच्छ्रुतिप्रत्यक्षाभ्यां यत्पूर्वं निर्णय उक्तः, स एव सिद्धान्त इत्युक्तम् ॥ ८ ॥

ततो **नवमे त्रिसूत्रे प्रकाशाश्रयवद्वे**त्यधिकरणे धर्मस्वरूपविचारेण ब्रह्म सगुणं निर्गुणमिति पक्षद्वयमपि स्थाप्यते । तत्र धर्मा यदि ब्रह्मस्वरूपाद्भिन्नास्तदा कार्याः, यद्यभिन्नास्तदा ब्रह्मैवेत्याशंक्य, प्रकाशाश्रयवत् भिन्नाभिन्ना इति सिद्धान्त उक्तः । यथा प्रकाशाश्रयाः सूर्यादयस्तेजःप्रकाशाद्भिन्नाः प्रकाशधर्मकत्वात्, अभिन्नाश्च तेजस्त्वात्, एवं 'परास्य शक्ति'रित्यादौ षष्ठीनिर्देशाद्भिन्नाः, सच्चिदानन्दरूपत्वेनाभिन्नाश्च । तथा च धर्माणां भिन्नत्वेन ब्रह्मणोनन्तगुणपूर्णत्वं, तेषामपि सच्चिदानन्दरूपत्वेन ब्रह्माभिन्नत्वाद्ब्रह्मणो निर्गुणत्वमित्युभयमप्युपपन्नमिति स्वमतम् । ततः पूर्वं ब्रह्म निर्गुणमेव, पश्चादिच्छारूपेण, ततो धर्मरूपेण, ततः प्रपञ्चरूपेणाविर्भवतीत्युत्पत्तिविचारेण धर्माणां पश्चाद्भिन्नत्वेपि कार्यत्वाद्ब्रह्मत्वं कटककुण्डलादीनां सुवर्णत्ववदित्येकदेशिमतमपि सूत्रद्वयेनांगीकृतम् । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया अत्राप्युपपत्तेरिति । एतयोः प्रथममेव ज्याय इति भाष्यप्रकाशादवगन्तव्यम् । एतेषां पञ्चानामप्यधिकरणानामेककार्यकारित्वं संगतिरवगन्तव्या । पञ्चभिरपि श्रुतेर्बोधकताप्रकारस्यैव निश्चायनात् ॥ ९ ॥

ततो **दशमे सप्तसूत्रे परमतः सेतून्माने**त्यधिकरणे, 'य आत्मा स सेतुर्विधरण' इत्यादिभिः श्रुतिभिर्ब्रह्मणः सेतुत्वादिकमुक्तम्, ब्रह्मणस्तथात्वे परत्वं न संगच्छते, सेत्वादीनां साधनादिरूपत्वात् । अतो देशकालवस्तुस्वरूपकृतचतुर्विधपरिच्छेदरहितं ब्रह्मणोऽन्यदेव किञ्चित्परं वक्तव्यमिति **प्रथमसूत्रे** आशंक्य, **द्वितीये** 'सेत्वादिसामान्या'त्सेत्वादिव्यपदेशार्थः । संसारसागरतरणोपायत्वात्सेतुत्वम्, निर्लेपत्वायाकाशत्वमित्यादिकं गौण्या व्यपदिश्यते । यथा कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुहोती'ति, तस्मात् गुणार्थमेव तदुक्तिः, न तु सर्वप्रकारकसाम्यार्थम् । अतः सेत्वादिदोषाभावात् ब्रह्मैव परम्, नान्यदिति समाहितम् । ततस्तृतीये यथा मूतादि पादवत्त्वेनोपासनीयम्, तथा गौण्यान्यसमानधर्मवत्त्वव्यपदेशस्य किंप्रयोजनमित्याकांक्षायां सेत्वादिधर्मवत्त्वेनोपासनीयमित्युपासनार्थत्वं प्रयोजनमुक्तम् । ततश्चतुर्थे स एवायमित्यतिदेशेप्युपासनासंपत्तेः किमर्थो धर्मातिदेश इत्याशंक्य, यथा चन्द्रादित्याग्नितेजसां तेजस्त्वेनैक्येपि स्थानविशेषान्न समानप्रकाशकत्वम्, तथा स एवायमित्यतिदेशेऽपि न समानधर्मवत्त्वमिति ज्ञानसंभवात्, तन्निवृत्त्यर्थं धर्मातिदेश इति प्रयोजनमित्युक्तम् । तेन ब्रह्मैव सर्वत्रोत्कृष्टमिति साधितम् । ततः **पञ्चमे** ब्रह्मणोऽन्यत् परमितिमतस्य दूषणार्थं, यदि हि सत्यज्ञानाद्युक्तधर्मविशिष्टब्रह्मणोऽन्यत्किञ्चित्परं स्यात्, तदा येनकेनचित्प्रमाणेन प्रमितं स्यात्, यतो नैवमतो नैवमितिप्रमाणाभावरूपा युक्तिरुक्ता । ततः **षष्ठे** यथा ब्रह्मणि सेतुत्वादिकं श्रुत्योक्तम्, तथा 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति श्रुत्या समाभ्यधिकनिषेधोप्युक्तः । यदि ब्रह्मणः सकाशादधिकं परमन्यत्स्यात्तदा तन्ननिषेधेत्, यत एवमतो नैवमिति युक्त्यन्तरमुक्तम् । तस्मात्सेत्वाद्युक्तिर्गौण्येवेति साधितम् । ततः **सप्तमे** ब्रह्मणोन्यस्य परत्वनिरासेन 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इत्यादिश्रुतिभ्य एव ब्रह्मणः सर्वगतत्वम्, नत्वनुमानैकशरणम् । अनुमानं तु श्रुतिसंवादित्वात्प्रमाणमस्त्विवति फलितमुक्तम् । तेन ब्रह्मण एव परत्वम्, नान्यस्य । यद्यपि समन्वयविचार एवैताः श्रुतीः विचार्य दोषाः परिहृताः, तथापि स्वरूपविरोधपरिहारप्रस्तावात्पुनरुच्यन्ते । सर्ववाक्यप्रतिपाद्यमेकमेव ब्रह्मेत्यपि अर्थबलविचारेण न सिद्धम्, अतो विशिष्टज्ञानोत्पादनार्थं पुनः अर्थबलेन विचारितम्; अतो न दोष इति ज्ञेयम् । अर्थबलं च समाभ्यधिकरहितं यत्स्वरूपं तद्बलम् । एवं सर्वोत्तमत्वनिरूपणेनोत्तमाधिकारिणां भजनीयत्वप्रयोजकं रूपं वक्ष्यमाणोपोद्घाततया निरूपितम् । एवमग्रेऽपि ॥ १० ॥

तत **एकादशे चतुःसूत्रे फलमत इत्यधिकरणे** जघन्यमध्यमानामर्थे ब्रह्मणः फलदत्वं सूत्रद्वयेनोच्यते । ततस्**तृतीये** श्रुत्युपपत्तिभ्यां जैमिनिमतेन धर्मस्य फलदातृत्वमाशंक्य, चतुर्थेन भगवत एव कर्मकारयितृत्वान्न धर्मस्य फलदाने स्वातन्त्र्यम्, किन्तु ब्रह्मण एव इत्येवं तन्मतं दूष्यते ॥ ११ ॥

एवमष्टभिरधिकरणैः श्रुतीनां बोधकताप्रकारविचारेण तत्तदधिकारिणं प्रति श्रुतीनां तादृशतादृशबोधजनकत्वमित्यस्मिन्पादे निर्णीतमिति बोध्यम् ।

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अत्र पूर्वपादे श्रुतीनां बोधकताप्रकारनिरूपणेन यथा परोक्षज्ञानजनकत्वं तथा निरूपितम् । अतःपरं यथा साक्षात्कारो भवति, तथा तत्साधनमुपासनारूपं वक्तव्यम् । उपासनायां च क्रियमाणायां धारणासिद्धौ मानसी मूर्तिरभिव्यक्ता भवति । तत उपासनापरिपाके साक्षात्कार इति तदर्थमस्मिन्पादे गुणोपसंहारोन्तरङ्गविचारेण कर्तव्यतया विचार्यते । तत्र किमन्तरङ्गमित्याकांक्षायां 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता' इति भगवदुक्तेषु त्रिषु साधनेषु ज्ञानभक्ती अन्तरङ्गे । तत्र निर्विण्णाधिकारकत्वात् ज्ञानस्यान्तरङ्गता । निर्वेदाभावेपि लौकिकात्यासक्तिरहिताधिकारकत्वाद्भक्तेरन्तरङ्गतेति भेदः । कर्म तु कामाधिकारकत्वाद्बहिरङ्गसाधनम् । अतः कर्मोपसंहारात्पूर्वं ज्ञानभक्त्युपयोगित्वात् पूर्वं गुणोपसंहारो विचार्यते ।

स कथं कर्तव्य इत्याकांक्षायां ज्ञानभक्त्योः सविषयत्वात् पूर्वं विषयो विचारणीयः । तत्र विषयः पूर्वसिद्धं ब्रह्म, तदेव च फलदाने समर्थमिति द्वितीयपादान्ते स्थितम् । तदेतत्स्मारयितुमुपसंहारोपोद्घातत्वेन ज्ञानभक्त्योर्विषयतया ब्रह्मणः ज्ञानभक्तिषु युक्तत्वोपासनायाश्च सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं सूत्रद्वयेन विचारितम् । तेन ज्ञानाधिकारिभिस्तथैवोपासना कार्येति सेत्स्यति ॥ १ ॥

तत इदानीन्तनानां सर्वशाखाज्ञानाभावेन सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वस्यावधारयितुमशक्यत्वात्तेषामुपकाराय भक्तिमार्गीयोपासनोपकाराय काम्योपासनोपकाराय च तत्तच्छाखानुरुद्धशिष्टाचारमनुरुध्य, तत्तद्भक्तिमनुरुध्य, तत्तत्काममनुरुध्य च स्वाध्यायादिसूत्रद्वयेऽनुपसंहारहेतुकथनेन तत्तद्गुणोपसंहाररूपः संकोचो विचारितः ॥ २ ॥

ततो गुणोपसंहार एवास्य पादस्यार्थ इति बोधयितुमुपसंहारसूत्रेण सर्वोपसंहारतत्संकोचयोः काम्योपासनोपयुक्तोपसंहारस्य च बीजमुक्तम् । ततोऽन्यथात्वादिसूत्रत्रयमध्ये प्रथमेन सर्वोपसंहारपक्षेऽब्रह्मत्वरूपं बाधकं निवारितम् । ततो द्वाभ्यां संकोचपक्षे तदेव बाधकान्तरेण भक्तिमार्गीयोपासकानामर्थे निवारितम् । ततश्च अनित्यत्वेन प्रतीयमानानां स्वरूपधर्माणामेकेन नित्यत्वं, तदग्रिमे तदुपपत्त्यर्थं भक्तनित्यत्वं, लीलापदार्थानां भगवदभेदश्चोपपादितः । एवं लीलापदार्थानां भगवदभेदे सति भगवत्तुल्यत्वं स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं पूर्णानन्दत्वादीनां भगवदसाधारणधर्माणां तेष्वभाव आनन्दादिसूत्रेण प्रतिपादितः । तेन भक्तेषु तदनुपसंहारः सिध्यति । ततः प्रियशिरस्त्वसूत्रे अधिकारिभेदेन स्वरूपोपासकस्य प्रियत्वादीनां शिरस्त्वादिरूपेणानुपसंहारस्तदुपसंहारश्च प्रतिपादितः । तत एकेनोपसंहारपक्षे बीजमुक्तम् । तत आध्यानादिसूत्रद्वये उपसंहारसंकोचे बीजमुक्तम् । एवमस्मिन्नधिकरणे पादार्थरूप उपसंहारप्रकारः सपरिकरो विचारितः । भगवतः कैवल्यरूपं मुख्यत्वरूपमैक्यं च समर्थितम् । ततोग्रे एतस्यैव प्रपञ्चः ॥ १ ॥

ततोग्रे चतुर्भिरधिकरणैरुपासनानियामकसंबन्धिभेदे रूपात्मकः संबन्धो विचार्यते । तत्रादौ **द्वितीये द्विसूत्रे आत्मगृहीत्यधिकरणे** तद्गुणोपसंहारनियमनाय तत्तद्विभूतिद्वारा ब्रह्मण एव फलदातृत्वसमर्थनाय भक्तिज्ञानमार्गोपकारकशान्त्युत्पादनाय विभूतीनां ब्रह्मात्मकत्वभावनाय च अन्नमयादिषु विभूतिष्वानन्दमयस्यैव शरीराभिमानित्वं विचारितम् ।

ततस्**तृतीये षट्सूत्रे कार्याख्यानादित्यधिकरणे** प्रथमसूत्रवर्णकद्वयमध्ये प्रथमवर्णकेन विभूत्युपासनेषु आनन्दमयस्याध्यात्मिकरूपेणैव फलदातृत्वरूपविशेषसमर्थनाय पूर्वोक्तविभूतीनामन्नमयादीनां चतुर्णां पुरुषाणामाधिभौतिकत्वनिराकरणेनाध्यात्मिकत्वं समर्थितम् । द्वितीयेन वर्णकेन सर्वगुणोपसंहारायाविर्भूतपुरुषोत्तमविग्रहस्यैवात्मत्वं ज्ञानभक्तिमार्गीयसाधारण्येन विचारितम् । ततो द्वितीयसूत्र आविर्भूतस्य श्रीकृष्णा-

१ प्रथमेति मूलपाठः । २ सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वेन ।

दिरूपस्याप्यात्मत्वमेवेति व्यापकत्वैकरसत्वसच्चिदानन्दत्वादयः सर्वे धर्मा उपसंहर्तव्या इति केवलभक्तार्थं विचारितम् । ततस्तृतीयसूत्रे आवेशिनि गुर्वादावाविष्टे रूपे सर्वभगवद्गुणोपसंहारः ज्ञानिभक्तार्थं विचारितः । ततस्त्रिभिरावेशिनि गुरुप्रतिमादावाविष्टे रूपे तदनुपसंहारः केवलभक्तार्थं विचारितः ॥ ३ ॥

ततश्चतुर्थे एकसूत्रे पुरुषविद्यायामित्यधिकरणे उत्तमाधिकारिभिरशेषगुणपूर्णं परं ब्रह्मैवोपास्यम्, न विभूतिरूपमिति साधितम् । आध्यात्मिकेषु विभूतिरूपेषु सर्वगुणानुपसंहारेऽसाधारणगुणानाधानरूपो हेतुश्चोक्तः ॥ ४ ॥

ततः **पञ्चमे द्विसूत्रे वेधाद्यधिकरणे** पूर्वसूत्रेणासन्यरूपे चेतनविभूतौ भगवत्संबन्धाद्दोषाभावनिरूपणात्कैमुतिकन्यायेन मूलरूपस्य निर्दोषत्वं समर्थितम्, आधिभौतिकरूपाणां जीवानां सदोषत्वं च बोधितम् । ततो द्वितीये सूत्रे तत्सदोषत्वं भगवत्सकाशात् विभागदशायामेव, तथा सति मुक्तिदशायां तारतम्याभावे प्राप्ते भगवत्तुल्यतापि स्यादिति तन्निवारणार्थं तदापि न्यूनगुणकत्वं स्थापितम् । तेनाध्यात्मिकरूपेषु कतिपयगुणोपसंहारः, मूलरूपे सर्वगुणोपसंहारः । लौकिकरूपेषु मुक्तिदशायामेव निर्दोषत्वपरिमितगुणोपसंहारौ, न संसारदशायामिति निर्णीतम् । एवं चतुर्भिरधिकरणैः रूपभेदः प्रपञ्चितः ॥ ५ ॥

ततः षष्ठाधिकरणमारभ्य पञ्चदशभिरधिकरणैरुपसंहारनियामकस्तत्तन्मार्गरूपः संबन्धिभेदस्तत्तदधिकारनियामकं मार्गतारतम्यं च निरूप्यते ।

तत्र **षष्ठे द्विसूत्रे संपराया**धिकरणे अन्तरङ्गसाधनयोर्ज्ञानभक्त्योर्मूलरूपोपासनासंभवादविशेषे प्राप्तेवसरसङ्गत्या स्वरूपतो मर्यादाभक्तेर्ज्ञानाज्ज्यायस्त्वस्य भक्तौ दोषाभावस्य च निरूपणेनान्तरङ्गतरत्वं निरूपितम् ॥ ६ ॥

ततः **सप्तमे एकसूत्रे गतेरर्थवत्त्व**मित्यधिकरणे हेतुबोधनेन तदेव दृढीकृतम्, मार्गभेदेन पुष्टिभक्तेरन्तरङ्गतमत्वं च निरूपितम् ॥ ७ ॥

ततो**ष्टमे उपपन्ना**धिकरणे पुष्टिभक्तेरन्तरङ्गतमत्वं दृढीकृतम् । एवं त्रिभिरधिकरणैरन्तरङ्गसाधनानां त्रैविध्ये निर्णीते पूर्वं 'इतरे त्वर्थसामान्या'दित्यादिसूत्रत्रयेणोपसंहारानुपसंहारबीजबोधने कृते किमीयोपासनायां के के गुणा उपसंहार्या इत्याकांक्षापि पूरिता । ज्ञानमार्गीयोपासनायां तदुपयोगिनः सर्वे, तत्तद्भक्तिमार्गीयोपासनायां तु तत्तदुपयोगिनस्ते ते इत्यर्थादेव सिद्धेरिति ॥ ८ ॥

ततो **नवमेऽनियमा**धिकरणे ज्ञानापेक्षयान्तरङ्गाणां भक्तीनां मुक्तिसाधने समुच्चयविकल्पयोरनियमः प्रसङ्गेन विचारितः । पादार्थसङ्गतिस्तु पूर्वसिद्धैवात्रापि ॥ ९ ॥

ततो **दशमे आधिकारिका**धिकरणे आधिकारिकाणां मुक्तिसाधने प्रवृत्त्यर्थमाधिकारिकाणां भगवद्धर्माणां मुक्तिसाधनत्वाभाव उपोद्घातगर्भप्रसङ्गसङ्गत्या प्रतिपादितः ।

१ भौतिक इति पाठः । २ भक्ति इति पाठः ।

आधिकारिकाणां धर्माणां भगवत्संबन्धितया साधनत्वप्राप्तावपवादसङ्गत्या उपोद्घातगर्भप्रसङ्गसङ्गत्या वा मुक्तिसाधनत्वाभावः प्रतिपादितः । उपसंहारस्तु ज्ञानादिमार्गानुरोधीति तदनुसारेणायातीति पादार्थेनापि संगतिः ॥ १० ॥

ततः पूर्वं संपरायाद्यधिकरणेषु ज्ञानभक्त्योः स्वरूपतस्तारतम्यसाधनेपि विषयफलयोरविशेषादन्तरङ्गतरत्वादिकस्याप्रयोजकत्वं प्राप्तमिति तन्निवारणार्थ**मेकादशे द्विसूत्रेऽक्षरधिया**मित्यधिकरणे ज्ञानभक्तिसंबन्धिविषयफलयोर्भेदबोधनात् भक्त्यपेक्षया ज्ञानस्यापकर्षबोधनेन भक्तावन्तरङ्गतरत्वादिकं तथैव सङ्गत्या दृढीकृतम् । उपसंहारस्तु तत्तदुपयोगी प्रागेव सिद्धः ।

ततो **द्वादशे त्रिसूत्रेन्तरा भूतग्रामव**दित्यधिकरणे श्रुतावहंग्रहोपासनस्य मुख्यत्वकथनात् ज्ञाने भक्तौ च तस्य तुल्यत्वादुभयोस्तौल्यस्य ज्ञानाधिक्यस्य वा प्राप्तौ तस्या उपासनाया भक्त्येकदेशत्वकथनेन ज्ञानापेक्षया मुख्यभक्तेर्विरहरूपान्तरङ्गसाधनत उत्कर्षः पूर्वोक्तसङ्गत्या प्रतिपादितः ॥ १२ ॥

तत**स्त्रयोदशे द्विसूत्रे सैव** हीत्यधिकरणे प्रथमसूत्रेण विहिताविहितरूपाया द्विविधाया अपि मध्यमभक्तेः पूर्वोक्तसङ्गत्या साधनत उत्कर्षः प्रतिपादितः । द्वितीयसूत्रेण भगवद्विषयककामादीनामपि मुक्तिफलकत्वकथनेन मुक्तौ भगवद्विषयकत्वरूपसाक्षात्संबन्धस्यैव मुक्तिसाधनतावच्छेदकत्वम्, न तु ज्ञानत्वं भक्तित्वं वेति निरूपितम् ॥ १३ ॥

तत**श्चतुर्दशे द्विसूत्रे आदरा**दित्यधिकरणे कैमुतिकन्यायेन कर्मापेक्षया भक्तिसाधनानामुत्कर्षः कर्मिप्रत्यवस्थाननिवृत्त्यर्थं प्रतिपादितः ॥ १४ ॥

ततः **पञ्चदशे एकसूत्रे तन्निर्धारणा**धिकरणे स्वकृतवेदमर्यादारक्षार्थं विहिताविहितभक्तिमार्गीयस्य कर्मकरणाकरणयोर्हेतुफले बोधिते । द्वितीयपक्षेपि मुख्यभक्तेः पूर्वोक्तभक्तिद्वयादुत्कर्षः साधनतः फलतश्च प्रसङ्गात् प्रतिपादितः ॥ १५ ॥

ततः **षोडशे प्रदानव**दित्यधिकरणे सर्वात्मभावात्मकमुख्यभक्तेर्विहितयावत्साधनसाध्यत्वनिराकरणेन वरदानवत्प्राप्तिरित्युक्तम् ॥ १६ ॥

ततः **सप्तदशे दशसूत्रात्मके लिङ्गभूयस्त्वा**धिकरणे सर्वात्मभावात्मकमुख्यभक्तेः स्वरूपमन्तरङ्गतमत्वकाष्ठाबोधनार्थं श्रुतिवाक्यैः प्रपञ्चितम् ॥ १७ ॥

ततो**ऽष्टादशे त्रिसूत्रे व्यतिरेका**धिकरणे ज्ञानिनां पूर्णाक्षरज्ञानाभावस्य प्रतिपादनेन अग्रिमसूत्रद्वये निदर्शनकथनेन च भक्तानां पूर्णतज्ज्ञानकथनात्सर्वात्मभावरूपमुख्यभक्तिफलस्य भोग्यस्य पुरुषोत्तमज्ञानमध्यमभक्तिफलरूपपुरुषोत्तमसायुज्यादाधिक्यमर्थतः प्रतिपादितम् ।

तत **ऊनविंशे एकसूत्रे भूम्न** इत्यधिकरणे फलविचारेण सर्वात्मभावस्य साधनदशायां दुःखरूपदोषः परिहृतः ॥ १९ ॥

एवञ्च पञ्चदशभिरधिकरणैः सबन्धिरूपमार्गस्तत्तारतम्यं च निरूपितम् । एवं स्वरूपपरासूपासनासु तारतम्यबोधनेन तासु तासु तत्तद्ध्यानोपयोगिनो गुणा उपसंहार्या इति पादार्थसङ्गतिः ।

ततो **विंशे एकसूत्रे नानाशब्दादिभेदा**दित्यधिकरणे ततो न्यूनासु सत्त्वोपहितावतारूपोपासनासु नानात्वं विचारितम् ॥ २० ॥

ततोग्रिमे **एकसूत्रे एकविंशे** तासां तासां विकल्पो विचारितः । **गुणोपसंहारस्तु** तत्तद्ध्यानोपयोग्येवेति पूर्वोक्तैव व्यवस्था ॥ २१ ॥

ततो **द्वाविंशे** काम्योपासनासु समुच्चयविकल्पौ यथाकामं विचारितौ, तेन तासु तत्तत्कामोपयोगी गुणोपसंहारो बोधितः ॥ २२ ॥

तत**स्त्रयोविंशे द्विसूत्रे अङ्गेष्वि**त्यधिकरणे उपासनाङ्गानां व्रतानामाश्रयमित्यत्वं प्रसङ्गाद्विचारितम् ॥ २३ ॥

ततोऽग्रिमे **द्विद्विसूत्रे समाहारा**दित्यधिकरणद्वये ज्ञानमार्गीयोपासनासु सर्वगुणोपसंहारानुपसंहारावधिकारिभेदेन विचारतौ । तेन ज्ञानमार्गीयो विचार एवात्र मुख्यो, भक्तिमार्गविचारस्तु भक्तौ भगवत्कृपारूपस्याधिकस्य साधनस्य प्रवेशान्न सर्वोपयोगी यद्यपि, तथापि शास्त्रारंभे ब्रह्मसंबन्धिजिज्ञासाप्रतिज्ञानुरोधात्कृतः, तत्प्रयोजनं त्वग्रिमपादे 'भक्तिमार्गप्रचारैकहृदयो बादरायण' इति श्लोकेन वक्तव्यमिति ॥ २४,२५ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

वेदान्तेषु कर्माङ्गभूता उद्गीथाद्युपासना उक्ताः । आचार्येणापि **अङ्गेषु यथाश्रयभाव** इत्यादिना पूर्वपादान्ते ता विचारिताः । भाष्यकारैरपि प्राचीनवृत्तिकारादिसंमतं पूर्वोत्तरकाण्डयोरैकशास्त्र्यमङ्गीकृतम् । तृतीयाध्यायारम्भे च चतुर्थपादस्य कर्मोपसंहारोर्थ उक्तः । तथा सति ज्ञानेपि कर्मापेक्षास्तीति सिद्धम् । प्रकृतपादारम्भे च प्रथमसूत्रेण स्वमतमुक्त्वा, ततः षट्सूत्रैरीश्वरस्य ज्ञानस्य च कर्मशेषबोधकं जैमिनिमतं पूर्वपक्षत्वेनोपन्यस्य, अधिकोपदेशादित्यादिभिर्नवभिः सूत्रैर्ज्ञानस्येश्वरस्य च यज्ञादिकर्मशेषत्वं निराकृतम् । ततः ऊर्ध्वरेतःसु चेति सूत्रेण ज्ञानस्य संन्यासाश्रमिणः कर्मशेषत्वमपि निराकृतम् । तेन ज्ञानस्य न कर्मशेषत्वम् । तेन पूर्वकाण्डवैयर्थ्यापत्तौ यज्ञादिकर्मणां यथाकथञ्चित्परंपरया मोक्ष एव फलत्वेन परामृश्यत इति नैकशास्त्र्यादिहानिरित्यभिसंहितम् । ततः परामर्शसूत्रे तदपवादं पूर्वपक्षीकृत्य, अनुष्ठेयसूत्रे ज्ञानसाधनत्वेन तत्करणमंगीकृत्य कर्मस्वातन्त्र्यं निवारितम् । अग्रिमैः पञ्चभिः सूत्रैस्तदेव समर्थयित्वा ज्ञानस्योत्कृष्टत्वं साधितम् । एवं पञ्चविंशतिसूत्रात्मकेनाद्याधिकरणेन उपसंहारोपोद्घातत्वेन कर्मणः स्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्ये विचारिते । तत्र भगवत्प्राप्तिरूपस्य पुरुषार्थस्य सर्वात्मभावरूपपुरुषोत्तमज्ञानैकलभ्यत्वमिति स्थितम् ॥ १ ॥

ततः कर्मणः किं परोक्षज्ञानसाधनत्वमपरोक्षज्ञानसाधनत्वं वेत्यपेक्षायां **सर्वापेक्षेति षट्सूत्रे द्वितीयाधिकरणे** साक्षात्कारस्य स्वरूपोपकारार्थं कर्मज्ञानभक्त्यपेक्षां प्रति-

ज्ञान तदन्मार्गोक्तकर्मसापेक्षत्वं साधितम् । पूर्वपाद एवान्तरङ्गसाधनविचारे ज्ञानमक्त्यावश्यकताया निरूपितत्वात् । ततो द्वितीयसूत्रे शमदमादीनां सत्त्वशोधकत्वे तैरेव ज्ञानसिद्ध्या यज्ञादिकर्मनिरपेक्षत्वमाशंक्य, तेषां विशेषानुष्ठेयत्वम्, न तु कर्मनिवारकत्वमिति तदानीमपि यज्ञादिकर्म कर्तव्यमेवेति सिद्धान्तितम् । ततः ज्ञानिनः सर्वान्नभक्षणस्यानुज्ञानात्कामतः सर्वभक्षणे प्राप्ते आहारशुद्ध्यभावेन शमाद्यसंभवात् पयोव्रताद्यभावेन यज्ञादेरप्यसंभवाद्यज्ञशमदमादीनां साक्षात्कारजनकत्वमसङ्गतमित्याशंक्य, सर्वान्नानुमतेः प्राणात्ययापत्तिविषयत्वेनान्यदा तदप्राप्त्या तदानीं कामचाराभावात् यज्ञशमदमादिसम्भवेन तेषां ज्ञानप्रतिबन्धनिवर्तकतया कारणत्वं निर्बाधम् । यद्यपि पूर्णस्य ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वम्, तथापि साधनदशायां तदपेक्षास्तीत्युपसंहारहेतुतया सर्वान्नानुमत्यादिसूत्रचतुष्टये साधितम् ॥ २ ॥

ततस्तृतीयेऽष्टसूत्रे **विहितत्वाच्चाश्रमकर्मे**त्यधिकरणे प्रथमसूत्रद्वयेन जातज्ञानस्यापि ज्ञानमार्गीयस्याश्रमधर्माणां नित्यत्वेन प्रत्यवायपरिहारकतया शमदमादिसहकारितया च कर्तव्यत्वं निर्णीतम् । तेनैव कर्ममार्गीयस्य निष्कामतायामपि तदावश्यकत्वमित्यर्थादेव बोधितम् । ततोऽग्रिमैः **सर्वथापी**त्यादिभिः षड्भिः सूत्रैर्विहितानां भगवच्छ्रवणादीनां पूर्वोक्तेभ्यः सर्वेभ्य आधिक्यं, तदविरोधेनैवाश्रमधर्माणां कर्तव्यत्वं, भगवद्धर्मैकर्तुरनभिभवं, आश्रमधर्माणां फलसिद्धावन्तरायरूपत्वादविरोधेनैव कार्यत्वं, भगवद्धर्माणां भक्तेस्तत्फलस्य च ज्ञानादिफलाज्ज्यायस्त्वमन्तरङ्गतरविचारेण निरूपितम्, तेन भगवद्धर्माविरोधेनैव ते कर्तव्या इत्युपसंहारप्रकारो दर्शितः ॥ ३ ॥

ततस्तत्फलं किं, कथं च तस्य ज्ञानफलादाधिक्यमित्याकांक्षायां **चतुर्थे एकसूत्रे तद्भूतस्ये**त्यधिकरणे भगवद्धर्माणां साधनदशायामुत्कृष्टत्वेपि फलदशायां मुक्तिभवने फलतो न कश्चिद्विशेष इत्याशंक्य, नियमादिभिर्हेतुभिस्तस्य नित्यत्वं, भक्तानां मुक्त्यनिच्छया तत आधिक्यं च मुख्यभक्तिमार्गस्योत्कर्षार्थं प्रसङ्गात्प्रतिपादितम् ॥ ४ ॥

ततः **पञ्चमे द्विसूत्रे न चाधिकारिक**मित्यधिकरणे मर्यादापुष्टस्यापि यत् भगवदीयत्वरूपमन्तर्निष्ठारूपं यत्फलं तन्नित्यं, ज्ञानमार्गीयमुक्तेः सकाशादधिकमित्यनुप्रसङ्गेन निरूपितम् । एवमधिकरणद्वयेन पूर्वोक्तकर्मोपसंहारप्रकारे बीजं बोधितम् ॥ ५ ॥

ततः **षष्ठे चतुःसूत्रे बहिस्तूभयथे**त्यधिकरणे सर्वविधस्य पुष्टिमार्गीयस्य आश्रमरूपसंन्यासधर्मानुपसंहारार्थं साधनत उत्कर्षबोधनायानुप्रसङ्गेन गृहत्यागो विचारितः । स च मध्यमाधिकारे एवेति फलति ॥ ६ ॥

ततः **सप्तमे एकसूत्रे सहकार्यन्तराधिकरणे** गृहत्यागिनो मर्यादापुष्टिमार्गीयस्य शमादिकं भावनासहकारित्वेन कर्तव्यम्, पुष्ट्यंशबाहुल्ये तु तेनापि भावनामात्रमेव कर्तव्यमिति साधनव्यवस्थानुप्रसङ्गाद् दर्शिता ॥ ७ ॥

ततोऽष्टमे चतुःसूत्रे गृहिणोपसंहाराधिकरणे, प्रथमसूत्रेण पूर्वोक्तेभ्यो जघन्याधिकारिणां त्यागानुकल्परूपं गृहे स्थित्वा भगवद्भजनं कर्तव्यमिति विचार्य, द्वितीयादिभिस्तत्करणप्रकारस्तदाधिक्यं, भगवद्भावस्य लोकेभ्यप्रकटनं, भगवद्भजनव्यतिरिक्तसमये लौकिककरणं, गृहिणोपसंहारश्रुतिमतुलत्यानुप्रसङ्गाद्विचारितम् । तेन **विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापी**त्यनेन यत्पूर्वमुक्तं तस्य प्रकारो बोधितः ॥ ८ ॥

ततः **नवमे एकसूत्रे एवं मुक्तिफलानियम** इत्यधिकरणे तादृशस्य देहपातोत्तरं मुक्तिर्वा भगवदीयत्वं वेति संशये मुक्तिस्तु नियतैव, भगवदीयत्वं तु भगवत्कृपाधीनमित्यनियमो निर्णीतः । तेनानुकल्पोपि मर्यादामार्गादधिकः, निरवच्छिन्नानन्दपुरुषोत्तमसायुज्यादिति ॥ ९ ॥

एवमस्मिन्पादे बहिरङ्गविचारेण सप्रकारः कर्मोपसंहारो दर्शितः । **एवमस्मिन्नध्याये** चतुर्भिः पादैः सर्वसाधनं सप्रकारमुपदिष्टम् ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य पीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ
वेदान्ताधिकरणमालायां तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

तृतीयाध्यायः समाप्तः ।

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ **चतुर्थोऽध्याये**वसरसङ्गत्या फलं निरूप्यते । तच्च फलं **ब्रह्मविद** इति चतुर्भिः पादैर्जीवतो म्रियमाणस्य गच्छतः प्राप्तफलस्य च क्रमेण तस्य यथाधिकारमवस्था निरूप्यन्ते ।

तत्र **प्रथमपादस्य द्विसूत्रे प्रथमेधिकरणे** प्रथमवर्णकेन श्रवणादीनामवान्तरफलत्वाय तेषामावृत्तिः कर्तव्येत्युच्यते । तेन पूर्वपादान्ते गृहिणोपसंहारे सर्वेन्द्रियाणामात्मनि प्रतिष्ठापनमुक्तम्, तत्प्रकारोत्र दर्शित इति पूर्वेण सह प्रकारप्रकारिभावः सङ्गतिरिति बोध्यम् । द्वितीयवर्णकेन तु ज्ञानभक्त्योः फलत उत्कृष्टत्वाय कर्ममार्गे आवृत्त्युत्पादनेन फलजघन्यत्वमपि बोधितम् । तेन कर्मणि तत्फले चानासक्तिरपि तत्प्रकारत्वेन बोध्यत इति सैव पूर्वेण सह सङ्गतिरिति बोध्यम् ॥ १ ॥

ततो **द्वितीये त्रिसूत्रे आत्मेती**त्यधिकरणे प्रथमवर्णकेन ज्ञानफलं द्विविधं विचार्यते । मुख्यं त्वात्मप्रवेशरूपमनश्वरम्, द्वितीयं त्वधिकारिषूपस्थितेषु तेभ्यो ज्ञानोपदेशरूपमवान्तरफलम्, भगवदाज्ञापरिपालनात्मकम्, न त्वाचार्यत्वकामनाकृतमित्युच्यते । द्वितीये ननु 'न स पुनरावर्तत' इतिश्रुत्युक्तो ज्ञानभक्त्योः फलरूपः पुनरावृत्त्यभावः किं सावधिक उत निरवधिक इत्याशङ्कायाम्, निरवधिक इति सिद्धान्त उच्यते । नित्ये भगवद्रूप आत्मनि ब्रह्मविदो जीवात्मनः शुद्धजले जलस्येव प्रवेशेन तादृक्त्वस्यैव श्रुतावुक्तत्वादिति, भक्तिमार्गे च भगवतो मुक्तोपसृप्यत्वेन सेवार्थं तन्निकटस्थितेरपि

नित्यत्वादिति । एवमात्मोपदेशस्यावान्तरफलत्वं त्वत्रापि समानम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** प्रतीकोपासकानां न मोक्षः, अतद्रूपे तत्त्वेनोपासनादिति । अतः सा न कर्तव्येति बोधितम् । **तृतीये** सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिः कर्तव्येति बोधितम् । तथा च सर्वत्रात्मभावनात् तथा स्फुरणाच्च दुःखस्य निवृत्तेस्तस्याप्यवान्तरफलत्वम् । पूर्वपाद उक्तानां गृहत्यागिनां यदान्तरं बाह्यं च साधनं तदत्रोपदिश्यत इत्यत्रापि तेन सह प्रकारप्रकारिभाव एव सङ्गतिरिति बोधितम् ॥२॥

ततस्**तृतीये पञ्चसूत्रे आदित्यादिमतय इत्यधिकरणे प्रथमसूत्रे** प्रतीकोपासना न कर्तव्या एव चेत्, ताः किमर्थमुपदिश्यन्ते, (नन्वेवमङ्गोपासना एव ?) सिद्धान्ते प्रतीकोपासना इत्याकांक्षायाम्, अवसरसङ्गत्या सिद्धान्ते अङ्गोपासना एव प्रतीकोपासना इति तत्स्वरूपमुच्यते । ताश्चोपासना जघन्याधिकारिणां फलदानद्वारा माहात्म्यज्ञापनेन भक्तिद्वारा आधिभौतिकसर्वात्मभावरूपज्ञान एवोपकुर्वन्तीत्युच्यते, अग्रिमसूत्रैस्तथैव प्रतिपादनात् । ततो **द्वितीयसूत्रे** भावनौत्कट्ये बहिर्भगवदध्यासरूपं प्राकट्यं फलमुच्यते । ततस्**तृतीये** ध्यानात्मनो मानसीमूर्तिसिद्धिरूपं फलमुच्यते । ततश्**चतुर्थे** लीला अपि भगवान् तथा प्रकटयतीत्युच्यते । ततः **पञ्चमे** अधिकारौत्कट्येन तेषां तत्रैव फलत्वं भासत इति श्रीभागवतोक्तस्मृतिबलेनोच्यते । तस्मात् तासां ज्ञानोपकार एव फलमिति सिध्यति ॥ ३ ॥

ततश्**चतुर्थे एकसूत्रे यत्रैकाग्रतेत्यधिकरणे** बहिरन्तर्भगवत्प्राकट्यवतोरुपासकयोर्न तारतम्यमिति सिद्धान्तः प्रसङ्गेन क्रियते ॥ ४ ॥

ततः **पञ्चमे एकसूत्रे आप्रायणेत्यधिकरणे** भगवत्प्राप्तिरूपपरमफलपर्यन्तं तस्य सैवावस्था तिष्ठति । परमफलं च तस्य साक्षाद्भगवत्सेवनरूपं सिध्यतीत्यनुप्रसङ्गेन पुष्टिमार्गीयस्योक्तम् । इदमेव च पूर्वं तद्भूताधिकरणे प्रतिपादितमत्राङ्गोपासनाविषयेपि स्मार्यते । तेन पुष्टिमार्गीयस्य जीवत इदमवान्तरफलमिति बोधितम् ॥ ५ ॥

ततः **षष्ठे चतुःसूत्रे तदधिगम इत्यधिकरणे** मर्यादामार्गीयस्यावान्तरफलमवसरसङ्गत्योच्यते । तत्र **प्रथमसूत्रे** (चित्तशुद्धौ) ज्ञानोदये सति पूर्वपापनाशः, तदनन्तरं पापस्यानुत्पत्तिः । **द्वितीयसूत्रे** पूर्वपुण्यस्य नाशः, तदनन्तरं तदनुत्पत्तिः । कदाचित् प्रारब्धवशाद्भगवद्भावाच्युतौ उत्तरकर्मण उत्पत्तिरित्युक्तम् । ततस्**तृतीये** ज्ञानात् कर्मनाशे सति कर्मजन्यदेहस्यापि नाशादाचार्याभावेन ज्ञानादिसंप्रदायोच्छेद इत्याशंक्य, अनारब्धकार्याणामेव तेषां नाशः, न प्रारब्धकार्याणामिति, तेषां भोगैकनाश्यत्वादित्युक्तम् । ततश्**चतुर्थे** ब्रह्मविदोग्निहोत्रादिकरणमपि प्रारब्धभोगरूपकार्यायैव, येषामग्निहोत्रकरणरूपं प्रारब्धमस्ति तेषां तत्करणरूपेण भोगेन तन्निवृत्तेः, न तु तस्य कर्मणः संश्लेष इत्युक्तम् । तेन मर्यादामार्गीयस्य कर्मसंसर्गाभाव इत्यनेनाधिकरणेनावसराद्वा प्रसङ्गाद्वा साधितम् ॥६॥

ततः **सप्तमे त्रिसूत्रे अतोन्यापीत्यधिकरणे** पुष्टिमार्गीयस्य 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्याम् द्विषन्तः पापकृत्या'मिति श्रुतिबलात् विनैव भोगं प्रारब्धनिवृत्तिरिति **प्रथमसूत्र** उच्यते । ततो **द्वितीये** 'यदेव विद्यये'ति श्रुत्या ब्रह्मविदः कर्मकरणप्राप्तौ तत्संश्लेषमाशङ्क्य, इदं वाक्यं कर्माङ्गभूतोद्गीथोपासनाविषयम्, न तु ब्रह्मविद्याविषयम्, अतो न तस्य आपादयितुं शक्यते कर्मसंश्लेषो ब्रह्मविदः । किञ्च, यद्यनया कर्मकरणं प्रसक्तं क्रियते, तदा ब्रह्मवित्कर्ममोक्षायैव कर्म करोतीति तच्छ्लेषाभावायैव तत् फलिष्यतीति तु मर्यादामार्गरीत्या समाधानम् । पुष्टिमार्गीयस्तु केवलं भगवदासक्तः, भगवद्गुणानां च जीवगुणाः अंशाः, जीवनिष्ठं विद्यारूपं यज्ज्ञानं तद्भगवज्ज्ञानस्य अंश इति सिध्यति । तथा सति जीवनिष्ठविद्ययापि चेत् न मर्यादामार्गीयस्य कर्मश्लेषः, तदा भगवत्स्वरूपासक्तस्य पुष्टिमार्गीयस्य कर्मश्लेषः कैमुतिकन्यायेनैवापास्त इत्युक्तम् । ततस्तृतीये पुष्टिमार्गीयः पूर्वोक्तप्रकारेण स्थूललिङ्गशरीरे क्षपयित्वा ततो यथाधिकारं भगवत्साक्षात्कारादिरूपेण फलेन सम्पद्यत इति परमफलमुक्तम् । अत्र क्षपणं च कुरुक्षेत्रप्रसङ्गे व्रजभक्तानां जीवकोशध्वंसरूपम् । भोगश्च तदनन्तरदर्शनादिरूपो जीवद्दशायामेव भवतीत्यवान्तरफलपरिसमाप्तिरिति मम प्रतिभाति ।

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

अथ **द्वितीयपादे** म्रियमाणस्य ब्रह्मविदोवान्तरफलव्यवस्था अवसरसङ्गत्योच्यते ।

तत्र **प्रथमे चतुःसूत्रे वाङ्मनसीत्यधिकरणे** तत्र **प्रथमसूत्रे** 'अथाकामयमान' इति वाजसनेयिश्रुतिमालम्ब्य म्रियमाणस्य पुष्टिमार्गीयस्य म्रियमाणदशायां बहिर्मनसि वा दर्शनं वेणुनादश्रवणं वा भवति, तदा तस्य वाङ्मनसि संपन्ना भवतीत्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे पूर्वोक्तेनैव** हेतुना अन्यान्यपीन्द्रियाणि मनसा सह सङ्गतानि भवन्तीत्युक्तम् । ततस्**तृतीये** सर्वेन्द्रियविशिष्टं मनः प्राणे सङ्गतं भवतीत्युच्यते । ततश्**चतुर्थे** तत्सर्वविशिष्टप्राणो हृदि वा बहिर्वा प्रकटे भगवति लीनो भवतीत्युच्यते । तथा चानेन क्रमेण तस्येन्द्रियाणि भगवति लीयन्ते, आत्मापि लीयते, 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति, अत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुतेरित्युच्यते । तस्यालौकिकदेहप्राप्तिश्चतुर्थे पादे वक्ष्यते ॥१॥

ततो **द्विसूत्रे द्वितीये भूतेष्वित्यधिकरणे** म्रियमाणस्य मर्यादामार्गीयस्य व्यवस्था अवसरगर्भेण प्रसङ्गेनोच्यते । तत्र **प्रथमसूत्रे** तस्येन्द्रियाणि भूतेषु लीयन्त इत्युच्यते, स्वयं तु हृद्येवं भगवन्तं प्राप्य मुक्तो भवतीत्यपि तेन सूच्यते । ततो **द्वितीये सूत्रे** भक्तो ज्ञानी च मर्यादामार्गीयौ भवतः । तत्रोभयोरियं व्यवस्था, उत भक्तस्य पुष्टिमार्गे प्रवेश इत्याशङ्क्य, द्वयोरपीयं व्यवस्थेत्युच्यते ॥ २ ॥

ततस्**तृतीये नवसूत्रे समाना चासृतीत्यधिकरणे** उभयोर्मुच्यमानत्वेपि प्राणादिलयप्रकारे पुष्टिमर्यादास्थयोः कुत एवं (विशेषादेव) विशेष इति वक्तुं पुष्टिमार्गीयस्य मर्या-

दामार्गादाधिक्यमुपोद्घातेन विचारितम् । तत्र **प्रथमसूत्रे** साधनद्वारा मोचनेच्छा हि मर्यादामार्गीया मर्यादा, विहितसाधनं विनैव मोचनेच्छा पुष्टिमार्गमर्यादा । अतस्तयोः संकरः कदापि न भवतीति विशिष्टेच्छया आधिक्यमुक्तम् । ततो **द्वितीये** पुष्टिमार्गीयमुक्तिदशायां मर्यादामार्गीयमुक्तेः संसारतौल्यव्यपदेश इत्युक्तम्, तेन पुष्टिमार्गस्याधिक्यं सूच्यते । ततस्तृतीये यदि तस्याः संसारतुल्यत्वं तदा तस्या हेयत्वं स्यात्, तद्बोधकश्रुतेः प्रतारकत्वं चेत्याशङ्कायाम्, पुष्टिमार्गीयं तत्त्वं दुर्ज्ञेयम् । अतस्तदज्ञानान्मर्यादामार्गीयमुक्तिर्येषामीप्सिता तान् प्रति तामेवोपादेयत्वेन श्रुतिर्वदति, रागिणः प्रति स्वर्गादि उपदिश्यते (तद्वत् । ततश्चतुर्थे तर्हि ब्रह्मविदामिव तादृशानां भक्तानामपि स्वमार्गोपदेशनं कथिष्क्रियेत), यतो नैवम्, अतो नैवमित्याशङ्कायाम्, तदनुपदेशने बीजमाह । पुष्टिमार्गीयाणां हि अवस्थाद्वयम्, विरहः प्रियसङ्गो वा । तत्राद्ये स्वास्थ्याभावान्नोपदेशः । द्वितीये तु भगवत्संनिधानेन तदग्रे धार्ष्ट्यस्य कर्तुमशक्यत्वान्नोपदेशः । अत उपदेशाभावाच्च तस्याः सत्ता वक्तुं शक्येत्युक्तम् । ततः **पञ्चमे** भगवदीयानां विरह एव कथमित्याशङ्कायाम्, पुष्टिमार्गे भगवतो रसात्मकत्वस्यैव प्राकट्यात् तेनैव तदुपपत्तिरिति युक्त्या समाहितम् । ततः **षष्ठे** विरहाङ्गीकारे श्रुतिविरोधमाशंक्य, श्रुतौ शरीरसंबन्धिन एव दुःखस्य निषेधो, न भगवद्विरहजन्यस्येत्येवं समाहितम् । ततः **सप्तमे** श्रुत्या, **अष्टमे** च स्मृत्या तद्दृढीकृतम् । ततो **नवमे** सर्वासां रसावस्थानां सत्ता श्रीगोकुल एव विद्यत इति श्रुत्या व्यवस्थापितम् । एवं पञ्चभिः सूत्रैः प्रमाणपूर्वकं रसावस्थास्थापनेन पुष्टिमार्गस्य सर्वोत्कृष्टत्वं व्यवस्थापितम् । अतः पुष्टिमर्यादायामुपदेशेपि न कश्चिद् दोष इत्यर्थात् सूचितं भवति ॥ ३ ॥

ततश्चतुर्थे **एकसूत्रे अविभागो वचनादित्यधिकरणे** प्रसङ्गात् पुष्टिमार्गीयस्य नित्यलीलारूपफलानुभवस्य नित्यत्वं मर्यादामार्गात् फलतो विशेषप्रतिपादनाय विचारितम् ।

ततः **पञ्चमे एकसूत्रे तदोकोग्रज्वलनाधिकरणे** मर्यादामार्गीयस्य ब्रह्माण्डमध्ये सद्यो मुक्तिप्रकारो विचारितः । तदग्रिमे च अवसरसङ्गत्या मर्यादामार्गीयस्य जीवोत्क्रान्त्यनन्तरं क्रममुक्तिप्रकार उच्यते । तत्र साधारणस्यापि जीवस्य इन्द्रियरूपाभिस्तेजोमात्राभिः सहैव येन केनचिद्द्वारेण निर्गमनम्, तथापि यस्य साधनेन (परमात्मा तुष्टः,) स जीवस्तु एकशतनाडीषु या शताधिका मूर्धन्या नाडी, तया ऊर्ध्वं त्य 'क्त्वा' निष्क्रामति, साधनेन तुष्टो यो हृदयवर्ती परमात्मा तदनुग्रहाद्विद्यासामर्थ्याच्च या भगवत्स्मृतिपरंपरा, तया तस्यानुग्रहः, तेन मूर्धन्यनाड्या निष्क्रमणमित्युक्तम् ॥ ५ ॥

ततः **षष्ठे चतुःसूत्रे रश्म्यनुसार्यधिकरणे** । तत्र **प्रथमसूत्रे** यः क्रमेण मोक्षाधिकारी रश्म्यनुसारी मूर्धन्यनाड्या निःसरति तस्यापि हृदयाग्रे प्रकाश इत्युक्तम् । ततो **द्वितीये तृतीये** च रात्रिकृतोऽयनकृतो विशेषश्च नास्तीत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे

१ चिह्नान्तर्गतफक्किका त्रुटितेति प्रतिभाति । २ इतः परं सूत्रत्रयं मिन्नाधिकरणत्वेन श्रीगिरिधरा इच्छन्ति, भावप्रकाशिकाकाराः श्रीकृष्णचन्द्राश्च ।

स्मृतौ धूममार्गस्याप्युक्तत्वात् तत्र च रात्रिदक्षिणायनादीनामुक्तत्वादर्चिरादिमार्गे च ज्योतिरुत्तरायणादीनामुक्तत्वान्मुच्यमानस्य कथं न विशेष इत्याशंक्य, स विशेषो योगिन एव, गती च ते स्मार्ते, अतो न ज्ञानिनः, तेन ज्ञानिन उत्क्रमणे सर्वोपि कालः समान इत्युक्तम् । एतस्य करणग्रामनिष्पत्तिस्तु यत्र प्रारब्धसमाप्तिस्तत्र भूतेष्वेव भविष्यतीति ज्ञेयम् । उपक्रमे तथैवोक्तत्वादिति ॥ ६ ॥

एवमस्मिन् पादे पुष्टिमर्यादामार्गीययोर्म्रियमाणावस्था विचारिता ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अथ **तृतीयपादे** क्रममुक्त्यधिकारिणो ब्रह्मविदोर्चिरादिमार्गेण गच्छतो व्यवस्थावसरप्राप्तोच्यते ।

तत्र **प्रथमे चतुःसूत्रे अर्चिरादीत्यधिकरणे** ज्ञानमार्गीयस्य भक्तस्य चेत्युभयोरर्चिरादिमार्गेण गमनम्, उत सद्योमुक्तिरितिसंशये, यथा ज्ञानिनो नियमाभावस्तथा भक्तस्यापीति पूर्वपक्षे, पञ्चाग्निविद्यायां ज्ञानमार्गीयाणामेवोपक्रान्तत्वात्तेषामेव तेन मार्गेण गतिः, न तु भक्तस्यापीति निश्चीयते । ततस्त्रिभिः सूत्रैस्तन्मार्गपर्वनिर्धारः क्रियते । श्रुतिभेदेन पर्वभेदानामनेकधोक्तत्वात् मार्गभेदे प्राप्ते देवयानस्य मार्गस्य श्रुत्यन्तरे यदैक्यमुक्तं तद्विरोधसंभवात् । पर्वसु निर्धारितेषु तु यस्य यत्पर्वभोगो भावी तं प्रति तत् पर्व, अन्यंप्रत्यन्यत् । यथा महामार्गे नानाग्रामेषु सत्स्वपि कस्यचित् कस्मिंश्चिद् ग्रामे अवान्तरनिवासः, अन्यस्यान्यस्मिन् ग्रामे सः, तद्वत् । एवं पर्वभेदेप्युपपत्तौ ब्रह्मलोकगमनस्यैक एवार्चिरादिमार्गो देवयानाख्यः सिध्यतीति निर्णीतम् ॥ १ ॥

ततो **द्वितीये त्रिसूत्रे आतिवाहिकाधिकरणे** तेन मार्गेण कथं गच्छतीत्याकांक्षायामवसरगर्भेण प्रसङ्गेन गमनप्रकारो निर्धार्यते । तत्र पर्वभूतविद्युल्लोकपर्यन्तं विद्यासामर्थ्येनैव गच्छति । ततो विद्युल्लोके अमानवः पुरुषो ब्रह्मलोकगमयिता तत्रागत्य तं विद्युल्लोकस्थं गन्तारं ब्रह्मलोकं प्रापयतीति श्रावितम् । एवं सति येषां विद्युल्लोकभोगोस्ति ते वरुणादिलोकं गच्छन्ति । तत्र सः ब्रह्मलोकप्रापयिता आयाति न वेति संशये, तत्राप्यायाति, श्रुत्यन्तरे प्रजापतिलोकानन्तरमपि ब्रह्मलोकस्योक्तत्वात्, ब्रह्मलोकप्रापयितॄणां पुरुषाणां च बहुत्वात्, यस्य यल्लोकभोगेन प्रारब्धसमाप्तिस्तं तत एव लोकाद्ब्रह्म प्रापयन्तीति **प्रथमसूत्रे** निर्णीतम् । तेषां ब्रह्मलोकप्रापका ये पुरुषास्ते आतिवाहिकशब्देनोच्यन्त इत्यपि । ततो **द्वितीये सूत्रे** अपुनरावृत्तिश्रुत्या देवयानं पन्थानं प्राप्तानां ब्रह्मवित्त्वात्तेषां सद्योमुक्तिरेवोचितेति तेषामवान्तरलोकभोगजनिका कामनैव कुतः । किञ्च, 'यत्कर्मभिर्यत्तपसे'ति भगवद्वाक्ये मर्यादाभक्तस्य या लोकान्तरकामनोक्ता सापि कुतः । तेषां

सद्योमुक्तेरेव प्रथमाधिकरणे निर्धारादित्याशङ्क्य, केषाञ्चित् ज्ञानिनां मर्यादाभक्तानां व्यामोहितत्वात् सा । व्यामोहश्च लीलासिद्ध्यर्थं, येऽवान्तर्लोकाः कृतास्तत्सृष्टिसार्थकत्वाय भगवतैव क्रियते । अतो नानुपपत्तिरित्युक्तम् । ततस्**तृतीयसूत्रे** ये वरुणादिलोकं गतास्तेषां स्वत एव ब्रह्मप्राप्तिरस्तु । आतिवाहिकस्य विद्युल्लोकीयत्वश्रावणेन तेषु लोकेषु तदभावादित्याशङ्क्य, श्रुतावातिवाहिकस्य न विद्युल्लोकीयत्वमभिप्रेतम् । 'पुरुषोऽमानव एत्ये'ति श्रावणाद्ब्रह्मलोकीयत्वम् । वैद्युतत्वं तु तस्य विद्युल्लोकपर्यन्तमागमनात् । अतो लोकान्तरादपि ब्रह्मलोकप्राप्तावातिवाहिकापेक्षाऽस्तीत्युक्तम् । किञ्च, वाजसनेयके 'ब्रह्मलोकान् गमयती'ति श्रावितम् । छान्दोग्ये तु 'ब्रह्म गमयती'ति श्रावितम् । तेन मर्यादामार्गीयं भक्तं वैकुण्ठलोकान् गमयति । ज्ञानमार्गीयं त्वक्षरब्रह्म गमयतीत्यपि तत्र निर्णीतम् । एवमेतेन गमनप्रकारो निर्णीतः ॥ २ ॥

ततस्**तृतीये अष्टसूत्रे कार्यं बादरिरित्यधिकरणे** पूर्वसूत्राधिकरणश्रुत्युक्तस्य प्राप्तव्यस्य ब्रह्मणः किमविकृतब्रह्मत्वम्, उत कार्यब्रह्मलोकत्वमिति संशये, प्रथमं **पञ्चसूत्रै**र्यद्बादरिमतमुक्तम्, तत्राधिकृतस्य परब्रह्मणो व्यापकत्वादत्रोक्तं गमनं न सङ्गच्छते तस्मात् । किञ्च, श्रुत्यन्तरे 'ब्रह्मलोका'निति 'तेषु वसन्ती'ति च बहुत्वेन वासाधिकरणत्वेन च विशेषितत्वादपि तथा । तत्र ब्रह्मत्वव्यपदेशस्तु ब्रह्मसामीप्यात् । कल्पसमाप्तौ कार्यब्रह्मलोकस्य नाशे चतुर्मुखेन ब्रह्मणा सह तस्यापि चतुर्मुखवत् परब्रह्मप्राप्तेः श्रुतौ स्मृतौ चाभिधानादपि प्राप्यब्रह्मलोकोऽपर एव, न तु परब्रह्मेति पूर्वपक्षत्वेनोक्तम् । तत**स्त्रिभिः सूत्रै**र्जैमिनिमतं सिद्धान्तत्वेनोक्तम् । तत्र **प्रथमसूत्रे** ब्रह्मशब्दस्य बृहत्त्वादिगुणविशिष्टत्वेन परस्मिन्नेव मुख्यवृत्तत्वात् गौण्याऽपरब्रह्माङ्गीकारो न युक्त इत्युक्तम् । ततो **द्वितीये** कौषीतकिश्रुतौ प्रजापतिलोकाद्ब्रह्मलोकस्य पार्थक्येनोक्तत्वात् छान्दोग्ये अर्चिरादिमार्गप्राप्यत्वेन समाप्तौ 'ब्रह्म गमयती'त्युक्तत्वात् प्रजापतिलोकादन्यस्य कार्यब्रह्मलोकस्य कुत्राप्यश्रवणाद्गमनस्य प्रारब्धहेतुकत्वेन विलम्ब्यप्राप्तेः संभवाच्च न गमनादिश्रुतिस्मृतिविरोध इत्युक्तम् । ततस्**तृतीये** 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुतौ परप्राप्तिर्या उक्ता सैवाग्रिमर्चा विव्रीयते । तस्यां च ब्रह्मणा सह सर्वकामभोगलक्षणा या प्रतिपत्तिरुच्यते, सा परेणैव सह । कुत्रापि श्रुतौ कार्यरूपे प्रतिपत्तेरनभिप्रेतत्वात् । अतो ब्रह्मशब्देन परब्रह्मैवोच्यत इति सिद्धान्तितम् । एवमष्टभिः सूत्रैः गन्तव्यब्रह्मस्वरूपं प्रसङ्गान्निरूपितम् ॥ ३ ॥

तत**श्चतुर्थे एकसूत्रे अप्रतीकालम्बनाधिकरणे** पूर्वोक्तप्रकारेणातिवाहिकप्रापिता ब्रह्मप्राप्तिः किं सर्वेषामुपासकानाम्, उत केषाञ्चिदेवेति संशये, अप्रतीकालम्बनानेवातिवाहको नयतीति निश्चीयते । तत्र प्रतीकोपासका द्विधा । केचिदतस्मिंस्तत्त्वेनोपासकाः, अन्ये तु तदङ्गेषु तत्त्वेनोपासकाः । तत्राद्यानामुपासनैव व्यङ्गा । 'योऽन्यथा सन्तमात्मान'मिति वाक्योक्तदोषप्रसङ्गात् । द्वितीयानां तूपासनाव्यङ्गत्वाभावेपि 'यावन्मनसो गतं तत्रास्य कामचारो भवती'त्यादिश्रावणेन तत्क्रतुन्यायतस्तत्रैव पर्यवसानेन तेषां ब्रह्मप्राप्तेरनभिप्रेतत्वात् । पञ्चाग्निविद्यायास्तु अङ्गोपासनात्वेन प्रतीकत्वेपि वाचनिकत्वात् तेषां नयनम् । तस्मात् ये परब्रह्मोपासकास्तानेव नयतीति ज्ञानमार्गीया व्यवस्था । भक्तिमार्गीयस्तु निष्कामाङ्गोपासनकर्ता भक्तः सन् भक्तिबलादेवातिवाहिकं विनैव स्वयं गच्छतीति तत्क्रतुश्चेति सूत्रशेषेण निश्चीयत इत्युक्तम् । एवमत्र चतुर्भिरधिकरणैः सप्रकारा गच्छद्ब्रह्मविद्व्यवस्थोक्ता । सङ्गतिस्तत्रावसर एव ॥ ४ ॥

ततः **पञ्चमे एकसूत्रे विशेषं च दर्शयतीत्यधिकरणे** भक्तिमार्गीयाणां ज्ञानमार्गीयाणां चाविशेषेणैव ब्रह्मप्राप्तिः, उत गमने विशेषात् फलप्राप्तावपि कश्चिद्विशेषोस्तीति सन्देहे, 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति यजुर्व्याख्यानरूपायां 'सत्यं ज्ञान'मित्यस्यामृचि ज्ञानमार्गीयस्य अक्षरप्राप्तिरेव, भक्तिमार्गीयस्य तु 'यमेवैष वृणुते' इति श्रुत्युक्तवरणेन भक्त्या हृदि अक्षरब्रह्मप्रादुर्भावात्तत्र स्थितेन पुरुषोत्तमेन सह भोग उच्यते । तत्र भक्तिमार्गः पुष्टिमर्यादाकेवलपुष्टिभेदेन द्विविधः । तत्राद्यस्य यथाधिकारं पुरुषोत्तमानुभवरूपो भोगः । द्वितीयस्य तु यथाधिकारं ब्रह्मणा सह सर्वकामाशनरूप इति विशेषं श्रुतिर्दर्शयति । तस्मात् ब्रह्मप्राप्तावस्ति तयोर्विशेष इति प्रसङ्गगर्भया पूर्वोक्तसङ्गत्यैव निर्णीतम् ॥ ५ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

तत**श्चतुर्थे पादे** पञ्चभिरधिकरणैः प्राप्तफलस्य ब्रह्मविदो व्यवस्था वक्तव्या । तत्र ब्रह्मविदो भक्तिज्ञानमार्गभेदेन द्विविधाः । भक्तिमार्गीया अपि मर्यादापुष्टिकेवलपुष्टिभेदेन द्विविधाः । अवान्तरभेदास्त्वनेके । तत्र ज्ञानमार्गीयाः पुष्टिमर्यादामार्गीयाश्च प्रायशः क्रमेणैव मुच्यन्ते । अतिकृपया तु केचित् सद्योऽपि । पुष्टिमार्गीयास्तु सद्य एव । एवमेतेषु ब्रह्मवित्सु ज्ञानमार्गीया अक्षरोपासकत्वात्तत्रैव पर्यवसन्नाः सद्यः क्रमेण वा तमेव प्रविशन्ति । पुष्टिमर्यादामार्गीयास्तु सद्यः क्रमेण वा नित्यं ब्रह्मलोकं प्राप्नुवन्ति । तेषां लौकिक्यामेव गुहायामक्षरम् । तत्र स्थितं पुरुषोत्तमं चानुभूय पुरुषोत्तमस्वरूपे प्रविशन्तीत्येतावत्पूर्वपादान्ते सिद्धम् । ये पुनः क्रमेण नित्यं भगवल्लोकं प्राप्नुवन्ति, ते तत्रैव भगवन्तं भिन्नमीश्वरत्वेनानुभवन्तो यथाधिकारं सेवौपयिकदेहं प्राप्नुवन्तीत्यर्थात् सिध्यति । तदपि तृतीयस्कन्धे 'अथो विभूतिं मम मायाविनस्ता'मिति कपिलदेववाक्यादवसीयते ।

अतःपरं पुष्टिमार्गीयस्य प्राप्तफलस्य 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' इति श्रुत्युक्ता व्यवस्थावशिष्यते । सा विशेषदर्शनसूत्रे संक्षेपेण सिद्धास्मिन्पादे प्रपञ्च्यते ।

ततः **सम्पद्याविर्भाव इति चतुःसूत्रे प्रथमाधिकरणे प्रथमसूत्रे** भगवत्स्वरूपे लीनस्य पुष्टिमार्गीयस्य स्वलीलानुभावनार्थं भगवता बहिराविर्भावः क्रियते, अनुगृ-

हीतत्वात् । स चाविर्भावो भगवत्स्वरूपबलेनैव लीलाधिकरणे भवति, न तु प्रपञ्च इति श्रुतिबलादुक्तम् । ततो **द्वितीये** तस्यैवमाविर्भावेपि मुक्तत्वं नापैतीत्युक्तम् । ततस्तृतीये एवं फलदातुः परमात्मत्वमेवेत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे 'सत्यं ज्ञान'मित्यस्या ऋचः 'ब्रह्मविदाप्नोती' त्यनेनैकवाक्यत्वं व्याख्यानव्याख्येयभावादस्ति, तस्मादयमेवार्थ इति निर्धारितम् ॥

ततो **द्वितीये अष्टसूत्रे ब्राह्मेणेत्यधिकरणे** येन देहेनायं जीवो लीलानुभवं करोति तादृशो देह उपोद्घातेनावसरेण वा विचारितः । तत्र **प्रथमसूत्रे** सच्चिदानन्दात्मकेनैव देहेन ब्रह्मणा सह भोगान् भुङ्क्त इति स देहस्तादृशो ब्रह्मणा सम्पादित इति साधितम् । तत्प्रकरणे ब्रह्मात्मकानामेवान्नमयादिविभूतीनामुपन्यासादिति जैमिनिमतकथनमुखेन तत्सम्मतिश्च प्रदर्शिता । ततो **द्वितीयसूत्रे** प्रज्ञानघनश्रुत्या केवलज्ञानात्मको ब्रह्मणो विग्रहो बोध्यते । अतस्तादृशेन सह भोगकर्त्रा ज्ञानात्मकेनैव भवितव्यम् । नचैवमानन्दानुभवेन सर्वकामाशनबाधः शङ्कनीयः । भगवतः पूर्णानन्दत्वात् तत्सम्बन्धेनैवानन्दानुभवः सिद्धः । तस्माद्विग्रहं विनैव केवलस्वरूपेण भुङ्क्त इत्यौडुलोमिमतमुक्तम् । ततस्तृतीये **सूत्रे** 'सत्यं ज्ञान'मित्यस्यामृचि गुहाया उक्तत्वात् तस्याश्च विग्रह एव संभवात् श्रुतौ विग्रहत्वेनैवोपन्यासः । ते च विग्रहा भगवद्धाम्नि पूर्वमेव वर्तन्ते भगवद्धर्मरूपाः । तेषु कस्मिंश्चिदयं चिन्मात्र एवाविश्याभिमानं कृत्वा भगवदिच्छानुरूपलीलात्मकान् भोगान् भुङ्क्ते । तस्मान्न चिन्मात्रत्वस्य नित्यविग्रहवत्त्वस्य च विरोध इति मतद्वयं संगृह्य तादृशविग्रहेणैव भुङ्क्त इति स्वमतमुक्तम् । ततश्चतुर्थे **सूत्रे** तादृशदेहप्राप्तौ भक्ते भगवदनुग्रह एव हेतुरित्युक्तम् । तेन तादृशो भोगो न सर्वेषाम्, किन्त्वत्यन्तभगवदनुगृहीतानामेवेति वरणश्रुत्या सिध्यति । ततः **पञ्चमसूत्रे** अतो हेतोः भगवाननन्याधिपतिः । अनन्याश्च त एव ये साधनत्वेन (फलत्वेन) च भगवन्तमेव जानन्ति । तस्मात्तदर्थमेवं भगवतः सङ्कल्प इत्युक्तम् । तेन तदेकतानतया तदाश्रयतया च ते सर्वदा तिष्ठन्तीति सिध्यति । ततः **षष्ठे सूत्रे** मुक्तस्य देहाङ्गीकारप्रतिकूलं बादरिमतमाह । 'यत्र हि द्वैतमिव भवती'त्यादिश्रुतिरमुक्तिदशायां द्वैतदर्शनमुक्त्वा 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभू'दित्यादिना मुक्तस्य द्वैतदर्शनं निषेधति । तथा सति द्वितीयदर्शनाभावे कामभोगवार्तैव दूरेति तदाक्षेप्यो देहोपि दूरतरः । एतन्मते 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यादिश्रुतिः पूर्वकक्षाविश्रान्ता । ततः **सप्तमे** बादरिविरुद्धं जैमिनिमतमाह । जैमिनिस्तु मुक्तस्य देहसत्तां मन्यते । 'ब्रह्मविदाप्नोती'ति श्रुतिः पूर्वकक्षाविश्रान्तेत्यत्र मानाभावान्न बादरिमतं साधीयः । अनेन श्रुतिविरोधापत्तेः । श्रुतौ हि 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यत्र ज्ञानस्य तत्प्राप्तिसाधनत्वमुच्यते, 'नायमात्मे'त्यत्र वरणैकप्राप्यत्वम् । अतः साधनबोधकश्रुत्योः परस्परविरोधः । 'सोश्नुत' इत्यादिना परप्राप्तिरुपन्यस्यते । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्यत्र ब्रह्मणि जीवस्य लय उच्यते । अतः फलबोधकश्रुत्योर्विरोधः । एवं विरोधे सति तदभावाय

गतिरवश्यं कल्पनीया । तत्र पुष्टिमर्यादाभ्यां मार्गभेदस्य सिद्धत्वात् तत्तन्मार्गीयस्य तत्तदेव फलं परममिति व्यवस्थितविकल्प एव ज्यायानिति नैकतरादरणं युक्तमिति । ततो**ष्टमे** भगवान् व्यासः स्वसिद्धान्तमाह । लोके हि शरीरं भूतजन्यं भोगायतनं च दृष्टम् । मुक्तस्य तु शरीरतदभावावाक्षेपलभ्यौ न निवारयितुं शक्यौ । अतः शरीरमेव तादृश कल्पनीयं येन श्रुत्यविरोधः । तत्र भूमविद्याया 'मात्मतः प्राण' इत्युपक्रम्य 'आत्मत एवेदं सर्व'मित्यन्तेन भगवत एव सकाशाद्भोगोपयोगिसर्वसामग्रीश्रावणान्मुक्तस्य शरीरं न भूतजन्यम्, तस्मादशरीरम् । तत्रैव 'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द' इति श्रावणात्तच्छरीरं भोगायतनम् । तस्माच्छरीरमपि । एवमुभयविधत्व आस्थिते श्रुतीनां न कश्चिद्विरोधः ॥

ततस्तृतीये **द्विसूत्रे तत्त्वभावाधिकरणे** गुणोपसंहारपादोक्तं निर्दोषपूर्णगुणं भगवत्स्वरूपमेव फलमिति विचारितम् । तत्र **पूर्वसूत्रे** दोषरूपाणामज्ञत्वादीनां भगवति या प्रतीतिः, सा भ्रान्ता, स्वप्नवदर्थाभावेपि प्रतीयते । तस्माद् ब्रह्म निर्दोषमित्युक्तम् । ततो **द्वितीये सूत्रे** याः पौगण्डादयोवस्थाः, ये च गुणास्ते सर्वे सन्त एव मायापसारणाद्भक्तानां प्रतीयन्ते । तस्माद् ब्रह्मानन्तगुणपूर्णमवतारेपीत्युक्तम् । तथा चावसर एव सङ्गतिरित्यर्थः ॥३॥

ततश्चतुर्थे **द्विसूत्रे प्रदीपवदित्यधिकरणे** फलानुभवोपकरणं प्रकृतत्वाद्विचार्यते । पूर्वाधिकरणयोः फलप्राप्त्युपकरणस्य फलस्वरूपस्य च विचारितत्वात् । अतोवसरोत्र सङ्गतिः । तत्र **प्रथमसूत्रे** मुक्तस्य भगवत्कृपयाभिव्यक्ताभ्यां जैवज्ञानक्रियाभ्यां योगेपि न ताभ्यां भगवता सह कामभोगकरणसमर्थो भवति, किन्तु यथा प्राचीनः प्रकृष्टो दीपः स्नेहयुक्तायामर्वाचीनायां वर्त्यां प्रविष्टस्तां समानकार्यक्षमां करोति, तथा भगवानपि स्वदत्ते मुक्तदेहे जीवेन सह प्रविष्टस्तं देहं स्वभोगरूपकार्यक्षमं करोति । यतो 'भर्ता स' न्निति भर्तृसूक्तारम्भमन्त्रे भगवतः क्रीडार्थं बहुधा आवेश उक्तः । तेनैवं ज्ञायते क्रीडोपयोगिभगवदावेश एव फलानुभवोपकरणमिति । ततो **द्वितीयसूत्रे** अस्थूलादिश्रुतेः सर्वकामभोगश्रुतेश्च यो विरोधः स सुषुप्तिमोक्षभेदेन भगवदाविर्भावप्रकारभेदात् परिहृतः ॥

ततः **पञ्चमे षट्सूत्रे जगद्व्यापाराधिकरणे** भोगप्रकारो विचारितः । तत्र **प्रथमसूत्रे** 'सोश्नुते सर्वान् कामा'निति श्रुतिर्मुक्तिप्रकरणस्था । तस्मात्तत्र न जगत्संबन्धः । किञ्च, भगवल्लीला कालमायाद्यतीता । तेन प्राकृतं जगत् ततो दूरतरमिति न तत्संबन्धः । अतो लौकिकव्यापाररहितमेव मुक्तस्य भोगकरणमित्युक्तम् । ततो **द्वितीयसूत्रे** 'सर्वं हि पश्यः पश्यती'तिश्रुत्युक्तप्रत्यक्षोपदेशेन तस्य जगद्व्यापारसाहित्यमाशङ्क्य, श्रुतौ सर्वपदेन न जगदुच्यते, किन्तु लीलास्थाः पदार्था एवोच्यन्ते । तेषामेव दर्शनम् । अतो न श्रुतिविरोधः । किञ्च, पूर्वोक्तश्रुत्यनन्तरं 'स एकधा भवती'ति भक्तस्य नानारूपबोधिका श्रुतिः पठ्यते । तेन नानारूपैर्नानालीलां भगवदनुभावितामनुभवतीति न लीलानामनित्यत्वम्, नापि काचिदन्यानुपपत्तिरित्युक्तम् । ततस्तृतीये **सूत्रे** 'आयास' इत्यागमन-

भविष्यत्त्वबोधकभगवद्वाक्याल्लीलानां भक्तरूपाणां चानित्यत्वमाशङ्क्य, भगवल्लीला प्राकृतविलक्षणा भगवदिच्छयैवोपपद्यमाना न कुतर्कैरन्यथा भाव्या, किन्तु श्रुत्या नित्यत्वेनोक्तत्वादलौकिकानुसरणमेव कर्तव्यमित्युक्तम् । ततश्चतुर्थसूत्रे अस्मिन् सूत्रे कुतर्केणान्यथाभावनं न कर्तव्यमिति यदुक्तं तदेव श्रुतिप्रत्यक्षाभ्यां साधितम् । ततः पञ्चमसूत्रे जीवस्य भोगमात्र एव भगवत्साम्यम्, न तु सर्वथेति 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इतिश्रुतेर्न विरोध इत्युक्तम् । एवमत्र पञ्चसूत्र्या भगवतः परमफलत्वमर्थादुक्तं भवति । ततः षष्ठे ईदृशं परमफलं प्राप्य भक्तानां ज्ञानिनां चावृत्तिर्नास्ति । तत्र प्रमाणं च शब्दः श्रुतिरूपः स्मृतिरूपश्चेत्युक्तम् । एवं षड्भिः सूत्रैर्फलभोगप्रकारो विचारितः ॥ ५ ॥

वेदान्तीयन्यायमालामणुभाष्यानुसारिणीम् । सौकर्यायार्थबोधस्य चकार पुरुषोत्तमः ॥ १ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासस्य श्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमस्य कृतौ वेदान्ताधिकरणमालायां चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

चतुर्थाध्यायः समाप्तः ॥

परिशिष्टम् ।

श्रीगोपेश्वरकृता चतुर्थाध्यायाधिकरणमाला ।

पूर्वाध्याये साधनं निरूपितम्, इदानीं मुख्यमवान्तरं चेति द्विविधं फलमत्र निरूप्यते, कार्यकारणभावसङ्गत्यावसरसङ्गत्या च । तेन ब्रह्मणस्तत्सम्बन्धिप्राप्तेर्वा फलत्वेन ब्रह्मविचाराद्ब्रह्मसम्बन्धिन्या विचाराद्वा शास्त्रसङ्गतिर्विषयविषयिभावः । अध्यायसङ्गती तूक्ते । सूत्रपादाधिकरणानां सङ्गतयोऽग्रे स्फुटाः । तत्र **प्रथमे द्विसूत्रे आवृत्त्यधिकरणे** अवान्तरफलमुच्यते । तत्र प्रथमसूत्रे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इत्यादिवाक्यैर्विहितं श्रवणादिकं किं सकृदेव कर्तव्यमुतासकृदिति संशये, सकृदेव कर्तव्यम्, तावतैव शास्त्रार्थस्य कृतत्वसिद्धेरिति पूर्वपक्षे, छान्दोग्ये 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति वाक्येन जडजीवयोर्ब्रह्मात्मकत्वस्य नवकृत्व उपदेशाच्छ्रवणादीनामावृत्तिः कर्तव्येति सिद्धान्तः । ततो द्वितीयसूत्रे 'यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः । तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्' इति स्मृतिरप्युक्तार्थे लिङ्गम् । श्रुत्यनुमापकत्वात्स्मृतिर्लिङ्गम् । अत्र च परिमार्गस्य दृष्टद्वारताञ्जनदृष्टान्तेन बोध्यत इत्युक्तम् । तेनात्र श्रवणादीनां स्वेन स्वरूपेण साधनत्वेपि तेषामावर्त्यमानत्वेन रूपेण फलत्वम् । 'आत्मा वा अरे' इति वाक्ये दर्शनकथनानन्तरं श्रवणादिकथनात् । तेनात्मनः परोक्षज्ञानमप्यवान्तरं फलमिति सिध्यति । ततो द्वितीयवर्णके श्रुतौ कर्मज्ञानभक्तीनामुक्तत्वेऽपि न त्रयाणां फलतस्तौल्यम्, किन्तु ज्ञानभक्ती फलत

उत्कृष्टे इति ज्ञापयितुं कर्मफलजाघन्यमप्यत्र बोध्यत इत्याशयेन आवृत्तिः पुनः पुनर्जन्म कर्मफलं तत्सकृदसकृद्वेति संशये, सकृदिति पूर्वपक्षे, बृहदारण्यके 'तद्यथा तृणजलायुके'त्युपक्रम्य 'एवमेवायं पुरुष इदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते, पित्र्यं वा गान्धर्वं वा ब्राह्मं वा प्राजापत्यं वा दैवं वा मानुषं वान्येभ्यो वा भूतेभ्यः' इत्युक्त्वा 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययं, तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मण' इत्येवं पुनरुपदेशादसकृदिति सिद्धान्तः । द्वितीयसूत्रे च 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा' इत्यारभ्य 'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्त' इत्यादिस्मृतिर्लिङ्गमित्युक्तम् ॥ १ ॥ ततो **द्वितीये त्रिसूत्रे आत्माधिकरणे** प्रथमसूत्रे ज्ञानभक्त्योरनावृत्तिसाधकत्वेनोत्तमत्वाय यत्कर्मणो जाघन्यमावृत्तिसाधकत्वादुक्तं, ज्ञानाद्यङ्गकर्मणस्तच्छेषत्वादनावर्तकत्वं च, तच्च 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतिबलेनोक्तम् । सा श्रुतिः ज्ञानिनां सर्वथानावृत्तिमाहोत सावधिकीं तामभरशब्देन तन्निवृत्तिमिवेति संशये, सावधिकीमेवेति पूर्वपक्षे, सर्वथाऽनावृत्तिमाहेति सिद्धान्तः । एवं विद्याया अवान्तरं फलं स्वतन्त्रकर्मफलं च विचार्य ज्ञानभक्त्योः आत्मत्वेन ज्ञानान्मोक्षरूपं फलं विचारितम् । अगृह्यत्वस्य गृह्यत्वस्य च विरोधपरिहारस्तु जीवसामर्थ्येश्वरेच्छाभ्यां पुरैव कृत इति नाधिकमत्र निरूप्यम् । सर्वधर्माश्रयत्वेपि यदा यं धर्मं पुरस्कृत्य लीलां करोति तत्कार्यमेव तदा सम्पद्यते, आत्मत्वेन हितकारिस्वभावात्तस्य । ततो द्वितीयसूत्रे आत्मत्वेन ज्ञानस्य न मोक्षसाधकत्वं, आत्मेत्येवोपासीतेत्यत्र तस्योपासनार्थत्वावगतेरित्याशङ्क्य, तदाशय उच्यते । अतद्रूपे तत्त्वेनोपासनं हि प्रतीकमित्युच्यते । तथा च तादृशेन तेन मोक्षो न भवतीति श्रुत्या बोध्यते, न तु आत्मत्वेन ज्ञानान्मोक्षो न भवतीत्युच्यते । ततस्तृतीयसूत्रे 'आत्मैवेदं सर्व'मिति प्रपञ्चे आत्मदृष्टेर्मोक्षफलमुक्तम्, सा च प्रतीकरूपैव कार्यविषयककारणदृष्टित्वेनातस्मिंस्तद्दृष्टिरूपत्वादित्याशङ्क्य, प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वेन न सा प्रतीकरूपेत्युक्तम् ॥ २ ॥ ततस्तृतीये **आदित्याद्यधिकरणे पञ्चसूत्रे** अङ्गोपासनफलमुच्यते । तत्र प्रथमसूत्रे छान्दोग्ये 'अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषि'मित्यादौ आदित्यवायुप्रभृतीनामात्मत्वेनोपासना उक्ता । तत्र प्रतीकोपासनत्वमस्ति न वेति संशये, आदित्यादीनां प्रत्येकमुपास्यश्रुतेस्तद्वाक्योक्तमुपासनं प्रतीकं भवितुं युक्तम् । न च सर्वत्र ब्रह्मदृष्टेर्न प्रतीकत्वमिति पूर्वमुक्तं तद्विरोधः शङ्क्यः । उक्तश्रुतिविरोधात् । न च तच्छ्रुत्यनुरोधेनेदमेवायुक्तमिति वाच्यम्, ब्रह्मण एकत्वादेकप्रकारकेणाप्युपासनेन सर्वेषां फलसिद्धेः पृथक्पृथगुक्तौ गौरवात् प्रयोजनविशेषाभावात् । अतः सर्वस्य ब्रह्मत्वं नाभिमतम्, किन्तु यथा आदित्यादीनां प्रतीकत्वम्, तथा सर्वस्यापीति प्रतीकोपासनादेव तत्तत्फलमिति पूर्वपक्षे, वैश्वानरविद्यायां 'तस्य मूर्धैव सुतेजा' इत्यादिनादित्यादीनामङ्गतोक्ता । अङ्गस्य च ब्रह्मत्वान्नेयं प्रतीकोपासनेति । तेनात्र फलदानोपपादनेन भक्त्यङ्गभूतमाहात्म्यं ज्ञापितात्फलदात् भगवत एव फलत्वमिति दृढीकृतम् । द्वितीयसूत्रे च बहिःप्राकट्यबोधनेन

पूर्वोक्त एव सिद्धान्तः ससाधनः प्रकाशितः । ततस्तृतीये भावनोत्कटदशायां सततस्मृतिरूपध्यानादपि हृदि प्रकटः सन्नासीनो भवतीत्युक्तम् । तेन स्थैर्यमुक्तं भवति । ततश्चतुर्थसूत्रे भक्तेच्छामपेक्ष्याचलत्वं चकाराच्चलत्वमपीत्युक्तम् । तथा च पूर्वं भक्तेच्छया प्राकट्यं निरूपितम्; अत्र तु तदिच्छानुसारेण लीलानामपि तदुक्तम् । ततः पञ्चमे सूत्रे 'अथ ह वाव तव महिमे'ति स्मृत्युक्तमपवर्गान्तविस्मरणरूपं फलान्तरमप्युक्तम् । अथवा 'अहं भक्तपराधीन' इत्यादिस्मृतिः पूर्वोक्ते प्रमाणमित्युक्तम् । तेनाङ्गोपासनफलं निर्णीतम् ॥ ३ ॥ तत एकसूत्रे यत्रैकाग्रताधिकरणे बहिराविर्भावो येभ्यो येभ्यश्चान्तस्तेषां भावद्वैविध्यं सूचितम्, पूर्वत्राधिकरणे तत्र तयोर्द्वैविध्ये भावभेद एव हेतुरिति तयोर्मिथस्तारतम्यमस्ति, किंवा भावविषयस्य रूपस्यैक्यात्तत् न वेति संशये, विषयैक्येऽपि प्राकट्यप्रकारभेदस्य भावभेदकृतत्वादस्तीति पूर्वपक्षे, उक्तभक्तयोर्मध्ये यस्यैकाग्रता तत्र भक्तेन्तस्त्वबहिष्ट्वकृतविशेषाभावात्तयोर्भक्तयोरपि न तारतम्यम्, किन्तु तौल्यमेव । तेनानैकाग्र्य एव भावतारतम्यम्, तेन तयोस्तारतम्यम्, न तु प्राकट्यप्रकारभेदादिति साधितम् ॥४॥ ततो ह्येकसूत्रे पञ्चमे आप्रायणाधिकरणे उक्तेऽर्थे एव अन्तः प्राकट्यवतो यदा बहिःसंवेदने सत्यपि पूर्वानुभूतभगवत्स्वरूपानुभवसादा पूर्वमन्तरन्वभूवमधुना बहिरनुभवामीत्यनुव्यवसायो भवति न वेति संशये, देशकालात्मकविशेषणप्रयुक्तवैलक्षण्याद्भवितुमर्हतीति पूर्वपक्षे, एकैवावस्था सार्वदिकी, न तु बहिःप्राकट्येऽपि बहिष्ट्वानुसन्धानमिति सिद्धान्तः । ततः प्रायणरूपे परमफले सायुज्यमवश्यं भविष्यतीति संशये, प्रभुणा सममालापावलोकनश्रीचरणनलिनस्पर्शादिकं दृष्टमेव फलम्, नत्वदृष्टं सायुज्यमिति अनुप्रसङ्गान्निर्णीतम् । तेन पुष्टिमार्गीयस्य फलं निरूपितम् ॥५॥ ततः षष्ठे चतुःसूत्रे तदधिगमाधिकरणे प्रथमसूत्रे मर्यादामार्गे ज्ञानानन्तरं भक्तिरिति तादृशज्ञानार्थं चित्तशुद्धिः चित्तशुद्ध्यर्थं कर्म । तत्र 'नाभुक्तं क्षीयते कर्मे'ति वाक्यादभुक्तं न क्षीयत इति भोगो वक्तव्यः । एवं च भोगानुकूलकर्मणा स्वसजातीयकर्मजननात्तत्सन्ताने चित्तशुद्ध्यभावः, तेन च ज्ञानाभावाद्भक्त्यभावे मुक्त्यभाव इति पूर्वपक्षे, ज्ञानेनैवोत्तराघस्यानुत्पादः, पूर्वाघस्य च नाशः, तेन मुक्तिरिति सिद्धान्तः । ततो द्वितीयसूत्रे पुण्यस्याप्यसंश्लेष उक्तः । ततस्तृतीयसूत्रे उभयकर्मनाशे देहनाशापत्त्या प्रवचनानुपपत्तिस्तदभावे च ज्ञानभक्त्योरप्यनुत्पाद इत्याशङ्क्य, अनुत्पादितशरीरे एव पुण्यपापे ज्ञानेन नाश्येते । तेन देहजनककर्मसद्भावान्न तदनुपपत्तिः । यद्यपि सर्वकर्मनाशः श्रुत्युक्तस्तथापि भगवदिच्छातोऽयं सङ्कोचः । ततश्चतुर्थसूत्रे वशिष्ठादिभिर्ब्रह्मविद्भिः कर्मकरणादुत्तरस्य कर्मणः संश्लेषमाशङ्क्य, तेषां तत्तु प्रारब्धनाशायैवेति । येषामग्निहोत्रादिकारकं प्रारब्धमस्ति तैरेव भोगवत्तत्क्रियते, न तु सनकादितुल्यैरतो न तेनादृष्टान्तरसंश्लेष इत्युक्तम् ॥ ६ ॥ ततः सप्तमे त्रिसूत्रे अतोन्याधिकरणे प्रथमसूत्रे पुष्टिमार्गीयस्य विनैव भोगं प्रारब्धं नश्यत्युत भोगेन वेति संशये, प्रारब्धस्य भोगैकनाश्यस्वभावत्वात्तं विना न नश्यतीति

पूर्वपक्षे, पुष्टिमार्गीयाणां प्रारब्धाप्रारब्धे 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्या'मिति श्रुतेर्भोगं विनैव नश्यतीति सिद्धान्तः । ततो द्वितीयसूत्रे 'यदेव विद्यये'ति श्रुतौ ज्ञानिना कृतस्य कर्मणो वीर्यवत्तोक्त्या ज्ञानिनोऽपि कर्मफलस्यावश्यं वाच्यत्वेन कर्मश्लेषमाशङ्क्य, अन्यकृतात्कर्मणस्तत्कृतकर्म वीर्यवत्तरमतः कर्मान्तरं निवार्य स्वयमपि निरिन्धनवह्निवन्नश्यतीति न तेन श्लेष इत्युक्तम् । ततस्तृतीयसूत्रे पुष्टिमार्गीयफलप्राप्तिप्रतिबन्धाभावमुक्त्वा तत्प्राप्तिप्रकार उच्यते । इतरे अग्रे प्राप्यालौकिकदेहाद्विश्वे स्थूललिङ्गशरीरे क्षपयित्वा पूर्वोक्तरीत्या कर्मनिवर्तनेन दूरीकृत्य अथ भगवल्लीलोपयोगिदेहप्राप्त्यनन्तरं भोगेन सम्पद्यते इत्युक्तम् । तेनास्मिन्पादे ब्रह्मज्ञानवतस्तत्तन्मार्गभेदात्प्रकारभेदेन कर्मक्षये स्थूलसूक्ष्मशरीरक्षपणोत्तरं ब्रह्मप्राप्तिरुक्ता भवति ॥ ७ ॥

इति श्रीविद्वन्मण्डनगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरविरचितायामधिकरणमालायां चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

इदानीं स्थूलशरीरत्यागस्य स्फुटत्वात्सूक्ष्मशरीरत्यागप्रकारोऽस्मिन्पाद उच्यते । तत्र प्रथमे चतुःसूत्रे वाङ्मनोधिकरणे प्रथमसूत्रे भगवत्कृपारूपस्य साधनद्वारा तद्रूपस्य वा साधनस्य भेदात् द्विधा सद्योमुक्तिः । तत्र प्रथमायां किं प्राणा युगपल्लीयन्त उत क्रमेणेति संशये विलंबे हेत्वभावाद्युगपदेवेति प्राप्ते क्रमेणेति वक्तुं वाङ्मनसि लीयत इत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे अन्येन्द्रियाणां मनसि लय उक्तः । ततस्तृतीयसूत्रे सर्वेन्द्रियविशिष्टमनसः प्राणे लय उक्तः । ततश्चतुर्थसूत्रे सर्वेन्द्रियविशिष्टमनोविशिष्टस्य प्राणस्य हृदि प्रत्यक्षविषये भगवति लय उक्तः । एवं पुष्टिमार्गीयवागादिलयप्रकार उक्तः ॥ १ ॥ ततो द्वितीये द्विसूत्रे भूताधिकरणे ननु मर्यादामार्गीयाणामपि एवमेव वागादिलय उतान्यथेति संशये एवमेवेति पूर्वपक्षे तेषां ते भूतेषु लीयन्ते न तु भगवति । ततो द्वितीयसूत्रे ननु मर्यादामार्गीयो भक्तो ज्ञानी च भवतः, उक्तनिर्णयस्तु ज्ञानमार्गीयविषय एव । भक्तं तु तादृशमपि कदाचित्पुष्टावपि प्रवेशयतीति आशङ्क्य एकस्मिन् ज्ञानिनि भक्ते वा मर्यादानियमो न किन्तूभयोरपि ॥२॥ ततस्तृतीये नवसूत्रे समानाधिकरणे अतीताधिकरणद्वयेन पुष्टिमर्यादाश्रयोः क्रमेण वागादिलयव्युत्पादनात्तद्दार्ढ्यार्थं तास्ताः शङ्का निराक्रियन्ते । तत्र प्रथमे सूत्रे पुष्टिमर्यादयोर्न कदाचिदन्यथाभाव इत्यत्र हेतुः क इत्याशङ्का निराक्रियते । साधनक्रमेण मोचनेच्छा हि मर्यादामार्गीया मर्यादा । विहितसाधनं विनैव मोचनेच्छा पुष्टिमार्गमर्यादा । तथा सति सदैकरूपत्वं तयोर्युक्तमिति । एवं च 'एष उ एवे'ति श्रुत्युक्तेच्छाविषय'स्ते नाधीतश्रुतिगणा' इति वाक्यविषयस्तत्तन्मार्गस्वरूपमेव हेतुः, यथैकनगरप्रापकयोर्मार्गयोस्तत्प्रापकत्वे मार्गत्वे च समानेऽपि कस्यचित्केवलपान्थप्रापकत्वं कस्यचित्सपरिकरपान्थप्रापकत्वं तद्वदित्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे पुष्टिमार्गीयमुक्तिदशायां मर्यादामार्गीयाया मुक्तेः संसार इत्येव

१ वेदा०

व्यपदेशो भजनानन्दानुभवाभावात्, 'नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति। स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इति वाक्यात्। ततस्तृतीयसूत्रे एतादृशवाक्यानां पुष्टिमार्गस्तुतिपरत्वमाशङ्क्य तत्र 'यतो वे'ति श्रुतिरपि प्रमाणमित्युक्तम्। ततश्चतुर्थे तर्हि ब्रह्मविदामिव तादृशानां भक्तानामपि स्वमार्गोपदेशकत्वं क्वचित् श्रूयेत, न चैवमतः पूर्वोक्तं न साधीय इति भातीत्युत्सूत्रमाशङ्क्य तत्र हेतुरुच्यते। ज्ञानिनामिव भक्तानां स्वास्थ्याभावान्नोपदेशः सम्भवति। यतस्तेषां विरहदशा प्रियसङ्गमदशा वेति दशाद्वयमेव। तत्र पूर्वस्यास्तस्यास्तु अतिदुःसहत्वेन सर्वेषां भावानामुपमर्देन तिरोधानात् उपदेशो न सम्भवति। सङ्गमे तु पुरःप्रकटपरमानन्दस्वरूपाद्भगवत एव अन्यस्मै उपदेशो न सम्भवति। न हि भगवदग्रे उपदेशः सम्भवतीत्युक्तम्। ततः पञ्चमे सूत्रे आनन्दप्राप्त्यनन्तरं विरहस्य दुःसहत्वेनाशक्यवचनत्वं, किञ्च तदानन्दतिरोभाव एव सिद्ध इति नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिरूपादक्षरैक्यरूपाद्वा मोक्षात्कथं तस्याधिक्यमित्याशङ्क्यानन्दस्यैवायं धर्मो विरहतापरूपः इत्युक्तम्। ततः षष्ठे सूत्रे 'न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखता'मिति दुःखनिषेधकश्रुतिविरोधमाशङ्क्य तत्र कर्मजन्यतापस्यैव निषेधो न तु कर्माजन्यविरहस्य। यदि चास्य दुःखत्वेन कर्मजन्यत्वमनुमीयते, तदा मोक्षसुखस्यापि सुखत्वेन कर्मजन्यत्वशङ्कया मोक्षसुखस्यापि विप्लव इत्युक्तम्। ततः सप्तमे लौकिकत्वस्य उपाधित्वसमर्थनाय विरहस्य कर्माजन्यत्वं श्रुतिमूलकमित्युक्तम्। ततोऽष्टमे सूत्रे 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेणे'ति वाक्येनोपष्टम्भं च तदित्युक्तम्। ततो नवमे सूत्रे तादृशरसानुभवस्य फलत्वं क्वापि न श्रुतमिति साधनत्वमस्त्वित्याशङ्क्य 'ता वां वास्तूनी'ति श्रुतावुश्मसीति काम्यत्वलिङ्गात्फलत्वमित्युक्तम्। तेन मर्यादामार्गीयतत्त्वात्पुष्टिमार्गीयं तत्त्वमुत्कृष्टमिति साधितम्॥ ३॥ ततश्चतुर्थे **एकसूत्रे अविभागाधिकरणे** तादृशलीलाया नित्यत्वेन तन्मध्यपातिनां तद्दर्शनं यथा नित्यं तथा तादृक्साधनाभावेपि निजानुकम्पया कदाचित्कमपि भक्तं तत्र नयति चेत् तदा कंचित्कालं स्थापयित्वा ततस्तं वियोजयति न वेति संशये, तोषस्य कादाचित्कत्वात् तत्साध्या स्थितिरपि तथैवेति वियोजयतीति पूर्वपक्षे, नैव वियोजयतीति सिद्धान्तः। एतेनापि लीलानित्यत्वं सिध्यति। एतद्यथा तथा रश्मिभाष्यप्रकाशाभ्यामवगन्तव्यम्॥ ४॥ ततः **पञ्चमे एकसूत्रे तदोकोधिकरणे** पुष्टिमार्गीयव्यवस्थां द्विविधं सद्यो मुक्तिप्रकारं च दर्शयित्वा ज्ञानमार्गीयस्य क्रममुक्तौ निर्गमनप्रकार उच्यते। हृदयाग्रप्रद्योतनपर्यन्तं विद्वदविद्वतोस्तुल्यं। निर्गमनमार्गः प्रकारश्च विदुषो भिन्नः। तथा हि। जीवस्थानस्य हृदयस्य यदग्रं नाडीमुखं तस्य ज्वलनं प्रकाशनं क्रियते। चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः स्वस्वकार्यं विहाय पराङावर्तनेनैकीभूतैः, अन्यथा श्रुतिस्तेषां तेजोमात्रात्वं न वदेत्। तदा जीवस्तत्प्रकाशितनिर्गमनमार्गः सन् देहान्निर्गच्छति चक्षुषो वा अन्येभ्यो वा शरीरप्रदेशेभ्यः। इदं च सकलजीवसाधारणम्। विदुषस्त्वेतावान्विशेषः। उपासनासामर्थ्यात् संन्यासाङ्गभगवदनुस्मृतिनैरन्तर्याच्च हृदि स्थितेन परमात्मनानुगृहीतः

सन् एकशततम्या मूर्धन्यया नाड्या निष्क्रामतीति॥ ५॥ ततः **षष्ठे एकसूत्रे रश्म्यधिकरणे** छान्दोग्ये 'या एता हृदयस्य नाड्य' इत्यारभ्य पठ्यते 'असौ वा आदित्यः पिङ्गल' इत्यादि। अग्रे च 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमत' इति। अत्र ज्ञानिनो यथा विलक्षणा गतिरुक्ता, तथा रश्म्यनुसारित्वमपि लोकसाधारणं वा विदुष एवेति संशये, रश्म्यनुसारी विद्वानेव निःक्रामतीति निर्णयः॥ ६॥ ततः **सप्तमे त्रिसूत्रे निश्यधिकरणे** विदुष उत्क्रमणे हार्दानुग्रहकृतविशेषवत्कालकृतविशेषोस्ति न वेति संशयेस्तीति पूर्वपक्षे, पूर्वोक्तभगवदनुस्मृतिसम्बन्धस्य देहस्थितिपर्यन्तं सत्त्वात्तत्कार्यस्यानुग्रहस्यापि तथात्वेन कालोऽप्रयोजको नापेक्षणीय इत्युक्तम्। ततो द्वितीयसूत्रे दक्षिणायनं कृष्णपक्षश्च न बाधकमित्युक्तम्। ततस्तृतीये सूत्रे ननु गीतायामुत्तरायणादिकं गत्यनुकूलत्वेनोच्यते इत्याशङ्क्य ज्ञानमार्गाद्योगमार्गो भिन्नः। तथा च योगिनमुद्दिश्यैव कालविशेषस्य गतिविशेषहेतुत्वं स्मर्यतेऽतः कालप्रतीक्षावत्यौ गती स्मार्ते स्मार्तस्यैव, न तु ज्ञानमार्गीयस्य श्रौतस्य, इतरनिरपेक्षत्वात्। तेन विद्यावतः क्रमेण मुक्तिं प्राप्नुवतोपि न साधनान्तरापेक्षेत्युक्तम्। तेनास्मिन्पादे पुष्टिमार्गीयस्य ततो मर्यादामार्गीयस्य सद्योमुक्तिप्रकारः क्रममुक्तौ निर्गमनप्रकारादिकं च दर्शितम्॥ ७॥

इति श्रीविद्वन्मण्डनगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरविरचितायामधिकरणमालायां चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

अस्मिन्पादे तु तेन द्वारेण निर्गतस्य ब्रह्मप्राप्तिमार्गः तल्लोकः तत्प्राप्तिप्रकारश्चोच्यते। तत्र **प्रथमे चतुःसूत्रे अर्चिराद्यधिकरणे** प्रथमसूत्रे ज्ञानमार्गीयस्येव मर्यादामार्गीयभक्तस्याप्यर्चिरादिमार्गेणैव गमनमुत सद्योमुक्तिरेव भवतीति संशयः। तत्र यथा ज्ञानिनो नियमाभावस्तथाऽत्रापीति पूर्वपक्षे ज्ञानी एव तेन मार्गेण गच्छति, भक्तस्तु प्रायशः सद्य एव मुच्यत इति सिद्धान्तः। ततश्च क्रममुक्तिबोधकतत्तदुपासनावाक्ये 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोक'मित्येवं भिन्नभिन्नपर्वकथनान्नानामार्गतास्त्वित्याशङ्कार्चिरादिनेत्येकवचनेन नानापर्वविशिष्ट एको मार्ग इति ज्ञापनात् एक एव मार्ग इति बोधनान्निरस्तेति च। ततो द्वितीयसूत्रे वायोरप्रवेशेन मार्गभेदमाशङ्क्य संवत्सरलोकानन्तरं वायुलोको निवेशनीय इति न मार्गभेद इत्युक्तम्। ततस्तृतीयसूत्रे पूर्ववदाशङ्कायां तडिल्लोकोपरि वरुणलोको निवेशनीय इत्युक्तम्। ततश्चतुर्थेपि पूर्ववदेवाशङ्क्य वरुणलोकोपरि इन्द्रप्रजापतिलोको निवेशनीय इत्युक्तम्॥ १॥ ततो **द्वितीये त्रिसूत्रे आतिवाहिकाधिकरणे** प्रथमसूत्रे विद्युदनन्तरं 'तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयती'त्यत्र भवति संशयः। उक्तश्रुतेर्गमयित्रैव ब्रह्मप्राप्तिरिति निश्चीयते। एवं सति यस्य वरुणादिलोकगमनं तस्य वचनाभावेन गमयितृप्राप्त्यभावात् ब्रह्मप्राप्तिर्भवति नवेति। वचनाभावेन

प्रापकाभावात् सा न भवतीति पूर्वपक्षे तत्राप्यातिवाहको भगवदीय एव ब्रह्म प्रापयति । प्रजापतिलोकोत्तरं ब्रह्मलोकस्य सत्त्वात्तत्प्राप्तिरपि मार्गैक्यात् प्रापकममानवं पुरुषमपेक्षतेऽतो यत्र स नोक्तस्तत्रापि सोवगन्तव्य इति । ततो द्वितीये सूत्रे अर्चिरादिमार्गगतानामपुनरावृत्तिश्रवणात् देवयाने पथि ब्रह्मविदामेवाधिकाराच्च तादृशब्रह्मज्ञानेन सद्योमुक्तिसम्भवे क्षयिष्णूनां लोकानां परप्राप्तिविलम्बजनकानां वाञ्छायां 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च य'दित्युपक्रम्य 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा । स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छती'ति वाक्योक्तभक्तिसुखं हित्वान्यवाञ्छायां को हेतुरित्याकाङ्क्षायां स्वसृष्टदेवयानमार्गानर्थक्यपरिजिहीर्षया कांश्चिज्ज्ञानिनो भक्तांश्च व्यामोहयतीति व्यामोह एव हेतुरित्युक्तम् । ततस्तृतीये तडिल्लोकाद्वरुणलोकादिप्राप्त्यनन्तरं यस्य ब्रह्मप्राप्तिस्तस्य तल्लोकसम्बन्धी ब्रह्मप्रापकः पुरुषोस्ति न वेत्याशङ्कायां विद्युल्लोकस्य ब्रह्मपुरुषेणैव वरुणादिलोकगतस्यापि ब्रह्मप्राप्तिः न तु तल्लोकस्थात्, नापि पुरुषं विना 'तान् वैद्युतात्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयती'ति श्रुतेरित्युक्तम् । वृत्तौ त्वितरलोकन्यायेन विद्युल्लोकस्यातिक्रान्तत्वाद्वरुणलोकादिस्थस्यैव ग्राह्यत्वेनास्तीति पूर्वपक्षोऽप्युक्तस्तेनाधिकरणान्तरत्वं सूचितम् । भाष्ये तु पूर्वपक्षो न दृश्यते । इयं च वाजसनेयके ब्रह्मलोकान् गमयतीति पठ्यते । छान्दोग्ये तु ब्रह्मेति पाठभेदेन पठ्यते । तत्रायं भावः । भक्तं तु वैकुण्ठलोकं नयति, ते वैकुण्ठा बहुविधा इति ब्रह्मलोकानित्युक्तम् । ज्ञानमार्गीयं त्वक्षरब्रह्म प्रापयतीति ब्रह्मेत्युक्तम् । तेन क्रममुक्त्यै मार्गो विचारितः ॥ २ ॥ ततस्तृतीये षट्सूत्रे **कार्याधिकरणे** क्रममुक्तौ फलं चिन्त्यते । तत्र प्रथमे सूत्रे 'स एतान् ब्रह्म गमयती'त्यत्र ब्रह्मपदेनाविकृतं परब्रह्मोच्यत उत कार्यरूपो ब्रह्मलोक इति संशये ब्रह्मपदेन परब्रह्मात्र नोच्यते, तस्य व्यापकत्वेन देशविशेषगमयित्रोरनपेक्षितत्वात्कार्यब्रह्मलोकोत्र वक्तव्य इति बादरिराचार्यो मन्यते इत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे 'ब्रह्मलोकान्गमयति तेषु तेषु लोकेषु पराः परावतो वसन्ती'ति श्रुतौ बहुत्वेन वासाधिकरणत्वेन च विशेषितत्वादपि कार्यरूप इत्युक्तम् । ततस्तृतीयसूत्रे उपासनाप्राप्यस्य कार्यत्वे ब्रह्मपदव्याकोपमाशङ्क्य ब्रह्मसामीप्याद्ब्रह्मत्वव्यपदेशः । तल्लोकस्थितानां ब्रह्मप्राप्तावन्यलोकाव्यवधानात्सामीप्यं, तेन लक्षणया ब्रह्मपदप्रयोग इत्युक्तम् । ततश्चतुर्थसूत्रे तस्य कार्यत्वे 'आब्रह्मभवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने'ति वाक्यात्ततः पुनरावर्तन्ते । अत्र तु 'न तेषामिह पुनरावृत्तिरस्ती'त्युच्यत इति कथं तस्य कार्यत्वमित्याशङ्क्य कल्पसमाप्तौ कार्यस्य ब्रह्मलोकस्य नाशे चतुर्मुखेन ब्रह्मणा सह ततोऽपि परं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे' इति श्रुतेरित्युक्तम् । ततः पञ्चमे 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदमि'ति स्मृतिरपि प्रमाणत्वेनोक्ता । एवं पञ्चसूत्र्या पूर्वपक्षः । ततः षष्ठे सूत्रे गौण्या मुख्यवृत्त्यपेक्षया निर्बलत्वेन

मुख्यया वृत्त्या परमेव ब्रह्मात्रोच्यत इति जैमिनिसिद्धान्त उक्तः । ततः सप्तमे सूत्रे कौषीतकिश्रुतौ अग्न्यादिलोकवत्प्रजापतिलोकप्राप्तिमुक्त्वाग्रे स ब्रह्मलोकमिति ब्रह्मलोकस्य चतुर्मुखलोकातिरेकेण दर्शनान्न ब्रह्मलोकः प्रजापतिलोक इत्युक्तम् । तेन 'वेदान्तविज्ञाने'ति श्रुतेः 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे' इति स्मृतेश्च प्रलयविषयत्वेनात्र तद्विषयाभावान्न ताभ्यां 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतिविरोध इति सिद्धम् । ततोऽष्टमे 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यस्य विवरणार्थं परेणैव ब्रह्मणा सह कामभोगलक्षणा प्राप्तिः फलत्वेन सिद्धा, अतः परप्राप्तावेव श्रुतितात्पर्यमित्यस्या अपि श्रुतेर्न कार्यलोके तात्पर्यम्, किन्तु नित्यलोक इति युक्तिरुक्ता । बादरिमतं पूर्वपक्षत्वेनोक्त्वा सिद्धान्तत्वेन जैमिनिमतकथनादयमेव पक्षो वेदव्याससम्मतः।तेनादावर्चिषं ततोऽहस्ततः सितं पक्षं तत उदगयनं ततः संवत्सरं ततो वायुं ततो देवलोकं तत आदित्यं ततश्चन्द्रमसं ततो विद्युतं ततो वरुणं तत इन्द्रं ततः प्रजापतिं ततश्चामानवेन पुरुषेण ब्रह्मप्राप्तिरिति निर्णयः सम्पद्यते ॥३॥ ततश्चतुर्थ एकसूत्रे **अप्रतीकाधिकरणे** अर्चिरादिलोकप्राप्तिर्हि उपासनाफलम् । एवं सत्यमानवः पुरुषस्तान् सर्वान् ब्रह्म प्रापयत्युत कांश्चिदेवेति संशये अविशेषेण सर्वानेवेति पूर्वपक्षे, ये हि उपास्येषु भगवद्विभूतित्वं ज्ञात्वोपासते तान्नयति, न तु श्रुतिर्ब्रह्मत्वेनोपासनायाः फलसाधनत्वमाह, न तूपास्येषु ब्रह्मत्वमित्येवं ज्ञात्वोपासते तान्न वाऽसत्त्वमनुसन्धायाप्युपासनायाः फलत्वाय ब्रह्मत्वेन भावकान्नयतीति बादरायण आचार्यो मन्यते । भक्तस्य तु अमानवपुमपेक्षाभावात् स्वयमेव ब्रह्मलोकान् प्राप्नोति इत्युक्तम् । तेनात्रोपास्यानां लिङ्गबलेन ब्रह्मत्वं, तथा तदुपासने परम्परया साक्षाद्वा ब्रह्मप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ ४ ॥ ततः पञ्चमे एकसूत्रे **विशेषाधिकरणे** ज्ञानमार्गीयाणां भक्तिमार्गीयाणां चाविशेषेणैव परप्राप्तिरुत कश्चिद्विशेषोस्तीति संशये, विशेषो नास्ति, उभयोरपि परब्रह्मोपासकत्वादिति पूर्वपक्षे, 'ब्रह्मविदाप्नोति परं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति श्रुतिर्विशेषं दर्शयति । तथा हि ब्रह्मविदक्षरब्रह्मविदाप्नोति सान्निध्यादक्षरमेवाप्नोति एतावानर्थो यो वेदेत्यन्तर्चयोक्तः । अथ परमाप्नोतीत्यस्यार्थ उच्यते निहितमित्यादिना । अत एव मध्ये क्रियापदमुभयसम्बन्धित्वज्ञापकमुक्तम् । तत्प्राप्तिश्च मर्यादापुष्टिभेदेन द्वेधा । तत्रादौ मर्यादायामुच्यते । इहायमाशयो ज्ञेयः । 'नायमात्मा प्रवचनेने'ति श्रुत्या भगवद्वरणातिरिक्तसाधननिरासः क्रियते पुरुषोत्तमप्राप्तौ । एवं सत्यक्षरब्रह्मज्ञानस्य तत्साधनत्व उच्यमाने तद्विरोधः स्यात्, तेनैवमर्थो निरूप्यते । ज्ञानमार्गीयाणामक्षरज्ञानेनाक्षरप्राप्तिस्तेषां तदेकपर्यवसायित्वात् । भक्तानामेव पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वात् । तथा च ब्रह्मविदं चेद्भगवान् वृणुते तदा भक्तिरुदेति । तत्प्रचुरभावे सति स्वयं तद्धृदि प्रकटीभविष्णुः स्वस्थानभूतं व्यापिवैकुण्ठं तद्गुहायां हृदयाकाशे प्रकटीकरोति तत्परमव्योमशब्देनोच्यते । तथा च गुहायां परमे व्योम्नि निहितं यो वेद स परमाप्नोतीत्यर्थः सम्पद्यते । अथ शुद्धपुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य व्यवस्थामाह—सोश्नुत इत्यादिना । अत्रायमभिसन्धिः । यथा स्वयम्प्रकटी-

भूय लोके लीलां करोति, तथात्यनुग्रहवशात् स्वान्तःस्थितमपि भक्तं प्रकटीकृत्य तत्स्नेहातिशयेन तद्वशः सन् स्वलीलारसानुभवं कारयतीति स भक्तो ब्रह्मणा परब्रह्मणा पुरुषोत्तमेन सह सर्वान्कामानश्नुत इति । चकारा'देवं सततयुक्ता ये' इति प्रश्ने 'मय्यावेश्य मनो ये मां' 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमि'त्यादिस्मृतिसङ्ग्रहः । एवं सति ज्ञानमार्गीयाणामक्षरप्राप्तिरेव, भक्तानामेव पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ ५ ॥

इति श्रीविद्वन्मण्डनगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरविरचितायामधिकरणमालायां चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

द्वितीयपादे सद्योमुक्तिक्रममुक्त्योः प्रकारं दर्शयित्वा तृतीये प्राप्यस्वरूपं प्राप्तिप्रकारश्च क्रममुक्तौ दर्शितः । समाप्तौ च ज्ञानमार्गीयभक्तिमार्गीययोः सद्योमुक्तावपि तत्क्रतुन्यायादक्षरप्राप्तिपुरुषोत्तमप्राप्तिरूपो विशेषः फले दर्शितः । इदानीं तादृशफलानुभवे प्रकारश्चिन्त्यते । तत्र **प्रथमे चतुःसूत्रे सम्पद्याविर्भावाधिकरणे** 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्युपक्रम्य 'सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'त्यत्रेदं सन्दिह्यते । किमन्तःस्थित एवाश्नुत उत पुनर्जन्म प्राप्येति । 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतेरन्तःस्थित एवेति पूर्वपक्षे प्रभोरत्यनुग्रहवशात् स्वरूपात्मकभजनानन्ददित्सायां तत्कृत आविर्भावो मुक्तानामपि भवत्येव । भूमविद्यायां आत्मत आविर्भावतिरोभावाविति श्रावणात् । न चापुनरावृत्तिश्रुतिविरोधः । तत्रेहेतिपदेन प्रपञ्च एव तन्निषेधात् । लीलायाश्च प्रपञ्चातीतत्वात् । तेनास्यां श्रुतौ ब्रह्मणा सह भोगो जीवस्य शरीरमन्तरानुपपद्यमानस्तदाक्षिपतीत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे आविर्भूतस्य सृष्ट्यादाविव बन्धसम्भवमाशङ्क्य 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र मुक्तिप्रतिज्ञानादाविर्भूतो मुक्त एवेत्युक्तम् । ततस्तृतीयसूत्रे ब्रह्मणा सहेत्यत्र ब्रह्मपदं सगुणपरमेव युक्तं, भोगस्य गुणसाध्यत्वादित्याशङ्क्य 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्युपक्रम्य तत्पाठाद्गुणातीतस्यैव प्रकरणमिति ब्रह्मपदं गुणातीततत्परमेव । ततश्चतुर्थसूत्रे ब्रह्मविदिति भिन्नं वाक्यं सत्यं ज्ञानमनन्तमिति भिन्नं वाक्यमतः कथं साकाङ्क्षत्वमित्याशङ्क्यैतयोर्मध्ये तदेषाभ्युक्तेति श्रुतिदर्शनादस्ति साकाङ्क्षत्वमित्युभयोरैकार्थ्यमविवादमित्युक्तम् । तेन ब्रह्मसायुज्यं प्राप्तोप्यतिकृपया बहिराविर्भूतो ब्रह्मणा सह सर्वान्कामानश्नुत इति पूर्वसूत्रद्वये सिद्धम् । अग्रिमसूत्रद्वये च तद्ब्रह्म न सगुणं किन्तु परमेवेति सिद्धम् ॥१॥ ततो **द्वितीयेष्टसूत्रे [1]ब्राह्माधिकरणे** प्रथमसूत्रे आविर्भूतो जीवः प्राकृतेन शरीरेण भजनानन्दं भुङ्क्ते उताप्राकृतेनेति संशये, भोगस्य लौकिकत्वात्तदायतनमपि प्राकृतमेव युक्तमतः प्राकृतेनेति पूर्वपक्षे, अप्राकृतेनैव सत्यज्ञानानन्दात्मकेन शरीरेण पूर्वोक्तानश्नुते इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । अक्षरब्रह्मणः पुरुषोत्तमायतनरूपत्वात् तदात्मकमेव शरीरं तस्य वक्तुमुचितं, न तु प्राकृतम् । ततो द्वितीयसूत्रे चिन्मात्रेण रूपेण कामान् भुङ्क्ते, न तु विग्रहेणेति औडुलोमिराचार्यो मनुते । ततस्तृतीयसूत्रे 'कृत्स्नः प्रज्ञानघनः' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति श्रुत्योरविशेषेण प्रामाण्याद्ब्राह्मत्वचिन्मात्रत्वाभ्यां युक्तेन शरीरेणेति बादरायणाचार्यो मन्यत इति सिद्धान्त उक्तः । ततश्चतुर्थे तादृशविग्रहप्राप्तौ ब्रह्मसङ्कल्परूपो हेतुरुक्तः । तथा च यस्य तादृशसङ्कल्पविषयत्वं तस्य तादृशविग्रहप्राप्तिर्न सर्वस्य, 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतेरित्युक्तम् । ततः पञ्चमे सूत्रे पुष्टिमार्गीयस्यैव तादृशविग्रहदाने अनन्याधिपतित्वरूपो हेतुरुक्तः । ततः षष्ठे सूत्रे 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्ये'दिति श्रुतिर्ब्रह्मविदो द्वितीयज्ञाननिषेधमाहेति कामभोगासम्भवात्तदाक्षेप्यो देहोपि न सम्भवतीति बादरिराचार्यो मनुत इत्युक्तम् । ततः सप्तमसूत्रे 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानं परप्राप्तिसाधनमित्युच्यते, 'नायमात्मे'ति श्रुत्या तु वरणं तत्प्राप्तिसाधनमित्युच्यते । तथे'हैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येती'ति श्रुत्या लयः फलमुच्यते, सोश्नुत इत्यत्र कामभोगः फलमुच्यते । एवं सति श्रुतिविरोधपरिहाराय ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेनाक्षरप्राप्तिः सा लयरूपा । पुष्टिमार्गीयस्य तु भक्तस्य 'सोश्नुत' इत्यादिनोक्ता पुरुषोत्तमप्राप्तिरूपा । सा च वरणेन तत्सहितया भक्त्या वेति श्रुतिव्यवस्थया पुष्टिमार्गीयस्य भक्तस्य भोगसाधनभूतविग्रहो निष्प्रत्यूहः । 'तत्केन कं पश्ये'दिति श्रुतिस्तु मर्यादामार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानसामयिकीमवस्थामाहेति जैमिनिः शरीरसद्भावं मनुते । ततोष्टमे सूत्रे तच्छरीरं कीदृशमित्यपेक्षायां 'आत्मतः प्राण आत्मत आशे'त्यादिना प्राणाशास्मराकाशतेजोबाविर्भावतिरोभावान्नबलविज्ञानध्यानचित्तसङ्कल्पमनोवाग्नाममन्त्रकर्मैतत्सर्वान्तानामुक्तत्वाद्भूमजन्यं केवलानन्दप्रधानमिति बादरायणाचार्यो मन्यते । तथा च मुक्तस्य यच्छरीरं तदेवमात्मजन्यत्वेन भूताजन्यत्वादशरीरं, विषयश्रुतौ तदायतनत्वाच्च शरीरमित्युभयविधमिति न पूर्वोक्तश्रुतिविरोधः । नन्वेकस्य मुक्तजीवदेहस्य विरुद्धोभयधर्मवत्त्वं कथमिति चेन्न । द्वादशाहस्य 'यः कामयेत प्रजायेयेति स द्वादशरात्रेण यजेते'ति यजतिचोदनया द्विरात्रादिवदहीनत्वं, 'द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयु'रित्युपैतिचोदनया च सत्रत्वं तद्वदविरोधादित्युक्तम् । तेनास्मिन्नधिकरणे सम्पद्याविर्भावसूत्रोक्तो मुक्तस्याविर्भावो विचारितः ॥२॥ ततस्**तृतीये द्विसूत्रे तत्त्वभावाधिकरणे** आत्मप्रकरणादिति सूत्रद्वयोक्तब्रह्मस्वरूपं विचार्यते । तत्र प्रथमसूत्रे भगवच्छरीरे अप्राकृतत्वं निर्णीयते । स्वप्ने यथा वासनावशादविद्यमानानामप्यर्थानां दर्शनं भवति तथा भगवदिच्छावशात्तत्रापि प्राकृतानां व्रणश्रमादीनां दर्शनमिति ज्ञेयम् । भगवान् आसुराणां प्राकृतगुणे तमस्येव दुःखात्मके लयं चिकीर्षुः स्वस्मिन् प्राकृतत्वबुद्धि[illegible]दनाय तादृशीमिव लीलां प्रदर्शयत्यतो न प्राकृतत्वशङ्कागन्धोप्यत्र । भगवति विपरीतलीलादर्शनं तु आसुरव्यामोहाय । 'निर्दोषश्चेत्कथं विष्णुर्मनुष्येषु प्रजायते । चिन्ताश्रमव्रणाज्ञानदुःखयुग्दृश्यते कथम् । एवं मे संशयो ब्रह्मन् हृदि शल्य इवार्पित' इति नारदप्रश्ने 'स्त्रीपुंमलानुषङ्गात्मा देहो नास्य विजायते । किन्तु निर्दोषचैतन्यसुखनित्यां स्वकां तनुम् । प्रकाशयति सैवेयं जनिर्विष्णोर्न चापरा ।

---

१ विषयवाक्यं पूर्वोक्तमेव । २ भाष्योपन्यस्तश्रुत्या तथेत्यर्थः नत्विदं विषयवाक्यम् ।

तथाप्यासुरमोहार्थं परेषां च कचित् कचित् । दुःखाज्ञानश्रमादींश्च दर्शयेच्छुद्धसद्गुणः । क्व व्रणादि क्व चाज्ञानं स्वतश्चाचिन्त्यसद्गुणे । दौर्लभ्यायैव मोक्षस्य दर्शयेत्तानजो हरिः । कृष्णो ह्यत्यक्तदेहोपि त्यक्तदेहस्य देहवत् । लोकानां दर्शयामास स्वरूपसदृशाकृतिम्' इति ब्रह्माण्डपुराणे ब्रह्मवाक्येभ्य इत्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे एवमन्येषामपि धर्माणां दर्शनमस्त्वित्याशङ्क्य 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति न्यायेन ते सन्त एव प्रतीयन्ते, ये रिंगणादिलीलासु परिच्छिन्नत्वादयः तेषां कैवल्य एव प्रवेशश्चेत्युक्तम् ॥ ३ ॥ ततश्चतुर्थे त्रिसूत्रे प्रदीपाधिकरणे प्रथमसूत्रे ननु पूर्णज्ञानक्रियाशक्तिमता ब्रह्मणा सह अतादृशस्य भक्तस्य भोगकरणं सम्भवति नवेति संशये 'न तत्सम' इति श्रुत्या ब्रह्मसाम्यस्य काप्यभावान्न सम्भवतीति पूर्वपक्षे भगवांस्तस्मिन्नाविशति यदा तदाऽयमपि तथैव भवतीति ब्रह्मावेशेन तौल्यसम्पादनात्सर्वमुपपद्यते । यथा प्राचीनः प्रकृष्टो दीपः स्नेहयुक्तायां वर्त्यामर्वाचीनायामाविष्टः स्वसमानकार्यक्षमां तां करोति, स्नेहाधीनस्थितिश्च भवति स्वयं तथात्रापीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः 'भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति एको देवो बहुधा विनिष्ट'इति । न चात्रान्तर्यामिरूपेण प्रवेशः शङ्कनीयः । तस्यैकविधत्वेन बहुधेतिपदव्याकोपात् । अतः 'सोश्नुत' इति श्रुत्युक्तफलभोगो यथा भवति तदनुरूपो यः प्रवेशः सोत्र बहुधेति पदेन अभिप्रेयते । अत एव देवपदम् । स्वरूपानन्ददानाद्भावोद्दीपनात् पूतनादिमुक्तिदानेन स्वमाहात्म्यद्योतनाद्वैकुण्ठादिस्थितेश्च । तदुक्तं निरुक्ते 'दिवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देव' इति । किञ्च, भक्तानां कामभोजनार्थं क्रीडाकरणात्क्रीडायामेव जयेच्छाकरणाद्भक्तैः सह व्यवहारकरणाद्भक्तेषु स्वमाहात्म्येच्छादिद्योतना'न्न पारयेहं त्वादृशीं प्रणयिनी'मित्यादिभिः स्तुतिकरणाद्भक्तप्रतिपत्तिदर्शनेन कालीयदमनादौ मोदकरणात् तेष्वेव भक्तिमदकरणात् ते स्वप्नेपि प्रियमेव पश्यन्तीति स्वप्नकरणात्तेषां कान्तिकरणादिच्छाकरणाद्वा तन्निकटे गमनादपि देवः । तदुक्तं धातुपाठे 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' इति । ततो द्वितीयसूत्रे तादृशभोगाङ्गीकारे 'न तदश्नोति कञ्चन न तदश्नोति कश्चन' इति श्रुतौ भोगाभावकथनात्तद्विरोधमाशङ्क्य सुषुप्तौ ब्रह्मप्राप्तौ च ब्रह्माविर्भावात् सुषुप्तिरस्या विषयः, न तु ब्रह्मप्राप्तिरिति विषयभेदान्न श्रुत्योर्विरोध इत्युक्तम् ॥ ४ ॥ ततः पञ्चमे षट्सूत्रे जगद्व्यापाराधिकरणे प्रथमसूत्रे ब्रह्मणा सह भोगकरणं लौकिकव्यापारयुतमुत नेति संशये भोगस्य सर्वत्र लौकिकव्यापारयुतत्वादिदमपि तद्युतमिति पूर्वपक्षे 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति मुक्तेः प्रकरणात् 'न यत्र कालोनिमिषां परः प्रभुः कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान्प्रधान'मिति वाक्याज्जगतोसन्निहितत्वाच्च लोकसम्बन्धिव्यापाररहितमित्युक्तम् । ततो द्वितीयसूत्रे 'सर्वꣳहि पश्यः पश्यती'ति मुक्तिप्रकरणे सर्वविषयकदर्शनमुच्यते इति मुक्तस्य जगद्व्यापाररा हित्यं नोपपद्यते इत्याशङ्क्यात्र सर्वपदं लीलासम्बन्धि यत्सर्वं तत्परं,

सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इतिवदिति जगद्व्यापाररा हित्यं सूपपन्नम् । तेन मुक्तिप्रकरणत्वेसात्लीलानामपि नित्यत्वं सूचितम् । ततस्तृतीयसूत्रे लीलाविशेषणीभूतानां तत्तद्देशतत्कालतत्तद्भक्तदेहानां नित्यत्वेन 'श्वस्त्वद्गृहमायास्य' इति प्रभुणोक्ते तदाशया तस्य भक्तस्य स्थितिर्नोपपद्यते । लीलानां नित्यत्वेन द्वितीयदिनरूपस्य कालस्य तदागमनस्य पूर्वदिवसउक्तिसमयेपि सत्त्वात् । तथा श्व इति प्रभूक्तिरपि तत एव नोपपद्यत इत्याशङ्क्य 'सर्वमाप्नोति सर्वश' इति श्रुतिरेकस्यैव भक्तस्य सर्वैः प्रकारैः सर्वलीलारसाप्तिं वदति । तथा चैतच्छ्रुतिप्रामाण्याद्यत्स्वरूपं प्रति 'श्वस्त्वद्गृहमायास्य' इति वदति तस्य स्वगेहे प्रथमदिने भगवत्स्थितिज्ञानं न भवति । यथा नित्यव्यापकशब्दवादिजैमिनीयमते व्यञ्जकस्य वायोर्ध्वनेर्वाऽभावेन न वर्णात्मकशब्दस्य सर्वत्र सदा ज्ञानं, तथात्र लीलादिव्यञ्जकभगवदिच्छाभावेन न भगवत्स्थित्यादिज्ञानं भवतीत्युक्तम् । ततश्चतुर्थे सूत्रे एतद्रूपे युक्तिगम्यत्वाभाव इत्याशङ्क्य 'नैषा तर्केण मतिरपनेया, परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'त्यादिश्रुतिः 'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' 'न हि विरोध उभयं भगवती'ति स्मृतिश्च तमेवार्थमाहेतीष्टापत्तिरित्युक्तम् । तेन लीलाविशिष्टमेव ब्रह्म परमफलं 'रसो वै सः रसꣳह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती'ति श्रुतेश्चेति साधितम् । ततः पञ्चमे सूत्रे लीलाविशिष्टस्यैव परमफलत्वे हेत्वन्तरमुच्यते । सोऽश्नुत इति श्रुतौ भक्तस्य सर्वकामभोगे ब्रह्मणः सहभावः श्राव्यते । स च भोगमात्रे, भोग एव यत्साम्यं भक्तानुरूपत्वेन तत्तौल्यं तस्य ज्ञापकम् । अतोपि फलं लीलाविशिष्टं ब्रह्मैवेति सिद्धम् । मात्रपदेन 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इति श्रुतिविरोधोपास्तः । ततः षष्ठे सूत्रे कर्मफलभोगानन्तरमावृत्तिवदत्राप्यावृत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्य 'न तेषां पुनरावृत्तिरस्ती'ति श्रुतेर्ज्ञानिनां न सा, 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेर्वरणलभ्यः पुरुषोत्तमः फलं, स चाक्षरात्परतः पर इति श्रुतेरक्षरात्परस्तत्प्राप्तिर्ब्रह्मविदित्यनेन बोध्यते । अत इदं वाक्यं परप्राप्तिप्रकाशनसामर्थ्येन भक्तानामनावृत्तिं बोधयतीत्युक्तम् ।

अत्र मायावादिनो मोक्षे भोगं नाङ्गीकुर्वन्ति, ते त्वेवं निरसनीयाः । 'ससम्बोधं मोक्षं श्रुतिसिद्धं निश्चित्याचार्येणायं विभागो दर्शितस्तमिमं नास्तिक्यमवलम्ब्य भ्रान्त्या वा सूत्रार्थान्यथाकरणेन मान्यथन्तु । श्रुतीनां नार्थवादत्वम्, सर्वत्रार्थवादत्वप्रसङ्गात् । निःसम्बोधे तु मोक्षे न प्रेक्षापूर्वकारी प्रवर्तते । संसारावस्थायां तावद्देवलोकादिषु पर्यायेण सुखतारतम्यं लभन्ते, मुक्तः पुनः सुषुप्तवन्न किञ्चित् । स्वरूपचैतन्यं तु विद्यमानमप्यसत्सममेव । न हि तच्चैतन्यान्तरेण संवेद्यते । तस्यैवाभावात् । न च स्वचैतन्यतः संविदस्तु । चैतन्यव्यतिरिक्तसंविदनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे च भेदप्रसङ्गेन मायावादहानिरेव स्यात् । ससम्बोधे तु मोक्षे सर्वमाविर्भूतं सल्लक्षणं बोधस्य रूपम् । मनः सर्वज्ञं सर्वशक्तिभिन्नाभिन्नरूपं च । तेन तदवगतिर्नातोन्यथेति' । 'अत्रैतत्सिद्धम् । ज्ञानमार्गीयाणां तत्रीयाऽस्थूलत्वादिगुणकाक्षरोपासने तत्क्रतुन्यायेन तादृशेऽक्षरे ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति श्रुत्यु-

क्तो लयः। अक्षरस्य 'तद्धाम परमं मम' इति वाक्योक्तभगवद्धामत्वज्ञानपूर्वकं नित्यभगवल्लोकत्वेन भगवदभिन्नत्वेन दहराद्युक्तरीत्योपासने यथाधिकारं सालोक्यादिचतुष्टयप्राप्तिः। आदित्याद्युपासनानामङ्गोपासनात्वादर्चिरादिक्रमेण गत्याऽमानवेन पुरुषेण भगवल्लोकप्राप्तिरैश्वर्यादिभोगश्च। उपासनायां मर्यादाभक्तिसाहित्ये वैकुण्ठादिलोकेषु भगवत्सेवकत्वमधिकम्। तदा भगवदनुभवः । तत्रापि भक्तेरुत्कटत्वे तु भगवच्चरणे कौस्तुभादौ वा प्रवेशेन भगवत्सायुज्यम् । अनुग्रहविशेषेण पुष्टिभक्तौ तु 'भक्त्या मामभिजानाति' इत्युक्तरीत्या स्वस्मिन्प्रवेश्य भूमविद्योक्तरीत्या पुनः पृथगाविर्भाव्य भजनानन्दानुभावने 'सोऽश्नुत' इति श्रुत्युक्तरीतिकं भोगं कारयतीति' ।

आचार्यकृपयैवायमध्यायार्थः प्रकाशितः । अतो विशेषजिज्ञासा प्रकाशेन प्रपूर्यताम् ॥ १ ॥
फलमालामलब्ध्वास्य रचितां पुरुषोत्तमैः । कृता गोपेश्वरेणेयं नातो व्यर्थः परिश्रमः ॥ २ ॥

इति श्रीविद्वन्मण्डनगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरविरचिता-
यामधिकरणमालायां चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

वेदान्ताधिकरणमाला

भावप्रकाशिका

(सूत्रवृत्तिरूपा)

प्रस्तावना ।

આ ગ્રન્થના પ્રણેતા શ્રીકૃષ્ણચન્દ્રજી મહારાજ શ્રીદ્વારકાધીશજીના ગૃહમાં થઈ ગયા. એઓશ્રી શ્રીપુરુષોત્તમજીના ગુરુ હતા. આ બન્ને ગુરુશિષ્યનું કર્તૃત્વ આ ગ્રન્થમાં ભાસે છે. આ વૃત્તિનો પ્રથમાધ્યાય ત્રણ ગ્રન્થના આધારે શોધ્યો છે. બે પુસ્તક પં. ગટ્ટૂલાલજીના સંગ્રહમાંથી પ્રાપ્ત થયા, અને એક શ્રીનાથદ્વારના સંગ્રહમાંથી પ્રાપ્ત થયું. ટિકૈત શ્રીગોવર્ધનલાલજી, શ્રીદામોદરલાલજી તથા તદાશ્રિત શાસ્ત્રી નન્દકિશોરનો તદર્થ ઉપકાર માનીએ છીએ. રત્નગોપાલભટ્ટજીના મુદ્રિત પુસ્તકમાં ઘણી ત્રુટિઓ હતી અને અમારી પાસેની પ્રતો પણ સંતોષપ્રદ ન હતી. તેથી શ્રીઅનિરુદ્ધલાલજીને જામનગરના સંગ્રહમાંથી તે પુસ્તક મોકલી આપવા વિનતિ કરેલી. તદર્થ પત્ર પણ લખ્યાં; તથાપિ આવા નિરપેક્ષ સાંપ્રદાયિક કાર્યમાં આવા વિદ્વાન્ ગોસ્વામિબાલકે શક્ય અને સરલ હોવા છતાં સાહાય્ય ન કર્યું તેથી અમને ખેદ થાય છે. આ ભાગના શોધનમાં શ્રીપુરુષોત્તમજીનો નિજ શ્રીહસ્તાક્ષરલિખિત પ્રથમાધ્યાયનો પ્રકાશ અમને બહુ જ સહાયક થઈ પડ્યો. યથાશક્તિ યથામતિ અમે શોધન કર્યું છે. સાંપ્રદાયિક તથા ઇતર વિદ્વાનોને આ ગ્રન્થ સંપ્રદાયનું પાંડિત્ય કેટલું ગહન હતું તે દર્શાવવાને સમર્થ છે. શ્રીકૃષ્ણચન્દ્રજીનું ચરિત્ર વેણુનાદ માસિકમાં આપ્યું છે એટલે અત્ર પુનરુક્તિ કરતા નથી.

સુરતવાલા શ્રીવ્રજરત્નજી મહારાજ સંવત્ ૧૯૭૭ ના ભાદ્રપદમાં ભરૂચ પધાર્યા હતા. શ્રીપુરુષોત્તમજીના ઉત્સવ દિવસે—ભાદ્રપદ—શુક્લ—એકાદશીને દિવસે આપશ્રીએ એક વ્યાખ્યાન ત્યાં કર્યું. સાંપ્રદાયિક નષ્ટ થતા સાહિત્યનું રક્ષણ કરવાનો ઉપદેશ કર્યો. મહારાજશ્રીના ઉપદેશને માથે ચઢાવી નીચે જણાવેલા વૈષ્ણવોએ એ કાર્યમાટે નીચે જણાવેલું દ્રવ્ય આપ્યું. એ સંગૃહીત દ્રવ્યથી આ ગ્રન્થનું મુદ્રણ થયું છે. શ્રીકૃષ્ણચન્દ્રજીની લેખનપદ્ધતિ અત્યન્ત પ્રૌઢ છે અને તેથી શોધનાર્થ અમારા સર્વ પ્રયત્ન છતાં દોષ નથી જ રહ્યો એમ કહવું અશક્ય છે. એવા દોષોનેમાટે ગ્રન્થપ્રણેતા મહાનુભાવની ક્ષમા યાચી આ પરમ પરિશ્રમથી સિદ્ધ થયલો ગ્રન્થ શ્રીમત્પ્રભુચરણકમલમાં સમર્પીએ છીએ.

श्रीकृष्णाय नमः ।

प्रासङ्गिकम् ।

पूर्वाध्यायद्वयवद्भावप्रकाशिकायास्तृतीयाध्यायस्य मुद्रणव्ययप्रबन्धः श्रीमद्गोस्वामिश्रीव्रजरत्नचरणैः कृतः । द्वितीयाध्यायवदेतदध्यायस्य पाठयोजना श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणैर्निजश्रीहस्ताक्षरलिखितपुस्तकत एव कृता । तत्रापि यत्रैतत्पुस्तकं वर्षाजलेन संदिग्धं जातम्, अक्षराणि चोत्पतितानि, तत्रान्यत्पुस्तकद्वयस्याप्युपयोगः कृतः । तत्रैकं श्रीमद्वैष्णवपरिषत्संग्रहतो 'वाडीलाल नगीनदास शाह बी. ए. एल् एल्. बी. वकील हाइकोर्ट' इत्यनेन दत्तम् । अन्यच्च 'मग्नलाल गणपतिराम शास्त्री. एम्. ए. बी. इ. एस्, एस. टी. सी. डी. एम्. आर्. ए. एस्. प्रोफेसर ऑफ संस्कृत. दक्कन कॉलेज. पुना.' इत्येतेषाम् । श्रीहस्ताक्षरपुस्तकापेक्षयैतत्पुस्तकद्वयमपि प्रायोशुद्धमर्वाचीनं च, तथापि येषु स्थलेषु मूलपुस्तकस्य वाचनमशक्यं संदिग्धं वा प्राप्तम्, तेषु स्थलेषु एतत्पुस्तकद्वयेनात्यन्तमुपकृतमिति ।

मुम्बई.
आषाढ कृष्ण प्रतिपद् १९८२ } मूलचन्द्र तेलीवाला.

EDITORS' NOTE

The text of the present work is based on the Mss. written by the author's pupil Sri Purushottamaji in his own hand, except in a few places where the original was damaged. In such cases we had to consult other Mss. It seems our author always writes नैयायक instead of नैयायिक. We have accordingly retained नैयायक, though apparently the correct form should be नैयायिक. For the loan of Mss. we are obliged to Pandit Gattulalaji's Library and Srimad Vaishnava Parishad collection. We have to thank also H. H. Srimad Goswami Sri Vraja Ratnaji Maharaja of Surat and Seth Ichharam Pranjivandas for supplying us with funds for this publication. We offer this fruit of our labour of Love at the Lotus-Feet of Lord Sri Krishna.

16-6-24
Bombay, 4 } M. T. TELIVALA
D. V. SANKALIA

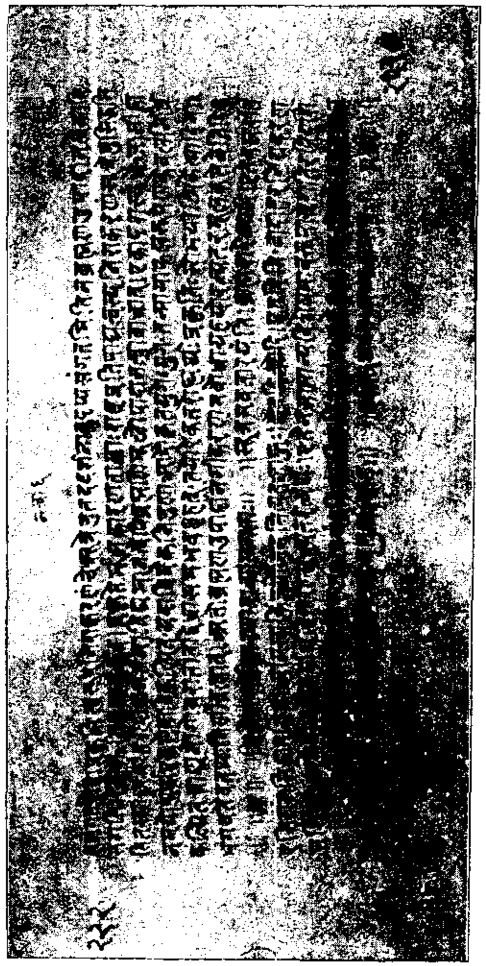

श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणानां श्रीहस्ताक्षराणि ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भावप्रकाशिका ।

श्रीमद्भाष्यानुसारिब्रह्मसूत्रवृत्तिः ।

शास्त्रवित्तमश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रकृता ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् प्रभून् श्रीविट्ठलेश्वरान् ।
श्रीमद्भाष्यानुसारेण सूत्रवृत्तिं ब्रुवेऽधुना ॥ १ ॥

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥ (१. १. १.)

अस्यारम्भसूत्रत्वादत्राधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनरूपमनुबन्धचतुष्टयं वक्तव्यम् । शास्त्रप्रवृत्त्यावश्यकत्वहेतुभूता संगतिरपि निरूपणीया । शास्त्रस्य वैधत्वमपि विचारणीयम् । तत्र तावत् 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीत' 'साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेय' इति वेदाध्ययने त्रयो विधयः ।

तेषु भाट्टाः, अध्ययनविधेरक्षरग्रहणमात्रपर्यवसानाङ्गीकारे अदृष्टफलकल्पनापत्तेरर्थज्ञानरूपदृष्टफलार्थत्वमङ्गीकृत्य, 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीते' त्यादिवाक्येषु द्वितीयानिर्देशेन त्रैवर्णिकानां संस्कार्यत्वावगमात् संस्कारस्य च कार्यान्तरयोग्यतासम्पादनरूपत्वादुपनयनसंस्कृतानां त्रैवर्णिकानां कार्यान्तरापेक्षत्वेन तत्सन्निधिपठितस्याध्ययनस्य चानिर्दिष्टकर्तृकतया कर्त्रपेक्षत्वेन परस्पराकांक्षासन्निधियोग्यत्वैरध्ययनविधेस्त्रैवर्णिकानां यज्ञरूपकार्यान्तराधिकारनियमार्थत्वान्नियमविधित्वे आधानादिविधयोऽपि त्रैवर्णिकानेव विदुषोऽधिकुर्वन्तीत्यध्ययनविधिरर्थज्ञानमाक्षिपति, तच्च विचारशास्त्राधीनमिति तस्यापि वैधत्वमित्याहुः ।

प्राभाकरास्तु, संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु निय इत्याचार्यकरणे विहितेनोपनयीतेत्यात्मनेपदेनापनयनरूपस्य माणवकसंस्कारस्याचार्यत्वसिद्धिप्रयोजनत्वं लभ्यते, उपनीतो माणवकोपि न तूष्णीं स्थितः संनिधिमात्रेणाचार्यत्वं साधयतीति तद्व्यापारापेक्षायां वाक्यान्तर उपनयनं प्रक्रम्य विहितमध्ययनमेवाध्यापनोपकारकत्वादुपनीतव्यापारतयाध्यवसीयते, ततोध्ययनस्यापि प्रयोजने विचार्यमाणे स्वसमवेतत्वेनान्तरङ्गत्वादर्थज्ञानमेव तथात्वेन निश्चीयते, आचार्यत्वसिद्धिस्त्वध्यापनस्यैव

प्रयोजनम्, अध्यापकसमवेतत्वात्, एवमेतन्मतेप्यर्थज्ञानस्य विध्याक्षिप्तत्वात् तदाक्षिप्तस्य विचारशास्त्रस्य वैधत्वमित्याहुः ।

रामानुजाचार्यास्तु, अध्ययनविधिना स्वाध्यायाख्यस्य, वेदस्याक्षरग्रहणमात्रं विधीयते, तत्रेतिकर्तव्यताकांक्षायामध्यापनविधिना उपाकरणपूर्वकाध्ययनविधिना चाध्ययनेऽपेक्षितान्यङ्गानि विधीयन्ते, तेनाचार्योच्चारणानूच्चारणरूपमध्ययनमक्षरराशिग्रहणफलकमित्यवगम्यते, तच्चाध्ययनं विधिवाक्ये कर्मत्वेन बोधितस्य चतुर्वर्गफलस्य स्वाध्यायाख्यस्य वेदस्य संस्काररूपम्, ततश्चोत्सर्जमोत्तरमङ्गाध्ययनस्योक्तत्वात् तैः सह यथाविध्यधीयमानः स्वाध्यायः स्वभावादेवापाततोऽर्थं बोधयति, न तु सामस्त्येनेत्यर्थाक्षिप्तो विचार इति तच्छास्त्रस्यापि वैधत्वमित्याहुः ।

शाङ्करास्तु व्यवहारे वयं भाट्टा इति वदन्तीति तथैव वैधत्वम् । 'विजिज्ञासस्वे'ति विधिकारितं वा । एवं शैवमतेऽप्यर्थाक्षिप्तमेव विचारशास्त्रवैधत्वम् ।

भास्कराचार्यास्तु, स्वाध्यायविधेरर्थज्ञानपर्यवसितत्वेपि तस्य ब्रह्मज्ञानाक्षेपकत्वं न वक्तुं शक्यम्, 'यज्ञेन दानेने'ति, 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्ये'दिति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानस्योपायान्तरसापेक्षत्वबोधनात्, 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य' इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वाच्च, किन्तु 'श्रोतव्यो मन्तव्यः सोऽन्वेष्टव्यः, स विजिज्ञासितव्य' इत्यादिवेदान्तविधिकारितैव ब्रह्मजिज्ञासेति तेन शास्त्रस्य वैधत्वमित्याहुः ।

माध्वा अप्येवमेवाहुः । भैक्षवेऽप्येवम् ।

सिद्धान्ते तु प्राथमिकमध्ययनमध्यापनविधिरेव प्रयुंक्ते । माणवकोपनयनस्याध्ययनार्थत्वेपि तस्य बालत्वेनाध्ययने स्वतः प्रवृत्त्यभावात् । तच्च गुरूच्चारणानूच्चारणरूपं वेदाक्षरग्रहणफलकमेव । ततः सत्सङ्गादिवशात् तत्र रुचावुत्पन्नायां वयसा सामर्थ्ये च जातेऽध्येतव्य इति कृत्यप्रत्ययेन तस्यावश्यकता बोध्यते । ततस्तेन स्वाध्यायावर्तने पापापगमे 'ज्ञेयश्चे'ति वाक्येनार्थज्ञानस्याप्यावश्यकता बोध्यते । ततो ज्ञानं साक्षाद्वाक्योक्तमेवेत्याक्षेपलभ्यता वृथैव स्वसूचिभिराद्रियत इति ।

तत्र वैदिकाः प्राचीनपरम्परया गुरुमुखादङ्गैश्चार्थज्ञानस्य सम्भवान्मीमांसाद्वयकरणं वृथैवेत्याशङ्कन्ते । सिद्धान्तस्तु तत्करणं तदा वृथा स्याद्यदि कालेन गुणक्षोभेण चाध्येतृणां स्वभावभेदो न स्यात् । जाते तु स्वभावभेदे एकादशस्कन्धीयवाक्यैश्चावगते सङ्गादिना सात्त्विकानामपि बुद्धिमान्द्ये भगवान् वेदव्यासो वेदान् विभज्य शिष्यैः शाखाविभागं च कारयित्वा तेषां परमपुरुषार्थसिद्धये स्वयं वेदार्थं बोधयितुमतिकरुणया ब्रह्मविचारशास्त्रं प्रणीतवान् । तदेतत् प्रथमस्कन्धे चतुर्थाध्याये सूचितम् । अतो विरुद्धशास्त्रसम्भेदजन्यबुद्धिदोषाणामङ्गैर्निवृत्त्यसम्भवाद् गुरुमुखादर्थश्रवणेपि कालान्तरे यथा पदादिपाठे वैलक्षण्यदर्शनेन संहितापाठसन्देहः, तदपहारार्थं यथा प्रातिशाख्यरूपा

लक्षणग्रन्था अवश्यमुपयुक्ताः, तथार्थसन्देहनिवृत्त्यर्थं विचारशास्त्रमप्यावश्यकम् । अत एव चरणव्यूहे परिशिष्टे तस्या उपाङ्गेषु गणना । अतो विचारशास्त्रस्यार्थाक्षिप्तं वैधत्वं वा वेदान्तविधिकारितं वास्तु, तत्र नाग्रहः । उपयोगस्तु मन्दमध्यमान् प्रति सन्देहनिवृत्तौ दार्ढ्ये च । उत्तमान् प्रति तु दार्ढ्य एव । एवं पूर्वमीमांसाया अप्युपयोगो बोध्य इति । एवं चात्र शास्त्रावतरणे भगवतो व्यासस्य करुणैव सङ्गतिरिति सिध्यति ।

अत्र पूर्वमीमांसकाः, जैमिनिना धर्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय द्वादशलक्षण्या यज्ञादिरूपो धर्मो विचारितः, चतुर्लक्षण्या चोपासनालक्षण इति षोडशलक्षण्या सर्वोपि धर्मो वेदार्थरूपो निर्विचिकित्सः सिद्धः । नच ब्रह्मज्ञानार्थमुत्तरमीमांसेति वाच्यम् । 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' 'अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शन'मिति श्रुतिस्मृतिभ्यां तस्यापि धर्मत्वे निश्चिते तस्यापि विचारितप्रायत्वात् । नच सृष्ट्यादिवाक्यार्थनिर्णयाय तदपेक्षा । तेषामर्थवादरूपत्वात् । मीमांसकमते प्रवाहनित्यत्वोपगमेन जगतः स्वातन्त्र्यात् कर्तुरभावेनोपासनाविषयस्यात्मनः प्रशंसार्थत्वात् । अत एव वाक्यान्तरे तदपवादोऽपि युज्यते । अत एव पूर्वमीमांसयैव गतार्थत्वान्नारम्भणीयोत्तरमीमांसेति आहुः ।

तत्रोच्यते । उपासनाया मानसक्रियारूपत्वेन धर्मत्वेपि न ब्रह्मणो धर्मरूपत्वम् । नित्यज्ञानस्वरूपत्वेन चोदनालक्षणक्रियारूपत्वाभावात्, ब्रह्मण एव च सर्ववेदार्थत्वात्, 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' 'वेदास्त्रिकाण्डविषया ब्रह्मात्मविषया इमे, मां विधत्तेऽभिधत्ते मा'मित्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणवाक्येभ्यस्तथा निर्णयात्, किंबहुना वेदे धर्मोपि ब्रह्मात्मकत्वेनैव प्रतिपाद्यः, 'धर्मो यस्यां मदात्मक' इतिवाक्यात् । 'यज्ञो वै विष्णु'रि तिश्रुतेश्च । जैमिनिस्त्वेकदेशमादाय पुरःस्फूर्तिकमेवार्थमुक्तवान्, अतो न तन्मीमांसया गतार्थत्वम् । जगत्स्वातन्त्र्यं तु 'सदेव सौम्येदमग्र आसी'दित्यादिसृष्टिवाक्यविरुद्धत्वादेवोपेक्ष्यम् । नच तेषामर्थवादरूपत्वात्तेषां स्वार्थे प्रामाण्याभावेन तद्विरोधो न दोषायेति वाच्यम् । स्वार्थे तेषामप्रामाण्यस्य प्रतारकत्वप्रसञ्जकतया सर्ववेदप्रामाण्यविघटकतया चासङ्गतत्वात् । अपौरुषेयत्वस्य सर्ववेदसाधारणत्वादेकत्र विसंवादे सर्वत्रैवाविश्वासप्रसङ्गात् । अतो भूतार्थवादत्वेन तेषां स्वार्थे प्रामाण्ये जगतः सकर्तृकत्वसिद्ध्या तत्कर्तृभूतब्रह्मस्वरूपनिर्णयार्थमावश्यकैव तन्मीमांसेति । नच साधनस्य फलशेषत्वात् फलस्य कर्मणैव सिद्धौ किं ब्रह्मज्ञानेनेति वाच्यम् । मोक्षरूपस्य केवलेन कर्मणा सिद्ध्यभावात् । 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवती'ति श्रुत्या तथा निर्णयात् । नच 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेती'त्यादिश्रुत्या केवलज्ञानादेव मोक्षोक्तेः किं कर्मणेति वाच्यम् । उक्तश्रुतिविरोधात् । जरामर्याग्निहोत्रादिबोधकश्रुतिविरोधाच्च । ब्रह्मज्ञानवतां वशिष्ठादीनामपि यज्ञकरणश्रवणस्मरणाभ्यां च । पूर्वस्य काण्डस्योत्तरानुपयोगे उत्तरस्य पूर्वानुपयोगे च नैराकाङ्क्ष्येणोभयोरैकशास्त्र्यभङ्गप्रसङ्गाद्, वेदान्तसमाख्याविरोधप्रसङ्गाद्, 'ऋचां मूर्धान'मितिश्रुतिविरोधप्रसङ्गाच्च । अतोऽधिकारिविचारेण ज्ञानकर्मसमु-

चयस्यैवावश्यकत्वाद् ब्रह्म सर्वथा जिज्ञास्यमेवेति तदुपयोगितया वेदान्ता अपि विचारणीया इति सिद्धम् ।

तथाचायं सूत्रार्थः । अथशब्दोऽधिकारे । मङ्गलस्य श्रवणमात्रेणैव सिद्धेः । अधिकारोऽत्र प्रारम्भः । अतःशब्दो हेतौ । ब्रह्मण इति शेषषष्ठी । जिज्ञासापदं विचारे रूढम् । 'अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजे'दित्यादिप्रयोगात् । एवञ्च कर्मादिभ्योऽधिकं ज्ञानमेव पुरुषार्थसाधनम्, अतो हेतोर्ब्रह्मज्ञानविषयाया इच्छायाः पूरणाय ब्रह्मविचार आरभ्यत इति । अत्र केचिदथशब्दमानन्तर्यं व्याचक्षते । तन्न युक्तम् । यत्किञ्चिदानन्तर्यस्यार्थादेव सिद्धेरवक्तव्यत्वात् । ब्रह्मणो वेदार्थत्वेनानधीतवेदस्य तत्रानधिकारात् वेदाध्ययनानन्तर्यस्य ब्रह्मपदेनार्थादेव सिद्धिसंभवात् । नापि धर्मविचारानन्तर्यं युक्तम् । हृदयस्याग्रे अवद्यति 'अथ जिह्वाया अथ वक्षस' इतिवत् क्रमनियामकस्याभावेन विपर्ययस्यापि सम्भवात् । नापि पाठाद्वाचाराद्वा व्यवस्था । तत्राप्यनियमसम्भवात् । प्रत्यवायाश्रवणात् । यदि च धर्मस्य ब्रह्मज्ञानहेतुत्वात् तद्विचारोपयुक्तानां श्रुतिलिङ्गादीनां वेदचोदनार्थवादस्मृत्यादिप्रामाण्यस्य ब्रह्मविचारोपयुक्तत्वाच्च धर्मविचारानन्तर्यं ब्रह्मविचारस्य नियतमिति विभाव्यते, तदापि न वक्तव्यत्वम् । अध्ययनवदावश्यकतयैव प्राप्तत्वात् । तथाच ततोऽप्यधिकाकांक्षा स्यात् । किमनन्तरमिति । नापि नित्यानित्यवस्तुविवेकः ऐहिकामुष्मिकफलभोगविरागः शमादिसाधनसम्पन्मुमुक्षुत्वं चेति साधनचतुष्टयानन्तर्यं युक्तम् । शमादीनां पूर्वमप्रस्तुतत्वेन स्वयं शब्दानिर्दिष्टत्वेन च सूत्रकाराविवक्षितत्वात् । पूर्वमीमांसोक्तकर्मतत्फलादिजाघन्यात्मनित्यत्वज्ञानाधीनतया शास्त्रद्वयविचारानन्तरभावित्वेन पूर्वं वक्तुमशक्यत्वात् । तेषां पूर्वभावे विचारवैयर्थ्यापत्तेः । शमादीनां वेदान्तविचारानन्तरभावित्वेन पूर्वं वक्तुमशक्यत्वात्, विचारस्य च तदनन्तरभावित्वेनान्योन्याश्रयादसम्भवापत्तेः । शमादिरहितानामपीदानीन्तनानां निःसन्दिग्धवेदार्थज्ञानोपलब्ध्या प्रत्यक्षविरोधाच्च । तादृशस्याधिकारिणः श्रवणमात्रेण कार्तार्थ्यात् समाधिनिरतत्वेन प्रवचनासम्भवाच्छास्त्रोच्छेदापत्तेश्च । नापि जातिकृतं गुणकृतं च ब्रह्मविद्यायामधिकारत्रैविध्यं साधनाध्यायानुसारेणात्राङ्गीकर्तुं शक्यम् । विचारब्रह्मविद्ययोरभेदाभावात् । अतो माध्वोक्तश्रुतिस्मृतीनामपि न विरोधः । अतोऽवश्यापेक्षितानन्तर्यस्य ब्रह्मजिज्ञासापदादेव प्राप्तेरधिकाकांक्षाऽभावाय अथशब्दोऽधिकारार्थ एव युक्तः । शेषषष्ठ्या च ब्रह्मसम्बन्धिनां तज्ज्ञानोपयोगिनां सर्वेषां विचारस्य प्रतिज्ञातत्वादग्रे वक्ष्यमाणेषु पदार्थेषु न कस्याप्यप्रतिज्ञातार्थत्वम् । नचैवं ब्रह्मसम्बन्धिनामेव जिज्ञास्यत्वे ब्रह्मणो गौणत्वमजिज्ञास्यत्वं वा स्यादिति शङ्कनीयम् । शब्दत एव गौणत्वेनार्थतो गौणत्वाभावात् । तत्संबन्धेनैव संबन्धिनां जिज्ञास्यताबोधनात् । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति निःसन्दिग्धेन स्वरूपलक्षणेन तत्स्वरूपे आसंसारं प्रसिद्धानुभावत्वेन तत्सत्तायां च सन्देहाभावेपि तादृशविवक्षितगुणवैशिष्ट्येन जिज्ञास्यत्वानपायादिति ।

प्रतिज्ञोत्तरं कार्यलक्षणस्य तत्र प्रमाणस्य च सूत्रितत्वेन सूत्रकाराशयस्याप्येवमेव सङ्गावगमाच्च । वेदप्रामाण्यं त्वास्तिकत[illegible]न्त्रसिद्धत्वाज्जैमिनिना विशेषतो विचारितत्वाच्च श्रुतिलिङ्गादिवन्न पुनर्विचार्यते । तस्माद् ब्रह्म जिज्ञास्यमिति सिद्धम् । सम्बन्धिनामेव जिज्ञास्यत्वसाधनेन यथाधिकारं ज्ञानकर्मसमुच्चयस्य भक्तिमार्गीयसर्वात्मभावस्य च साधनतयाभिप्रेतत्वं सूचितं भवति । तथा ब्रह्मजिज्ञासापदेन जिज्ञासुरधिकारी । ब्रह्म ससम्बन्धिकं विषयः । प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः । ब्रह्मज्ञानं च फलम् । तस्यापि परप्राप्तिरूपो मोक्षश्च फलमित्यनुबन्धचतुष्टयमप्यत्र सिद्धं वेदितव्यम् ॥१॥

इति प्रथमं जिज्ञासाधिकरणम् ।

जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात् ॥ २ ॥ (१. १. २.)

अत्र सर्वेऽपि योगविभागेन शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रं भिन्नमभ्युपगच्छन्ति । तन्न युक्तम् । अग्रिमसूत्रेषु साध्यहेतुनिर्देशपूर्वकमेवाधिकरणरचनदर्शनेनात्रापि तथैव युक्तत्वात् । सांख्ये ब्रह्मपदस्य प्रकृतिवाचकत्वाङ्गीकारात् तद्वारणार्थं ब्रह्मणि शास्त्रोक्तकर्तृत्वप्रतिपादनस्यावश्यकत्वाच्च । माध्वाः शैवाश्च जन्माद्यधिकरणं शास्त्रयोनित्वाधिकरणं च भिन्नमङ्गीकुर्वन्ति । तेषामाद्यस्य हेतुशून्यत्वाद् प्रतिपादकाकांक्षिततया द्वितीयस्य च साध्यशून्यत्वात् प्रतिपाद्याकांक्षिततयातिक्लिष्टत्वाद्विवक्षितप्रमेयासाधकत्वं वा क्लेशेन साधकत्वं वा बोध्यम् ।

रामानुजाचार्या भास्कराचार्याश्च जन्माद्यधिकरणं त्रिसूत्रमङ्गीकुर्वन्ति । तेषां मतेऽथशब्देनं धर्मविचारानन्तर्यस्य ब्रह्मजिज्ञासायां बोधनात् ब्रह्मणो वेदान्तवेद्यतोपतिष्ठते, तथाप्यथशब्दस्यानेकार्थत्वेनानन्तर्यस्याप्यनेकविधत्वेन चोपपादनसापेक्षत्वाद् द्रागनुपस्थितिरिति । समन्वयसूत्रस्थसाध्यनिर्देशासङ्गतिरिति च । अत ऐकसूत्र्यपक्ष एव श्रेयान् ।

शङ्कराचार्यमते जन्माद्यधिकरणं दशसूत्रम् । तत्र सूत्रद्वये पृथग्रूपनामप्रपञ्चकर्तृत्वप्रतिज्ञा । शेषेष्वष्टसु हेतूक्तिरिति । तदप्यसङ्गतम् । द्वितीयसूत्रे शास्त्रयोनिरित्येतावतैव प्रतिज्ञापूर्तौ त्वादित्यस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । समन्वयसूत्रे साध्यनिर्देशविरोधप्रसङ्गाच्च । तस्मादैकसूत्र्याङ्गीकारेणैकाधिकरण्यपक्ष एव युक्त इति ।

तथाचायं सूत्रार्थः । जन्म आदिः पूर्वावधिर्येषां भावविकाराणां ते जन्मादयः । सुपां सुलुगिति जसो लुक् । अत्र कुटादिभ्य इतिवदवयवसमासादतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । विकारान्तरज्ञानदशायां जन्मनः प्रव्यक्तत्वाभावात् । नच तदसंग्रहापत्तिः । श्रुतत्वेन पूर्वमेव तस्य बुद्धावारोहात् । यद्वा । जन्म आदि यस्य स्थितिभङ्गस्य तज्जन्मादीति तद्गुणसंविज्ञानः । अस्येति पुरोवर्ती प्रपञ्च इदमा निर्दिश्यते । अनेकभूतभौतिकदेवतिर्यङ्मनुष्यानेकलोकाद्भुतरचनस्य मनसाप्याकलयितुमशक्यस्यानेककोटिब्रह्माण्डयुक्तस्यानायासेनोत्पत्तिस्थितिभङ्गकरणं भावविकारादिकं वा यतः । तद् ब्रह्मेति

त्वधिकारबलादेवायाति, न त्वध्याहारः । अथवा । आद्यस्याकाशस्य प्रधानस्य वा जन्म यत इति । शास्त्रे योनिः शास्त्रयोनिस्तस्य भावस्तस्मात् । योनिशब्दो निमित्तकारणे रूढः । 'तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिते'ति मातृरूपत्वबोधनात् । मातुश्च भर्त्रात्वादिति । तथाच शास्त्रोक्तनिमित्तकारणत्वादित्यर्थः । तच्च निमित्तत्वं स्वातन्त्र्यात् कर्तृत्वे पर्यवस्यति ।

शाङ्करास्तु शास्त्रस्य योनिरित्यत्र षष्ठीसमासमङ्गीकृत्य योनिपदे कारणसामान्यवाचकत्वं चाङ्गीकृत्य सर्वज्ञकल्पसर्वार्थावद्योतिशास्त्रकर्तृत्वाद् ब्रह्मणि सर्वज्ञत्वं साधयन्ति । तदन्ये न रोचयन्ते । निःश्वासवदबुद्धिपूर्वकमुत्पादने सर्वज्ञताया असम्भवात् । बुद्धिपूर्वकमर्थमवलोक्योत्पादने काणादादिशास्त्रानुसरणप्रसङ्गात् । पूर्वकल्पीयानुपूर्व्या एव यथावस्थितायाः कथनेपि राजदूतादिवत् सर्वज्ञताया असम्भवादिति । एतेन पुरुषास्वातन्त्र्यमात्रमेव वेदे अपौरुषेयत्वमिति वदतो वाचस्पतेरपि मतं न सार्वज्ञ्यसाधनक्षममिति बोद्धव्यम् । यत्तु, विमतं ब्रह्म वेदगतसर्वविषयप्रकाशनशक्त्याधारः, वेदोपादानत्वात्, दीपगतप्रकाशनशक्त्याधारदीपोपादानवह्निवदिति विवरणोक्तमनुमानम्, तदप्यसङ्गतम् । ब्रह्म न वेदगतसर्वविषयप्रकाशनशक्त्याधारः । निःश्वासात्मकवेदोपादानत्वात् । अबुद्धिपूर्वकनिःश्वासोपादानपुरुषवदिति प्रयोगान्तरेण सत्प्रतिपक्षत्वात् ।

अन्ये तु शास्त्रं योनिः कारणं मूलप्रमाणमस्येति षष्ठ्यर्थे बहुव्रीहिमङ्गीकुर्वन्ति । तदप्ययुक्तम् । लक्षणाप्रसङ्गात्, स्वारसिकार्थत्यागाच्च ।

विज्ञानेन्द्रभिक्षुस्तु सप्तम्यर्थे बहुव्रीहिमङ्गीकृत्याह । अत्र शास्त्रादिति वक्तव्ये शास्त्रयोनित्वादिति यदुक्तं तच्छास्त्राविरुद्धानुमानस्मृतियोगिप्रत्यक्षाणां संग्रहायेति ।

तदप्यसङ्गतम् । अत्यन्तापरिदृष्टे अनुमानस्यासाधकत्वात् । तथाहि । जगत् कार्यं सावयवत्वात् । महत्त्वे सति क्रियावत्त्वात्, महत्त्वे सति मूर्तत्वाच्च, घटादिवदित्यनुमानैर्जगतः कार्यत्वं साधयित्वा, जगत् स्वोपादानोपकरणसम्प्रदानप्रयोजनाभिज्ञपुरुषकर्तृकम्, कार्यत्वात्, घटवदित्यनुमानेन जीवात्मविलक्षणः सकलजगत्कर्ता परमेश्वरोऽनुमेयः । सोऽनुमातुं न शक्यते । जगद् न कार्यम् । अशक्यक्रियत्वादशक्योपादानविज्ञानत्वाच्च, आकाशवदिति साधनाभ्यां सावयवत्वस्य सत्प्रतिपक्षत्वेन कार्यत्वस्य विप्रतिपन्नत्वेन साध्यसमत्वात् । एवं क्षित्यादिवायुपर्यन्तानि अकार्याणि । महाभूतशब्दवाच्यत्वात् । आकाशवदित्यस्यापि प्रतिपक्षत्वं बोध्यम् । नचाकाशे निरवयवत्वस्य साधकतर्कस्य सत्त्वाद् अस्त्वाकाशस्य तथात्वम्, न तु जगतः, तदभावादिति वाच्यम् । सावयवानामपि महामहीधराणां कार्यत्वादर्शनात् । किञ्च । कार्यत्वेन कर्तृजन्यत्वमप्यनुमातुमशक्यम् । तस्याङ्कुरादिषु साधारणत्वात् । नचाङ्कुरादौ साध्यसन्देहस्यानन्याहितत्वेन तस्य पक्षसमत्वमिति वाच्यम् । शरीरजन्यत्वस्योपाधेः शरीराजन्यत्वस्य प्रतिपक्षस्य च विद्यमानत्वेनान्याहितत्वात् । किञ्च । क्षित्यादिकं नैककर्तृकम्, विलक्षणत्वे सत्यनेक-

कार्यत्वात्, घटपटस्तम्भादिवदिति । नैककर्तृकं, विचित्राद्भुतसन्निवेशत्वात् । महानौकाभवनादिवदिति सत्प्रतिपक्षत्वेन तस्यैकेश्वरासाधकत्वात् । एवमन्यदपि भाष्यविभागाद् दूषणान्तरं बोध्यम् । यदपि श्रीभागवते । अत्र 'मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम् । गृह्यमाणगुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानत' इत्यत्रानुमानतो मार्गणप्रकार उक्तः, सोऽपि दर्शनसामयिक इति नात्र तद्विरोधः । एवं स्मृतियोगिप्रत्यक्षयोरप्यविरुद्धयोः सन्देहवारकत्वमेव, न तु प्रमितिजनकत्वम् । अन्यथा 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी'ति श्रुतिस्थमौपनिषदपदं कुप्येत । इतः पूर्वम्, 'अगृह्यो न हि गृह्यत' इत्यत्र केवलेन्द्रियाग्राह्यत्वे विवक्षिते तद्वैयर्थ्यस्य दुर्वारत्वात् । नच 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति,' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' इति श्रुतिस्मृतिभ्यां सर्ववेदवेद्यत्वकथनादुपनिषन्मूलप्रमाणकत्वं वा उपनिषन्महातात्पर्यविषयत्वं वा तदर्थ इति न तद्वैयर्थ्यमिति वाच्यम् । एवमपि पूर्वकाण्डवेद्यत्वमात्रमधिकमायाति, नतु लौकिकप्रमाणान्तरवेद्यत्वमित्येवमेवाङ्गीकार्यत्वात् । अन्यथा यस्य कस्यापि प्रमाणस्य प्राक् प्रवृत्तौ वेदानामधिगतार्थगन्तृत्वेन प्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गात् । नच प्रमाकरणत्वमेव प्रामाण्यमित्यदोष इति वाच्यम् । तदापि गुणयोगाय करणशुद्ध्यर्थं साधनबोधकश्रुतेरेवाश्रयणीयत्वेन प्रामाण्यस्य तत्रैव पर्यवसानात् । अत एव 'नच वेदादृते किञ्चिच्छास्त्रं ब्रह्माभिधायक' मिति कौर्मे, 'विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिना' मिति श्रीभागवते चोक्तम् । तस्माद् ब्रह्मणः श्रुत्येकगम्यत्वमेवेति सिद्धम् ।

तथा सत्येवमत्राधिकरणे सन्देहः । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति स्वरूपलक्षणं श्रुतावुक्तम्, तथा 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव' मिति च । तत्र कर्तृत्वादिप्रापञ्चिकधर्मराहित्यं प्रतीयते । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मे'ति । इदं कार्यलक्षणम् । अत्र च जगज्जन्मादिकर्तृत्वं प्रतीयते । तत्र सन्देहः । किं ब्रह्म कर्तृ ? आहोस्विदकर्तृ ? किं तावत् प्राप्तम् । अकर्त्रिति । तथाहि । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर' मिति प्रधानवाक्यम्, फलसम्बन्धात् । जैमिनिना 'कर्म फलार्थत्वा'दिति कथनेन साधने फलशेषत्वबोधनात् । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति व्याख्यानभूतर्चापि फलार्थे ब्रह्मज्ञानस्योक्तत्वाच्च । कर्तृत्वं तु परविवरणतया उक्तम् । परं किमित्युक्ते, यः सर्वान्तर आनन्दः । कथं तस्य सर्वान्तरत्वमित्याकांक्षायां तत्परिचायनाय भूतभौतिकसृष्टिमुक्त्वा गौणान्तर्यं परिहृतम्, गौणोपासनाफलं च प्रधानशेषतयोक्तम् । स च सर्वान्तरः परो ज्ञेयाद् ब्रह्मणो भिन्नः । तस्य सत्यज्ञानात्मकत्वाद् अनन्तत्वात् । एतस्य कर्मादिफलरूपानन्दात्मकत्वात्, सर्वान्तरत्वेन परिच्छिन्नत्वाच्च । ब्रह्मपदप्रयोगस्य साधारण्येऽपि स्वरूपभेदाच्छक्यतावच्छेदकभेदाच्चोभयोर्भेदः । आद्ये बृहत्त्वरूपं व्यापकत्वं शक्यतावच्छेदकम् । द्वितीये तु सर्वान्तरत्वेन बृंहणत्वरूपं पोषकत्वमिति । एवं सिद्ध उभयोर्भेदेऽन्यगतकर्तृत्वारोपोऽपि सम्भवति । ततश्च 'भृगुर्वै

वारुणि' रित्युपाख्याने गौणमेव कर्तृत्वमनूद्यते । फलाश्रवणात् । तस्मादकर्तृ ब्रह्मेति पूर्वः पक्षः ।

सिद्धान्तस्तु, कर्तृ ब्रह्म, वेदेन ब्रह्मशब्दोक्तिपूर्वकं निरङ्कुशस्य कर्तृत्वस्य तत्र बोधितत्वात् । वेदस्य परमाप्तत्वेनाक्षरमात्रेऽपि मिथ्यावादस्य वक्तुमनुचितत्वात् । अन्यथैकत्र तथात्वे ज्ञाते, अन्यत्रापि तथा शङ्कया सर्वत्रैवानाश्वासप्रसङ्गेन सर्वतन्त्रार्थ-विप्लवापातात् । नच कर्तृत्वाङ्गीकारे स्वरूपलक्षणविरोधः शङ्क्यः । सत्यत्वादिधर्मवत् कर्तृत्वस्यापि वेदेनैव बोधितत्वात् । अचिन्त्यैश्वर्यवत्त्वेन तस्योपपद्यमानत्वाच्च । अत एव 'यतो वे'ति श्रुता 'विमानि भूतानि' इत्याकाशादीन्यन्तर्भाव्य पूर्वप्रपाठकोक्तं दृढीकृतम् । सूत्रकृता चैतदभिप्रायेणैवास्येति पदमुक्तम् । नचाकाशस्थले गौणीति युक्तम् । संभूत इति सकृत् प्रयुक्त एकस्मिन्नेव पदे गौणमुख्यवृत्त्यङ्गीकारे वाक्यभेदप्रसङ्गात्, कल्पना-वैरूप्यप्रसङ्गाच्च । नच सर्वथा निर्धर्मकत्वं ब्रह्मणः शक्यवचनम् । सत्यज्ञानादिपदानां सामानाधिकरण्यभङ्गप्रसङ्गात् । धर्मभेदाभावे सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः । नचासत्यज-डसान्तव्यावृत्तत्वेनैक एवार्थस्तैरुच्यते इति वाच्यम् । व्यर्थ पौनरुक्त्यापत्तेः । तत्तद्धे-द्धर्मकत्वसिद्ध्या घट्टकुट्यां प्रभाताच्च । नचास्य कर्तृत्वस्य संसारिधर्मत्वं शङ्क्यम् । अलौकिकत्वात् । तस्य च लोकविलक्षणत्वात् । नच लक्षणद्वयस्यैकपरत्वे सर्वासु श्रुतिष्वेकमेव ब्रह्म निरूप्यत इति सिद्धम्, तथा सति अस्थूलादिवाक्येषु यावद्धर्मनि-षेधान्निर्धर्मकत्वस्य बलादापत्तिरिति वाच्यम् । तत्र लौकिकधर्माणामेव निषेधदर्श-नेन श्रौतधर्माणां निषेधानर्हत्वात्तदनापत्तेः । सत्यत्वादीनामपि लौकिकत्वादरणेन सर्व-निषेधाङ्गीकारे तु स्वरूपलक्षणस्याप्यबोधकत्वाद् ब्रह्मज्ञानस्याभावेनैतस्याः श्रुतेर्वैयर्थ्य-स्यैवापातात् । यदि च प्रपञ्चस्य व्यावहारिकत्वान्नास्त्येव लोके सत्यत्वम्, किन्तु कार-णगतमेव तत् प्रतीयत इत्युपेयते । तदा कर्तृत्वमपि तथाभ्युपेयताम् । ततश्च 'कर्ता कार-यिता हरि' रिति कल्पस्मृतिरपि स्वीकृता भवेत् । नचागत्या सत्यत्वादिकं तथास्तु, न तु कर्तृत्वमपि, आरोपन्यायेन तस्य ब्रह्मणि वक्तुं शक्यत्वादिति वाच्यम् । तथा सत्य-न्यस्य स्यात् । तत्रान्यः को वेति विचारणीयम् । यदि कर्मादिफलभूत आनन्द एव पर-शब्दे प्राप्यत्वेनोक्तोऽन्यत्वेन विभाव्यते, तदा त्वसङ्गतम् । तस्य जन्यत्वे निरङ्कुशस्य कर्तृ-त्वस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वात् । अजन्यत्वे ब्रह्मान्तरापातेन 'एकमेवाद्वितीय' मित्यादिश्रु-तिविरोधात् । तस्य प्रकृतिरूपत्वे परत्वविरोधात् । ब्रह्मज्ञानप्राप्यत्वोक्तिविरोधाच्च । तस्याः परार्थत्वेनैव सांख्यैरुपगतत्वेन तस्याः परत्वाभावाच्च । तत्प्राप्तेर्नश्वरत्वेन तैरुपगततया तस्या अमोक्षत्वापत्तेश्च । तस्या जडत्वेन विवक्षितकर्तृत्वस्याशक्यवचनत्वाच्च । नापि जीवोऽन्यत्वेनात्र वक्तुं शक्यः । अस्वतन्त्रत्वात् । अत एव न बहवोपि, ऐकमत्यासं-भवाच्च । नापि तपोयोगादिबलोपपन्नो हिरण्यगर्भादिः । प्राकृतशरीरविशिष्टस्य तस्यापि जन्यत्वात् । अशरीरत्वे कर्तृत्वस्यैवाशक्यवचनत्वात् । अतो 'विश्वतश्चक्षु' रित्यादिश्रु-

त्युक्तशरीरं ब्रह्मैव श्रुत्युक्तं कर्तृ । तद्गतमेव कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्रपञ्चे भासत इति मन्तव्यम् । न वा काचिच्छ्रुतिः कर्तृत्वं निषेधति । विरोधभानात् कल्प्या तु लौकिक-परा । सांख्योक्तानां कर्तृदोषाणामपि न संसर्गः । नाप्यनुमानेन प्रदर्शितानामपि दोषा-णाम् । तस्मादचिन्त्यैश्वर्यवत्त्वेन श्रुत्युक्तात् कारणत्वाद् ब्रह्म कर्तृ इति सिद्धम् ॥२॥

इति द्वितीयं जन्माद्यधिकरणम् ॥

तत्तु समन्वयात् ॥ ३ ॥ (१. १. ३.)

ननु कार्यलक्षणबोधिकायां 'यतो वा इमानी'ति श्रुतौ पञ्चमी श्रूयते । पञ्चम्या-स्तसिलिति । 'आत्मन आकाशः संभूत' इत्यत्रापि आत्मन इति पञ्चमी । सा च 'विभाषागुणेऽस्त्रिया'मिति सूत्रे अकारप्रश्लेषेण अगुणादपि हेतोरङ्गीकृता । यथा धूमा-द्वह्निमानित्यादिषु । एवमत्रापि ब्रह्मणो निमित्तत्वे सन्देहाभावात् तावन्मात्रमङ्गीकार्यम् । तच्च तटस्थत्वेपि सम्भवतीति तावन्मात्रमङ्गीकार्यम् ।

उपादानत्वे कर्तृत्वे च सन्देहः । तद्वाचकपदाश्रवणात् । नच तदुभयं कल्पयितुं शक्यम् । प्रमाणाभावात् । समवायित्वे तु सुतरां सन्देहः । अग्रे समवायस्य दूष्यत्वात् । अतस्तटस्थकारणत्वमेव युक्तम् । तावतैव श्रुत्युपपत्तेः । कल्पनागौरवाच्चेति प्राप्तेऽभिधीयते । तत्तु समन्वयादिति । तुः पूर्वपक्षनिरासे । निमित्तत्वमात्रस्य श्रुतिसिद्धत्वमङ्गीकृत्य ब्रह्मण उपादानत्वे कर्तृत्वे च न सन्देग्धव्यमित्येतत् तुशब्द आह । तत् समवायि कारणं जगतो ब्रह्मैव । कुतः ? समन्वयात् । अस्तिभातिप्रियत्वात्मकेनानागन्तुकानारोपितरू-पेण सर्वत्रानुवृत्तत्वात् । प्रापञ्चिकेषु सर्वेष्वेवार्थेषु घटः सन् पटः सन्नित्येवं सर्वत्रास्ति-त्वानुवृत्तेर्दर्शनाद्भातिप्रियत्वयोश्चानुवृत्तेरुपपाद्यमानत्वात्तथेत्यर्थः । नच 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्मे'ति श्रुतौ सर्वत्र नामाद्यनुवृत्तेरुक्तत्वाल्लोके प्रतिनियतरूपेण तेषामनुवृत्त्य-भावेऽपि नामत्वादिना तथा दर्शनाच्चानुवृत्तेर्न समवायितागमकमिति वाच्यम् । तेषामेव कार्यस्वरूपत्वात् । 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी'ति श्रुतौ नाम्नो रूपेषु नियमने कृत एव जगतः कार्यत्वस्य प्रतीतेस्तेषां तथात्वनिश्चयात् । एवं निश्चिते तेषां पाश्चात्यत्वे तदनुवृत्तेरागन्तुकत्वेन समन्वयरूपत्वाभावात् । नच सत्त्वरजस्तमसां कार्य-मात्रेऽनुवृत्तिदर्शनात् प्रकृतिसमन्वयस्यै[illegible]सिद्धत्वेन अस्तित्वादिसमन्वयस्य न ब्रह्ममात्र-समवायितागमकत्वमिति शङ्क्यम् । सिद्धान्ते प्रकृतेरपि ब्रह्मांशत्वेन तदन्वयस्याबाधक-त्वात् । नचात्र मानाभावः । 'प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः । सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्मैतत्त्रितयं त्वहम् । तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम् । वाङ्मनोगोच-रातीतं द्विधा समभवद् बृहत् । तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका । ज्ञानं त्वन्य-तमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते' इति चैकादशे भगवतैवांशत्वबोधनात् । नापि प्रकृ-त्यन्वये मानाभावः शङ्क्यः । प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकानां प्रकृतिस्वरूपभूतानां गुणाना-

मनुवृत्तेरनुमानादिसिद्धत्वात् । महदादि कार्यम्, सुखदुःखमोहगुणकद्रव्यजन्यम् । कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहगुणकद्रव्यत्वात् । भर्तृसपत्नीपुरुषान्तरादिसुखदुःखमोहजनकस्त्रीवसनादिवदित्यनुमानेन सिद्धत्वात् । नच सुखादीनामान्तरत्वेनानुभवात् स्त्र्यादीनां सुखादिगुणकत्वे मानाभावः शङ्क्यः । स्त्रीचन्दनवसनादिजन्यस्य सुखस्य तत्तदवयवेषु बहिरेवानुभवात् । अन्यथा 'देहे मे सुखं शिरसि मे वेदना' इत्यनुभवापलापप्रसङ्गात् । तथाच प्रयोगः । सुखादयो न साक्षादात्मविकाराः । बाह्यत्वे सत्यात्मनि प्रतीयमानत्वात् । गौरत्वादिवदिति । नचैवं सति स्त्र्यादीनां सुखादिजनकत्वमेव, न तु तद्गुणकत्वमिति शङ्क्यम् । विमताः सुखादिगुणकाः । सुखादिजनकत्वात् । प्रकाशशैत्यादिजनकवह्निचन्दनादिवदित्यनुमानसिद्धत्वात् । एवं तेषां तद्गुणकत्वे सिद्धे तेषां द्रव्याणां तद्गुणात्मकत्वमप्यनुमेयम् । विमताः सुखाद्यात्मकाः । सुखाद्यविनाभूतत्वात् । तन्मात्राविनाभूतमहाभूतवत् । तथा, सुखादयो द्रव्यसूक्ष्मावस्थारूपाः । तदविनाभूतत्वे सति तज्जनकत्वात् । महाभूताविनाभूततज्जनकतन्मात्रवदिति । नच प्रथमक्षणे द्रव्यं यावद्गुणशून्यमेवेति वाच्यम् । श्रुतिस्मृतिप्रत्यक्षबाधितत्वेन अभ्युपगमैकशरणत्वात् । अपाकजस्य रूपादेरुत्पत्तिदशायामप्यनुभवादिति । एवं सुखादावपि बोद्धव्यम् । पुत्राद्युत्पत्तिकाल एव पुरुषभेदेन सुखाद्युत्पादनदर्शनेन तस्य बालादेस्तदानीमपि सुखादिगुणकत्वनिश्चयेन तदविनाभावनिश्चयादिति । 'तमो वा इदमेकमेवाग्रे आसीत्, तत् परे स्यात् । तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयाती'त्यादि मैत्रायणीये, तथा श्वेताश्वतरादौ च श्रावणात् । पुराणेषु मन्वादौ च तथा स्मरणाच्च । तस्मात् प्रकृतेरन्वयो निःसन्दिग्धः । नचैवं सति तेनैव रूपेणान्वयोऽस्तु, किमस्तिभातिप्रियत्वाग्रहेणेति वाच्यम् । प्रकृतिरपि जन्यत इति तद्रूपस्यापि आगन्तुकत्वात् । पुरुषादौ तद्रूपत्वानुवृत्त्यभावाच्च । नच भातिप्रियत्वयोरननुवृत्तिः शङ्क्या । पदार्थमात्रस्य ज्ञानेनैव प्रकाशात् । प्रापञ्चिकपदार्थमात्रस्य ज्ञानजनकतया सांख्योक्तप्रकारेणैव ज्ञानाविनाभावज्ञानात्मकत्वयो. सिद्धौ सम्यगनुवृत्तेः सुखेनैव सिद्धेः । प्रियत्वानुवृत्तिस्तु सुखानुवृत्त्यैव साधितचरा । तथापि सात्र नोपयुज्यते । ज्ञानेन तद्बाधात् । निरुपाधिप्रियत्वस्यात्मनि सत्त्वं निश्चाय्य तत 'इदं सर्वं यदयमात्मे'ति श्रावणेन मैत्रेयीब्राह्मणे आत्मरूपतयैव सर्वत्र प्रियत्वस्याभिप्रेतत्वबोधनात् । नच सर्वस्य ब्रह्मोपादेयत्वे परिच्छेदोऽप्रियत्वं च न भासेताम्, कारणधर्माणां कार्ये भानस्यावश्यकत्वादिति वाच्यम् । नियमाभावात् । विभागेनापरिच्छेदतिरोभावस्य साङ्ख्येनाप्यङ्गीकारात् । संयोगेन महत्त्वस्य नैयायिकैरप्यभ्युपगमात् ।

सिद्धान्ते तु 'वाचारम्भणमात्रत्वाद् भेदः केनोपजायते' इति वाक्योक्तरीतिकज्ञानेन विकल्पबुद्धेर्बाधस्य श्वेतकेत्वादिषु सिद्धत्वात् परिच्छेदादिभानस्य भ्रान्ततया ब्रह्मोपादेयत्वभङ्गाभावात् । नच परिच्छेदस्याज्ञानिकत्वे 'सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवाः सर्वमयास्तथाप्यल्प.' इति तापनीयस्थाल्पपदस्य व्याकोप इति वाच्यम् । विभुत्वाविरुद्धस्यैव

तस्य तत्र विवक्षितत्वात् । सर्वमयपदोक्त्या तथावगमाद्, युक्तिविरोधस्यात्र भूषणत्वात् । अतो विभुत्वविरुद्धस्यैव तस्याज्ञानिकत्वमिति न कश्चिद् दोषः । नाप्येकत्वविरुद्धस्य नानात्वस्य भानान्न ब्रह्मोपादेयत्वमिति शङ्क्यम् । तस्यापि 'बहु स्या'मिति श्रुत्यैच्छिकत्वश्रावणात् । एवमुच्चनीचत्वादिभानेऽपि बोध्यम् । 'प्रजायेये'ति श्रुत्या तस्याप्यैच्छिकत्वबोधनात् । अत एवैकादशस्कन्धे विंशैकविंशयोर्गुणदोषदर्शनस्य कर्मनियमार्थत्वमुक्तम् । तथा 'किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः । गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जित' इति वाक्य उक्तम् ।

यद्वा । किमनया कुसृष्ट्या । प्रजायेयेतीच्छयैवोच्चनीचभावसिद्धौ जडे सदंशस्य जीवे चिदंशस्यान्तर्यामिण्यानन्दांशस्य प्राकट्येन समन्वयस्य सिद्धत्वेन अंशान्तरस्य क्वचित्क्वचिदप्रतीतौ, गुणभावेन प्रतीतौ वा ब्रह्मणः समवायित्वस्य दुरपोहत्वमेवेति ।

नचैवं प्रकृतिपरमाण्वादीनां समवायित्वभङ्गप्रसङ्गः । पटादौ सूत्रादीनामिवावान्तरसमवायिताया अङ्गीकारात् । नापि परमाण्वादिभिरेव निर्वाहे किं ब्रह्मणः समवायित्वाङ्गीकारेणेति शङ्क्यम् । एकस्मिन् सर्वानुस्यूते समवायिनि सम्भवति सत्यनेकतत्कल्पनस्य गौरवादिदोषग्रस्तत्वेन न्यायविरुद्धत्वात् । परमाण्वादीनां नैयायिकादिरीत्या सत्ताङ्गीकारस्य श्रुतिप्रत्यक्षविरुद्धत्वात् । अनवस्थापरिहाराय तदुपगमस्यापि कल्पनामात्रशरणत्वात् । आदिसृष्टेर्विभागजन्यत्वस्यैव श्रुत्यादिसिद्धत्वेन द्व्यणुकादिक्रमजन्यत्वस्यैवासङ्गतत्वादिति । नच शुक्तिरजतादौ स्वाप्निकेषु चास्तीत्यादिप्रतीतेस्तेषु सदन्वयो वक्तव्यः, तथा सति तस्यापि ब्रह्मकार्यजगत्तुल्यतया सत्यत्वापत्तिः । सा तु प्रत्यक्षबाधिता । तस्मिन् ब्रह्मकार्यतामपि बाधत इत्यकार्येऽपि सदन्वयात् कथं ब्रह्मणः समवायित्वं तेनावगन्तुं शक्यमिति वाच्यम् । तादृशेषु सत्ताया आरोपितत्वात् तत्रारोपितरूपेण यः सदंशान्वयस्तस्य समन्वयरूपत्वाभावेन समन्वये दोषसंसर्गाभावात् ततः समवायित्वस्य सुखेनावगन्तुं शक्यत्वादिति । अयमेव समन्वयोऽस्मत्प्रस्थाने समवायपदेन परिभाष्यते, न तु वैशेषिकप्रतिपन्न इति बोध्यम् । अन्यैस्तु तादात्म्यपदेन आगन्तुकरूपेण भेदसहिष्णुत्वेऽप्यनागन्तुकरूपेणाभेदादिति । एतस्य सम्बन्धत्वमैच्छिकभेदोत्तरं द्विनिष्ठत्वे विशिष्टबुद्धिनियामकत्वादवगन्तव्यम् । नचात्र विषयवाक्याभावः शङ्क्यः । एतस्य सर्वस्यार्थस्य 'तदात्मानँ स्वयमकुरुते'त्यविकृतस्यैकस्यैव कर्मत्वबोधने स्पष्टीकृतत्वात् ।

नच तत्रात्मपदेन चिदचिद्रूपं ब्रह्मणः शरीरमेव परामृश्यते इति वाच्यम् । विरुद्धधर्माश्रयत्वेनैवोपपत्तौ लक्षणाया अनुचितत्वात् । 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय'मित्यादिष्वादिसृष्टिप्राक्कालवृत्तान्तबोधकवाक्येषु एवकारादिभिरितरव्यवच्छेदेन तदानीं चिदचिच्छरीरस्य वक्तुमशक्यत्वात् । नच तत्र तैः शरीर्यन्तरं मुख्यान्तरं मिषदन्तरं वा व्यवच्छिद्यते, न तु शरीरममुख्यममिषद्वेति वाच्यम् । एवकारेणैव स्वविवक्षितानां व्यवच्छेदसिद्धेरद्वितीयपदवैयर्थ्यापत्तेः । 'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः,

सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्य'दित्यनुवीक्षायामन्यदर्शननिषेधस्य विरोधापत्तेश्च । नच तत्रान्यपदेन शरीरी वा विशिष्टो वा परामृश्यते, अतो न विरोध इति वाच्यम् । तत्र तादृशपरामर्शस्याशक्यवचनत्वात् । तथाहि । तत्रात्मा स्वशरीरं किं शरीरत्वेनं वा विशेषणत्वेन वामिषत्त्वेन वा परामृशति, आत्मत्वेन वा । नाद्यास्त्रयः । तस्य पार्थक्ये सत्यात्मानुवीक्षणस्य भ्रमत्वापत्तेः । स्वान्यादर्शनेनात्मनोऽज्ञत्वापत्तेश्च । न तुरीयः । अभ्रान्तस्य तथा ज्ञानानुपपत्तेः । नच सौबालवाक्ये प्रलयप्रकरणे 'तमः परे देवे एकीभवती'त्येकीभावश्रावणेन स्वशरीरतया विनिर्देशानर्हातिसूक्ष्मदशापत्तौ पार्थक्यस्य शरीरत्वस्य चाभावेन नात्मत्वप्रकारकज्ञानानुपपत्तिगिति वाच्यम् । तस्य शरीरत्वाभावे शरीराविनाभावोपगमबाधप्रसङ्गात् । तादृशज्ञानस्य भ्रमत्वे तस्य वामदेवादीनां ज्ञानिनां च भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । प्रमात्वे त्वात्मत्वेनैव जानातीति तेन प्रमाणज्ञानेनैवाभेदसिद्धौ भेदापादकप्रमाणाभावेन केवलब्रह्माद्वैतवादस्यैव सिद्धेः । सौबालवाक्य एव 'पृथिवी अप्सु लीयत' इत्यारभ्य 'अक्षरं तमसि लीयत' इत्यन्तं लयपदमुक्त्वा, अग्रे 'तमः परे देवे एकीभवती'त्येकीभावश्रावणेन शब्दान्तरात् सिद्धे प्रलययोः स्वरूपभेदे प्रथमस्य नादेयसामुद्रसलिलवदविभागापत्तिरूपताया द्वितीयस्य करकाणां जलैक्यवत् पूर्वभावापत्तिरूपताया एव युक्ततयापि तथैव सिद्धेश्च । नच वैपरीत्येपि प्रलयस्वरूपभेदे सिद्धे नैवमिति वाच्यम् । 'लीङ् श्लेषण' इति धातुपाठोक्तेर्लयस्य श्लेषरूपत्वेनाविभागरूपतायाः पूर्वत्रैव युक्तत्वादिति । विशेषस्तु भाष्यविभागादवधातव्यः । किञ्च, गार्गीब्राह्मणे भूतभव्यस्याकाशे आकाशस्य चाक्षरे ओतप्रोतत्वं श्रावितम् । तच्च समवायित्वस्यैव लिङ्गम् । दशमस्कन्धे 'नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे । ओतप्रोतमिदं विश्वं तन्तुष्वङ्ग यथा पट' इत्यादिषु तन्तुपटदृष्टान्तात् । आथर्वणानां गोपथब्राह्मणारम्भे च 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, स्वयं चैकमेव, तदैक्षत महद्वै यक्षं तदेकमेवास्मि, हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं तदेव निर्मम' इति द्वितीयस्य ब्रह्ममात्रत्वश्रावणपूर्वकं सृष्टिरुक्ता । तृतीयस्कन्धे च 'विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया' इति विश्वस्य ब्रह्मतन्मात्रत्वमुक्तम् । मात्राशब्दस्तन्मात्रशब्दश्च द्रव्यसूक्ष्मे रूढः । 'तस्य मात्रागुणः शब्दो लिङ्गं यद् द्रष्टृदृश्ययोरिति । ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचन'मिति पौराणिकप्रयोगात् । अतोऽत्रापि केवलस्य ब्रह्मण एव जगत्पूर्वरूपत्वबोधनेन 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसी'दित्यादिष्वात्मपदस्य केवलात्मवाचकतया विशेषणान्तरसंग्रहाक्षमत्वे शुद्धं ब्रह्मैव समवायि । नच तदानीं निर्विशेषत्वनिराकारत्वाद्यापत्तिः । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति लक्षणवाक्येन धर्माणां 'कृत्स्नः प्रज्ञानघन' 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाती'त्यादिभिः सच्चिदानन्दाकारस्य च बोधनादिति । तस्मादात्मकरणश्रुत्या शुद्धस्य ब्रह्मणः समवायित्वं निष्प्रत्यूहमिति सिद्धम् । नन्वत्रोपादानव्यवहारं परित्यज्य समवायिपदेन कुतो व्यवहार इति चेद् ? उच्यते । उपादानव्यवहारस्य परिच्छिन्ने कर्तृक्रियया व्याप्त एव प्रायो दर्शनात् । श्रीभागवते

'गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतीतितः । पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयाऽसृज'दिति । 'प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः । सतोऽभिव्यञ्जकःकालो ब्रह्मैतत्त्रितयं त्वहम्' इति स्वांशविशेषस्य कालस्य तादृश्याः प्रकृतेश्च पर्यायेणोपादानत्वकथनेनापि तथावसायाच्चेति न किमप्यनुपपन्नम् ।

नन्वभिन्ननिमित्तोपादानवादिभिः सर्वैरेकदेशिभिः शास्त्रयोनित्वसूत्रविषयवाक्येषु 'सदेव सौम्ये'ति छान्दोग्यवाक्यमुपन्यस्य तद्विचारेणैव सर्वविधां कारणतां ब्रह्मणः समर्थयद्भिरस्मिन् सूत्रे समन्वयपदेन वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि तात्पर्येण सम्यगन्वयो व्याख्यातः । स एव चाग्रे सूत्रेषु दृश्यते । अयमध्यायोऽपि समन्वयाध्याय इति सर्वेषु तत एव प्रसिद्धः । तत् कथं सोऽत्र नाद्रियत इति चेद् ? उच्यते । योनिशब्दो निमित्तकारणे रूढः । 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' । 'तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता' 'एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी' 'अस्याननं योनिरुदारवाचाम्' इत्यार्षे पौरुषे च ग्रन्थे तत्रैव प्रयोगात् । अतस्तस्मिन् सूत्रे छान्दोग्यादिवाक्यानां विषयत्वेनोपन्यास एवासङ्गतः ।

किञ्च । निर्विशेषवादिमते वेदान्तवाक्यसमन्वयो निर्विशेषे वक्तव्यः । स तु सूत्रे न स्फुटो दृश्यते । अत उपपादनेन समर्थनीय इति साध्यसमत्वेन प्रतिवादिनिग्रहासमर्थः । एवं मतान्तरेऽपि सर्वस्य वेदस्य साध्यार्थपरत्वं मन्वानानां मीमांसकानां तदनुसारिणां च निरासाय प्रयुक्त इति स्फुटति । तत्रेदं विवेचनीयम् । किमयं हेतुरविप्रतिपन्नः, सिद्धः, उत साध्यः । तत्र नाद्यः । तथा सति पूर्वपक्षस्यैवानुत्थानप्रसङ्गात् । नेतरः । अस्मिन् दर्शने सन्देहनिराकरणद्वारा तस्यैव प्रतिपाद्यत्वात् । अग्रिमग्रन्थवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । न तृतीयः । अनुपयोगात् । नापि समन्वयप्रतिज्ञागर्भितहेतुत्वम् । प्रतिज्ञाया बुद्धिस्थत्वेन वादिनिग्रहवेलायां साधनाभावेनासिद्धतयानुपयोगतादवस्थ्यात् । अतस्तथा व्याख्यानस्यायुक्तत्वान्नाद्रियत इति । एवं मतान्तरे बोध्यम् ।

ननु ब्रह्मणः साक्षात्समवायित्वमयुक्तम् । विकृतत्वापादकत्वात् । कार्यस्यानर्थरूपत्वेन कचित्कुत्सितत्वभानेनासङ्गतत्वाच्च । अतो मायाया वा, शरीरस्य वा, भिन्नाया एव प्रकृतेर्वा, भूतानां वा तथात्वं वक्तव्यम् । ब्रह्मणस्तु ताटस्थ्येन वा, किञ्चिद्द्वारा वा तत् । न वा श्रुतिसमन्वयस्य, कथञ्चिन्निमित्ततामात्रेणापि सिद्धत्वात् । अतोनारम्भणीयमेवैतत् सूत्रं भवन्मते स्यादिति चेत् ? न । सूत्रकारस्य सर्वोपनिषत्समाधानार्थं प्रवृत्तत्वेन 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' 'इदं सर्वं यदयमात्मे'त्यादीनां पूर्वोक्तानामन्येषां च विचारस्यावश्यकतया सूत्रारम्भस्योचितत्वात् । नच विकृतत्वापत्तिः । अविकृतस्यैव परिणामात् । युक्तिविरोधस्यात्र भूषणताया अग्रिमाधिकरणे वक्तव्यत्वात् । 'तदेजति तन्नैजति, आसीनो दूरं व्रजति, शयानो याति सर्वतः,' 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् यः पृथिवीमन्तरः' 'प्रादेशमात्रमभिविमान'मित्याद्यनेकश्रुतिसिद्धस्य विरुद्धधर्माधारत्वस्य युक्ति-

त्वेन स्फुटत्वाच्च । नापि कुत्सितत्वापत्तिः । तस्य भ्रान्तबुद्धिकल्पिततायाः प्रागेव दर्शितत्वात् । नचैवं यथाश्रुतार्थग्रहणे सूत्रप्रवृत्तिवैयर्थ्यमिति शङ्क्यम् । प्रपञ्चवैलक्षण्यप्रतिपादकानामस्थूलादिवाक्यानां दर्शनेनोक्तवाक्यानां तद्विरुद्धत्वे भाते स्वरूपापेक्षया कार्यस्य गौणत्वात् प्रपञ्चरूपत्वप्रतिपादकानां कश्चिद् बाधं कल्पयेदिति तन्निवारणायास्य प्रवृत्तत्वेन सार्थक्यात् । किञ्च । अन्यपदार्थसृष्टौ वैषम्यनैर्घृण्ये स्याताम् । जीवकर्माद्यधीनत्वे 'सापेक्षमसमर्थं भवती'त्यनीशता च भवेत्, तथा सर्वमाहात्म्यनाशश्च स्यादित्येतन्निवारणायापि तथात्वादिति । विशेषो भाष्यविभागे प्रपञ्चित इति उपरम्यते ॥३॥

इति तृतीयं समन्वयाधिकरणम् ॥ ३ ॥

एवं जिज्ञासासूत्रे ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय किंलक्षणं ब्रह्मेत्याकांक्षायां जन्मादिसूत्रद्वयेन वेदप्रमाणको जगत्कर्ता तत्समवायी चेत्युक्तम् । तत्र पूर्वसूत्रे जिज्ञासापदमहिम्ना ज्ञानेच्छासारणेन 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानता'मिति ब्रह्मस्वरूपमर्यादाबोधनाद् ब्रह्मज्ञानोत्तरमपि तस्याः सर्वदैव कर्तव्यता बोधिता। द्वितीयसूत्रे स्वरूपलक्षणसूचनव्यतिरेकेणैव कार्यलक्षणकथनेन तस्य गौणत्ववारणात् तत्करणावश्यकता सूचिता । तृतीयसूत्रे समवायित्वनिर्णायकहेतुकथनेन विरुद्धधर्माधारत्वबोधनाद् विचारकरणावश्यकता च सूचितेति त्रिसूत्र्यां सर्वोऽपि शास्त्रार्थः संग्रहेणोक्तः । स एवाग्रे विस्तरेण वक्ष्यते। तत्र ब्रह्मणि चतुर्धा विचारबोधनाय शास्त्रे चत्वारोऽध्यायाः । तत्र ब्रह्मस्वरूपस्य सर्वोपजीव्यत्वात् प्रथमेऽध्याये स्वरूपविचारः प्रमाणबलेन । ततः स्वरूपे विचारितेऽपि यदि प्रमाणयोरितरेतरविरोधः स्याद्, यदि च मतान्तरनिराकरणं न क्रियते, तदोक्तं वक्ष्यमाणं च न दृढीभवेद्,अतो द्वितीये प्रमाणविरोधपरिहारो मतान्तरनिराकरणं च । ततो दृढीभूते पूर्वोक्ते तदनन्तरं तृतीये साधनानि । ततस्तुरीये फलमिति अध्यायार्थः । तत्र प्रथमाध्याये स्वरूपवाक्यानि विचार्याणि । तानि सन्दिग्धनिःसन्दिग्धभेदेन द्विविधानि । तत्र निर्णयस्य सन्देहनिरासार्थत्वान्निःसन्दिग्धेषु च तदभावात् तन्निर्णयो न वक्तव्य इति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यादीनां स्वरूपवाक्यानां विचारोत्र न क्रियते । सन्दिग्धानि तु चतुर्विधानि । कार्यप्रतिपादकान्यन्तर्यामिप्रतिपादकान्युपास्यरूपप्रतिपादकानि प्रकीर्णकानि चेति यथाक्रमं प्राथमिकेषु चतुर्षु पादेषु विचार्यन्ते । तत्र सच्चिदानन्दरूपेण कारणं निर्दिश्य कार्यप्रतिपादकानि, आकाशवायुतेजोवाचकशब्देन कारणं निर्दिश्य कार्यप्रतिपादकानीत्येवं षड्विधानि कार्यद्वारा स्वरूपबोधनायाद्ये पादे विचार्यन्ते । तेन लोके शक्तिसङ्कोचेनान्यवाचकान्यपि पदानि साहजिकया शक्त्या ब्रह्मैवाभिदधतीति श्रुतेस्तात्पर्यनिर्णयेन फलिष्यति । तत्र विचारस्य शास्त्रार्थत्वाज्जिज्ञासासूत्रे विषयिविषयभावः शास्त्रसङ्गतिः । शास्त्रस्याध्यायेषु, तेषां पादेषु, पादानां स्वावयवेषु च सामान्यविशेषभावः । अधिकरणानां परस्परं भिन्नाः सङ्गतयः । सङ्गतिर्नाम सावधानेन पुंसा प्रयुज्यमानं यद्वाक्यं तत्प्रयोजकत्वेन योऽर्थः स्मृतः, तस्योपेक्षानर्हत्वमेव । उपेक्षानर्हता च

क्वचिद्धेतुतया क्वचिदुपोद्घातेनेत्येवमनियतैर्धर्मैः । वेदान्तदर्शने तदियत्तानियामकस्यानुक्तत्वादिति । अधिकरणं तु विषयसंशयपूर्वपक्षोत्तरसङ्गत्याख्यपञ्चाङ्गघटितं वाक्यम् । तत्रापाततः प्रतीतः सन्दिग्धोऽर्थो विषयः । संशयश्च एकधर्मिकं विरुद्धनानाकोट्यवगाहि ज्ञानम् । पूर्वपक्षः प्रतिवादिमतम् । उत्तरं तन्निरासेन निर्णयः । सङ्गतिस्तूक्तैवेत्येवं बोध्यम् । तत्रोक्तविधेषु वाक्येषु पूर्वसूत्राभ्यां कृते लक्षणविचार एव कार्यस्य सत्ताबोधनात् तत्कारणे सदात्मकत्वमर्थादेव सिद्धम्, अतः 'सदेव सौम्येदमग्र आसी'दिति निरंकुशजगत्कर्तृत्वादिबोधके वाक्ये सत्पदेन ब्रह्मैवोच्यत इति तद्वाक्यं ब्रह्मस्वरूपपरमिति निर्णयः सिद्धः । अतः परं चिद्रूपस्य ज्ञानप्रधानस्य कर्तृत्वादि निर्णयार्थमीक्षत्यधिकरणमारभ्यते । तत्र षडिन्द्रियाण्यात्मा चेति सप्त ज्ञानजनकानि, अतस्तत्र सप्त सूत्राणि । तेनान्यत्रसप्तद्वारज्ञानवाचका अपि शब्दा वेदान्तवाक्यविशेषेषु परब्रह्मवाचका इति फलिष्यति।

पूर्वसूत्रे ब्रह्मणो विचार्यत्वं साधितम् । तत्रैवं सन्देहः । 'तमेव भान्तमनुभाति विश्व'मित्यादिश्रुतिषु ब्रह्मणः स्वप्रकाशतया निरूपितत्वेन प्रमाणानामपि तदेवानुग्राहकमिति सर्वप्रमाणानां प्रकाश्यत्वेन तदविषयत्वात्, तत्प्रकाश्यत्वाङ्गीकारे स्वप्रकाशत्वविरोधाद्, विचारस्य च मनसा कर्तव्यतया तद्विषयत्वाभ्युपगमे, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतिविरोधाच्च न विचार्यम्, आहोस्विद् विरोधपरिहारेण विचार्यमिति । तत्र किं तावत् प्राप्तम् । न विचार्यमिति । कुतः ? प्रमाणानि प्राप्यप्रकाशकारीणि सहकारिसापेक्षाणि च । प्राप्तिस्तु सन्निकर्षेण सहकार्यनुग्रहेण च । ब्रह्मणस्तु स्वप्रकाशत्वेनेतराप्रकाश्यत्वान्मनोनिवृत्तिश्रुत्या च सर्वप्रमाणाविषयत्वाद् 'यं न स्पृशन्ति न विदु'रित्यादिस्मृत्या चासन्निकृष्टत्वाद् वाङ्निवृत्तिश्रुत्या सत्यज्ञानादिपदैरप्यवाच्यत्वेन तल्लक्ष्यत्वात्, प्रमाणानां मनोमात्रेन्द्रियप्राणजन्यपुरुषप्रवृत्तिरूपव्यापाराख्यव्यवहार्यत्वेन सर्वव्यवहारातीते ब्रह्मणि तेषां प्रवृत्तिराहित्याच्च । एवं ब्रह्मणोऽविचार्यत्वे सिद्धे तत्प्रमितिफला वेदान्ता अप्यविचार्याः । ननु ब्रह्मणः सर्वव्यवहारातीतत्वमवाङ्मनसगोचरत्वं च वेदान्तेभ्य एवावगम्यत इति ब्रह्मणोऽप्रमेयत्वज्ञानायैव तेषां विचारोऽस्त्विति चेद् विभाव्यते, तदा तु स्वव्यापारेण ब्रह्म समर्पयन्तोऽपि ब्रह्मणोऽवाच्यत्वं वदन्तीति बाधितार्थत्वादेवाविचार्या इति पूर्वपक्षे । उच्यते ।

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ४ ॥

न विद्यते शब्दो बोधकव्यापारवान् पदसमूहो यत्रेत्यशब्दं सर्ववेदान्ताप्रतिपाद्यं ब्रह्म न भवति । कुतः ? ईक्षतेः । 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय'मित्युपक्रम्य, 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति, तत् तेजोऽसृजते'ति । तथान्यत्र, 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत्, स ऐक्षत लोकानुत्सृजा इति, स इमाँल्लोकानसृजते'ति । तथेतरत्र, ' स ईक्षां चक्रे, स प्राणमसृजते'ति । एवमेतेषु छान्दोग्यैतरेयप्रश्नोपनिषद्वा-

क्येषु ‘इदमेवं करिष्यामी’त्यध्यवसायात्मकालोचनरूपा या ईक्षा तत्प्रत्यायकादीक्षतिधातुनिर्देशात् । तथा च ब्रह्मणः सर्वप्रमाणागोचरत्वादेरीक्षायाश्च श्रुतिसिद्धत्वेन समानबलतया चैकतरबाधस्यानुचितत्वाद् विरुद्धधर्माधारत्वस्य ‘तदेजति तन्नैजति, अन्यदेव तद्विदितादथो अविदिता’दित्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणि बोधितत्वेन भूषणत्वात्, स्वात्मानमेवैनं नानाभूतं नानाप्रकारं करिष्यामि, सर्वव्यवहारप्रमाणातीतोऽपि लोकसृष्टिद्वारा व्यवहार्यो भविष्यामीतीक्षाकारसिद्धौ तादृशेक्षयैव विरोधे परिहृते सुखेनैव ब्रह्मणो विचार्यत्वसिद्धिः । वेदान्ताश्च भगवद्वाक्यरूपाः । भगवाँस्तु यथा यथा कृतवाँस्तत्तत्तथोक्तवानिति वेदान्तानामपि बाधितार्थवक्तृत्वाभावेन विचार्यत्वसिद्धिः । एवञ्च यत्र यत्रैवं पूर्वमव्यवहार्यत्वेन प्रतिपाद्यत्वाभावस्तत्र तत्रैवमीक्षितृत्वेन प्रतिपाद्यत्वाभाव इति व्याप्तौ सिद्धायां, ब्रह्म पूर्वं सर्वव्यवहारप्रमाणाद्यतीतमपि पश्चात्तद्विषयम् । एवमीक्षितृत्वात् । यन्नैवं, तन्नैवम् । जीववत् । यद्यपि, ब्रह्म पूर्वोक्तप्रकारकम् । ईक्षितृत्वात् । यदेवं, तदेवम् । जीववदिति केवलान्वयी हेतुर्वक्तुं शक्यः, तथापि जीवस्यैवं प्रकारेण श्रुत्यानुक्तत्वात् प्रकारपूर्वकः केवलव्यतिरेक्येव हेतुर्युक्त इति बोध्यम् । उक्तरूपेक्षाया आकारस्तु ईश्वरेच्छायाः फलबलकल्प्यत्वात् तत्तत्प्रकरणोक्तकार्येभ्य उन्नीयते इति च । तथा सर्वव्यवहारातीतत्वादिकं चिद्रूप एवेति तस्य कारणत्वसमर्थने चिद्रूपस्य तथात्वमित्यपि । नच भवत्वेवमीक्षणेन मूलकारणत्वं चेतनत्वं च । तथा सति, मूलकारणं ब्रह्म चेतनम् । ईक्षितृत्वात् । जीववदित्यनुमानात् प्रकृतिवारणेन साङ्ख्यनिराकृतिरेव सेत्स्यति, न तु व्यवहार्यत्वमपि । अपरिदृश्यमानत्वादश्रुतत्वाच्चेति वाच्यम् । स्वांशभूतजीवोपयोगिप्रजाशब्दवाच्यशरीराणां तत्पुरुषार्थसाधकानां लोकादीनां च सृष्ट्या तत्कर्तृत्वेन तत्तत्फलदातृत्वेन च व्यवहार्यत्वस्य सुखेनैव सिद्धेः । एवं सृष्टिप्रकरणविचारेण व्यवहार्यत्वस्य सिद्धावीक्षाया एव हेतुत्वं सिद्धमिति प्रमाणविषयत्वेऽपि सैव हेतुरिति बोद्धव्यम् । ततश्च प्रमाणबलेनाविषयः, स्वेच्छया विषयश्चेत्यप्युक्तं भवति । ननु सर्वप्रमाणविषयत्वे दूषिते यदिच्छया तथात्वं साध्यते, तन्न सूत्रकृतः संमतम् । यदि तथा स्यात्, तदा नाप्रमेयमीक्षतेरिति सूत्रयेत् । अतोऽत्र नाशब्दमिति साध्यनिर्देशात् प्रधाननिरास एव सूत्राशय इति चेत् ? न । वेदभिन्नानां सर्वेषां प्रमाणानां प्रत्यक्षोपजीवकत्वेन तत्प्रामाण्यस्य च गुणसापेक्षत्वेन गुणस्य च सत्त्वजन्यत्वेन सर्वेषां प्रमाणानां सत्त्वगुणसापेक्षत्वात् सत्त्वशुद्धेश्च वेदोक्तकरणेन भवनात् सर्वेषां तेषां वेदोपजीवकत्वेन अनपेक्षप्रामाण्यस्य गुणातीते भगवन्निःश्वासरूपे वेद एव व्यवस्थितेस्तस्यैव साध्यत्वेन निर्देशस्यौचित्यात् । ननु तर्हि नावेदमित्येवोक्तं स्यादिति चेत् ? न । वेदव्याख्यानानुव्याख्यानानामपि भगवन्निःश्वासत्वश्रावणात् तत्संग्रहार्थं तथानुक्तेः । एवमत्र शुद्धशब्दप्रतिपाद्यत्वसमर्थनेन ‘मनसैवानुद्रष्टव्य’ इति श्रुत्युक्तं शुद्धमनोदृश्यत्वं, ‘कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष’दित्युक्तं शुद्धचक्षुर्दृश्यत्वमपि समर्थितम् ॥ ४ ॥

एवमनेन सूत्रेण ब्रह्मणो वेदान्तानां च विचार्यत्वे साधिते किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति । ननु वेदे ‘स आत्मानँ स्वयमकुरुत’ इत्यादिषु कर्तृत्वादिकं ब्रह्मणः प्रतीयते । ‘निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जन’मित्यत्र समवायित्वविरुद्धे निष्कलत्वनिरवद्यत्वे, कर्तृत्वविरुद्धे निष्क्रियत्वशान्तत्वे च प्रतीयेते । तत्र सर्वभवनसमर्थत्वाद्विरुद्धधर्माश्रयत्वेन निर्णयः, अन्यतरबाधेन वेति प्रकारद्वये संभवति सत्यप्यलौकिकापेक्षया लौकिकस्य जघन्यत्वाल्लोकसिद्धकर्तृत्वादेर्बाध एव युक्तः । अन्तरङ्गबहिरङ्गन्यायेनोत्पत्तिशिष्टोत्पन्नशिष्टन्यायेनोपजीव्योपजीवकभावविचारेण बुद्धावारोहात् । ततश्च सत्यस्वरूपादन्यदेव शबलं स्वरूपं कर्तृत्वादिवाक्येषूच्यते । ईक्षत्यादेर्गुणसम्बन्धेनापि शक्यवचनत्वादिति स्वयमेवाशङ्क्य परिहरति सूत्रकारः ।

गौणश्चेत्, न, आत्मशब्दात् ॥ ५ ॥

ईक्षतिना युक्तः परमात्मा, गौणः प्रकृतिगुणभूतं यत् सत्त्वं तत्संबन्धवानिति चेत्, न । तथा वक्तुं न शक्यते । कुतः ? आत्मशब्दात् । ‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसी’ दित्युपक्रम्येक्षतिश्रावणेनेक्षितर्यात्मशब्दप्रयोगात् । सर्वत्र वेदान्तेषु आत्मशब्दो निर्गुणवाचकत्वेनैव सिद्ध इति गुणसंबन्धस्यात्मपदेन निवारणे जगत्कर्ता गौण इति न वक्तुं शक्य इत्यर्थः । नन्वेवमङ्गीकारे कल्पनाबाहुल्यादन्यतरबाधपक्ष एव युक्त इति चेत्, न । कारकमात्रस्य स्वव्यापारं प्रति स्वातन्त्र्ये सत्यपि यत् कर्तृलक्षणतया स्वातन्त्र्यस्य कीर्तनं तत् कारकान्तरनियामकतयैव, अतो गुणानां कर्तृत्वप्रयोजकत्वाङ्गीकारे तेषामेव सृष्ट्यादिकार्ये स्वातन्त्र्येणात्मनियामकतया सगुणस्य स्वातन्त्र्याभावेनाकर्तृत्वापादकत्वात् । नच गुणानां जडत्वेन चेतनाधीनत्वान्न सगुणस्य स्वातन्त्र्यहानिरिति वाच्यम् । तथा सत्यादिसृष्टेरपि प्राक्काले गुणसत्तासिद्ध्या ‘सदेव सौम्ये’त्यादिवाक्यस्य विशेष्यान्वितैवकारविरोधापत्तेः । नच कालवाचकाग्रपदेन तस्याप्युक्तत्वादेवकारो नान्ययोगव्यवच्छेदक इति वाच्यम् । अग्रपदस्य शिष्यबोधनार्थत्वात्, अन्यथा सद् आसीत्, कालोऽप्यासीदिति वाक्यभेदप्रसङ्गात् । आदिसृष्टिवाक्येषु क्वापि कालत्वेन कालसत्ताया अनुक्तत्वात् । अथाधिकरणत्वेन कालस्योक्तत्वान् कालविशिष्टब्रह्मबोधकत्वं वाक्यस्येति विभाव्यते । तदसङ्गतम् । विशिष्टविधानगौरवप्रसङ्गात् । इतरव्यवच्छेदस्य पूर्वाधिकरण एव साधितत्वेन तथा वक्तुमशक्यत्वाच्च । अतः सृष्ट्यनन्तरप्रतीयमानकालोपरञ्जनेनैव तदुक्तिरिति नैवकारस्यान्ययोगव्यवच्छेदकत्वहानिः । किञ्च । अस्तिभातिप्रियत्वादिवद् ब्रह्मगतमेव कर्तृत्वं लोके प्रतीयते । कार्यत्वान् । तेन कर्तृत्वं वस्तुतोऽलौकिकमेवेति न बाधयोग्यम् । तस्माच्छ्रुतिसिद्धं ब्रह्मणः सामर्थ्यमवगम्यैव निर्णयो युक्त इति ॥ ५ ॥

ननु मास्तु गुणसंबन्धाद्गौणत्वम्, तथापि आत्मपदस्य लोके ममात्मा भद्रसेन इत्यादिषु गौण्यापि प्रयोगदर्शनादत्रापि तथास्तु । तथा सति नात्मपदमात्रेण तादृशनिर्णयसिद्धिरिति शङ्कायां हेत्वन्तरमाह तन्निष्ठस्येत्यादि ।

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ६ ॥

'असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत, तदात्मानꣳ स्वयमकुरुते' त्युपक्रम्य, पठ्यते 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवती'ति । एतदर्थस्तु असदिति लोकविलक्षणमव्याकृतं, यदा यस्मिन् काले, ह्येव निश्चयेनैव, एष साधकः, एतस्मिन् पूर्वोक्तब्रह्मणि, अदृश्ये नामरूपशून्ये, अनात्म्ये आत्मन इदं आत्म्यं शरीरं तद्रहिते, अनिरुक्ते विकारो हि विशेषणवशान्निरुच्यते, न त्वविकार इति विकारशून्यत्वादनिरुक्ते, विदिताविदितात् परत्वेन निर्वक्तुमशक्यत्वाद्वाऽनिरुक्ते, एवंभूते ब्रह्मणि अभयं यथा स्यात् तथा, प्रतिष्ठां 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाती'त्येवंरूपां स्थितिं, विन्दते प्राप्नोति, अथ तदनन्तरमेव, स जीवः, अभयं गतो मुक्तिं प्राप्तो भवतीति । अत्र ह्येतस्मिन्नित्यनेन पूर्वोक्तं जगत्कर्तारं परामृश्य, अदृश्यत्वादिधर्मवैशिष्ट्यकथनेन विरुद्धधर्माश्रयत्वं तस्य बोधयित्वा, तादृशे परिनिष्ठितस्य जीवस्य मोक्ष उच्यते । यदि जगत्कर्ता गौणः स्यात्, तन्निष्ठस्य संसार एवोच्येत, न मोक्षः । उपदिश्यते तु मोक्षः, अतः फलबलेन ज्ञायते, स प्रयोगो नौपचारिक इति ॥६॥

हेयत्वावचनाच्च ॥ ७ ॥

इतोपि हेतोर्निर्गुण एव जगत्कर्ता । सर्वत्र वेदान्तवाक्येषु यत्र मोक्षसाधनान्युपदिश्यन्ते, 'किं प्रजया करिष्यामः,' 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेने' त्यादिभिस्तत्र पुत्रादीनां हेयत्वमुच्यते । यदि जगत्कर्ता सगुणः स्यात्, पुत्रादिवद्धेयत्वेनोक्तः स्यात् । उच्यते तूपास्यत्वेन, 'तज्जलानिति, शान्त उपासीते'त्यादिषु । अतो न सगुणः । अत ईक्षत्यादयो न सगुणधर्मा इति सूत्रत्रयोक्तहेतुभिः सिद्धम् । सूत्रत्रयस्यैककार्यकारित्वबोधनाय चकारः । एवं सूत्रचतुष्टयेनेक्षतिहेतुना जगत्कर्तृत्वोपपत्त्या सृष्टिवाक्यानां शुद्धब्रह्मपरत्वमुपपादितम् ॥ ७ ॥

अतः परं प्रलयादिबोधकानां तथात्वं साधयितुं हेत्वन्तराण्युच्यन्ते सूत्रत्रयेण । साध्यं तु नाशब्दमित्येव ।

स्वाप्ययात् ॥ ८ ॥

ब्रह्म नाशब्दम्, न सर्वव्यवहारातीतम् । कुतः ? स्वाप्ययात् । स्वस्मिन्नात्मन्यप्ययाज्जीवस्य लयात् । अपिपूर्वक एतिर्लयार्थः । एवं हि छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्याने श्रूयते 'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम, सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति, तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते, स्वꣳ ह्यपीतो भवती'ति । स्वपितीति न क्रियापदम्, किन्तु जीवस्य नाम । स्वस्मिन्नपीतिर्लयो यस्यासौ स्वपितिः । पृषोदरादित्वादपीतिशब्दस्याकारनाशे ईकारस्य च विकृतौ सत्यां स्वपितिनाम्नः सिद्धिः । वस्तुतस्तु यौगिकत्वेन नामत्वाद्योगरूढ एवायं श्रौतः शब्दः । स्वपितिनामत्वं च न केवले स्वापे, किन्तु सत्सम्पत्तौ । सच्छ-

ब्देन चाभेदः । अर्थतः सच्छब्दसामानाधिकरण्यान्निर्गुणत्वं च । तेन गुणातीतोऽयमात्मा यत्र लीयते यत्र तादृशं, यद् ब्रह्म सत्पदवाच्यं, तद् गुणातीतमेव । न ह्येतादृशस्य स्वसम्बन्धेन कर्मसम्बन्धनिर्मुक्तपरमसुखानुभवसम्पादकं सगुणं भवितुमर्हति । अतः स्वाप्ययसम्पादकत्वान्न सर्वव्यवहारातीतम्, नापि सगुणमित्यनेनापि हेतुना सिद्धमित्यर्थः । अत्र लये वक्तव्ये सुषुप्तिकथनं कर्मसम्बन्धार्हदशायामपि तदभिभूय तादृशसुखसम्पादकत्वसामर्थ्यबोधनायेति ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

गतिसामान्यात् ॥ ९ ॥

गतिर्मोक्षः । समानस्य भावः सामान्यं, तस्मात् । मोक्षे सर्वस्य भगवत्तुल्यत्वेनैव निरूपणात्, तद्दातृत्वेन न सर्वव्यवहारातीतं, सगुणं वेत्यर्थः । गतिशब्दः फले रूढः । 'अन्ते या मतिः सा गतिः,' 'सा काष्ठा सा परा गति'रित्यादौ तथा दृष्टत्वात् । अत्र चाप्ययोत्तरमेतत्कथनं 'यतो वा इमानी'ति श्रुतिस्थस्याभिनिवेशनस्य निर्णयार्थम् । एतद्विषयवाक्यं तु बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणे श्रूयते । 'स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायन'मित्यारभ्य, 'विज्ञातारमरे केन विजानीया'दित्यन्तम् । अत्रायमर्थः । यथा अबादीनामंशानां कार्याणामबाद्यात्मकाः समुद्रादयो लयाधिकरणभूताः, तथा सदात्मकस्य सर्वस्य सदात्मकं कारणभूतं ब्रह्मैव लयाधिकरणभूतमिति दृष्टान्तैर्निरूपितम् । नच स्पर्शादीनां त्वगाद्यंशत्वस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेन केवलं लयस्थानत्वमेव विवक्षितं, न तु तस्य कारणत्ववैशिष्ट्यमपीति शङ्कयम् । 'त्वगस्य स्पर्शवायोश्चे'ति, 'मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायते । ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यत' इत्यादिश्रीभागवतद्वितीयस्कन्धवाक्येषु तथा दर्शनेनात्र वैराजानामेव तेषां दृष्टान्तत्वेन विवक्षितत्वात् । यथा सदंशानां कार्याणां लयस्थानं ब्रह्म, तथा चिदंशानां जीवानामपि लयस्थानं ब्रह्मैवेति वक्तुं, 'स यथा सैन्धवे' त्यादिना यथा सामुद्रलवणशकल उदके प्रक्षिप्त उदकमेव लक्ष्यीकृत्य विलीयते, न तु तस्य खिल्यत्वेन ग्रहणाय कोपि समर्थः संभाव्यते, किन्तु यस्माद्यस्माद्देशादादीयते, तत्र तत्र लवणरस एवास्वाद्यते इति तत्र तत्सत्ता निश्चीयते इत्येवं लयदृष्टान्तं निरूप्य, तत 'एवं वा अरे इदं महद् भूतम्, अनन्तमपारमरे मैत्रेयि इदं जीवात्मत्वेनानुभूयमानं महत् पूर्वोक्तेभ्योऽबादिभ्य उत्कृष्टमनन्तमविनाश्यपारमनादि, तत्त्वं विज्ञानघने चिदेकस्वरूपे ब्रह्मण्येवैतेभ्यः स्थूलसूक्ष्मशरीरात्मकेभ्योऽबुपलक्षितेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पृथग्भूय तान्येव भूतान्यनु तल्लयोत्तरं विनश्यति, विशेषेणादर्शनं प्राप्नोति, ब्रह्मणः पृथङ् न ज्ञायते । तत्र हेतुः । 'न प्रेत्य संज्ञास्ती'ति । लयोत्तरं जीवसंज्ञैव निवर्तते । ब्रह्मैव भवतीति । ततो लवणरसस्य सर्वत्रोदकेनुभवाल्लवणत्वेन वर्तते एवोद्ग्रहणमिति कुतो निषिध्यते संज्ञा ? इत्येवं मैत्रेय्या मोहे पुनः संज्ञाभावनिरूपणार्थं, 'यत्र हि द्वैत'मित्यादिना भेदकधर्मसत्तायां द्वैतदर्शनकथनपूर्वकं 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येज्जिघ्रेद्-

मिवदेच्छृणुयान्मन्वीत विजानीयाद्, येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद् विज्ञातारमरे केन विजानीया'दित्यन्तेन । यत्र तु यस्मिन्नधिकरणे तु अस्य जीवस्य सम्बन्धि सर्वं स्थूलं सूक्ष्मं च आत्मैवाभूद् आत्मरूपमेवाभूत्, तत् तदा करणस्य विषयस्य च लयाद् ऐकरूप्ये करणविषयभावापगमात् केन कं पश्येदित्यादि निरूपितम् । ततो यद्यप्यन्यल्लीनं, तथापि विज्ञाता तु तिष्ठति । स यथा स्वप्ने स्वयञ्ज्योतिः पश्यत्येवं स्वयं कुतो न विजानातीत्याकांक्षायां विज्ञातुः स्वरूपस्यापि समुद्रे लवणस्येवात्मत्वमाह, विज्ञातारमित्यादिना । तथाच तदानीं सोऽपि न विज्ञातृरूपेणास्ति, किन्तु गुणातीतेनात्मरूपेणातो न विजानातीत्येवमुत्तरमुखेन सर्वस्य ब्रह्मतौल्यं निरूपितम् । तेनात्र ब्रह्म न सर्वदा सर्वव्यवहारातीतम् । मोक्षे तथात्वेन श्रावितत्वात् । यदेवं तदेवम् । मैत्रेयीब्राह्मणश्रावितसर्ववदित्येवमनुमानसिद्धेरस्य हेतुत्वं सिद्धम् । तेनात्र सर्वस्य कारणे लयेनैकीभावबोधनात् सर्वस्य ब्रह्मत्वमपि दर्शितम् । तेनादौ अमृतत्वलिङ्गेन, मध्ये आत्मदर्शनादिना सर्ववेदनप्रतिज्ञामारभ्य, वागेकायनमित्यन्तेनावसाने सर्वस्यात्मभावकथनेन चेत्येवमादिमध्यावसानेषु शुद्धब्रह्मण एव सर्वरूपत्वेन सर्वकर्तृत्वेन चोपपादनाद् ये केऽपि वेदान्तास्ते सर्वे येन केनचिद् रूपेण ब्रह्मैव वदन्तीति सर्वेषां वेदान्तानां तात्पर्येण ब्रह्मणि समन्वय इति तत्र फलितम् ॥ ९ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ १० ॥

बृहदारण्यके द्वितीयस्य वंशब्राह्मणस्यानन्तरं परिशिष्टलक्षणखिलकाण्डारम्भे श्रूयते 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते, पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' इति । एतदर्थस्तु, अदः परोक्षं ब्रह्म पूर्णम्, आकाशवद् व्यापकं निरन्तरं निरुपाधिकं, पूर्णमिदम्, इदं नामरूपाभ्यां व्यवह्रियमाणमवतारादिरूपमपि पूर्णं पूर्वोक्तरूपमेव । एवं व्यवहार्याव्यवहार्यस्वरूपयोर्निरुपाधिकत्वमुक्त्वा कार्यरूपेऽपि तथात्वमाह 'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' । पूर्णात् कारणात् सकाशात् पूर्णमुत् पूर्णानन्दं सत् अच्यते, 'अञ्चु गतिपूजनयोः' 'अच इत्येक' इति पाणिनिः, पूज्यते, पूर्णं सदुदच्यते उद्गच्छति वा । एवं स्थितिदशायां कार्यस्य ब्रह्मरूपतामुक्त्वा प्रलयदशायां तथात्वमाह । पूर्णस्य ब्रह्मणः पूर्णं निरुपाधिकमेकरसत्वलक्षणं स्वभावं प्रलयदशायामादाय पूर्णं ब्रह्मैव सन्नवशिष्यते । अव्यवहार्यत्वेन रूपेण तिष्ठतीति । अत्रासन्दिग्धं यथा भवति तथा ब्रह्मण एव सर्वकार्यकर्तृत्वस्य सर्वकार्यरूपत्वस्य च श्रुतत्वाद् ब्रह्म सर्वव्यवहारातीतत्वमनपहायैव सर्वव्यवहारविषयमिति प्रतिपादितम् । अत एव पूर्णज्ञानिनां शुकसनत्कुमारादीनां व्यवहारदशायामपि कार्यं गुणातीतं ब्रह्माभिन्नमेव । व्यवहारस्तु भगवतः सत्यसङ्कल्पत्वाद् 'बहु स्यां प्रजायेये'त्यादिरूपयेच्छयैव । अत एव श्रीभागवते 'दृष्ट्वानुयान्त'मित्यत्र विविक्तदृष्टित्वं परीक्षिदुपदेशादिकं श्रीभागवताभ्यासश्चेत्युभयमप्युक्तम् । एवमस्मिन्नधिकरणे विरुद्धधर्माश्रयत्वस्थापनेन सर्वव्यवहारातीतत्वं तद्विषयत्वं चेत्युभयमपि समर्थितम् ।

केचित्तु अत्राधिकरणे प्रधाननिरासमेव मन्वते । मूलकारणत्वेन प्रतिपाद्यं ब्रह्म नाशब्दं, शब्दाप्रतिपाद्यानुमानिकत्वेन साङ्ख्यैरुपगतमचेतनं प्रधानं भवितुं नार्हति । कुतः ? ईक्षतेः । चेतनधर्मस्य ईक्षणस्य तस्मिञ्छ्रावणात् । नचाग्रे 'तत्तेज ऐक्षत, ता आप ऐक्षन्ते'त्यचेतनेष्वपि, 'कूलं पिपतिषती'त्यादिवत् गौण्या प्रयोगदर्शनात् प्रायपाठबलेन गौण एवेक्षतिप्रयोगोऽस्त्वितिशङ्कायां परिहारोऽग्रिमसूत्रेण क्रियते । आत्मशब्दादित्यनेनात्मशब्दो गौण इति शङ्का तृतीयादिभिः परिह्रियत इत्येवमाहुः । तदप्यानुषङ्गिकत्वेनास्माकमभिमतम् । मुख्यं तूक्तमेव । इदं यथा तथा मतान्तराणां दूषणं च भाष्यविभागादवगन्तव्यम् । एवमस्मिन्नधिकरणेऽव्यवहार्यत्वादिरूपेणावगतस्य चिद्रूपस्य कारणतासमर्थनेन सर्वेषां वेदान्तानां शुद्धब्रह्मपरत्वं साधितम् । तेन ब्रह्मणि समन्वयः सर्वेषां फलितः । पूर्वोक्तकार्यलक्षणगतोऽव्याप्तिदोषोऽपि वारितः ॥ १० ॥

इति चतुर्थमीक्षत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

अतः परमवसरेणानन्दरूपस्य कारणतां प्रतिपादयितुमग्रिमाधिकरणारम्भः । तेनानन्दबोधकवाक्यानां ब्रह्मपरत्वमुपपादनीयम्, न तु पूर्ववत् सर्वेषामिति । तैत्तिरीये यद् ब्रह्मभृगुप्रपाठकद्वयं तदत्र विचार्यते । तत्र षडिन्द्रियात्मपरमात्मभेदेनाष्टभिर्जायमानं यत् सुखं तद्वाचकोऽन्यत्रानन्दशब्दः, सोऽत्र ब्रह्मवाचक इत्यतोऽत्राष्ट सूत्राणि ।

ननु ब्रह्मवित्प्रपाठके सत्यज्ञानानन्तलक्षणकं ब्रह्म प्रस्तुत्य, 'तस्माद्वा एतस्मा'दित्यादिना कार्यं निरूप्यते । अग्रिमे च 'यतो वा इमानी'त्यादिना ब्रह्म लक्षयित्वा, 'आनन्दाद्ध्येवे' त्यादिना तन्निष्कृष्यते । अत उभयत्रापि ब्रह्मकार्यत्वे आनन्दकार्यत्वे च सन्देहासम्भवाद् व्यर्थोऽयमधिकरणारम्भ इतिचेत् । न । पूर्वस्मिन्नाकाशादीनां ब्रह्मकार्यत्वावगमेऽपि मध्ये आनन्दमय इति सन्दिग्धशब्दप्रयोगेण आनन्दे कारणत्वसन्देहात्, द्वितीये चानन्दे कारणत्वसन्देहाभावेऽप्यानन्दे चेतनत्वस्याश्रावितत्वेन तस्मिञ्जडत्वसन्देहादुभयत्र यथायथमानन्दे कारणत्वचेतनत्वयोर्बोधनायाधिकरणारम्भस्यावश्यकत्वादिति ।

ननु आद्ये आनन्दकारणतैव प्रतिपिपादयिषितेत्यत्र किं गमकमितिचेत्, उच्यते । अत्रारम्भे 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति वाक्येन ब्रह्मविदः परप्राप्तिं फलत्वेन प्रतिज्ञाय तद्व्याख्यानभूतायामृच्यानन्दांशे कारणत्वस्याभिप्रेततया ज्ञेयस्य ब्रह्मणो लक्षणे आनन्दांशमप्रवेश्य लोके प्रकृत्यादेः कारणस्य जडत्वदर्शनात् तद्विलक्षणत्वमानन्दांशे बोधयितुं विपश्चिद्ब्रह्मपदाभ्यां सर्वज्ञानन्दरूपं फलमृगुत्तरार्धे सर्वकामाशनकथनेनोपपाद्य तदव्यवहितोत्तरं 'तस्माद्वा एतस्मा'दित्यादिना आकाशादिसृष्टिरुक्तेत्येतदेव गमकमिति जानीहि । नच तत्रात्मपदाच्चिद्रूपेणैव कारणताभिसंहितेति शङ्क्यम् । तस्य नैकट्यबोधनार्थत्वात् । अन्यथाग्रे आत्मनः सर्वान्तरत्वं न वदेत् । ज्ञानरूपत्वे विवक्षिते तस्मिन् सर्वान्तरे आनन्दमयत्वं न वदेत् । अन्ते च 'आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामती'ति पर्यवसि-

तफलतां च न निगमयेत् । अगुत्तरार्धोक्तफलरूपस्यैवोपक्रमे तदेतत्पदाभ्यां कारणतया परामृष्टत्वात् । अतः प्रकारान्तरेण सन्देहाभावेऽपि मयट्प्रयोगमात्रेणैव सन्देहः । तत्र पूर्वपक्षे अन्नमयादिप्रायपाठबलेनानन्दमयोऽपि न ब्रह्म । फलसिद्धिस्तूपासनायाः प्रकृतत्वादन्नमयादिभ्य इवानन्दमयादपि भविष्यतीति फलं तस्य न ब्रह्मतानिर्णायकमिति । एवं प्राप्तेऽभिधीयते ।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ ११ ॥

आनन्दमयः परमात्मैव,नान्नमयादिवत् पदार्थान्तरम् । कुतः ? अभ्यासात् । अभ्यस्यते पुनः पुनः कीर्त्यते इत्यभ्यासस्तस्मात् । पूर्वतन्त्रे शब्दान्तराभ्याससंख्यागुणप्रक्रियानामधेयानां षण्णां कर्मभेदकत्वेन सिद्धत्वादत्र भेदकत्वेन तस्य ग्रहणम्, पूर्वोत्तरतन्त्रयोरैकशास्त्र्यात् । तत्र हि समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजतीति पञ्चकृत्वो यजत्यावृत्तौ मीमांसितम् । किमत्र तनूनपादादिषु चतुर्षु पूर्वयागानुवादः, उत यागान्तरविधानमिति । तत्र पूर्वपक्षिणा धात्वर्थप्रत्यभिज्ञानाद् इडादिगुणविधानार्थं समिद्यागानुवादे अङ्गीकृते, सिद्धान्तितम् । भेदाभेदसाधारण्या यजिश्रुत्या यागमात्रप्रत्यभिज्ञानेन श्रुतेर्यागान्तरपक्षेऽपि तुल्यत्वाद् गुणविधानपक्षेऽपि चतुर्थीतद्धितयोरभावेन देवताया वक्तुमशक्यत्वात् तृतीयाया अभावेन द्रव्यस्य च वक्तुमशक्यत्वाद् द्वितीयया चाग्निहोत्रं जुहोतीत्यादिवत् तेषां कर्मनामत्वनिश्चयात् पदान्तरसमभिव्याहृतेन यजतिना यागान्तरमेव बोध्यते इति । ननु हेतुना साध्यं व्याप्तिबलेन साध्यते । प्रकृते चाभ्यासत्वेन कर्मभेदत्वेन व्याप्तेःपरमात्मत्वेन व्याप्त्यभावादसिद्धोऽयं हेतुरितिचेत् । न । यत्र यत्र वाक्ये पदान्तरसमभिव्याहृतस्य यस्य पदस्याभ्यासः, तत्र तत्र तस्य पदस्यार्थान्तरगमकत्वमिति व्याप्तेः सत्त्वेनासिद्धेरभावात् । नचाभ्यासस्येतरभेदमात्रं फलम्, तत्तु शब्दान्तरादेव सिद्धमिति किमनेनेति वाच्यम् । वैलक्षण्यसाधकत्वेनोपयोगात् । नन्वभ्यासस्यान्नमयादिश्लोकेष्वपि दर्शनादत्रैव कथं वैलक्षण्यसाधकत्वमितिचेद्, इत्थम् । अत्र ह्येवमभ्यासः श्रूयते । 'को ह्येवान्यात्, कः प्राण्याद् , यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाती'ति । अत्रायमर्थः । पूर्वानुवाकेष्वन्नमयादीनां प्रशंसामुक्त्वापि, को ह्येवान्यादिति वाक्ये किंशब्दद्वयेन यत् पूर्वोक्तं सर्वं परामृश्यते, तेन तदन्नादिकं प्रति व्यतिरेकमुखेनानन्दस्यैव हेतुता बोध्यते । तेनान्नादीनामपि यत् स्वकार्ये सामर्थ्यं तदभ्यन्तःस्थितानन्दाधीनमिति सूच्यते । अतोऽनेनैवं स्तुत्या सर्वोपजीव्यत्वेनानन्दरूपो योऽर्थः स एव सर्वत्राभ्यस्यत इत्यतोऽस्य वैलक्षण्यसाधकत्वमिति जानीहि । नचास्याभ्यासस्य वैलक्षण्यसाधकत्वेऽपि लैङ्गिकत्वान्मयट्श्रुत्यपेक्षया निर्बलत्वात् प्रायपाठेन विकारार्थग्रहणस्यैवौचित्यादिति वाच्यम् । मयटोऽर्थान्तरेऽपि साधारण्यात्, प्राणमये प्राणादीनां वृत्तीनामेव कथनेन प्रायपाठस्यैवाभावादिति । नचानन्दमयस्य ब्रह्मत्वसाधने

तस्य भिन्नमेव शिर' इति सम्बन्धषष्ठ्या भेदनिरूपणात् 'नेह नानास्ती'ति श्रुतिविरोधो, द्वैतापत्तिश्चेति वाच्यम् । 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवती'त्यग्रिमवाक्ये दोषश्रावणेन तस्येत्यत्र 'राहोः शिर' इतिवदभेदषष्ठीबोधनाददोषात् । उपचयापचयशङ्कितात्रह्मत्वपरिहारस्तु गुणोपसंहारपादे सूत्रकृतैव कार्य इति चोद्यानवकाशः । अतः किमः पुनर्वचनेन बोधितो य आनन्दस्यार्थिकोऽभ्यासस्तेन मयडादिप्रवाहादानन्दमयस्य भेदे साधिते तस्य ब्रह्मत्वं निष्प्रत्यूहमित्याचार्याणामाशयः । अस्मिन् वर्णकेऽन्नमयादीनां ब्रह्मकार्यत्वेन पदार्थान्तरत्वमङ्गीकृत्यानन्दे फलत्वस्य वक्तव्यत्वाज्ज्ञेये ब्रह्मण्यानन्दांशनिवेशमनुपगम्य पुनर्वचनसूचितार्थिकाभ्यासादानन्दमयस्य तेभ्यो भेदः साधितः ।

प्रभुचरणास्तु अन्नमयादीनामपि साधारणकार्योद्भिन्नत्वेन ब्रह्मविभूतित्वमानन्दस्य साधनशेषभूतज्ञेयकोटिनिवेशेऽपि रूपभेदेन फलत्वकारणत्वयोरनपायं चाभिप्रेत्याधिदैविकवादं चाश्रित्यानन्दमयस्य तेभ्यो भेदं वर्णकान्तरेण साधयन्ति । तथाहि । 'स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानासे'त्यादिश्रुत्या क्रीडेच्छैव सृष्टौ हेतुः । तेन बहु स्यामित्यादावपि प्रकारभेदेन सैवोच्यते । तेन सर्वं भगवानेवेति समन्वयेक्षत्यधिकरणाभ्यां व्युत्पादितम् । तथा 'एष उ एवे'त्यादिश्रुत्या नानाकर्मफलदोऽपि स एवेति सिध्यति । तेन भगवाञ्जगद्रूपेणाविर्भूय स्वांशैर्जीवैस्तानि तानि साधनानि कारयित्वा तानि तानि फलानि ददत् क्रीडतीति सिध्यति । तत्र फलं सुखमेव । तद'प्येतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'ति श्रुत्या ब्रह्मानन्दस्यांशभूतमेव । तेन निरवध्यानन्द एव परमं फलमिति बोधनाय 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति स्वरूपलक्षणेऽनन्तपदेन श्रुतिः सूचितवती । नचानन्तमिति सत्यज्ञानयोर्विशेषणमिति शङ्क्यम् । 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म,' 'सच्चिदानन्दविग्रह' मित्यादिश्रुत्यन्तरे त्रितयसाहचर्योक्तेरत्रापि तद्बलादेव तत्प्राप्तेरावश्यकत्वेन विशेषणतया तत्राप्यानन्त्यस्य विशेषणतया अनुक्तसिद्धत्वात् । 'यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ती'ति श्रुत्यापि तथा निश्चयात् । किञ्च, इयमृग् 'ब्रह्मविदाप्नोति परमि'ति ब्राह्मणविवरणभूता 'यो वेदे'त्यन्तेन ब्रह्मवित्पदं साधनशेषतया व्याकृत्य, अग्रे 'आप्नोति पर'मिति फलांशं विवृणोति । तत्र 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुत्या वरणेतरसाधनाप्राप्यत्वेन बोधितमिति तद्विरोधपरिहारेण उभयसामञ्जस्यार्थमेवं निर्णयम् । अत्राक्षरज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्या प्राकृतधर्मराहित्येन शुद्धत्वसम्पादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता सम्पाद्यते । तत्र तादृशे जीवे स्वीयतया वरणेन भक्तिरूपः सहकारी सम्पाद्यते । ततः सहकारिणो योग्यतायाश्च सम्पत्त्या पुरुषोत्तमप्राप्तिर्भवतीति । नच मध्ये भक्तिनिवेशोऽश्रुतत्वादसङ्गत इति शङ्क्यम् । 'भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यो,' 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य' इत्यादिस्मृतिभिस्तथा निर्णीतत्वात् । तेन भक्त्यभावे केवलेन ब्रह्मज्ञानेन ब्रह्मभाव एव फलम् । 'ब्रह्म वेद

ब्रह्मैव भवती'ति श्रुतेः । स चात्र स्वरूपयोग्यताकोटौ निविशत इत्युक्तम् । नचाक्षरपरयोरैक्यमिति शङ्क्यम् । 'अक्षरात् परतः पर' इति श्रुतेः, 'अक्षरादपि चोत्तम' इत्यादिजातीयगीतावाक्यानां च विरोधात् । नचाक्षरपदेनाव्यक्ताख्या प्रकृतिरेवोच्यत इति शङ्क्यम् । 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव चे'ति पुरुषत्वोक्तिविरोधात् । 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः,' 'क्षरात्मानावीशते देव एक' इत्यात्मत्वश्रुतिविरोधाच्च । तेन परस्मात् प्रकृतेश्च भिन्नमेवाक्षरम् । अत एव ऋग्व्याख्येये ब्राह्मणेऽपि ब्रह्मेति पर इति च शब्दान्तरेण निर्देशः । अन्यथा 'ब्रह्मविदाप्नोति त'दित्येव ब्रूयात् । एतेन पुरुषोत्तमस्य लक्षणमप्युक्तप्रायम् । निरवधिसत्यज्ञानरूपत्वे सत्यक्षरादुत्कृष्टत्वस्यैव लक्षणत्वेन सिद्धेः । तथोत्कृष्टत्वमानन्दमीमांसायां ' स एको ब्रह्मण आनन्द ' इति कथनोत्तरं 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्लोके गणनापरिच्छेदराहित्येनावाङ्मनसगोचरानन्दरूपतया सिद्धं भविष्यति । प्राप्तिस्तु व्रजरत्नानामिव भगवद्भोग्यतया भगवता सह सर्वकामभोगरूपा । 'अश भोजन' इत्यस्य 'बहुलं छन्दसी'ति विकरणपदयोर्व्यत्ययेनाश्नुते इति प्रयोगात् । प्रस्थानान्तरेऽपि भोजनार्थस्यैवाङ्गीकारात् । तदिदं सर्वं गुणोपसंहारपादे लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे प्रपञ्चयिष्यते । एवञ्च फलत्वं परस्यैव, प्राप्तिस्त्वेवंप्रकारकतदनुभवरूपेति पर्यवस्यति । तत्र परस्मिन्निरवध्यानन्दात्मकत्वेन फलत्वं व्युत्पादयितुमन्तरङ्गेभ्योऽप्यन्तरङ्गत्वं 'चक्षुषश्चक्षु'रित्यादिश्रुतिसिद्धं सर्वस्य सर्वरूपत्वेन सर्वाधिदैविकरूपत्वं च ज्ञापयितुमाधिभौतिकादिरूपेण भगवानाविर्भूत इत्याशयेन 'तस्माद्वा एतस्मा'दित्यादिना आकाशादीनां भूतानामौषध्यादीनां भौतिकानां च संभवनक्रियायां कर्तृत्वमाह । न तु 'तत् तेजोऽसृजते'तिवत् सर्जनक्रियाकर्मत्वम् । एतेनाकाशादीनामत्र विभूतिरूपत्वं ज्ञाप्यते । ततोऽन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाख्या उत्तरोत्तरमन्तरङ्गभूता आत्मस्वरूपा उक्ताः । नचैते विकाररूपा वक्तुं शक्याः । अग्रिमप्रपाठके 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्वे'ति वरुणोपदिष्टतपोरूपेण ब्रह्मज्ञापकेन साधनेनान्नादीनां ब्रह्मत्वेन ज्ञातत्वात् । नच तर्हि पुनर्ब्रह्मविषयकप्रश्नाद्यनुपपत्तिः । तेषां परिच्छिन्नकार्यकर्तृत्वेनापरितोषादधिकाधिकारसम्पादनार्थत्वादुपपत्तेः । एव'मन्नात् पुरुष' इत्यन्तेनाधिभौतिकं रूपमुक्त्वा तत्राध्यात्मिकं पुरुषरूपं वदन्ती 'तस्येदमेव शिर' इत्यादिना पक्षिरूपमाह । वाजसनेयिशाखायां 'पुरश्चक्रे द्विपदः, पुरश्चक्रे चतुष्पदः, पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविश'दितिपक्षिरूपेणैवाध्यात्मिकस्याधिभौतिकेषु प्रवेशश्रावणात् । वस्तुतस्तु पुरुष एव, परन्तु पुरः सम्बन्धी सन् पक्षी भूत्वा पुरः शरीराण्याविशदिति तदर्थात् । नच तस्येदमेव शिर इतीदमा प्रत्यक्षविषयस्यैव शिर आदेः परामर्शात् प्रत्यक्षविषयस्यैव पक्षित्वं कल्पनयोपदिश्यत इति वाच्यम् । पक्षिरूपस्यातिरिक्तत्वाङ्गीकारे पक्षादिपदेषु लक्षणाराहित्याददम्पदमात्रे लक्षणायाः सत्त्वेऽपि श्रुत्यन्तरस्वारस्येन तस्या अदुष्टत्वात् । नचोक्तश्रुतावेकस्यैव प्रवेशोक्तेः सर्वेषु पक्षिरूपत्वोपगमो न युक्त

इति वाच्यम् । अन्नमयादिषु पञ्चस्वपि पक्षादीनां पक्षिलिङ्गानां तौल्येन तथोपगमे बाधकाभावात् । नचैवं पक्षिरूपत्वेन प्रवेशप्राप्तावपि प्राणमयादिष्वन्तर आत्मेति श्रावणात् तेषां चतुर्णां तत्तदन्तःप्रवेशोऽस्तु, अन्नमये तु तदश्रावणात् तस्य प्रवेशो न शक्यवचनः । वस्तुतस्तु प्रवेशश्रुतौ पूर्षु द्विपत्त्वादिश्रावणेन तासां स्थूलत्वबोधनात् तास्वेव प्रवेशो भासते । प्राणमयादिषु तु तल्लिङ्गाभावेन विवक्षितपूष्ट्वाभावात् तेष्वप्यशक्यवचनः ।

किञ्च, श्रुतौ प्रवेशमात्रमुक्तम्, न तु प्रयोजनं तस्य । अतः प्रयोजने विचार्यमाणे आध्यात्मिकस्याभिमानितया प्रसिद्धेस्तथा भूत्वा पूरक्षैव प्रयोजनत्वेनायाति । सा चैकेनापि भवतीति सर्वेषां प्रवेशो वैयर्थ्यादप्यशक्यवचनः । नाप्येकस्यैवास्त्वित्यपि वक्तुं युक्तम् । अविशेषाद् विनिगमकाभावाच्च कस्येति निर्णेतुमशक्यत्वात् । अत एव तस्याः प्रवेशश्रुतेरुक्तविषयत्वाभावेन प्रकृतोपष्टम्भस्य वक्तुमशक्यत्वात् परिदृश्यमाने पक्षित्वस्य कल्पनोपदेशपक्ष एवात्र युक्तः, न त्वेतदतिरिक्तविभूतिपक्ष इति वाच्यम् । अतिरिक्तविभूतिपक्षानङ्गीकारे 'अस्माल्लोकात् प्रेत्य एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामती'त्याद्यग्रिमवाक्यश्रावितस्यैतल्लोकत्यागस्य तदुत्तरभाविन्या अन्नमयादिप्राप्तेश्च बाधापत्तेः । कल्पनोपदेशपक्षेऽन्नमयादीनामेतल्लोकान्तःपातित्वात् । नच 'संक्रमः प्रतिसंक्रम' इति पौराणप्रयोगेणोपसंक्रामतीत्यस्य त्यजतीत्येवार्थ इति वाच्यम् । 'कार्मुकं तु परित्यज्य झषं संक्रमते रवि'रित्यादिषु प्राप्तावपि प्रयोगदर्शनेन परित्यागानन्तरप्रयुक्ते तस्मिन् प्राप्त्यर्थकत्वस्यैव निश्चयात् । पूर्ववाक्येऽपि प्रतिपूर्वकस्य संक्रमस्य प्रलयवाचितया प्राप्त्यर्थ एव पर्यवसानेनोपपूर्वकेऽपि तथात्वस्यैव युक्तत्वाच्च । अतो विभूतिपक्ष एव ज्यायान् । तथा सति प्राकृतगुणमयं प्रपञ्चमतिक्रम्य गुणातीतं भगवल्लीलोपयोगिनं प्रपञ्चं प्राप्नोतीति लोकत्यागपूर्वकोपसंक्रमवाक्यार्थः सिध्यति । तेन पूर्ववाक्येषु यदन्नमयादीनां पक्षित्वमुक्तम्, तदपि लीलापूर्वदशायां साधनसंपत्तिसिद्धये लौकिकान्नमयादिकोशानां रक्षार्थं तेषु तेषु तेन तेन रूपेण प्रवेशबोधनाय । अन्यथा लौकिकैः कोशैर्विक्षेप एव क्रियेतेति सेवादीनि साधनानि न संपद्येरन् । सेवासम्पत्तावुत्कटे विरहभावे तेषां स्थितिरपि न स्यात् । अतः पञ्चानां स्थित्यर्थं तत्तत्सजातीयानां तेषु तेषु [illegible] आवश्यकः । 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षु'रित्यत्र साजात्यस्यैव सिद्धत्वात् । एवञ्चान्नमये द्विपत्त्वेन तत्तदन्तरेष्वपि मूषानिषिक्तप्रतिमान्यायेन प्रतिष्ठापदेन पादयोरुक्ततया च तेषामपि तादृशपूष्ट्वसिद्ध्या तेषु प्रवेशयोग्यतापि निष्प्रत्यूहा ।

तेनायं सन्देहः । उक्तप्रकारादानन्दमयोपि विभूतिः, उत सर्वान्तरत्वात् परमात्मेति । तत्रोक्तयुक्तेः प्रबलत्वात् प्रायपाठेन विभूतिरेव युक्तः । सर्वान्तरत्वं तु विभूतिमुख्यत्वगमकमिति पूर्वपक्षे प्राप्ते । अभिधीयते आनन्दमयोभ्यासात् । आनन्दमयः परमात्मैव । कुतः ? अभ्यासात् । 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यःपूर्वस्ये'त्यन्नमयादिषु सर्वेष्वानन्दमयस्यैवात्मत्वेन कथनात् । ननु कथमेतदवगम्यते ? इत्थम् । अत्र ह्यन्नमयाभिमानिनःपूर्वमनु-

क्तत्वेऽपि 'यःपूर्वस्ये'त्यनेन योऽन्नमयस्य शारीरः शरीरसम्बन्ध्यात्मा तस्यैव सर्वात्मत्वमभ्यस्तम् । तेन तत्रात्मत्वेन जगत्कर्तैव 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन'इत्यनेनोक्तः परामृश्यत इति ज्ञायते । स च सन्निहितत्वादुपक्रान्तत्वाच्च परं ब्रह्मैव विपश्चिद्ब्रह्मपदाभ्यां यदुक्तम्, तेनात्मपदघटितवाक्याभ्यासस्तस्यैव सर्वान्तरात्मत्वं बोधयति । तस्यानन्दरूपतां तु 'रसो वै स'इत्यारभ्य 'आनन्दयाती'त्यन्ता श्रुतिर्गमयति । 'एतस्यैवानन्दस्ये'ति मात्रोपजीवनश्रुतिश्च प्राचुर्यम् । तच्च किमपेक्षयेत्याकाङ्क्षायां सच्चिदंशापेक्षयेति प्रकृतत्वात् सिध्यति । अतस्त्रिविधादभ्यासादानन्दमयः परमात्मा । अभ्यासादित्येकवचनं तु जात्यपेक्षया ।

ननु यद्येवं तदा आनन्दमये 'तस्यैष एव शारीर आत्मे'ति भेदं न वदेदिति चेत्, न । तस्येति षष्ठ्या 'राहोःशिर'इतिवदभेदबोधकत्वेन यः पूर्वस्यान्नमयस्य शारीर आत्मा उपक्रमे जगत्कर्तृत्वेनोक्तस्तदभिन्न इति निगमनाय तथोक्तेर्दोषाभावात् । अन्यथा 'तस्माद्वा एतस्मादानन्दमयादन्योन्तरात्मा ब्रह्मे'त्यपि वदेत् । नन्वेवं विभूतिप्रायपाठविरोधो दोष इति चेत् । न । सर्वान्तरात्मत्वादिरूपयुक्त्यपेक्षया तस्य निर्बलत्वेनाकिञ्चित्करत्वादिति । अयं प्रकारोऽपि गुणोपसंहारे आत्मगृहीत्यधिकरणे कार्याख्यानाधिकरणे च व्यक्तीभविष्यति । तस्मादानन्दमयःपरमात्मैवेति सिद्धम् ॥११॥

ननु 'मयड्वैतयोर्भाषाया'मित्यनेन लोके मयटो विकाराधिकारे विहितत्वात् 'द्व्यचश्छन्दसी'ति नियमस्य 'मृण्मयं गृहं राजन्नहं गम'मित्यादिमन्त्रेषु व्यभिचाराद्विकारार्थे द्व्यचो भवत्येव, अन्यस्मात्तु विकारे भवति, न भवति चेति व्यवस्थितविकल्पाश्रयणेन त्र्यचोऽपि आनन्दशब्दात्तस्य विकारार्थे सुवचत्वादित्याशङ्क्य परिहरति ।

विकारशब्दान्नेतिचेत्, न, प्राचुर्यात् ॥१२॥

विकारवाची मयड् यस्मिंस्तादृशं पदं विकारशब्दम्, तस्माद्विकारशब्दादानन्दमयपदान्न, विकारशून्यम् अविकारि ब्रह्म ग्रहीतुं न शक्यमितिचेत् । न । इयमाशङ्का न कार्या । कुतः? प्राचुर्यात् । पाणिनिनापि 'तत्प्रकृतवचने मयट्' इति सूत्रं प्रणयता प्राचुर्येऽपि विहितत्वादित्यर्थः । ननु कथमत्र प्राचुर्यविनिगमनेति चेत् । उच्यते । 'द्व्यचश्छन्दसी'ति नियमस्य विकारत्वप्रकारकबोधविवक्षायां बह्वचः परस्य मयट्प्रत्ययस्य असाधुत्वज्ञापनार्थत्वेनावश्यकतयात्र विकल्पाश्रयणे बीजाभावाद् वारिते आनन्दशब्दान्मयट्प्रत्यये प्राचुर्यार्थस्य सुखेन विनिगन्तुं शक्यत्वात् । नच प्रायपाठविरोधः । तस्य प्राणमयस्थल एव निवृत्तत्वात् । तत्र प्राणादीनां त्रयाणां वृत्तित्वेनाकाशपृथिव्योश्च भूतान्तरत्वेन तदवयवकल्पनाग्रन्थादेव मयटः स्वार्थिकस्यैव भास्कराचार्योक्तरीत्या निश्चयात् । नच घटाकाशस्य घटविकारत्ववत् प्राणाद्युपाध्यवच्छिन्नस्य प्राणविकारत्वं वाचस्पत्युक्तरीत्या सिध्यतीति वाच्यम् । अवच्छिन्ने विकारप्रत्ययस्याभावात् । शास्त्रेष्वपि तथा प्रयोगादर्शनाच्चेति दिक् । विशेषस्तु भाष्यविभागादवगन्तव्यः । अतः सम्यगुक्तं प्राचुर्यादिति ॥१२॥

शब्दबलविचारेण मयटो विकारार्थत्वे निराकृतेऽपि शब्दशेषित्वेनार्थस्य शब्दापेक्षया बलिष्ठत्वात् तद्विरोधे पूर्वसूत्रसाधितं वृथा स्यादिति तदभावायार्थबलेनापि विकारार्थतां निराकरोति ।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १३ ॥

हेतुत्वेन व्यपदेशो हेतुव्यपदेशस्तस्य हेतुव्यपदेशस्तद्धेतुव्यदेशस्तस्मात् । आनन्दमयं प्रकृत्य 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रावणात् । अत्र यकारस्य ह्रस्वाकारस्य दीर्घादेशः । तथाचात्रेतः पूर्वं 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति'इति रसत्वेनानन्दमयस्य सिद्धत्वात् तल्लाभेनानन्दवत्ताश्रावणेनैव रसरूपस्यानन्दमयस्यानन्दकारणतायाः अर्थतः सिद्धावपि यत् पुनस्तत्कथनं तत्तस्य कारणत्वेनाविकृतत्वबोधनायैव । अन्यथैतस्य वैयर्थ्यापत्तेः । तथाच यथा विकारभूतस्य जगतः कारणभूतं सच्चिद्रूपं ब्रह्माविकृतम्, तथा सर्वस्यापि विकारभूतस्यानन्दस्य कारणभूत आनन्दमयोऽप्यविकृत इत्यर्थविचारेणापि नात्र विकारार्थे मयडित्यर्थः । अत्र चकारः समुच्चयं वदन् हेतुद्वयेन मध्ये विकारार्थनिरासः प्रतिपादित इति बोधयति ॥ १३ ॥

नन्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वेन निरूपणे किमित्याग्रहः क्रियते । अन्नमयादिवदुपासनापरत्वेनापि निरूपणे श्रुत्युपपत्तेः । नचात्रोपासतेरश्रवणात्तथा न वक्तुं शक्यत इति वाच्यम् । 'विद्युद्ब्रह्मे'त्यादिषु विद्युदाद्युपासनासु तदभावेऽपि प्रकरणबलेन तदङ्गीकारात् । प्रकृते तु पक्षपुच्छादित्वेन मोदप्रमोदादीनामुक्ततया वाग्धेनूपासनवत् काल्पनिकत्वरूपलिङ्गस्यापि सत्त्वात् सुखेनाङ्गीकर्तुं शक्यत्वात् । अत आवश्यकोपपत्त्यभावादानन्दमयस्य ब्रह्मता न वक्तुं शक्येति शङ्कानिराकरणाय तामाह मान्त्रेत्यादि ।

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १४ ॥

स्वाभीष्टं यं कञ्चनार्थमभिसन्धाय तदर्थशक्यसम्बन्धानां नानात्वात्तेषु यं कञ्चन आदाय लक्षणया यत्किञ्चिदुच्यते तन्न मान्त्रवर्णिकम्, किन्तु मन्त्रेणाभिधया पदशक्त्या यत्प्रतिपाद्यते, तन्मान्त्रवर्णिकम् । संपूर्णे प्रपाठके तदेव गीयते, उपपाद्य निर्धार्यते । कथमितिचेद् । इत्थम् । अत्र हि 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्येतद्विवरणत्वेन 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति मन्त्र उक्तः । तत्र यो वेदेत्यन्तेन ब्रह्मवित्पदं विवृतम् । संपूर्णेन पूर्वार्धेन वा । उत्तरार्धे त्वाप्नोति परमिति । तत्राप्नोतिरश्नुत इत्यनेन, परमिति तु सर्वान् कामान् इत्यादिना । केवलानां कामानां ज्ञेयब्रह्मणः सकाशात् परत्वस्य वक्तुमशक्यत्वेन ब्रह्मसहितानामेव तथात्वात् । तत्रास्य ज्ञेयाभिन्नत्वं तु शब्दान्तरादेव सिद्धमिति । ततः परत्वं द्वितीयोक्तं फलत्वं च विभक्तिभेदेन सन्दिग्धत्वादुपपादनीयम् । तत्र कार्यलक्षणे स्वरूपलक्षणे च विशेषाभावे सन्देहस्यानुदयात्तत्रापि कश्चिद्विशेषोऽभिप्रेत इति ज्ञायते । तत्र कार्यलक्षणे तु

सृष्टीच्छावशगत्वाभाव एव विशेष इतिबोधनाय सृष्टौ कर्तृत्वमनुक्त्वा हेतुत्वमात्रमुच्यते। व्यापाराविष्टत्वं त्वाकाशादीनां पुरुषान्तानाम् । संभूत इति क्रियाया एव सर्वत्रान्वयात् । अतः परं स्वरूपलक्षणे वक्तव्यः । तत्र निरवधिसच्चिदानन्दरूपत्वस्योभयत्र तौल्येऽपि फलत्वस्यानन्द एव पर्यवसानं 'भूमैव सुख'मित्यत्र सिद्धमित्यत्रापि 'को ह्येवान्या' दित्यादिनाभ्यासात् स्तूयते । तथान्नमयादिभ्य आन्तरत्वकथनेनापि 'गोअश्वा एव पशवोऽन्ये त्वपशव' इतिवदन्येषामनान्तरत्वसाधनात् स्तूयते । तथा गौणोपासनाफलानां विवक्षितानन्दापेक्षया न्यूनत्वबोधनादपि स्तूयते, इत्येवं सर्वैः प्रकारैः स्तुत्या फलत्वमुपपाद्य, ज्ञेयानन्दापेक्षया विशेषं बोधयितुमानन्दमीमांसायां ब्रह्मानन्दे 'स एको ब्रह्मण आनन्द' इति गणनापरिच्छेदकथनेन तस्य वाग्गोचरत्वं बोधयित्वा, ततः परस्यानन्दस्य ब्रह्मानन्दाधिक्यबोधनाय 'यतो वाच' इति श्लोकेन वाङ्मनसोरगोचरत्वं तस्याह । एवं लक्षणद्वयेऽपि विशेषबोधनेन तस्य परत्वं परमफलत्वं चोपपादितम् । तथा कार्यनिरूपणे योऽन्तिमः पुरुष उक्तस्तस्य शिरःपाण्यादिकं यदिदमा परामृष्टं तदानन्दमयस्य पुरुषत्वेन अन्येषां पुरुषविधत्वायानन्दस्य स्तुत्यर्थमेव । तथाहि । लोके ह्यन्तर्भृतं बहिर्वेष्टितं च तदाकारं भवति । तत्रान्तर्भृतस्य तदाकारता मूषानिषिक्तप्रतिमादौ दृष्टा । बहिर्वेष्टितस्य तदाकारता नृपदेहे सीवितवसनादौ च। प्रकृते योऽन्नात् पुरुष उक्तः सोऽन्नरसमयः । देहस्य रेतोजन्यत्वात् । रेतसश्चान्नरसत्वात् । तत्र मूषानिषिक्तप्रतिमान्यायाङ्गीकारेऽपि तदन्तर्वर्तिन आकारस्य मधूत्थनिर्मितप्रतिमोपरि संवेष्टनेन शुष्काया मृदो मूषात्वसिद्ध्या आन्तरमधूत्थाकाराधीनत्वाद्वेष्टितन्यायस्यैव सिद्धेर्यथाकथञ्चित्साधयित्वा तेनान्तराकाराङ्गीकारेऽपि 'तेनैष पूर्णः, स वा एष पुरुषविध एव, तस्य पुरुषविधताम्, अन्वयं पुरुषविधः, तस्य प्राण एव शिर' इत्याकारकवाक्येषु 'तेनैष' इत्यत्र तच्छब्देन प्रकृतपरामर्शः। मध्ये 'स वा एषः, तस्य पुरुषविधता'मित्यत्र पूर्वस्यैव, ततस्तस्य प्राण एव शिर इत्यादौ पुनः प्रकृतस्यैव परामर्श इति प्रक्रान्तत्यागदोषाच्च । अतस्तदुभयरहितो बहिर्वेष्टितपक्ष एव साधीयान् । तथा सति सर्वत्र पुरुषाकारसमर्पणे सर्वान्तरस्यानन्दमयस्यैव कारणत्वादिदमा शिरःपाण्यादिपरामर्शोऽपि तत्स्तुत्यर्थ एव । एवं पक्षित्वेन कल्पनमपि तस्य स्तुतावेव पर्यवस्यति । तथाहि । उक्तमन्त्रे 'सोऽश्नुत' इत्यनेन जीवः फलाशने कर्तृत्वेन व्यपदिष्टत्वात्तत्र मुख्यः । स च 'द्वा सुपर्णा' इति श्रुत्या, 'एवं स मानसो हंसो हंसेनैव प्रबोधित' इति स्मृत्या च वस्तुतो हंसाकारः । शास्त्रं तु पुरुषाधिकारेण प्रवृत्तमिति जीवं प्रति तदप्रवृत्तौ तस्य ब्रह्मवित्त्वाद्यभावेन वेदनादिफलस्याप्यभावाच्छास्त्रवैयर्थ्यं स्यादिति फलार्थं शास्त्रसार्थक्यार्थं च जीवस्य पुरुषरूपमावश्यकम् । किञ्च । समतां विना फलानुभवदौर्घट्याद् 'न तत्सम' इति श्रुत्या ब्रह्मसमताया निषेधात् फलानुभावनार्थं समतायै ब्रह्मणोऽपि पुरुषरूपमावश्यकम् । अतः पुरुषरूप एव भगवान् । 'य आत्मनि तिष्ठ'न्नित्यादिश्रुतेर्यदा हंसरूपेण जीवान्तराविश्य तं पुरुषरूपेणान्तरितवाँस्तदा तद्वेष्टनेन पुरुष-

रूपो जीवः सर्वं लौकिकालौकिकफलमनुभवति । परमात्मा च हंसेऽन्तर्भूतो हंसाकारश्च सन् फलमनुभावयतीति श्रुतिरपि तं हंसरूपेण पुर्यावेशोत्तरं वर्णयति। तथाच स्वयमतिमहानपि जीवस्य फलभोजनार्थमेवं करोतीति भक्तवात्सल्यबोधकत्वात् स्तुतौ पर्यवस्यति। नच यद्येवं स्यात् तदा आनन्दमय एव तथा वक्तव्यं स्यान्नान्नमयादिष्वपि, प्रयोजनाभावादिति वाच्यम् । अत्र प्राणमयादीनां चतुर्णां व्याख्याने 'तस्यैष एव शारीर आत्मे'ति कथनादेकस्यैव भोक्तुरन्नमयादीनां प्राप्यानां पञ्चानां फलानां स्वशरीरतया भोग्यत्वस्य च विवक्षितत्वेन तद्बोधनस्यैव प्रयोजनतया पञ्चस्वपि तथा कथनस्य युक्तत्वात् । नचैवं सति पञ्चानां कोशत्वमेव सिद्धमिति शङ्क्यम् । 'अस्माल्लोकात् प्रेत्ये'ति कथनस्य विरोधात्। न चोक्तवाक्ये स्थूलशरीरत्याग एव विवक्षित इति शरीरान्तरमादाय तेषां कोशत्वं न विरोधावहमिति वाच्यम् । तथा सति सूक्ष्मकारणशरीरयोस्त्यागाभावेन प्राणमयाद्युपसंक्रमणश्रुतिविरोधापत्तेः । नचैवं भेदेऽपि शरीरत्वेनैव भोग्यत्वे कोशेभ्यः सकाशात् को विशेष इति शङ्क्यम् । 'एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामती'त्यादिवाक्योक्तस्यात्मत्वरूपस्यैव विशेषस्य तेषु सत्त्वात् । लौकिकानां कार्यत्वेनानात्मत्वात् । यौगिकार्थग्रहणेऽप्यतति व्याप्नोतीत्यात्मपदयोगेन व्यापकत्वस्यापि विशेषत्वात् । कार्याणां प्रत्यात्मं भिन्नत्वेन परिच्छिन्नत्वात् । नच भोक्त्रैक्यस्यैषां शरीरत्वेन भोग्यत्वस्य च विवक्षितत्व इदं वाक्यमन्नमयेऽपि वक्तव्यम्, तत् कुतो नोच्यत इति शङ्क्यम् । अन्नमयकोशे एकात्मभोग्यत्वस्य शरीरत्वस्य चाध्यक्षसिद्धत्वेन तत्तुल्ये विभूतिरूपेऽन्नमयेपि तथात्वस्यासन्दिग्धत्वात्। न चैवं सत्यन्येष्वपि तत्तत्कोशतौल्येन तथात्वस्य शक्यज्ञानत्वात् तत्रापि नोच्येतेति शङ्क्यम् । अन्नमयसमानावयवकत्वस्य सर्वत्रातिदेष्टव्यत्वेन तद्दाढर्यार्थं तत्र तत्कथनस्यावश्यकत्वात् । एवञ्चान्नमयकोशे पञ्चावयवकत्वस्याध्यक्षसिद्धत्वादन्नमयविभूतावपि तथात्वमसन्दिग्धमिति बोधयितुमिदम्पदप्रयोगाद्धस्तेनैव प्रदर्शयति । कोशात् तस्य भिन्नत्वज्ञापनायान्नमयब्रह्मोपासनायां सर्वान्नप्राप्त्या बाह्यं लौकिकं भोगरूपं फलं च बोधयति । अन्नमयादान्तरः प्राणः, सोऽत्र प्राणादित्रितयवृत्तिकः, पञ्चवृत्तिकाश्रितहृदयादिदेशवर्तिनः कोशरूपाद्भिन्न इति ज्ञापनाय तत्सञ्चाराधारमाकाशं तदात्मत्वेन पृथिवीं च प्रतिष्ठादिरूपत्वेन वदति । तदुपासनया सर्वायुर्भोगरूपं फलं च वदति । इदं च रूपद्वयं लौकिकस्य मनोमात्रेन्द्रियप्राणव्यापारात्मकस्य बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधस्य यथायथं सिद्ध्यर्थम् । ततो लौकिकव्यवहारेण वयःप्रभृतिभिः सामर्थ्ये जाते वैदिककार्यार्थं प्रवर्तत इति वैदिको व्यवहारस्तदनन्तरभावी । तस्य च लौकिकाद्भेदोग्रे देवताविग्रहाधिकरणे व्यवस्थाप्यः । तस्य व्यवहारस्य सिध्यर्थं मनोमयः पुरुषो वेदात्मकः । वेदस्य मनोमयत्वं 'स एष जीवो विवरप्रसूति'रित्यत्रैकादशस्कन्धे भगवतोक्तम् । तस्य कोशाद्भेदः स्फुट एव । तदुपासनया ब्रह्मानन्दज्ञानात् सर्वदा भयाभावरूपेण फलेन च । एतदवयवेषु ऋगादयः स्फुटाः । आदेशोऽर्थवादसहितानि कर्मविधा-

यकानि वाक्यानि । अथर्वाङ्गिरसे प्रतिष्ठात्वं तु चातुर्होत्रविधाने ब्रह्मणः कृताकृतावेक्षकत्वेन तत्कर्मणोऽप्यर्थसिद्धस्य कर्मस्थैर्यसम्पादकत्वात् । शान्त्यादिरूपशेषकर्मबोधकत्वात् पुच्छत्वं च बोधितम् । तदनु वैदिकव्यवहारेण नानाविधयागादिसाधनकर्तुः फलं विज्ञानमयः । तस्यावयवेषु पञ्चाग्निविद्यायां चतुर्थ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवचसो भूत्वा समुत्थाय वदन्तीति प्रश्नाद्, निरूपणभागे च प्रथमाहुतौ 'देवाः श्रद्धां जुह्वती'ति श्रावणाच्च श्रद्धारूपा आपो मुख्या इति सा एव शिरः । अयमर्थस्तृतीयेऽध्याये रंहत्यधिकरणे विस्तरेण वक्ष्यत इति नास्य काल्पनिकत्वम् । ऋतसत्यशब्दवाच्यौ तु प्रमीयमाणानुष्ठीयमानावस्थाकौ धर्मौ । योगस्तु चित्तनिरोधरूपत्वेन मुख्यत्वादात्मा । महर्लोकस्याधोभागत्वं तु पञ्चाग्निविद्यासाधितदेहस्य ततोर्वाक्संसृत्यभावात् । एतस्यापि कोशाद्भेदः स्फुट एव । एतस्य ज्ञाने तस्मात् प्रमादाभावे च सति पापनाशपूर्वकसर्वकामाप्तिरूपफलेन च । एतेषामुपासनादिकथनं तु यथोक्तरीत्यैतत्कर्तुः क्रमेण मुक्तिरिति ज्ञापनार्थम् । अत एव तुरीयस्य फलकथने मध्ये प्रमादाभावो निवेशितः । प्रमादे सत्यग्रे ब्रह्मज्ञानं न भवतीति । एतादृशस्य ज्ञानप्राप्त्या ब्रह्मविद् आनन्दमयः फलम् । तत्स्वरूपं सङ्घातरूपत्वाभावादेकमिति धर्मभेदेनैव शिरःपाण्यादिकं निरूप्यते । यथा 'प्राणन्नेव प्राणो भवति, वदन् वा'गित्यत्र कार्यभेदेन व्यपदेशभेदः, तथात्र धर्मभेदेनावयवभेद इति ज्ञापनाय । तत्र मुख्यात्मत्वेन निरुपाधिप्रीतिविषयत्वं यो धर्मस्तदेव शिरः । अपरिनिष्ठितपरिनिष्ठितावानन्दातिशयौ धर्मौ मोदप्रमोदौ । तौ दक्षिणोत्तरौ पक्षौ । आनन्दस्तु स्वरूपम् । ज्ञेयतया साधनशेषत्वात् साधनभूतं यदक्षरं ब्रह्म तत् पुच्छम् । धामादिरूपत्वात्तदेव प्रतिष्ठा, 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित' इति श्रुत्यन्तरात् । एतेन च मन्त्रे द्वितीयान्तेन कामपदेनोक्ता एत एव धर्माः, आनन्दमयस्तु विपश्चिद् ब्रह्म । धर्मधर्मिणोः प्रकाशाश्रयवद्भेदेऽप्यभेदादेतादृशमेव मन्त्रव्याख्येयवाक्योक्तं परमिति बोधितम् ।

तावतापि तस्य विविधज्ञानवत्त्वं लक्षणोक्तं सच्चिद्वैशिष्ट्यं च सम्यङ् नावगम्यत इति तदर्थमग्रिमो ग्रन्थः । तत्र सदंशवैशिष्ट्यज्ञापनाय 'असन्नेव स भवती'ति श्लोकः । 'तदप्येष श्लोको भवती'त्यत्र तदित्यनेन पूर्वश्लोकेष्वन्नमयादिवदत्रानन्दमयस्यैव लक्ष्यीकरणात् । 'तस्यैष एव शारीर आत्मे'ति भोक्तारं परामृशतीति प्रागेवोक्तम् । द्वितीयवर्णके त्वस्यापि वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वम् । तथा सति 'सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ती'त्यादिवाक्येषु साधकत्वेन भोक्तृत्वेन जीवस्यैवोक्तत्वादर्थादेव सर्वत्र तदैक्यलाभः । मध्ये भोग्यत्वेनानन्दमयविभूतिलाभश्च 'तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धा'दिति न्यायेन बोध्यः । सोऽप्यत्र साधनभूतस्य ब्रह्मणः प्रतिष्ठात्वकथनेन बोधितः । 'यदक्षरे परमे प्रजा' इति श्रुत्यन्तरे तत्रत्यानां ब्रह्मात्मकत्वश्रावणात् । अतो न किमप्यनुपपन्नम् । साधकांशे त्वयं श्लोकः सन्दिग्धार्थः । किमयमज्ञस्य सत्तानिषेधकः ? उत परप्राप्तिनिषेधकः ? किं वा किञ्चिज्ज्ञस्य प्राप्तिनिषेधकः ? उत सर्वज्ञस्य प्राप्तिबोधक इत्यभिप्रायेण 'अथातोऽनुप्रश्ना' इति

प्रश्ने बहुवचनम् । 'कश्चन गच्छती'त्यत्र चोप्यर्थे । एवं साधकस्वरूपस्य तस्य फलप्राप्तेश्च सन्देहेन प्रश्ने, साधकस्य सर्वज्ञत्वं तदैव, यदा विपश्चित्त्वं सच्चिदानन्दात्मकत्वं च ब्रह्मणः सम्यग्वेत्ति, नो चेत् किञ्चिज्ज्ञत्वमेवेति वक्तुं 'सोऽकामयते'त्यादिना स्रष्टृत्वादिकमाह । ततः सृष्टिस्वरूपं निष्कृष्टु'मसद्वे'ति द्वितीये श्लोके सृष्ट्यन्तरमाह । तद्व्याख्याने ब्रह्मणः समवायित्वं चाह । ताभ्यां ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं चिदंशवैशिष्ट्यं च बोधितम् । ततो 'यदा ह्येवैष' इत्यादिना पूर्वोक्तरीत्या सर्वज्ञस्य परप्राप्तिरूपं नित्यं फलम्, किञ्चिज्ज्ञस्य तदभावम् । ज्ञानानन्तरमपि मननाभावे किञ्चिज्ज्ञत्वमेव, न सर्वज्ञतेति बोधितम् । ततो 'भीषास्मा'दिति श्लोके वाग्गोचरं ब्रह्ममाहात्म्यमुक्तम् । आनन्दमीमांसायां च ब्रह्मानन्दस्य सर्वापेक्षयोत्कर्षो बोधितः । इदं सर्वं ज्ञेयेऽप्यस्तीति ततोऽप्युत्कर्षस्य बोधनाय 'यतो वाच' इति श्लोकेनावाङ्मनसगोचरानन्दात्मकत्वं ब्रह्मण उक्तम् । तेन ज्ञेयस्य गणितानन्दत्वम्, परस्य त्ववाङ्मनसगोचरानन्दत्वमित्यक्षरादुत्तमत्वमिति बोधितम् । ततो विदुषः परप्राप्तिपूर्वरूपज्ञापनेन प्रश्नोत्तरं पूरयितु 'मेतं ह वाव न तपती'त्याद्युक्तम् । तस्मात् सर्वस्मिन् प्रपाठके मान्त्रवर्णिकमेव प्रतीयते । अतो मुख्योपपत्तेर्विद्यमानत्वेनानन्दमयः परमात्मैवेति सिद्धम् । चकारस्य सूत्रमध्ये प्रयोगो विधिमुखविचारेणाधिकरणपूर्तिद्योतकः । अयमर्थः श्रीभागवते वेदस्तुतौ 'पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु य' इत्यनेनोपबृंहितः । 'अन्नमयादिषु चरम आनन्दमयो भगवानि'ति ॥ १४ ॥

निषेधमुखेन चतुःसूत्र्येदमधिकरणं पुनर्विचार्यते, सुदृढत्वाय । नच सन्देहानां विचारितत्वाच्छैथिल्याभावे दार्ढ्यस्यार्थादेव सिद्धत्वात् किमर्थं पुनर्विचारः कृत इति शङ्क्यम् । आनन्दमये साधितस्य फलत्वस्यैव सन्देहजनकत्वात् । पूर्वतन्त्रे 'फलं पुरुषार्थत्वादि'ति सूत्रेण फलस्य पुरुषशेषत्वबोधनात् । आनन्दमयेऽपि 'तस्यैष एव शारीर आत्मे'त्यनेन भोक्तृकथनवाक्येनानन्दमये भोग्यताया एव दृढीकरणात् । नच मन्त्रवर्णविरोधः । सः ब्रह्मवित् सर्वान् कामानश्नुते, विपश्चिता ब्रह्मणा सहानन्दमयो भवतीत्यर्थोक्तौ तदभावात् । अतः प्रपाठक एतदनुगुणतया नेतव्यः, पूर्वोक्तरीत्या वेति सन्देहे, आद्य एव पक्षो युक्तः । पूर्वतन्त्रानुगुण्यरूपयुक्तेराधिक्यादिति प्राप्ते आह ।

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १५ ॥

नेतरः । इतरो जीव उक्तरीत्या फलत्वमात्रेणानन्दमयो न वक्तुं शक्यः । कुतः ? अनुपपत्तेः । अत्र जगत्करणादिभिः कार्यैर्महामाहात्म्यमानन्दमये ब्रह्मणि प्रतिपाद्यते । जीवस्यानन्दमयत्वे सति तस्यापि स्वातन्त्र्येण जगत्कर्तृत्वं वक्तव्यम् । तथा सत्यलौकिकमाहात्म्यस्यान्यगामित्वेन ब्रह्मात्यलौकिकमाहात्म्यबोधकश्रुत्यनुपपत्तेः । एवं स्वातन्त्र्येण साम्ये 'न तत्सम' इत्यस्या अप्यनुपपत्तिः । अतो जीवो नानन्दमय इत्यर्थः ॥१५॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १६ ॥

इतोपि न जीव आनन्दमयः । 'रसꣳह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती'ति श्रुतौ रसरूपस्यानन्दस्य लब्धव्यत्वेन, आनन्दिनो जीवस्य लब्धृत्वेन भेदो व्यपदिश्यते । यदि जीव आनन्दमयः स्यात्, तदा लब्धव्यत्वाद्भेदेन न व्यपदिश्येत । अतो भेदव्यपदेशादपि तथेत्यर्थः । न'चात्मलाभान्न परं विद्यत' इति श्रुत्यन्तरे स्वरूपैक्येऽपि लब्धृलब्धव्यव्यपदेशदर्शनेनास्य व्यपदेशस्य न भेदगमकत्वमिति शङ्क्यम् । 'एष ह्येवानन्दयाती'त्यग्रिमवाक्ये आनन्दनीयानन्दकत्वेन भेदनिर्देशाज्जीवब्रह्मभेदे सिद्धे आनन्दीत्यस्यापि निर्देशस्य भेदोपोद्बलकत्वे बाधकाभावात् । आत्मलाभश्रुतावपि न जीवस्वरूपलाभस्तात्पर्यविषयः, किन्तु परमात्मलाभ एव । तत्र सनत्कुमारेण नारदं प्रति भूम्न एवात्मतया व्याख्यातत्वादिति । एवं सूत्रद्वयेन जीवस्यानन्दमयत्वं निराकृतमिति बोधनाय चकारः ॥१६॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १७ ॥

तर्हि जड एवानन्दमयो भवतु । तादृशमाहात्म्यस्यान्यैर्जडेऽप्यङ्गीकारादिति चेत् । स किं कार्यरूपः, कारणरूपो वा । नाद्यः । आन्तरत्वेन श्रावणात् । कार्यस्य कारणाद् बहिर्भाव एव कारणाद्भिन्नत्वावगमेनान्तरे तथात्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । अतः कारणरूपो वक्तव्यः । स स्वमते तु नास्त्येव । ईक्षत्यधिकरणे निराकृतत्वात् । सांख्यादिमते तु प्रकृतिर्भवति । सात्र प्रकरणभेदोपगमेनाङ्गीकार्या । अथवा 'तस्य प्रियमेवे'ति कल्पनावाक्यान्यथानुपपत्त्या सत्त्वपरिणामरूपाङ्गीकार्या । उभयथापि सानुमानापेक्षा, न तु शब्दगोचरेत्यतो नोपपद्यते । कुतः ? कामात् । चकारेण तपसः । उभयोरपि चेतनधर्मत्वात् । आनन्दमयवाक्यनिरूपणानन्तरं श्रूयते 'सोऽकामयते'ति 'स तपोऽतप्यते'त्यादि । तथाचानन्दमयवाक्यश्रवणानन्तरम्, आनन्दमयपदोक्तः प्रकृतिः, सुखधर्मकत्वात् । सांख्यसिद्धमूलकारणवत् । अथवा, सत्त्वपरिणामः । आनन्दविकारत्वात् । लौकिकसुखवदिति यावदनुमीयते, ततः पूर्वमेव कामादिश्रवणात् तत् प्रतिहन्यत इति ॥१७॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १८ ॥

इतश्च न जड आनन्दमयः । अस्मिन्नानन्दमये अस्य जीवस्य तद्योगं तेनानन्दमयेन रूपेण योगं शास्ति । 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामती'ति वाक्ये फलत्वेन वदतीति । न हि जीवस्य जडापत्तिर्मुक्तित्वेन वक्तुं युक्ता । संसारापादकत्वात् । तथाच यथा 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति वाक्ये ब्रह्मभावापत्तौ ब्रह्मणि लय उच्यते, तथात्रानन्दमयत्व आनन्दमयावाप्तिरिति फलबलादपि वाक्यतात्पर्यं ब्रह्मण्येव सिध्यतीति जीवाज्जडाच्च निवृत्ते वाक्ये पारिशेष्याद् ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥ १८ ॥

इति पञ्चममानन्दमयाधिकरणम् ॥ ५ ॥

पूर्वाधिकरणविषयवाक्ये 'ब्रह्मविदाप्नोति पर' मित्युपक्रम्य, आनन्दमयस्य फलत्वमुक्त्वा, अग्रे, 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः, स य एवंवि'दिति साधनोक्तिपूर्वकं

क्रमेण तत्फलमुच्यते । तद्यदादित्यान्तः पुरुषान्तश्च वर्तमानस्य स्वरूपं ब्रह्मत्वेन न विचार्यते, तदा 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्ये'त्यविचारकस्य भयश्रावणात् फलं न भवतीति तत् सर्वथा विचारणीयम्, अतो हेतुतागर्भेण प्रसङ्गेन इदमधिकरणमारभ्यते । तत्स्वरूपं च छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके श्रूयते । 'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते, हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः आप्रणखात् सर्वः सुवर्णः, तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी, तस्योदिति नाम, स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः, उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद, तस्यर्क्च साम च गेष्णौ, स एष ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् । अथ य एषोन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते, सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद् ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम यः स एष, ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति, तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्तीत्यादि ।

तत्र संशयः । किमधिष्ठातृदेवताशरीरमत्रोच्यते ? उत ब्रह्मेति ? ब्रह्मणो वा शरीरमिति ? संशयबीजं तु हिरण्मयशब्दः । विकारप्रत्ययस्य भ्रमोत्पादकत्वात् । तत्र हिरण्मयशब्दो विकारवाची । केशनखादयश्च शरीरधर्माः । 'मृता वा एषा त्वगमेध्या यत्केशश्मश्रु' इत्यशुद्धसम्बन्धः शरीरमन्तरेण नोपपद्यते । अधिष्ठानकृतः परिच्छेद आधिदैविकादिवचनं च व्यापकत्वविरोधाद् ब्रह्मत्वस्य बाधकम् । दृश्यत इत्यनेनोक्तं चाक्षुषत्वमपि तथा । 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्य'मिति श्रुतिविरुद्धत्वात् । इन्द्रियवत्त्वं च तथा । 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इति श्रुतिविरोधात् । कप्यासमिति कपेरासनमारक्तं भवतीत्यसभ्यतुल्यता च तथा । अतो देहेन्द्रिययोर्विद्यमानत्वात् कोपि जीवोऽधिकारी सूर्यमण्डलान्तःस्थोत्रोच्यते । नच तत्कथनस्य प्रयोजनाभावः शङ्क्यः । 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्त' इतिवदधिकारिसायुज्ये तदधिकारसमाप्त्यनन्तरं तेन सहास्य मुक्तिं बोधयितुं तत्कथनात् । अथापहतपाप्मत्वं जीवस्य न सम्भवतीति पूर्वोक्तं नाङ्गीक्रियते, तदापि परिच्छिन्नत्वादीनां दोषाणां विद्यमान... तस्य ब्रह्मशरीरत्वमस्तु । तस्य कर्मजन्यत्वाभावादैच्छिकलीलाशरीरत्वादपहतपाप्मत्वं सुवर्णमयत्वं चोपपन्नतरम् । शरीरवदिच्छया लीलार्थमिन्द्रियपरिग्रहोऽपि युज्यते । वर्णमात्रसाम्यान्नासभ्यतुल्यता । असु क्षेपण इत्यस्मादधिकरणे घञि कृते अस्यते ग्रासोऽस्मिन्नित्यास आस्यं कपेर्मुखमिति तत्तुल्यता वेति न दोषः । किञ्च, अत्र कप्यासमिति पुण्डरीकस्य विशेषणम्, नाक्ष्णोः, अतोऽपि तथा । एवमपि कथमं सर्वस्य ब्रह्मभावाय श्रुतिर्वदतीति ब्रह्मण एवेदं शरीरमिति प्राप्ते । अभिधीयते ।

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ १९ ॥

अन्तर्दृश्यमानः परमात्मैव । कुतः ? तद्धर्मोपदेशात् । तस्य ब्रह्मणो धर्मा उदित्यादयोऽत्रोपदिश्यन्ते, 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित' इति, तस्मात् । नन्वपहतपा-

प्मत्वं स्वाध्याये आसन्ये च श्रूयते, देवानां च, 'न ह वै देवानां पापं गच्छती'ति, तत्कथं तस्य ब्रह्मासाधारणत्वमितिचेत्, न । तस्यैतन्नाममात्रसाम्येऽपि स्वरूपतो भिन्नत्वात् । स्वाध्यायो देवपवित्रमिति, 'य एवंविदि पापं कामयत' इति, तत्र तत्र लिङ्गेन स्वाध्यायादौ तस्य पापनाशरूपतया, अत्र तु 'अनान्वितं ते भगवन् विचेष्टितं यदात्मना चरसि हि कर्म नाज्यसे' इति श्रीभागवतवाक्ये कर्ममात्राञ्जनराहित्यरूपतयोक्तत्वेन तथावसायात् । नच पुण्यकर्माञ्जने को दोष इति शङ्क्यम् । 'कर्मणां जात्यशुद्धाना' मिति भगवद्वाक्येन कर्ममात्रस्याशुद्धत्वनिश्चयात् । मुमुक्षूणां पुण्यफलानादरणेनापि तथा निश्चयाच्च । नन्वेवं नामसाम्येऽपि कथं स्वरूपभेद इतिचेत्, उच्यते । ब्रह्म कारणम्, जगत्कार्यमिति पूर्वाधिकरणे निर्णीतम् । तत्र कार्यासाधारणधर्मा यथा न कारणे गच्छन्ति, तथा कारणासाधारणधर्मा अपि कार्ये । इदं हि लोके दृष्टम् । न हि घटपटादेः प्रावरकत्वजलहारकत्वादिस्तन्तुमृत्पिण्डयोर्दृश्यते, न वा पटघटजनकत्वं कारणगतं पटे घटे वेति । एवमंशिधर्मा अप्यंशे । न हि 'सोऽकामयते'त्यादिनोक्तः कामादिर्जीवधर्म इति, अतोऽसाधारण्यादेव स्वरूपभेद इति नामसाम्यमात्रं न तद्बाधकम् । नचैवं नामसाम्ये सिद्धेऽत्र जीवधर्मग्रहणमेवास्तु, ब्रह्मधर्माग्रहे कीं बीजमिति शङ्क्यम् । कारणधर्माणां बलिष्ठत्वात् । उक्तरूपोपासनया जीवेऽपि तथाभवनश्रावणेन तथावसायादिति । अन्यथा तन्न वदेत् । अतस्तस्याः कथनेऽप्येतज्ज्ञापनमेव प्रयोजनम् । अतः सर्वरसादयोऽपि ब्रह्मस्वरूपनिष्ठा एव धर्माः । ये पुनरस्थूलादिवाक्ये निषिध्यन्ते, ते तु लौकिकाः कार्यधर्मा एव । तेन 'अणोरणीया'नित्यादौ कारणधर्मा एव । तेनेदं सिद्धम् । यदेकोऽप्यसाधारणो धर्मो विद्यमानः शिष्टान् सन्दिग्धान् धर्मान् ब्रह्मधर्मत्वेनैव गमयति । अन्यथा तस्यान्यगामित्वे असाधारण्यं भज्येत । इममेव श्रुत्यभिप्रायमङ्गीकृत्य सर्वेष्वधिकरणसूत्रेषु ब्रह्मवाक्यनिर्णयमाह सूत्रकारः । अन्यथा आदित्यान्तरक्ष्यन्त इत्येवं ब्रह्माधिकरणं विशिंष्यात् । तेनेदं सिद्धम् । यत्र निश्चिते कार्यत्वे तस्य कारणाभेदेन स्तुतिः क्रियते, यथेन्द्रप्रतर्दनसंवाद इन्द्रेण स्वस्य, तत्र नेयं रीतिः । तद्व्यतिरिक्तस्थले त्वेवमेवावगन्तव्यमिति । न चैवं परिच्छिन्नेषु नानास्थानेषु नानापरिमाणेन स्थितौ ब्रह्मणोऽनेकत्वापत्त्या 'एकमेवाद्वितीय'मित्यादिश्रुतिविरोधः शङ्क्यः । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति लक्षणवाक्ये अनन्तपदेन ब्रह्मणोऽनन्तमूर्तिताया अपि प्रतिज्ञातत्वात् । 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता' दितिश्रुत्यन्तरेऽप्युक्तत्वात् । अनन्तमूर्तित्वाभावे ब्रह्मणो व्यापकतया सर्वस्य तदन्तःस्थत्वेन 'निहितं गुहाया'मिति हृदयाकाशनिधानोक्तिविरोधापाताच्च । तस्माद् ब्रह्मणो व्यापकत्वेनैकत्वेऽप्यनन्तमूर्तित्वेन साकारत्वाद्वेदैकवेद्यत्वाच्च यादृशं यद्वाक्ये यत्र स्थाने उच्यते, तादृशं तत्र तद् ब्रह्मेति मन्तव्यमिति सिद्धम् । ननु किमित्येवं ब्रह्मस्वरूपस्य निर्बन्धेन साकारत्वं निरूप्यते । साधकानुग्रहार्थं निर्दुष्टलीलाविग्रहाङ्गीकारपक्षस्याप्यदुष्टत्वादितिचेत् । उच्यते । तच्छरीरं केन कृतम् । ईश्वरेणान्येन वा, नित्यं वा

तत्र द्वितीयस्यासङ्गतत्वादाद्यमेवादर्तव्यम् । तथा सति तादृशस्यातिसमर्थस्य का वा अनुपपत्तिर्येन स्वस्यापि शरीरं कल्पयेत्, किन्तु लीलया व्यामोहनार्थं नटवदन्यथा प्रदर्शयेत् । 'यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नट'इति श्रीभागवते नटदृष्टान्तस्योक्तत्वात् । अतः शुद्धसत्त्वात्मकं वा, प्राकृतं वा, मायिकं वा, यन्मूलरूपे कल्पनीयं तदसङ्गतमेव । अथ नित्यम्, तद्यदि सच्चिदानन्दात्मकम्, तदा तु ब्रह्मैव, अचिदात्मकं तु तादृशाकारं प्रलयबोधकसौबालवाक्येभ्यो विरुध्यत इति, तदप्यसंगतम् । तस्मात् पुराणादिष्वपि यत्रोपपत्तिपूर्वकं ब्रह्मधर्मा उच्यन्ते, तत्र ब्रह्मैवेति मन्तव्यम् । ब्रह्मणो वेदैकसमधिगतत्वात् । मीमांसायाश्च तदर्थनिर्णयार्थत्वात्तन्न्यायानामन्यत्राप्यतिदेष्टुं शक्यत्वादिति । नच हिरण्मय इत्यत्र विकारप्रत्यय इति भ्रमितव्यम् । हिरण्यशब्दस्य प्रकृतिभूतस्य त्र्यच्त्वात् । यकारलोपस्य छान्दसत्वात् । हिरण्यशब्दश्चात्रानन्दवाची । यद्यपि लोके तथा न प्रसिद्धः, तथापि लोके हिरण्यस्यानन्दसाधकत्वात् सिद्धे तद्गुणकत्वे, यद् यद्गुणकं, तत् तदात्मकमितिव्याप्तेः समन्वयाधिकरणे साधितत्वात्, कार्यभूतस्यापि तथात्वे कारणभूतस्यानन्दत्वे सन्देहाभावात् तद्बोधके शब्देऽपि तद्वाचकत्वस्यासन्दिग्धत्वादिति । अतः केशादयोऽपि सर्वे आनन्दमया एवेति सूर्यमण्डलान्तःस्थः परमात्मैव । एवमक्षिस्थितेऽपि परमात्मत्वं बोध्यम् । 'तस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूप'मित्यादिना सर्वत्राप्येतद्धर्मातिदेशात्, सैवर्क्तद्यजुरित्यादिना तद्य इमे वीणायां गायन्तीत्यादिना सार्वात्म्योपदेशाच्चेति ॥१९॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २० ॥

'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरा, यमादित्यो न वेद, यस्यादित्यः शरीरं, य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत'इतिश्रुत्यन्तरे सूर्यमण्डलात्तदभिमानिनः सकाशाच्च भेदेन कथनात् । नच पूर्वसूत्रोक्तहेतुनैव सिद्धे ब्रह्मत्वे हेत्वन्तरोपन्यासस्य वैयर्थ्यं शङ्कनीयम् । तथा सत्येतेनैव निर्वाहे अन्तःपदमत्र निधायैकमेव सूत्रं प्रणयेत् । नन्वत्र भेदव्यपदेशमात्रेण कथं परमात्मलाभ इतिचेत् । इत्थम् । अन्तर्यामिब्राह्मणे हि जडाज्जीवाच्च भिन्नत्वेनान्तर्यामी प्रतिपाद्यते । तत्र 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तर' इति जडस्य मण्डलस्य स्थानत्वेन कथनात्ततो भेदः । आन्तरत्वं मण्डलाद्भेदश्चाभिमानिनोऽप्यस्तीति ततोऽपि भेदं वक्तुं 'यमादित्यो न वेदे'त्युक्तम् । तेन मण्डलधर्मैरभिमानिधर्मैश्च न सम्बध्यते । अभिमानी चेत्तं जानीयान्मुक्तः स्यात्, अतः सर्वमुक्तिपरिहाराय स्वधर्मैर्ज्ञानादिभिस्तं न योजयति । एवमुभयस्माद्भेदे सिद्धेऽपि तत्र स्थितेः किं प्रयोजनमित्याकांक्षायां 'यस्यादित्यः शरीरं यः आदित्यमन्तरो यमयती'ति द्वयमाह । तथाच जगद्भासनं, दिग्विभागो, धर्मप्रवृत्तिश्चेत्यादिलीलासिद्ध्यर्थं तच्छरीरम्, तस्य नियमनं च तादृशलीलासिद्ध्यर्थम् । यतो 'भीषास्मा'दित्यादिश्रुत्या सर्वोऽपि भगवतो बिभेति । भीतिश्च नियमनादिति । किञ्चात्र । पुनरप्यन्तरपदम्, अन्तरयतीत्यन्तर इति

सर्वोन्तःस्थापकत्वबोधनार्थम् । एवमत्र चत्वारोऽर्था उच्यन्ते । तथाचात्र भेदव्यपदेशः सर्वविलक्षणत्वव्यपदेश इति । ततः सुखेन परमात्मलाभ इति । नन्वेवं सत्यत्र हेतुसाध्ययोर्भिन्नयोः कथनादधिकरणान्तरत्वमेव कुतो नाङ्गीक्रियते । चकारेण पूर्वसूत्रोक्तहेतुसमुच्चयादिति ब्रूमः । नच साध्यान्तरनिर्देशासङ्गतिः शङ्क्या । तस्य 'नेतरोऽनुपपत्ते'रितिवदुपचारव्यावृत्त्यर्थत्वात् । अतो नाधिकरणभेद इति । नन्वत्र पूर्वसूत्रविषयवाक्ये 'य एवं वेदे'त्युपासनालिङ्गात् तस्या 'वाचं धेनुमुपासीते'तिवत् कल्पिताकारेणापि सिद्धेः किमर्थं ब्रह्मस्वरूपाकाराग्रह इतिचेत् । उच्यते । उक्तहेतुभ्यामाचार्येण साधिते ब्रह्मत्वे उपासनाज्ञानयोरुभयोरप्येकविषयत्वेन तुल्यफलत्वबोधनायेति बुध्यस्व । नन्वतस्मिंस्तद्धर्मानारोप्य तत्त्वेन चिन्तनमुपासना, तस्य तत्त्वेन निश्चयो ज्ञानमिति स्वरूपभेदात् कथं तुल्यफलतेति चेत् । इत्थम् । वेदे हि सर्वत्र 'अन्नं ब्रह्मोपासत' इत्यादौ कार्ये कारणधर्मारोपेण फलश्रावणात् । लोकेऽपि निकृष्टोत्कृष्टधर्मारोपेण फलदर्शनाद्विपरीते वैपरीत्यदर्शनाच्च कारणे कार्यधर्मारोपस्त्वयुक्त एव । कार्ये कारणधर्मारोपस्तु कार्यस्य कारणात्मकत्वेन तद्धर्माधिकरणतया भवति युक्त इति तथोपासना तु यथोक्तफलसाधिका, तस्यारोपस्यादुष्टत्वादिति ॥ २० ॥ इति षष्ठमन्तस्तद्धर्माधिकरणम् ॥ ६ ॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २१ ॥

छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके श्रूयते । 'अस्य लोकस्य का गति'रिति, आकाश इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान्, आकाशः परायणम्, स एष परोवरीयानुद्गीथः स एष अनन्त' इति । तत्राकाशशब्दे संशयः । किं लोकप्रसिद्ध्या भूताकाशो ग्राह्यः ? उत 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्मे'त्यादिवैदिकप्रसिद्ध्या ब्रह्म वा ग्राह्यमिति । तत्र लोकेऽवगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधक इति न्यायेन वैदिकपदशक्तिग्रहस्य कोशव्यवहारादिरूपलौकिकशक्तिग्रहसाधनाधीनत्वात्, सृष्टिप्रक्रियायां 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत'इत्यादौ भूताकाशेऽपि वैदिकप्रयोगदर्शनाद्, ब्रह्मणि तच्छक्तेरभावेन तत्र लक्षणाया वा योगस्य वा आदरणीयत्वात्तयोश्च शक्त्यपेक्षया नैर्बल्याच्च भूताकाश एव ग्राह्य इति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु । आकाशः परमात्मैव । कुतः ? तल्लिङ्गात् । लिङ्गं श्रुतिसामर्थ्यम् । अन्यानपेक्षतया स्वरसेनार्थबोधकत्वमिति यावत्. तस्मात् । श्रुतिलिङ्गादयोऽत्राप्यर्थनियामकत्वेन पूर्वतन्त्रवदाद्रियन्ते । श्रौतत्वेनोभयोस्तन्त्रयोरैकशास्त्र्यात् । अयमर्थः । पूर्वाधिकरणेषु 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्त' इत्यादिवाक्यविचारे निखिलजडजीवकारणत्वं ब्रह्मणि सिद्धमितीहापि सर्वपदेन तान्येव सर्वाण्युद्दिश्य, 'इमानि भूतानी'ति पदयोस्तद्वाक्यसम्बन्धत्वप्रत्यभिज्ञानेन तानि देहविशिष्टजीवतया महाभूततया च निष्कृष्य तत्कारणत्वमाकाशे बोध्यते । तथा एभ्य इत्यनेन तान्येव

परामृश्य ततो ज्यायस्त्वं परायणत्वं च बोध्यते । तद्यदि भूताकाशो गृह्येत, तदा सर्वपदार्थसङ्कोचेन भूतादिपदानामपि तत्संकुच्येत । सङ्कोचस्त्वर्थबाधरूप इति सर्वपदसामर्थ्यस्यार्थबाधे बहूनां तथात्वम् । तच्चानुचितम् । बहुषु पदेषु दोषप्रसङ्गात् । किञ्च । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'त्यादिश्रुत्या सर्वस्य वेदस्य ब्रह्मण्येव तात्पर्यमवधारितम् । तद्यदि निरङ्कुशं सर्वजगत्कारणत्वमस्मिन् भूताकाशस्योच्येत, तदार्थभेदाद्विभागे साकाङ्क्षत्वाभावादस्य वाक्यस्य भेदापत्त्या सर्वस्य वेदस्यैकवाक्यतापि भज्येत । तत्रत्यं सर्वपदमपि संकुच्येत । किञ्चेदं शालावत्येन एतल्लोकगतेः प्रश्ने जैवलिना तदुपपादनायोक्तम् । तच्चोपक्रमादिविचारे सामादिसर्वगतित्वबोधकतया पर्यवस्यति । सर्वगतित्वं च ब्रह्मण एव । एवं सर्वोत्कृष्टत्वरूपं परोवरीयस्त्वं त्रितयपरिच्छेदराहित्यरूपमानन्त्यं च तस्मिन्नेव । अत उक्तोपपत्तिरूपात्तात्पर्यलिङ्गादपि परब्रह्मैवाकाशः । नच लक्षणापत्तिः । ब्रह्मणः सर्वशब्दवाच्यत्वस्य समन्वयादिसूत्रविचार एव साधितत्वादिति । तस्मात् परमात्मैवाकाश इति सिद्धम् । तत्र 'यदेष आकाश आनन्दो न स्या'दित्यानन्दमयाधिकरणविषयवाक्यगताकाशशब्दार्थस्य विचारादुपोद्धातरूपाधिकरणसङ्गतिः । एतेन व्योमादिशब्दवन्ति 'ऋचो अक्षरे परमे व्योम'न्नित्यादीन्यपि वाक्यानि विचारितानि ॥ २१ ॥ इति सप्तमं तल्लिङ्गाधिकरणम् ॥ ७ ॥

अत एव प्राणः ॥ २२ ॥

छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके श्रूयते । 'कतमा सा देवता, प्राण इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते, सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ते'ति । तत्र संशयः । आसन्यो ? ब्रह्म वेति ? पूर्वपक्षसिद्धान्तौ तु पूर्ववदेवेत्यतिदिशति । अत एवेति । पूर्वोक्तोभयरूपात्तल्लिङ्गादेव प्राणशब्दवाच्यं ब्रह्मेत्यर्थः । नन्वधिकरणानां न्यायरूपत्वादन्यत्रापि तत्प्रवृत्तेस्तल्लिङ्गाधिकरणेनैव गतार्थत्वात् किमित्येतत्सूत्रप्रणयनमिति चेत् । उच्यते । 'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनो, यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्त' इति श्रुतावेव स्वापे सर्वभूतसंवेशनं मुख्यप्राणधर्मत्वेन प्रतिपाद्यत इति प्राणविद्याया यथा न ब्रह्मपरत्वम्, तथास्यापीति शङ्कानिवारणायास्यावश्यकत्वात् । नचात्र वागादीनामिन्द्रियाणामुक्तत्वेन भूतानामनुक्तत्वान्नास्य प्राणविद्यातुल्यत्वमिति शङ्क्यम् । 'दीपश्चक्षुस्तथा रूपं ज्योतिषो न पृथग्भवेद्' इति पुराणवाक्ये इन्द्रियाणां भूतापृथक्त्वस्योक्तत्वेन भूतविशेषत्वे प्राणविद्यासाधारण्यस्य शक्यशङ्कत्वादिति । एतेन बाधकासत्त्व एव वाक्यानां ब्रह्मपरत्वम्, न तु तत्सत्त्वेऽपीति देवान्तरोपासनानुच्छेदायेदमधिकरणमिति बोधितम् । तेनोपोद्धातोऽत्र सङ्गतिः ॥ २२ ॥ इत्यष्टममतिदेशाधिकरणम् ॥ ८ ॥

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २३ ॥

छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके श्रूयते । 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतःपृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषु उत्तमेषु लोकेष्विदं वा व तद्यदिदमन्तःपुरुषे ज्योति'रिति । विश्वतःपृष्ठेष्विति, सर्वेषामुपरितनेषु । अयं च विश्वशब्दो न सङ्कोचसह इति ज्ञापनाय तदर्थकं शब्दान्तरं सर्वतःपृष्ठेष्विति । अनुत्तमेष्विति । नास्त्येभ्योऽन्य उत्तम इत्यनुत्तमास्तेषु । शेषं स्फुटम् । अत्र सन्देहः । ज्योतिःशब्देन किमत्र प्राकृतं तेज उच्यते, उत ब्रह्मेति । तत्र तावल्लोके तमोविरोधिपदार्थस्यादित्यादेर्ज्योतिःशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धेः, प्रस्तुतवाक्येऽपि 'दीप्यत' इति प्रकाशलिङ्गेन, तदग्रे च 'तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिञ्छरीरे संस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेर्ज्वलत उपशृणोती'ति जाठरस्याग्नेर्लिङ्गेन च तदुभयकारणभूततेजःसामान्यस्यात्र ग्रहीतुं शक्यत्वात् । जगत्कर्तृत्वादिरूपब्रह्मधर्मस्यात्रानुपलम्भेन, तदग्रे च 'तदेतद् दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतश्च भवती'त्यल्पफलकथनेन च ब्रह्मणो ग्रहीतुमशक्यत्वाच्चात्र प्राकृतं तेजःसामान्यमेवोच्यत इति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु ब्रह्मैवात्रोच्यते । कुतः ? चरणाभिधानात् । 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवी'ति पूर्ववाक्ये चरणाभिधानात् । ननु वाक्यान्तरस्थो धर्मः कथं वाक्यान्तरे ग्रहीतुं शक्य इतिचेत् । उच्यते । एकवाक्यत्वाद्ग्रहीतुं शक्य इति । तदेव कथमितिचेत् । इत्थम् । अत्र हि 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्चे'ति गायत्र्याख्यब्रह्मविद्यां प्रकृत्य, 'वाग् वै गायत्री'त्यादिना भूतपृथिवीशरीरहृदयानि तदभिन्नत्वेन निरूप्य, चतुष्पादस्य ब्रह्मणस्तयोपासनार्थं 'सैषा चतुष्पदे'ति प्रतिज्ञाय, श्रुत्यन्तरे 'चतुर्विंशत्यक्षरा त्रिपदे'ति श्रावणात् कथं चतुष्पदेत्याकांक्षायामेकैकस्य पादस्य षड्विधत्वे सर्वाक्षरसामान्यात् चतुष्पदेत्याशयेन षड्विधेत्युक्त्वा, त्रिपदायां षडक्षराः पादा न कल्पयितुं शक्यन्ते, यतिभङ्गादिदोषादित्याकांक्षायां वाचकभूताया गायत्र्या वाच्याभेदमनुसन्धाय, ब्रह्मपादैस्तद्विधाभिश्च तस्यास्तथात्वं सम्पाद्यमित्याशयेन तदेतदृचाभ्यनूक्तमित्याह । तत् षड्विधत्वेन चतुष्पादत्वं वक्ष्यमाणर्चा गायत्रीमभिमुखीकृत्य ब्रह्मपादाँश्च लक्ष्यीकृत्योक्तमित्यर्थः । तदनु ऋचमुक्त्वा तदुक्तं ब्रह्म विवृणोति । यद्वैतदित्यारभ्य, य एवं वेदेत्यन्तेन । तथाच दहरविद्यायां भार्गव्यां च यदभिप्रेतं तदेव स्वरूपमत्रापीति बोधितम् । अतः परं पादा विचार्याः । तत्र सर्वभूतात्मक एकः पादः, स गीतायां 'क्षरः सर्वाणि भूतानि'इति वाक्याद्विराड्देहविशिष्टजीवसमष्टिरूपो भवति । तथाप्यत्र 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति कथनात् स न ग्रहीतुं शक्यः । किन्तु सर्वपदे सङ्कोचं विधाय, भूर्लोकस्था व्यष्टिजीवा एव पादत्वेन ग्राह्याः । अस्य मन्त्रस्य पुरुषसूक्तोक्तमन्त्रसाजात्यदर्शनेन तद्व्याख्यानभूतपुराणवाक्योक्तपादानामेवात्र ग्राह्यत्वात् । तत्र च 'पादास्त्रयो बहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः । अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रत' इति, 'पादेषु सर्वा भूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः ।

म्‍तं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु'इति वाक्यद्वयात् तद्विचारणे च भूरादिलोकस्थानां गृहस्थजीवानाम्, जनस्तपःसत्यलोकस्थानन्दवतामाश्रमान्तरवज्जीवानां पूर्वश्लोके सर्वभूतविशिष्टानां भूरादीनां लोकानां च द्वितीये पादत्वेन सिद्धिः । एवं सिद्धेषु पादेषु तेषां षड्विधत्वं विचारणीयम् । तच्चैवम् । अत्र हि पूर्वं भूतपृथिवीशरीरहृदयान्युक्त्वा, ततः पादान् ब्रह्म चोक्त्वाग्रे 'तस्य वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषय'इत्यादिना पञ्चपुरुषान् षष्ठं ज्योतिश्चोक्तम् । तेन भूतपृथिवीशरीराणां न पादत्वम्, नापि तन्मुख्यस्थानत्वम्, किन्तु मुख्यस्थानपरिचायकत्वमेव । हृदयस्य तु 'हृद्यन्तर्ज्योतिःपुरुष'इत्यादिश्रुत्या जीवमुख्यस्थानत्वम् । तथा सति भूतपृथिवीशरीरपरिचायितहृदयस्थानां जीवानां पादानां पञ्चभिः स्थानविधाभिः षष्ठेन स्वान्तर्यामिणा ब्रह्मणा ज्योतिषा च षड्विधत्वमिति सिध्यति । तेनात्रैवं प्रकरणैक्ये सिद्धे मन्त्रब्राह्मणयोः परस्परसाकाङ्क्षत्वादर्थैक्याच्चैकवाक्यत्वम् । एवं सिद्धे तस्मिन्नत्र चतुर्थो ब्रह्मपादो निरूप्यते इति सिद्धम् । अनयैव दिशा पादान्तराणामपि षड्विधत्वम् । तथाच यथा प्रणवविद्यायां ब्रह्मणः पादसंख्यापूरकत्वम्, तथात्र विधासंख्यापूरकत्वमिति ब्रह्मधर्माणां पादानामत्राभिधानाज्ज्योतिषो ब्रह्मत्वं सिद्धमित्यर्थः । पूर्वपक्षोक्तदोषपरिहारस्तु 'तमेव भान्त'मिति 'यदादित्यगतं तेज' इति श्रुतिस्मृतिभ्याम्, 'दीप्यत' इत्युक्तस्य प्रकाशत्वस्य 'अहं वैश्वानरो भूत्वे'ति स्मृत्योष्णिमादेश्च वस्तुतो ब्रह्मधर्मत्वात्, 'चक्षुष्यः श्रुतो भवती'त्युपासनाफलवाक्यस्यापि 'अपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवान्द्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इति श्रीभागवतोक्तरीत्या भगवदीयत्वेन दृश्यो विख्यातश्च भवतीत्यर्थेन महाफलत्वात् । 'वसन्ते ज्योतिषा यजेत, वाचैव ज्योतिषा कर्म कुरुते' इत्यादिश्रुत्या ज्योतिःपदस्याप्यनेकार्थत्वेन तमोविरोधिपदार्थमात्रवाचकत्वाभावादेव सिद्ध इति नात्र किमप्यनुपपन्नम् ॥२३॥

छन्दोभिधानान्नेतिचेन्न तथा चेतोऽर्पण-
निगदात् तथा हि दर्शनम् ॥ २४ ॥

ननु यत् प्रकरणैक्यमङ्गीकृत्य पादानां ब्रह्मधर्मत्वं साध्यते, तदसङ्गतम् । उपक्रमे गायत्र्या उक्तत्वेन तस्या एव प्रकरणित्वात् । उपक्रमस्यासञ्जातविरोधत्वेनावान्तरवाक्यापेक्षया प्रबलत्वात् । एवं सति गायत्र्याः सर्वत्वमुपक्रम्य तामेव भूतपृथिवीशरीरहृदयभेदैर्व्याख्याय, 'सैषा चतुष्पदा षड्विधे'ति प्रतिज्ञायोदाहृतो मन्त्रः कथं तात्पर्यलिङ्गोपष्टम्भं विना चतुष्पाद् ब्रह्माभिदध्यात् । नच ब्रह्मपदविरोधः । ब्रह्मोपनिषदितिवच्छब्दब्रह्मेतिवच्च छन्दःपरत्वेनापि तस्य शक्यवचनत्वात् । अतश्छन्दोऽभिधानान्न ब्रह्मधर्माः पादाः । तथाच स्वरूपासिद्धो हेतुरितिचेत्, न, नैष दोषः । कुतः । चेतोऽर्पणनिगदात् । तथा गायत्रीरूपेण ब्रह्मणि चेतोऽर्पणस्य निगदात् कथनात् । कथमितिचेद् । इत्थम् । अत्र ह्युपक्रम एव गायत्र्याः सर्वत्वं प्रतिज्ञातुम्, गायत्री च वर्णसमाम्नामरूपा

तस्याश्च सर्वत्वमनुपचारेण न सम्भवतीति उपक्रम एव विरोधभानम्, अतो न स प्रबलः । अतो ज्ञायते न सर्वत्वादिरूपमाहात्म्योत्थदीप्यत्वबोधनाय तत्कीर्तनम्, किन्तु मन्त्रस्य देवताप्रकाशकत्वात् तद्द्वारा तत्र चेतोऽर्पणार्थमेव । तथाच यथा सूचीद्वारा सूत्रप्रवेशः, तद्वद्गायत्रीद्वारा ब्रह्मणि चित्तं प्रविशेदिति । तदर्थं तत्कीर्तनम् । ननु कुत एवं ब्रह्म प्रतिपाद्यत इतिचेत्, तत्राह, तथा हि दर्शनमिति । तेनैव प्रकारेण ब्रह्मदर्शनं ब्रह्मज्ञानं भवति । तथाच ब्रह्मज्ञानाय तथा प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । हि युक्तोऽयमर्थः । लोके यत् स्वतो न प्रविशति, तदुपायेन प्रविशतीति स्थूलाया बुद्धेर्ब्रह्मणि प्रवेशाय तथोपाय इत्यर्थः । अतो गायत्र्याः प्रकरणित्वाभावेन ब्रह्मण एव तथात्वात्तस्यैव पादा इति न स्वरूपासिद्धिरित्यर्थः ॥ २४ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २५ ॥

भूतादीनां पादव्यपदेशस्योपपत्तिर्यस्मात्, तत्तथा, ब्रह्मणस्तादृशत्वात्, एवं, तव मतोपपत्तिरिति । अयमर्थः । गायत्र्याः प्रकरणित्वमङ्गीकुर्वता भवता सन्निहितत्वाद् भूतपृथिवीशरीरहृदयान्येव पादत्वेन वाच्यानि । तानि च स्वारस्येनासम्भवन्ति गौण्या व्यपदेशेन वक्तव्यानि । तथा व्यपदेशश्चैकत्र वास्तवत्वेऽन्यत्र सम्भवति, नान्यथा । अतस्त्वया स्वमतोपपादनाय ब्रह्मणस्तथात्वमवश्यमादरणीयम् । अत आवश्यकत्वाल्लक्षणादिदोषाभावाच्च ब्रह्मवाक्यत्वमेव युक्तमिति पादानां ब्रह्मधर्मत्वमेवेत्यर्थः ॥ २५ ॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २६ ॥

ननु तथापि पादानां ब्रह्मधर्मत्वं नोपपद्यते । कुतः । उपदेशभेदात् । अयमर्थः । अस्मिन् वाक्ये तु पादा एव नोक्ताः, किन्तु मन्त्रैकवाक्यतया व्युत्पाद्यन्ते । एकवाक्यता त्वर्थैक्ये भवति । प्रकृतवाक्ये तु दिव इति पञ्चमी अनाधारत्वबोधिका । मन्त्रे तु दिवीति सप्तमी आधारत्वबोधिका । एवमुपदेशभेदात् । किञ्च, मन्त्रे अमृतपदम्, ब्राह्मणवाक्ये तु ज्योतिःपदम्, अतोऽप्युपदेशभेदः । तथा प्रकृतवाक्यस्य हृदयमुपक्रम्य पठितत्वात्तत्र हृदयं चतुर्थपादः सिध्यति । मन्त्रे तु सर्वभूतानि वा, भूर्लोको वा । अतोऽप्युपदेशभेदः । अत एव त्रिधोपदेशभेदादेकवाक्यत्वस्य वक्तुमशक्यत्वे पादस्य ब्रह्मधर्मताया वक्तुमयुक्तत्वात्प्रकरणाभिधानं हेतुर्न इतिचेत् । नैष दोषः । कुतः ? उभयस्मिन् विभक्तिभेदादिना भिन्नविधेऽप्युपदेशे ब्रह्मवाक्यत्वस्याविरोधात् । अयमर्थः । विभक्तेर्भेदेऽपि पञ्चम्या सर्वत्र सत्त्वं बोध्यते । अतो दिव इत्यस्य ल्यब्लोपपञ्चमीत्वेन द्युलोकमारभ्य 'सर्वतः पृष्ठेष्वि'त्यर्थाद् मान्त्रः सप्तमीनिर्देशो न विरुध्यते । एवममृतपदज्योतिःपदयोर्भेदेऽप्युभयोर्ब्रह्मवाचकत्वात् सोऽपि न विरुध्यते । तथा पादभेदेऽपि सर्वभूतोपलक्षकस्य हृदयस्य सर्वभूतान्तःस्थस्य ज्योतीरूपस्य च सर्वत्र विद्यमानत्वादयमपि न विरुध्यते । तथाचैवमर्थैक्येन विभागे साकांक्षत्वेन च मन्त्रब्राह्मणयोरेकवाक्यत्वात्प्रकरणस्य

सिद्धे ब्रह्मधर्मत्वे ज्योतिर्ब्रह्मैवेति सिद्धमित्यर्थः । अत्र ज्योतिषोऽन्तःपुरुष उपसंहृतत्वेन, 'स यश्चायं पुरुष' इत्यानन्दमयाधिकरणविषयवाक्ये श्रावितस्य पुरुषान्तःस्थस्यात्र निर्णयात् उपोद्घात एव सङ्गतिरिति बोध्यम् ॥ २६ ॥ इति नवमं ज्योतिश्चरणाधिकरणम् ॥९॥

प्राणस्तथानुगमात् ॥ २७ ॥

कौशीतकिब्राह्मणोपनिषदि श्रूयते ।'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासि'रित्यारभ्य,'एष लोकपालः एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः, स म आत्मेति विद्या'दित्यन्तः सर्वोऽध्याय इन्द्रप्रतर्दनसंवादः । तत्रोपक्रमे वरदानमुपक्षिप्य, 'मामेव विजानीहि, एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्य' इति स्वोपासनं विधाय, ततस्त्वाष्ट्रवधादिना आत्मानं प्रशस्य, स्वोपासनायाः फलं सर्वपापाभावं प्रतिपादितवान् । ततः कस्त्वमिति विवक्षायां, 'प्राणो वा अहमस्मि प्रज्ञात्मानं मामायुरमृतमित्युपास्वे'ति प्रज्ञात्मप्राणगुणकां द्वितीयां स्वोपासनां विधाय, आयुषः प्राणत्वं प्राणस्यामृतत्वं चोपपाद्य, तेन क्रियाशक्तिं प्रशस्य, 'प्राणेन ह्येवामुष्मिन् लोके अमृतत्वमाप्नोती'त्यमृतत्वरूपं फलं प्राणसंयोगेन प्रतिपादितवान् । ततो 'जीवति वागपेत'-इत्यादिना 'प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयती'त्यन्तेन ज्ञानशक्तिं प्रशस्य 'एतदेव उक्थमुपासीते'ति तस्यैवोक्थगुणकामुपासनां विधाय, ततो 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्या'दित्यादिना ज्ञानशक्तिमन्तं प्रशस्य, अग्रे 'ता वा एता दशैव भूतमात्रा' इत्यारभ्य, 'न ह्यन्यतरतो रूपं किञ्चन सिध्ये'दित्यन्तेन क्रियाज्ञानशक्त्योः परस्परसापेक्षतया स्वविषयभूतजगत्साधकत्वं प्रतिपाद्य, ततो, 'नो एतन्नाने'ति प्रतिज्ञाय, 'तद् यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता, नाभावरा अर्पिताः एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः, प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः, स एव प्राणः प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृत' इत्यादिब्रह्मधर्मानुक्त्वा, 'स म आत्मेति विद्या'दित्युपसंहृतम् ।

तत्र संशयः । किमत्रेन्द्रस्यात्मा वा, मुख्यः प्राणो वा, सामान्यतो जीवो वा, परं ब्रह्म वा, प्रतिपाद्यत इति । अथवा आन्तं प्राणस्यैव प्रशास्यत्वदर्शनात् प्राणो वा, ब्रह्म वेति द्विकोटिकः । नच 'अत एव प्राण' इति पूर्वाधिकरणे तल्लिङ्गाद् ब्रह्मत्वं प्रतिपादितमितीहापि तेनैव सन्देहनिवृत्तेः किमित्यधिकरणान्तरारम्भ इति शङ्क्यम् । तत्र प्राणशब्दमात्रे सन्देहाल्लिङ्गस्य बलिष्ठत्वेन बाधकाभावाच्च तावन्मात्रेण सन्देहनिरासस्य सम्भवात् । इह तूपक्रमस्यान्यविधत्वेन प्राणस्य प्रज्ञात्वायुष्ट्वयोरुपपादनेन प्राणशब्दार्थस्यापि सन्दिग्धत्वादन्यलिङ्गरूपबाधकस्यापि सद्भावात्तल्लिङ्गेन निर्णयस्यासम्भवादुचित आरम्भ इति ।

पूर्वपक्षस्तु, अस्मिन् वाक्ये प्राणस्य ब्रह्मतासाधकं किमपि न दृश्यते । बाधकानि तु प्राणप्रशंसादिरूपाणि बहूनि दृश्यन्ते । अतोऽत्र प्रतिपाद्यस्य प्राणस्य न ब्रह्मत्वमिति ।

सिद्धान्तस्तु, प्राणः परमात्मैव । कुतः ? तथानुगमात् । पौर्वापर्येणालोच्यमाने वाक्ये पदार्थानां ब्रह्मण्येव समन्वयात् । तथाहि । उपक्रमे तावद् 'वरं वृणीष्व' इत्युक्तः प्रतर्दन 'स्त्वमेव वृणीष्व यत् त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इति परमपुरुषार्थरूपं

वरमुपचिक्षेपेति तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं परमात्मा न स्यात्। न हि परमानन्दरूपात् परमात्मनोऽन्यः कोऽपि जीवस्य हिततमो भवति। ततः स्वज्ञानेन भ्रूणहत्यादिरूपपापनाश उक्तः, सोऽपि ब्रह्मपरिग्रह एवोपपद्यते। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावर' इति श्रुतेः। प्रज्ञात्मत्वं च चेतनरूपत्वात् तस्यैव सम्भवति। जीवानामपि तदंशत्वाद्। उपसंहारेऽप्यानन्दोऽजरोऽमृतः, एष लोकपाल इत्यादि। एतदपि निरङ्कुशं ब्रह्मपरिग्रह एवोपपद्यते। तथा 'एष उ एव साधु कर्म कारयती'त्यादिनोक्तं सर्वप्रेरकत्वं च, कर्मलेपराहित्यं च। अतः सर्वत्रानुगमात् प्राणो ब्रह्मेति ॥ २७ ॥

न वक्तुरात्मोपदेशादितिचेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥२८॥

यदुक्तं प्राणो ब्रह्मेति। तन्न युज्यते। कुतः। वक्त्रा इन्द्रेण 'मामेव विजानीही'त्युपक्रम्य, 'प्राणो वा अहमस्मि प्रज्ञात्मा, तं मामायुरमृतमित्युपास्वे'त्युपासनाविषयत्वेन स्वात्मन एवोपदेशात्, उपक्रमस्य चासञ्जातविरोधत्वेन प्रबलत्वादन्येषामपि पदार्थानां वाचो धेनुत्ववत्तदनुगुणत्वेनैव नेयत्वाच्च। अतो नास्य ब्रह्मोपाख्यानत्वमितिचेत्, न। कुतः। अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्। हि निश्चयेन अस्मिन् प्रकरणे अध्यात्मसम्बन्धस्य भूमा। आत्मानं परं ब्रह्माधिकृत्य यः सम्बन्धो धर्मस्तस्य बाहुल्यं प्रतीयते। आदावेव परमहितत्वं, स्वज्ञानेन भ्रूणहत्यादिरूपमहापापनिवर्तकत्वम्। उपसंहारे च लोकपालत्वादिकम्। न ह्येतदिन्द्रे सम्भवति। श्रुत्यन्तरे 'विश्वरूपो वै त्वाष्ट्रः पुरोहितो देवानाम् आसीदित्युपक्रम्य, तस्मादिन्द्रोऽबिभेत्, तस्य वज्रमादाय शीर्षाण्यच्छिनत्, तस्याञ्जलिना ब्रह्महत्यामुपागृह्णात्, तां संवत्सरमबिभस्तं भूतान्यभ्यक्रोशन्, ब्रह्महन्नित्यादिना ब्रह्महत्याविभागश्रावणात्। षष्ठस्कन्धे तदुपबृंहणाद्। वृत्रवधेऽपि ब्रह्महत्यास्मरणाच्च। तथा लोकपाललोकेशलोकाधिपतिपदानामर्थावृत्त्या उपचारः साङ्कुशत्वं च तत्र वार्यते। तदपि तथा। इन्द्रस्य स्वर्मात्रपालकत्वात्। एवं स्वातन्त्र्येणायुर्दातृत्वं चापि ब्रह्मण एव धर्मो, नेन्द्रस्य, नाप्यासन्यस्य। 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितावि'ति श्रुत्यन्तरात्। तथा प्राणाभिन्नप्रज्ञात्मत्वमपि तस्यैव, सर्वकार्यकर्तृत्वात्। किञ्च, 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्या'दित्युपक्रम्य, 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता, नाभावरा अर्पिता, एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः, प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः, स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणा भूयान्, नो एवासाधुना कनीया'निति सर्वविधसर्वेन्द्रियव्यापारे अरनाभिभूतं प्रत्यगात्मानमेवोपसंहरति। न हि इदमपि इन्द्रे सम्भवति। ब्रह्महत्यया कनीयस्त्वस्य प्रागेव दर्शितत्वात्। अतः 'स म आत्मे'त्युपसंहारोऽप्येतादृशमेवात्मानमिन्द्रसम्बन्धित्वेन परामृशति, न तु देवताजीवम्। अतोऽत्र परमात्मसम्बन्धबाहुल्याद् ब्रह्मोपदेश एवायम्। देवतात्मपक्षे सर्वत्र गौण्याद्यापत्तेश्चेति हिशब्देन सूच्यते ॥ २८ ॥

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ २९ ॥

ननु यद्येवं ब्रह्मण्येवाभिप्रायः स्यात्, तदा अहङ्कारवादेन नोपदिशेत्, अतो नेदं समाधानमिति शङ्कां तुशब्दः परिहरति। अयमेवं वादो न ब्रह्मवाक्यत्वविघटकतया विभावनीयः। एतस्य वादस्य व्यवहारदृष्टावेव दोषत्वेन शास्त्रदृष्ट्या दोषत्वाभावात्। उपदेशस्तु शास्त्रदृष्ट्या आर्षज्ञानेन स्वात्मानं ब्रह्मात्मकमवगत्य इन्द्रेण कृत इति भासमानोप्यहंकारवादो न ब्रह्मवाक्यत्वविघटक इत्यर्थः। ननु 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्येषु जीवस्य ब्रह्मत्वं बोध्यते, तत्र प्रत्यधिकारं शास्त्रप्रवृत्तिरिति न्यायेन स्वात्मन एव ब्रह्मत्वज्ञानं मुख्यमिति प्रतर्दनस्येन्द्रात्मज्ञानमुपासनं वा न पुमर्थाय। यदि च भागत्यागलक्षणया केवलस्य चैतन्यमात्रस्य ज्ञापनादिकमत्रोच्येत, तदा ब्रह्मधर्मा अत्रोक्ता विरुध्येरन्। अतः शास्त्रदृष्टिरपि नैवंविधा।

किञ्च। कचित् सिद्धेऽहङ्कारवादस्य तथात्वेऽत्रापि तथाङ्गीकर्तुं शक्यते, न तु तस्मिन्नसिद्धे इत्यत आह वामदेववदिति। यथा बृहदारण्यके पुरुषविधब्राह्मणे 'तद्वैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवमहं सूर्यश्चे'ति वामदेवस्याहङ्कारवाद उपदिश्यते, तद्वत्। अयमर्थः। यत्र वामदेवस्याहङ्कारवाद उक्तः, तत्रैव 'यो यो देवानां प्रत्यबुध्यतार्षीणां स सर्वमभव'दिति प्रतिबुद्धानां सर्वात्मभावोऽप्युक्तः। तत्र सर्वेषां सर्वभावे सर्वानन्त्यप्रसङ्गात् सर्वमेकमेवेति वक्तव्यम्। तादृशं च सर्वोपादानत्वात् सर्वात्मकं ब्रह्मैवेति प्रतिबुद्धानां तत्र लयेन स[illegible]त्मभावो वक्तव्यः। तथा सति 'मनुरभवमहं सूर्यश्चे'ति वाक्योक्तो योऽव्युत्याऽनुवादः स्वसर्वत्वविध्यंशं पृथक्कृत्य मन्वाद्यनुवादरूपः सोऽनुपपन्नः स्यात्। 'न प्रेत्य संज्ञास्ती'ति श्रुत्यन्तरेण ब्रह्मणि लये स्वानुसन्धानाभावबोधनात्। अतस्तस्य योऽहङ्कारवादः स ब्रह्मात्मभावेनैव, न तु स्वात्मभावेनेति सिद्धम्। अतस्तत्र यथा स न ब्रह्मवाक्यबाधकः, तथात्रायमपीति, न ब्रह्मधर्मोक्तीनामपि विरोधः। ब्रह्मण एवात्रोक्तत्वात्। नच यद्ययं शास्त्रदृष्ट्या ब्रह्मोपदेशः, तदात्र जगत्कर्तृत्वादयः कुतो नोक्ताः। इन्द्रकर्तृकास्त्वाष्ट्रवधादय एव च कुत उक्ता इति शङ्क्यम्। त्वाष्ट्रवधस्यापि ब्रह्मधर्मत्वात्। 'नन्वेष वज्रस्तव शक्र तेजसा हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजितः, तेनैव शक्र जहि विष्णुयन्त्रित' इति षष्ठस्कन्धे वृत्रवाक्येन तथावसायात्। नन्वेतदसङ्गतम्। 'स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं ही'ति सूत्रे सुषुप्तिब्रह्मसम्पत्तिदशयोरेव ब्रह्मधर्माविर्भावस्य सूत्रकृतोपगतत्वादवस्थान्तरे तदङ्गीकारस्य सूत्रविरुद्धत्वादितिचेत्, न। वाक्यानां सूत्रोपजीव्यत्वेन तदविरोधाय सौत्रे सम्पत्तिपदे उत्तमाधिकारावस्थाया अपि संग्राह्यत्वेनाविरोधात्। अन्यथा 'मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठित'मित्यादीनां विरोधापत्तेः। नन्वत्र ब्रह्मधर्माविर्भावमात्रेण वामदेवदृष्टान्तो न युक्तः। तस्य पूर्णज्ञानित्वा-

दिन्द्रस्य चावेशित्वेन तद्वैषम्यात् । नचेन्द्रस्यापि पूर्णज्ञानित्वं शङ्क्यम् । तथा सतीन्द्रस्यापि वामदेववद् ब्रह्मभावापत्तेः । ज्ञानिनोऽपि ब्रह्मभावं विना मुक्त्यभावात् । 'इहैव समवनीयन्ते प्राणा ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति मुक्तिबोधकश्रुतौ ब्रह्मभावे सत्येव मोक्षकथनात् । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'ति श्रुत्यन्तरे ज्ञानेन ब्रह्मभावश्रावणाच्च । एवं सिद्धे ज्ञानेन ब्रह्मभावे मुक्त्यनुक्तावपि तस्य सिद्धत्वेन वैषम्याभावात् । नच ब्रह्मभावस्य तद्व्याप्तितत्तादात्म्यनिष्प्रपञ्चतदभेदान्यतमस्फूर्तिरूपतया उपदेशाप्रयोजकत्वमिति शङ्क्यम् । तस्य स्वस्मिन् ब्रह्मधर्माविर्भावपूर्वकब्रह्माभेदस्फूर्त्यात्मकत्वेनादोषात् । न चात्र मानाभावः । सर्वभावस्फूर्तिबोधकश्रुतेरेव मानत्वात् । अतो वैषम्याभावाद् युक्तो दृष्टान्तः । एतावान् परं विशेषो यन्मुक्तस्य सार्वदिकः, आवेशिनस्तु कादाचित्को भगवद्विचारितकार्यकाल एवोद्गच्छति, नान्यदेति । तस्मात् सूत्रोक्तमुपपन्नतरम् ॥ २९ ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेतिचेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३० ॥

अत्र बाधकद्वयमन्यदाशङ्क्य परिहियते ।

ननु यथा ब्रह्मधर्मा अत्र भूयांसः श्रुताः, तथा जीवधर्मा मुख्यप्राणधर्माश्च बाधकाः सन्ति । तत्र 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्या'दित्यादिर्वागादिकरणाध्यक्षं जीवं विज्ञेयत्वेन बोधयति । 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयती'ति च प्राणधर्मम् । 'मा मोहमापद्यथा अहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामी'ति श्रुत्यन्तरेण शरीरधारणस्य प्राणधर्मत्वनिश्चयात् । बाणं शरीरम् । नचैवं परस्परं वाक्यानां बाध्यबाधकभावेन न कस्यापि प्रकरणित्वनिश्चय इति वाच्यम् । 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा, या प्रज्ञा स प्राण' इति वाक्येन जीवमुख्यप्राणयोरङ्गीकारे प्राणप्रज्ञयोः सहवृत्त्या तयोस्तत्तद्भावोपचारसौकर्येण, 'स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामती'ति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामतीति वाक्योक्तोत्क्रान्तिसामञ्जस्येन च जीवमुख्यप्राणयोरेकपरिग्रहस्यौचित्याद्[1], ब्रह्मणस्तु व्यापकत्वेनोत्क्रान्त्यसामञ्जस्यात् । अतो जीवमुख्यप्राणलिङ्गादस्य न ब्रह्मवाक्यत्वमितिचेत् । न । उपासात्रैविध्यात् । आपाद्यमानत्रैविध्यात् । कथमितिचेत् । इत्थम् । अत्र हि वक्तृजीवमुख्यप्राणब्रह्मणां लिङ्गान्युपलभ्यन्ते । तत्र वक्तृलिङ्गस्य ब्रह्मपरत्वं पूर्वसूत्रयोरुपपादितम् । अतस्त्रयाणां स्वतन्त्रत्वं वा, लिङ्गद्वयस्य ब्रह्मपरत्वं वावशिष्यते । तत्र लक्षणादोषराहित्यरूपया युक्त्या आद्याङ्गीकारे मामित्यस्यार्थत्रयकल्पनेन, विजानीहि इत्यस्यावृत्त्या वाक्यभेदः प्रसज्येत । एवकारार्थविरोधश्च स्यात् । अत आपाद्यमानत्रैविध्यदोषादत्र जीवमुख्यप्राणयोः परिग्रहो न युक्त इत्यर्थः । ननु सत्यं न युक्तः, तथापि जीवमुख्यप्राणधर्माणां ब्रह्मण्यनुपपत्तिरित्यत आद्रियत इति शङ्कायां तदुपपादनायाह ।

१. एव तथादरस्यौचित्यादिति पाठः ।

आश्रितत्वादिह तद्योगादिति । इह ब्रह्मवादे 'अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जग'दिति श्रुत्यन्तरे जीवस्य ब्रह्मावयवत्वबोधनेन जीवस्य ब्रह्माधेयत्वात् । श्रुतौ विभागादुत्पत्त्यङ्गीकारेण अवयवानामवयव्याश्रितत्वम् । एवं सति हस्तपुस्तकसंयोगस्य पुरुषधर्मत्ववज्जीवधर्माणां भगवद्धर्मत्वं निर्विवादम् । मुख्यप्राणस्य तु ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्माश्रितत्वम् । तद्धर्माणां भगवद्धर्मत्वं तु 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रिता'विति श्रुत्यैवोक्तम् । अत आश्रितत्वकृताद् ब्रह्मसम्बन्धाद् ब्रह्मवादे तेषां ब्रह्मधर्मतायामनुपपत्त्यभावादत्र तदुभयापेक्षया ब्रह्मण एवाधिक्यमवगमयितुमनेन प्रकारेणैकैव ब्रह्मोपासना विहिता । तस्माज्जडजीवादिसर्वात्मकं सर्वतोऽधिकं च ब्रह्मैव महावाक्यार्थ इति सिद्धम् ॥

इदं चाधिकरणं पूर्वोक्तस्य सर्वस्यार्थस्य निगमनाय बोध्यम् । तथाहि । पूर्वं शास्त्रारम्भे ब्रह्मजिज्ञासा प्रस्तुता । सा सर्वदा कर्तव्या, अन्यथा विनाशः स्यादिति । विषयवाक्यारम्भे 'अरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छ'मित्यनेन बोधितम् । ततो जन्मादिसूत्रसिद्धकर्तृत्वं समन्वयसूत्रसिद्धं सर्वोपादानत्वं चोपपादितम् । तत उपसंहारे प्रज्ञात्मात्मानन्दपदाभ्यामीक्षत्यानन्दमयाधिकरणसिद्धोऽर्थः संगृह्य बोधितः । ब्रह्मधर्मोपदेशेन लोकपालत्वादिबोधनेन प्राणशब्दोक्त्या 'स म आत्मे'त्युपसंहारेण च यथायथमन्तस्तद्धर्माधिकरणादिचतुष्टयार्थः संगृहीतः । तेन नास्य पुनरुक्तत्वं शङ्कनीयम् ॥ ३० ॥ इति दशममनुगमाधिकरणम् ।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणनखचन्द्रकिरणसुधासंसिक्तहृदयश्रीव्रजनाथात्मज-
श्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां तच्छिष्यपुरुषोत्तमसंगृहीतायां
भावप्रकाशिकाभिधायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

शास्त्रारम्भे ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयस्य वक्तव्यत्वात् पूर्वं ब्रह्म कथं जिज्ञास्यमित्याकाङ्क्षायां जन्माद्यधिकरणे लक्षणं प्रमाणं च दर्शितम् । ततो लक्षणस्य कर्तृविधया नैराकाङ्क्ष्ये विधान्तरेणान्यस्यापि कारणत्वेन प्राप्त्या लक्षणश्रुतिसङ्कोचः श्रुत्यन्तरपीडा च स्यादिति तद्वारणाय समन्वयाधिकरणे ब्रह्मणः समवायित्वं विचारितम् । ततोऽधिकरणद्वयेन लक्षणे अव्याप्त्यादिदोषाः परिहृताः । ततोऽधिकरणपञ्चकेनोद्गीथाद्युपासनावाक्यानां फलोपकार्यङ्गत्वं विचारितम् । तत्रापि

तल्लिङ्गादिद्वयेन नामान्तरकृतः सन्देहोऽपि परिहृतः । अन्तिमेन च चिदचित्संश्लेषरहितस्य साकारस्य केवलस्य कारणत्वं बोधयितुं तत्संश्लेषनिवारणेन सर्वं निगमितम् । प्रत्ययप्रकृतिरूपशब्दकृतास्सन्दोहाश्च वारिताः ।

अतः परं अर्थसन्देहवारणार्थं द्वितीयादिपादा आरभ्यन्ते । केवलजीवजडतत्समुदायभेदेनार्थस्य त्रैविध्यात् । तत्र द्वितीये जीवपुरस्कारेण सन्देहा निवार्यन्ते ।

तत्र छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके इदमाम्नायते । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत, अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति, स क्रतुं कुर्वीत, मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहे'रित्यादि । अत्र वाक्योपक्रमे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यनेन सर्वस्य ब्रह्मत्वं प्रतिज्ञाय, कथं सर्वं ब्रह्मेत्याकांक्षायां ब्रह्मकार्यत्वाद् ब्रह्मेति बोधयितुं तज्जलानिति सर्वविशेषणम् । जायत इति जम्, लीयत इति लम्, अनितीत्यन् । जं च तल्लं च, तच्च तदन् च जलान् तस्माज्जलान् तज्जलानिति तदर्थात् । तेनेदमुपासनं वाचो धेनुत्ववन्न कल्पितैर्धर्मैरिति सिध्यति । इतिश्च हेतौ । तथा शान्त इत्युपासकविशेषणम् । अग्रे च, स क्रतुं कुर्वीतेति । क्रतुर्विधीयते, तद्रूपं च मनोमयत्वादिवाक्येनोच्यते । तेन तस्योपासनात्मकत्वमवगम्यते । तथा सत्यत्र वाक्यद्वये एकस्यान्यशेषत्वं वा, स्वतन्त्रत्वं वेति विमर्षे, यदि पूर्ववाक्ये जगत उक्तरूपत्वात् सर्वत्र रागद्वेषरहितो भूत्वा वक्ष्यमाणोपासन कुर्यादित्येवं वक्ष्यमाणानुवादेन तच्छेषतया शमविधिरङ्गीक्रियते, तदा विध्यनुवादवैरूप्यं, पूर्ववाक्यत्वेनानुवादासम्भवः । वक्ष्यमाणोपासनार्थं शमं सम्पादयेदित्यर्थकल्पने, शान्त उपासीतेति पदद्वये लक्षणापत्त्या वाक्यार्थस्य लाक्षणिकत्वप्रसङ्गः । वक्ष्यमाणोपासनाया जीवात्माविषयत्वे 'शान्तो दान्त' इत्यात्मदर्शनवाक्यसामान्येन शमस्यावापसिद्धतया विध्यानर्थक्यप्रसङ्गश्च स्यात् । नाप्युत्तरवाक्यस्य पूर्वशेषत्वम् । फलवाक्यविरोधात् अत उभयोः स्वातन्त्र्यमेव युक्तम् । तथा सति पूर्ववाक्ये जगतो ब्रह्मत्वेनोपासनं विधीयत इति स्थितम् । एतदेव च पुराणेषु विराडुपासनमित्युच्यते । अतः परमुत्तरवाक्यार्थे सन्देहः । तत्र 'स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः । मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूप'मित्येकादशीयवाक्यान्मनोमयत्वं वेदलिङ्गम् । प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्ट इति प्रवेष्टव्यत्वकथनात्[1] कारणाभेदोपचारेण तस्य प्राणशरीरत्वम् । अग्रे सत्यसङ्कल्पादिचेतनधर्माणाम्, 'एष म आत्माऽन्तर्हृदय' इति च कथनाद् विज्ञानमयो जीवो वेदप्रतिपाद्यब्रह्मत्वेनोपास्य उच्यते ? उत ब्रह्मधर्मबाहुल्यादन्तर्यामित्वेन पुराणेषु प्रसिद्धं ब्रह्म वा उपास्यमुच्यत इति । तत्र पूर्ववाक्ये जडस्य

१. प्राणजन्यत्वकथनादिति पाठः ।

जगतो ब्रह्मत्वेनोपासनमुक्तमिति द्वितीयवाक्येऽपि जीवस्य ब्रह्मत्वेन उपासनमेव युक्तम्, न तु ब्रह्मवाक्यत्वम् । प्रबलहेतुं विना तथाङ्गीकर्तुमशक्यत्वात् । न च जीववाक्यत्वाङ्गीकारेऽत्र कः प्रबलो हेतुरिति शङ्क्यम् । शाखान्तरे 'विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेदे'ति जीवस्य ब्रह्मत्वेनोपासनायाः स्पष्टतया, अत्र च भारूपत्वकथनेन तत्प्रत्यभिज्ञानस्यैव हेतुत्वात् । नच पदान्तराननन्वयः शङ्क्यः । वेदबोधितत्वान्मनोमयपदस्य सति असङ्कल्पत्वात् सत्यसङ्कल्पपदस्य प्राणोपाधिकत्वात् प्राणशरीरपदस्य चान्वये शेषाणामुपासनार्थानुवादतयान्वयस्य सुघटत्वात् । अतः कार्यकारणयोरभेदाज्जीव एव ब्रह्मत्वेनोपास्य इत्येवं प्राप्ते ।

उच्यते । इदं ब्रह्मवाक्यमेव । कुतः ? सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । परमशान्तस्य पूर्वोपासनया शुद्धान्तःकरणस्य सर्ववेदान्तप्रसिद्धकब्रह्ममननात्मकपरमहितानुशासनस्यैव युक्तत्वेन तदुपदेशादित्यर्थः । नच शाखान्तरस्वारस्याज्जीववाक्यत्वं शङ्क्यम् । तत्राग्रे आनन्दमयस्योपदेष्टव्यत्वेन जीवोपासनाया उचितत्वेऽप्यत्राग्रे उपदेश्यान्तरादर्शनेनात्र तदङ्गीकारस्यायुक्तत्वादिति । नन्वस्मिन् सूत्रे पक्षवाचकपदस्यादर्शनात् कथमेतस्यैव विषयवाक्यतयावधारणमितिचेत् । उच्यते । प्रथमपादे ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय, जन्मादिसूत्रे ब्रह्म लक्षयित्वा, आनन्दमयान्तैरधिकरणैस्तत् परीक्षितम् । ततस्तस्य बाह्यत्वे प्राप्ते, अन्तस्तद्धर्माधिकरणेन तस्यान्तरत्वं साधितम् । तच्च परीक्षणीयम् । अन्यथा आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वं न सम्यगवगतं स्यात् । तदस्मिन् पादे परीक्ष्यते । आन्तं तस्यैव प्रपञ्चदर्शनात् । नच तद्वृथेति शङ्क्यम् । आनन्दमयविषयवाक्यसन्दर्भे 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्ये'त्यमन्तुर्दोषकथनेन तन्मननस्यावश्यकत्वात् । तच्च मननमत्र 'अथ खल्वि'त्यादिसन्दर्भादवगम्यत इत्यतो विषयस्यावधृतिः । किञ्च, जगत्कारणत्वं निरवद्यानन्दात्मकत्वं यथा श्रौतं लक्षणम्, तथा 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः, यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर' इत्यपि स्मार्तं लक्षणम् । तत्र किं लोकत्रयम्, कथमावेशः, किं भरणम्, कथं च भरणम्, कथमव्ययत्वम्, ईश्वरत्वं चेति । तदप्येतेन विमृष्टं भविष्यति । किञ्च, मननं हि अनपेक्षितांगोद्वापेनापेक्षितांगावापेन च वाक्यार्थनिर्धारणे भवति । तत्र पूर्ववाक्योक्तं जगज्जनकत्वं 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानामसृजते' त्यादिश्रुतिभिर्वेदे चतुर्मुखे चास्तीति किमात्मकत्वेन जगदुपास्यमिति शंकायां 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यदृग्वेदो यजुर्वेद' इत्यादिभिः 'यो ब्रह्माण'मित्यादिभिश्च तयोर्जन्यत्वेऽवधारिते तादृशस्य सांकुशजनकत्वस्योद्वापेन 'यतो वे'त्यादिश्रुत्युक्तस्य तस्यावापेन च ब्रह्मपदस्य परवाचकत्वं निर्धार्य तदात्मकत्वेनोपास्यमिति वाक्यार्थो यथामतो भवति । तथा एतद्वाक्येऽपि सत्यसंकल्पादिपदोक्तानां धर्माणां वेदे हिरण्यगर्भे जीवान्तरे च असम्भवात्तद्विशिष्टे मनोमये मन्तव्ये, 'मनसैवानुद्रष्टव्यः' 'स मानसीन आत्मा जनानां,' 'मनसा तु विशुद्धेने'त्यादिश्रुतिभिस्तादृशमनोग्राह्यत्वादिना

प्राचुर्यार्थवापेन विकारार्थोद्वापेन चानन्दरूपो मनोमयः । 'यस्य प्राणः शरीर'मित्यन्तर्यामिब्राह्मणे श्रावणेनान्तर्यामी प्राणशरीर इत्यवधारणेनान्तरात्मा आनन्दमय ईदृशो मतो भवतीति स एव वाक्यार्थ इति सिद्धम् ॥ १ ॥

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

ननु पूर्ववाक्ये ब्रह्मोपासनकथनेऽप्यथेति प्रकृतच्छेदेनाग्रे उपासनान्तरमुच्यत इति गम्यते । तथा क्रतुमय इत्यारभ्य, तथेतःप्रेत्य भवतीत्यन्तेन लोकान्तरे सङ्कल्पानुरूपदेहप्राप्तिरूपफलकथनात् फलस्य च तात्पर्यनिर्णायकत्वात् तद्विचारे तस्य प्राकृतत्वेन जघन्यतया अत्रोक्तोपासनाया ब्रह्मविषयत्वं न घटते । अतस्तादृशदेहप्राप्त्यर्थं वेदाभिमानिदेवताया वा, क्रतुमय इत्यादिना साधकस्योपक्रान्तत्वात् स्वजीवस्यैव वोपासना युक्ता । नच स्वोपासनया कथं तादृशं फलमिति शङ्क्यम् । भावनया पेशस्कृतो रूपान्तरस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन श्रुत्युक्तपारलौकिकरूपान्तरस्य भावनाप्रचयतायां बाधकाभावात् । यद्यप्येवं फलं ब्रह्मोपासनायामपि सम्भवति, तथापि देहत्वेन प्राकृतत्वेन व्याप्त्या 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति' 'ब्रह्मविदाप्नोति पर' मित्यादिश्रुत्युक्तफलविरुद्धरूपत्वाद्ब्रह्मोपासनायां तादृशफलांगीकरणमयुक्तम्, विषयैक्येन तस्या अपि ज्ञानतुल्यत्वात् । अतोऽत्र मननोपदेशाङ्गीकारो न युक्त इत्याशङ्क्य परिहरति । विवक्षितेत्यादि । विवक्षिता वक्तुमिष्टा उपादेयत्वेनाभिप्रेता वा या गुणरूपा लोकान्तरीयतादृशदेहप्राप्तिस्तस्या ब्रह्मज्ञानपक्षेऽपि भगवत्स्वरूपलाभेन सारूप्यलाभेन वा उपपद्यमानत्वात् । नच 'यथा क्रतु'रित्यादिना लोकान्तरप्राप्यत्वेन सङ्कल्पानुरूपत्वेन व्याप्तेरुक्तत्वात् कुर्वीतेत्युपदेशबोधितः क्रतुः प्राकृतदेहस्य च हेतुरिति वाच्यम् । परमशान्तस्य पूर्वोपासनया शुद्धान्तःकरणस्याशुद्धसङ्कल्पायोगात् । तदभावे प्राकृतदेहस्याप्ययोगात् । सत्यसङ्कल्पादिवचनेनापि प्राकृतदेहायोग इति चकारार्थः ॥ ॥ २ ॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

न 'न्वात्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुष' इत्यादौ ज्ञेयतया प्रसिद्धस्य जीवस्य मन्तव्यत्वोपदेशो लोकान्तरे विवक्षितदेहप्राप्तिः । 'न वै कश्चिन्मे मनसो मृषा गति'रिति वाक्यात् सति असङ्कल्पत्वाद्वा सत्यसङ्कल्पत्वम्, व्यापकत्वादाकाशात्मत्वम्, पर्यायेण सर्वाहंमानितया वा सर्वकर्मत्वादिकं हिरण्यगर्भे च संगच्छते इति सूत्रद्वयोक्तेर्जीवे ब्रह्मणि च तुल्यत्वान्नैकान्ततोऽत्र ब्रह्मवाक्यत्वनिर्णय इत्याशङ्क्य परिहरति। अनुपपत्तेरित्यादि । अस्त्वेवमुपपत्तितौल्यम्, तथापि शारीरः शरीरसम्बन्धी जीवो न वाक्यार्थो भवितुमर्हति। कुतः ? अनुपपत्तेः । प्राणशरीरत्वस्यानुपपद्यमानत्वात् । प्राणशरीर इत्यत्रानन्दरूपं प्राणनकर्तृ यत् स्वरूपं तदभिप्रेयते । अतो मनोमय इत्यत्र यथा विकारार्थोद्वापेन

प्राचुर्यमुपदेशगोचरः, तथा प्राणशरीर इत्यत्र लौकिकप्राणोद्वापेनानन्दात्मकप्राणस्वरूपत्वं तद्गोचरः, तस्यानुपपत्तिस्तु प्रकृते स्फुटैवेति । नच लौकिकप्राणोद्वापे मानाभावः शङ्क्यः । लौकिकस्य शरीरतायाः आध्यात्मिकत्वेनेदानीमप्युपासकस्य प्राणशरीरत्वात्तथोपासनोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गस्यैव मानत्वात् । पूर्वपक्षस्यात्रैव निवृत्तत्वात् तुशब्दः ॥ ३ ॥

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

ननु प्राणशरीरपदविरोधादत्र जीववाक्यत्वव्युदासो न युक्तः । तस्य प्राप्यतादृशरूपात्मकफलाभिप्रायत्वादित्याशङ्क्य परिहरति । कर्मेत्यादि । प्राणशरीरविरोधो नैवं परिहर्तुं शक्यः । कुतः । कर्मकर्तृव्यपदेशात् । एतमितः 'प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्य' इत्यग्रे फलवाक्ये एतमित्यनेन प्राणशरीररूपं ब्रह्म प्राप्तिकर्मत्वेन ध्यानकर्मत्वेन च व्यपदिशति, यस्य स्यादित्यादि ध्यातृत्वेन प्राप्तृत्वेन च शारीरम् । तयोर्मध्ये कस्य प्राधान्यमित्यपेक्षायां यद्यपि फलस्य पुरुषशेषत्वं पूर्वतन्त्रसिद्धम्, तथापि तदचेतनस्य, न तु चेतनस्येति स न्यायो नात्र प्रवर्तते । किन्तु लोकन्यायः । लोके हि यस्य चेतनस्य महत आशास्यत्वम्, तस्यैव शेषित्वमिति वरणीयस्थले दृष्टम् । तथा ध्येयस्य न ध्यातृशेषत्वमिति तु पूर्वतन्त्रेऽपि । प्रकृते तूभयमपि ब्रह्मणीति कथमपि जीवशेषत्वं तस्य न युज्यते । एवं ब्रह्मणः प्राधान्ये तस्यैव प्रकरणित्वादिदं ब्रह्मवाक्यमेव । किञ्चात्र कर्मकर्तृपदेन सेवकत्वं बोध्यते । अतोऽपि न शेषित्वम् । किञ्च, भजनीयरूपं यदि न कथ्यते, तदा तादृशं फलं न सिध्यतीत्यतोऽपि तस्य मुख्यत्वमिति ज्ञापनायाधिकरणसम्पूर्णत्वद्योतनाय च चकारः । एवमनेनाधिकरणेनानन्दमयस्यान्तरस्य मनोमयत्वादयो धर्मा विचारिताः ॥ ४ ॥ १ ॥

इति प्रथमं सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाधिकरणम् ।

शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

इदं वाजिनां समानप्रकरण आम्नायते । यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मय इति । अत्र प्रसङ्गादिदं विचार्यते । हिरण्मयः पुरुषः किं जीव उत ब्रह्मेति । नन्वत्रापि पक्षानुल्लेखात् पूर्वाधिकरणशेषत्वमेव युक्तम्, नाधिकरणान्तरत्वम् । नच विषयवाक्ये पदान्तरदर्शनात्तथेति वाच्यम् । अन्तस्तद्धर्माधिकरणेनैव चारितार्थ्यादेतद्विचारस्यैव व्यर्थत्वादिति चेत्, न । अत्र तद्धर्मोपदेशस्यास्फुटत्वेन ततो गतार्थताया अभावे विषयभेदस्य स्फुटत्वेनाधिकरणान्तरत्वस्य युक्तत्वादिति । एवं सिद्धेऽधिकरणान्तरत्वे उपक्रमस्यासञ्जातविरोधत्वेन प्रबलत्वात्तत्र च सूक्ष्मपरिमाणश्रावणेन जीववाक्यत्वमेव युक्तम् । यद्यप्ययं न नियमः, आमिक्षाधि-

करणादानुपक्रमगतस्यापि वैश्वदेवत्वस्य वाजिनयागादानुत्पत्तिशिष्टादिन्यायेन बाधदर्शनात्, तथाप्युपक्रमोपसंहारयोरन्यतरस्यान्यपरत्वकल्पने न वाक्यस्यैकार्थता सम्भवति । विप्रतिपत्तिनिरासेन वाक्यभेदो न भवति, तस्यैव बलीयस्त्वमिति पूर्वतन्त्रे सिद्धम् । तदैकशास्त्र्यादत्राप्यादरणीयम् । तत्र छान्दोग्ये त्रीण्येव तेषां बीजानीति श्रावणादत्र जरायुजस्वेदजाण्डजोद्भिज्जभेदेन चतुर्विधानां जीवशरीराणां व्रीह्यादिदृष्टान्तैर्निरूपणार्थमौपाधिकपरिमाणप्रतिपादकमिदमन्तर्हृदयवचनम् । आराग्रश्रुतावौपाधिकपरिमाणस्यापि बुद्धिगुणेनोक्तत्वात् । नच हिरण्मयत्वविरोधः । पूर्वाधिकरणसिद्धेन तत्क्रतुन्यायेन तादृगुपासनायां फलतो हिरण्मयत्वस्य शक्यवचनत्वात् । नच तथापि ब्रह्मवाक्यत्वाङ्गीकारे किं बाधकमिति वाच्यम् । ब्रह्मणो निरवद्यत्वेन जीवाध्यस्यमानव्रीहियवादिरूपशरीरसाम्यस्य तत्रायुक्तत्वात् । अतो जीवप्रतिपादकमेवेदं वाक्यमिति प्राप्ते ।

ब्रूमः । शब्दविशेषात् । शब्देनोक्तो विशेषः शब्दविशेषस्तस्मात् । हिरण्मयस्यानन्दमयत्वं तद्धर्मोपदेशाधिकरणे सिद्धम् । तच्च ब्रह्मासाधारणम् । नच तज्जीवस्य फलरूपबोधनायेति वाच्यम् । तस्यामेव लय इति नियमाभावात् । तैत्तिरीये 'आदित्यो वा एष' इत्यनुवाकद्वये मध्ये पूर्वस्मिन् हिरण्मयं पुरुषं प्रस्तुत्य, द्वितीये 'आदित्यो वै तेज' इत्यादिना तद्विभूतिभूता देवताश्चोक्त्वा, तदन्ते 'ब्रह्मणः सायुज्यꣳ सलोकतामाप्नोत्येतासामेव देवतानाꣳ सायुज्यꣳ सार्ष्टिताꣳ समानलोकतामाप्नोति य एवं वेदे'ति श्रावणेन तत्क्रतुनियमाभावात् । न च तत्क्रतुश्रुतिबाधः शङ्क्यः । यथा क्रतुरित्यत्र पुरुषविशेषणस्याधिकारस्यापि प्रकारांशे निवेशेन तदभावात् । एतदनिवेशे श्रुत्योः परस्परविरोधपरिहारस्यासम्भवात् । अतः शब्देनैव विशेषस्योक्तत्वान्न हिरण्मयः पुरुषो जीवः, किन्तु ब्रह्मैव ॥ ५ ॥

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

ननु हृदये वर्तमानत्वं जीवासाधारणम् । हिरण्मयश्रुतिस्तु ' बिभ्रद्रूप हिरण्मयम्' इति ध्रुवप्रसङ्गे वाक्याज्जीवसाधारणा । अतो जीववाक्यत्वमेवास्त्वितिचेत्, तत्राह । स्मृतेरिति । 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठती'ति गीतास्मृतेर्लिङ्गस्यासाधारणत्वाभावान्न तेन जीववाक्यत्वनिर्णय इत्यर्थः । गीताया भगवद्वाक्यत्वे यथा स्मृतित्वं तथा भाष्यादवगन्तव्यम् । चकारः स्मृतिमूलभूतभगवन्निःश्वासात्मकश्रुतिसमुच्चायकः ॥६॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥

उपक्रमबलीयस्त्वमाशङ्क्य परिहरति । अर्भकौकस्त्वादित्यादि । अर्भकम् अल्पकम् । वर्णविपर्ययः । तादृशं ओकः स्थानं यस्य तादृशत्वात् । तस्य व्रीह्यादिरूपत्वस्य व्यपदेशात् कथनात् । अत्र व्यापकः परमात्मा प्रतिपाद्यो नेतिचेत्, न । कुतः । निचाय्यत्वात् । निदिध्यासनानन्तरं हृदये साक्षात्क्रियमाणत्वात् । तथाच । व्यापकत्वेऽपि हृदयस्य तद्वृत्तिलाभस्थानत्वेन स्थानत्वव्यपदेश इति न तत्परमात्मत्वबाधकम् । तर्हि द्वितीयस्य का गतिरित्यत आह । व्योमवदिति । यथा चत्वार उपरवाः प्रादेशमात्राः बिलविशेषास्तद्वत् । ते हि 'दक्षिणस्य हविर्धानस्याधस्तात् पुरोक्षं चतुर उपरवानवान्तरदेशेषु प्रादेशान्तरालान् करोती'ति कल्पश्रुत्या विधानादध्वर्युयजमानयोः किमत्र भद्रमित्यादिमन्त्रैः परस्परहस्तग्रहणाय क्रियन्ते । तैर्बिलैः प्रादेशमात्रमाकाशस्वरूपमभिव्यक्तीक्रियते । तावता किमाकाशस्य व्यापकता भज्यते, अपितु न । तथा चतुर्विधभूतान्तर्हृदये वर्तमानत्वख्यापनाय व्रीह्यादिस्वरूपत्वमुच्यते । 'अतः परन्नान्यदणीयसꣳ हि परात् परं यन्महतो महान्त'मित्येकस्यैव तैतिरीयेऽनेकपरिमाणश्रावणात् । अतः परिमाणविरोधस्याप्यभावान्न ब्रह्मवाक्यत्वभङ्ग इत्यर्थः । पूर्वपक्षसिद्धान्तयोश्चकारद्वयमेतादृशवाक्यान्तरे पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्वैलक्षण्यस्य तदुपपत्तीनां च समुच्चयार्थम् । तेन 'अत एव प्राण' इतिवदधिकरणान्तरत्वमिति सूचितम् ॥ ७ ॥

सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

जीवतुल्यतापत्तिरूपबाधकमाशङ्क्य परिहरति । सम्यगभिनिवेशेन भोगः सम्भोगः, सम्यग्भोगो यस्मादिति च सम्भोगस्तयोः प्राप्तिः संभोगप्राप्तिः । यदि सर्वेषां हृदि जीववद्भगवाँस्तिष्ठेत्, तदा जीवस्येवाम्याणि सुखदुःखसाक्षात्कारस्तत्साधनपरिग्रहश्च तयोरापत्तिः स्यादिति चेत्, न । कुतः ? वैशेष्यात् । विशेषस्य भावो वैशेष्यम्, तस्मात् । सर्वरूपत्वमानन्दरूपत्वं स्वकर्तृत्वं विशेषस्तस्य भावः सत्ता, सा ब्रह्मणि वर्तते, न जीवे, अतो जीवस्यैव भोगो, न ब्रह्मण इत्यर्थः । अत्र वैशेष्यपदेनाविवक्षितो भोगो नेति सूच्यते, न तु यावद्भोगाभावः । अन्यथाग्रिमाधिकरणविरोधप्रसङ्गादिति ॥ ८ ॥२॥

इति द्वितीयं शब्दविशेषाधिकरणम् ।

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

पूर्वाधिकरणे हृदयान्तर्हिरण्मयस्य ब्रह्मत्वसमर्थनेन 'यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक' इतिश्रुतिर्विचारिता । तेन सच्चिदानन्दरूपत्वं सिद्धम् । अतः परं तत्र स्थितेः प्रयोजनं विचारयति । तत्र कठवल्लीषु द्वितीयवल्लीसमाप्तौ श्रूयते । 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः, मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स' इति । अस्मिन् वाक्ये ब्रह्मक्षत्रयोरोदनत्वं वदन् मृत्युर्यच्छब्दार्थस्य भोक्तृत्वमाह ।

तत्र संशयः । किं जीवो ब्रह्म वेति । नन्वत्र सन्देहो न घटते । ब्रह्मक्षत्रपदयोरसंकुचितवृत्तित्वेन यावत्तद्ग्राहकत्वाद्यावतोस्तयोः सर्वमारकस्य मृत्योश्च भक्षके जीवत्वस्य सम्भावयितुमप्यशक्यत्वादिति चेद्, उच्यते । अत्र पूर्वधर्मवत् ओदनोपसेचनरूपकेण जीववद्भोक्तृत्वस्य स्थानाज्ञानकथनेन स्वहृदये अभासमानत्वस्य च सूचनेन सम्भाव-

नोत्पत्तेः । एवं सिद्धे संशये निषिद्धस्य भोग्यत्वकथनेन भोजनस्य लौकिकतुल्यत्वसूचनेन स्थानाज्ञानकथनेन चोपासनोपचितालौकिकसामर्थ्यः कश्चिन्महादेवादिर्वा भवितुमर्हति । न तु भगवान् । अक्लिष्टकर्मत्वेन तद्विरुद्धधर्मत्वादिति प्राप्ते ।

अभिधीयते। अत्तेत्यादि। अत्ता भगवानेव। कुतः? चराचरग्रहणात्। चरः सर्वप्राणिवधार्थं परिभ्रमन् मृत्युः, अचरं प्रवाहनैयत्यात् केनाप्यचाल्यं ब्रह्म क्षत्रम्। तयोर्ग्रहणात्। अन्तःप्रवेशनात्। न हीदं जीवेन कर्तुं शक्यते। ननु मास्तु जीवः, तथापि मृत्युञ्जयत्वेन संहारकत्वेन ज्ञानदातृत्वेन च महादेवस्य प्रसिद्धत्वान्मुख्यविभूतिरूप एव सोऽस्तु, न तु परमात्मेतिचेत्, न। 'यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घना'दितिन्यायेन तावत्सामर्थ्यस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वात्। यथा ह्यमात्यो वा, युवराजो वा, राजकार्यं कुर्वन्नपि सर्वेभ्योऽतिशयवानपि, न राजभोग्यं भुङ्क्ते, तदसाधारणं कार्यं वा करोति, तद्वदिति लोकन्यायाच्च। नच स एव परमेश्वर इति वाच्यम्। नृसिंहपूर्वतापिनीये 'अनुपनीतशतमेकेनोपनीतेन तत्सम'मित्यारभ्य, गृहस्थवानप्रस्थयतिरुद्रजाप्यथर्वशिरःशिखाध्यायिपर्यन्तमुक्त्वा, 'अथर्वशिरःशिखाध्यायिशतमेकमेकेन मन्त्रराजजापकेन तत्सम'मिति विद्यावदुत्कर्षस्य नृसिंहमन्त्रराजजापक एव विश्रान्तिश्रावणेन विद्यावदुत्कर्षस्य च विद्योत्कर्षाधीनत्वेन तदुत्कर्षस्य च तत्प्रतिपाद्योत्कर्षाधीनत्वेन नृकेसरिणि भगवत्येव विश्रान्त्या तथा वक्तुमशक्यत्वात्। अतः परमेश्वर एवात्ता। नच बाधकानां तर्हि का गतिरिति शङ्क्यम्। भोजने लौकिकतौल्यस्यास्मदादिप्रतिपत्त्यर्थत्वेन, 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दित्यत्र ब्रह्मणः केवलत्वेऽभिसंहितेऽप्यग्रेपदेन तत्प्रतिपत्त्यर्थकालोपरञ्जनवदबाधकत्वात्। नच भोग्यस्य निषिद्धत्वमपि बाधकम्। निषेधस्य जीवेऽपि देहसम्बन्धानन्तरमेव प्रवृत्तेरनुज्ञापरिहारसूत्रे वक्ष्यमाणत्वात्। अशरीरे ब्रह्मणि तदप्रवृत्तेस्तं प्रति निषिद्धत्वाभावात्। अन्यथा प्रलयेऽपि हिंसायास्तौल्यात् प्रलयकर्तृत्वस्यापि अयुक्तत्वापत्तेः। प्रलयाभावापत्तेश्च। अतः प्रलयवद्भोजनस्यापि नायुक्तत्वम्। नापि स्थानाज्ञानं बाधकम्। सर्वत्र विद्यमानत्वेऽपि 'हन्त तिरोऽसानी'ति श्रुतेः सृष्ट्यनन्तरं तिरोधानेनाज्ञायमानतया तस्यादोषत्वात्। नच क्लिष्टकर्मत्वं शङ्क्यम्। मोक्षणीयानामेवात्रादनीयत्वेन अभिप्रेततया, तेषां देहसम्बन्धस्य निवर्तनीयतया यथा तण्डुलानां वह्न्यादिसम्बन्धेनावयवशैथिल्ये विकृतावोदनत्वम्, तथात्र मोक्षणीयानां भोक्तरि भगवति प्रवेशमात्रेण योग्यरूपत्वमेव ओदनत्वम्। यथा कंसादीनां कुरुपाण्डवसैन्यानां च। अत एव 'तदेव रूपं दुरवापमाप' 'यास्यन्त्यदर्शनमलं बलभीमपार्थव्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीय'मित्यादीनि वाक्यानि। लौकिकेऽपि भिषक्कृतस्य दुश्चिकित्स्यव्रणादिविदारणस्य क्लिष्टत्वेऽपि परिणामसुखदत्वेन यथा न क्लिष्टकर्मत्वम्, तद्वदस्यापीति न दोषलेशोऽपि। नचैवं मृत्योरुपसेचनत्वासम्भवः। अशनाया मृत्युरेवेत्येकमृत्युपक्षे मुच्यमानब्रह्मक्षत्रप्राणानाम्, 'अत्रैव समवनीयन्ते प्राणा' इति श्रुतेर्ब्रह्मण्येव लयेन प्राणधर्मात्मकोऽशनायादि-

रूपो मृत्युरपि तेषां जन्ममरणाद्यभावाय भगवत्येव प्रविशतीति तस्योपसेचनताया अपि सुखेन सम्भवात्। अतो दोषाभावादत्र भगवानेवात्तेति सिद्धम् ॥ ९ ॥

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

ननु विषयवाक्ये पक्षादिबोधकपदाभावेन चराचरादिपदैर्मृत्य्वादिगतं धर्मं योगेनादाय तद्ग्रहणस्य लिङ्गत्वं कल्पयित्वास्य ब्रह्मवाक्यत्वकल्पनापेक्षया पूर्वपक्षोक्तानां निषिद्धत्वादीनां शीघ्रं बुद्धावारोहाज्जीव एवात्र ग्रहीतुमुचितः। स चेत् साधारणो न समर्थः, तदा संहारेऽधिकृतो यमो देवतारूपं मृत्युं साधनीकृत्य, देवतारूपो मृत्युर्वा रोगादिरूपं मृत्युं साधनीकृत्य ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितं सर्वं प्राणिजातं वशीकरोतीत्येव युक्तमिति जीववाक्यत्वमेवास्यादरणीयमित्याशङ्क्याह। प्रकरणादिति। अत्र हि जीवप्रश्नोत्तरश्रवणानन्तरं 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मा'दिति प्रश्नान्तरे कृते, 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' इत्यादिना प्रकरणान्तरं प्रवृत्तमत इदं ततोऽतिरिक्तस्य ब्रह्मणः प्रकरणम्। तत्र 'सर्वे वेदा यत्पद'मिति मन्त्रे संक्षेपेण कथनं प्रतिज्ञाय, ॐकारस्य संक्षेपरूपतामुक्त्वा, एतदेवाक्षरं ब्रह्मेत्यादिमन्त्रद्वये सर्वफलदायकत्वादिना तं प्रशस्य, 'न जायते न म्रियत' इत्यादिभिरष्टभिर्मन्त्रैस्तत्प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणो माहात्म्यं वदन्नन्ते, तस्यैवात्तृत्वं मृत्युरेवाह। तद्यदि देवतारूपो मृत्युर्वा यमो वा अत्तृत्वेनाभिप्रेतः स्यात्, तदा 'न जायते न म्रियत' इति मन्त्रे तस्य जननमरणाभावं न वदेत्। श्रुतिपुराणेषु उभयोरपि जन्यत्वादिकथनात्। तथा 'आसीनो दूरं व्रजति' इति मन्त्रे, 'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हती'ति स्वस्य तस्य च भेदेन ज्ञातृज्ञेयभावं च न वदेत्। अत इदं मृत्य्वादिदेवताव्यतिरिक्तस्य ब्रह्मण एव प्रकरणम्, अतो यथा आसीनादिमन्त्रेषु विरुद्धधर्माधारत्वादिरूपं तन्माहात्म्यमुच्यते, तथात्रैवंविधात्तृत्वरूपं माहात्म्यमुच्यते। ततः प्रकरणानुरोधादपि ब्रह्मवाक्यत्वमिति। अन्यथा प्रकृतहानाप्रकृतकल्पने स्यातामिति चकारार्थः ॥ १० ॥ ३ ॥

इति तृतीयमत्ता चराचरेत्यधिकरणम्।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

एवं पूर्वाधिकरणे भोगः प्रतिपादितः। स भोगो व्यापिवैकुण्ठे वा ब्रह्माण्डे वास्तु, न त्वन्तर्हृदयेऽपीत्याशङ्कावारणायोपोद्घातसङ्गत्येदमधिकरणमारभ्यते। तत्र काठक एव तृतीयवल्ल्यारम्भे श्रूयते, 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता' इति। अत्र पुरःस्फूर्तिको वाक्यार्थस्तु, ऋतं सत्यं सुकृतस्य सम्यक्कृतस्य कर्मणः फलं पिबन्तौ भुञ्जानौ लोके अस्मिन् शरीरे। गुहामिति सप्तम्यर्थे द्वितीया। गुहाया विशेषणं परमे परार्धे इति। परमत्वं स्थानान्तरापेक्षया उत्कृष्टत्वं, परार्धत्वं ब्रह्मणः स्थानत्वम्। तत्र हि भक्तैर्ज्ञानिभिरुपासकैश्च ब्रह्मोपलभ्यते इति, तौ छायातपौ संसारित्वासंसारित्वाभ्यां

धर्माभ्यामितरेतरविलक्षणौ ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति । न केवलं त एव कथयन्ति, किन्तु पञ्चाग्न्युपासकास्त्रिणाचिकेताः, त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निर्यैश्चितस्तादृशाः कर्मिणस्तेऽपि वदन्तीति । मुख्योऽर्थस्त्वग्रे भाष्यानुसारी वक्तव्यः ।

तत्रायं संशयः । किमिदं जीववाक्यमाहोस्विद् ब्रह्मवाक्यमिति । ननु कथमत्र संशय इतिचेत्, इत्थम् । इदं वाक्यं वल्ल्यारम्भे पठितम् । इतः पूर्वं तु ब्रह्म प्रकृतम्, अग्रे तु जीवः । एतस्य तु मध्ये पाठात् किंशेषत्वमिति निर्णयाभावादेवं सन्देहः । नच पूर्ववल्ल्याः समाप्तत्वादस्याग्रिमशेषत्वमेव युक्तम् । 'स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया । वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते'इति पूर्वतन्त्रे निर्णयात् कयाचित्सङ्गत्या पूर्वशेषत्वस्यापि शक्यवचनत्वात् । नचैवं सति समाप्तेः प्रागेव पठितं स्याद्, अत उत्तरशेषत्वमेव युक्तमिति शङ्क्यम् । तथा स'त्यात्मानं रथिनं विद्धी'त्येतदनन्तरमेव पठितं स्यात् । अतो न प्रकरणेन निर्णयः । तत्र च प्रकरणापेक्षयार्थस्य बलिष्ठत्वादर्थेन निर्णयोऽस्त्विति वाच्यम् । तस्यापि सन्दिग्धत्वात् । तथाहि । अत्र द्विवचननिर्देशाद् बद्धावङ्गीकार्यौ । तत्रास्य पूर्वशेषत्वे बद्धमुक्तौ जीवौ शक्यवचनौ । 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तु'मित्यनेन बद्धजीवस्य, 'मत्वा धीरो न शोचती'त्यनेन मुक्तस्योक्तत्वात् । तदनन्तरपठितमन्त्रगतस्य द्वित्वस्य तद्विषयत्वप्रत्यभिज्ञानाद्, न तु जीवपरमात्मानौ । अनश्नन्निति श्रुत्या परमात्मनो भोगनिषेधादिति । एवमुत्तरशेषत्वे इन्द्रियमनसी शक्ये । 'यस्त्वविज्ञानवान् भवती'त्यादौ तयोरेवाग्रे निरूपणात् । नच पिबन्ताविति पानकर्तृत्वव्यपदेशस्यानुपपत्तिः । एधांसि पचन्तीतिवत्करणे कर्तृत्वोपचारेण तदुपपत्तेः । येऽत्र पूर्वपक्षे बुद्धिजीवावङ्गीकुर्वन्ति । तन्मते केवलायां बुद्धाविवास्मन्मत इन्द्रियमनसोर्द्वयोरपि कर्तृत्वोपचारात् । अत्र गोर्द्वितीयाऽन्वेष्टव्य इत्यादौ संख्यापूरणस्य सजातीयेनैव दर्शनेन सिद्धान्ते बुद्धिग्रहणवदत्रापि जीवग्रहणानौचित्यात् । अतः पूर्वशेषत्वे वा उत्तरशेषत्वे वा न ब्रह्मवाक्यत्वम् । नच येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये इति जीवस्य, अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादिति ब्रह्मणश्च पूर्वं पृष्टत्वात् पूर्वशेषत्वाङ्गीकारे जीवपरमात्मानौ सुखेन सम्भविष्यत इति युक्तम् । असङ्गतत्वात् । तथाहि । अत्र ब्रह्मणो मुख्यत्वेन भोक्तृत्वप्रतिपत्तये परमात्मनिरूपणमत्राङ्गीकार्यम् । सा तु द्वयोस्तुल्यतया मुख्यत्वप्रतिपादनाद् दुर्घटेत्येवमुपगमस्यापार्थत्वादिति । नचोपनिषदां ब्रह्मविद्यात्वात्तासु निर्धारितमेवोच्यत इति द्वयो ऋतपातृत्वमन्यत्रानिर्णीतमत्र निर्णेतुं प्रवृत्तं वाक्यमिन्द्रियमनसोर्ग्रहण उपचारदोषेण दुष्येदिति तदभावायास्य जीवब्रह्मपरत्वाङ्गीकारात्तयोश्चावस्थाभेदेनैव भिन्नतया वस्तुत ऐक्याद्वाक्यस्योभयपरत्वेपि न ब्रह्मत्वहानिरित्यपि युक्तम् । प्रकरणस्यार्थस्य चोक्तरीत्या संदिग्धत्वेन तयोरनिर्णायकतया विचारस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अविचारे च ब्रह्मवाक्यत्वानिर्धारात् । नचायमुपचार एव निर्णायक इति शङ्क्यम् । अभेदे भेदोपचारस्य सिद्धान्तेऽपि सत्त्वात् । नच तुल्यतायामपि छायातपशब्दार्थविचार एकसा-

पकर्ष इतरस्योत्कर्षश्च प्रतीयत इति तदर्थविचारे पदशक्त्या विशेषप्रतिपत्तौ सत्यामस्य ब्रह्मवाक्यत्वनिर्णय इति शङ्क्यम् । तदापि अमुक्तमुक्तजीवौ वा जीवपरमात्मानौ वेति सन्देहानिरासात् । उत्कर्षानुत्कर्षयोरेवमपि प्राप्तेः । अतः कथमप्यनिर्णयात् किं जीवादिवाक्यमुत ब्रह्मवाक्यमिति संशयो दुरुद्धरः । तत्र यद्यस्मिन्मन्त्रे ब्रह्म प्रतिपाद्यं स्यात्, तदा पूर्ववल्ल्यामिवैतन्मन्त्रेऽप्युपास्यत्वेन प्राप्यत्वेन च ब्रह्मोच्येत, न तु साम्येन भोक्तृत्वेन ब्रह्मप्रतिपादकमिदं, किन्त्वग्रे, यस्तु विज्ञानवान् भवतीति यस्त्वविज्ञानवान् भवतीतिवत् विद्वदविद्वज्जीवयोर्वक्तव्यत्वात्तदर्थमुभयविधजीवनिर्देश एव प्रथमं युक्तः । नच मन्त्रवर्णासङ्गतिः । मन्त्रे ऋतपदेन स्वर्गापवर्गलक्षणं द्विविधं सुखमुच्यते । प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणस्य मार्गद्वयस्यापि विहितत्वात् सुकृतत्वेन तज्जन्यशरीरस्य लोकत्वम् । तत्र तत्तदुपयोगी विचारो गुहेव गुहेति । यदि गौणी नाद्रियते, तदा हृदयाकाशोऽस्तु । नच विचारादेर्भिन्नत्वाद् द्विवचनं शङ्क्यम् । जात्यपेक्षयैकवचनस्यापि युक्तत्वात् । तां प्रविष्टौ परमे परार्धे इति । परश्चतुर्मुखो मीयते ज्ञायत इति तादृशे परार्धे उत्तमे सत्यलोके । तत्रोभयोः शतजन्मीनस्वकर्मशुद्धस्य कर्मिणो वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थस्य संन्यासिनश्च भोगादिति । अविद्यया पिहितप्रकाशत्वादविदुषश्छायात्वं, ब्रह्मज्ञानेनातिप्रकाशत्वाद् विदुष आतपत्वम् । अत एव विदुषः स्वरूपं ब्रह्मविदो वदन्ति । पञ्चाग्नयस्त्रिणाचिकेताश्चेतरमित्येवं सङ्गतेः । तस्माद् बद्धमुक्तजीवपरमिदं वाक्यम्, न ब्रह्मपरमिति पूर्वपक्षे प्राप्ते ।

उच्यते । गुहां प्रविष्टावात्मानावित्यादि । गुहा हृदयाकाशस्तत्र सकृदेकदैव प्रविष्टौ जीवपरमात्मानावेव । कुतः । तद्दर्शनात् । 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी'त्युभयोर्जीवब्रह्मणोरेव सह प्रवेशस्य श्रुतौ दर्शनात् । नचात्र सहपदाभावाज्जीवरूपेणैव ब्रह्मप्रवेशात् करणार्थैव तृतीयास्त्विति वाच्यम् । 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणं, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योम'न्नित्यादौ श्रावितस्य गुहाहितत्वादेः स्वस्वरूपेण प्रवेशं विनानुपपद्यमानतया सहपदाभावेऽपि तथाङ्गीकारस्यावश्यकत्वात् । नचात्र जीवेनेति जात्येकवचनाज्जीवद्वयप्रवेश एवास्त्विति शङ्क्यम् । एकेनैव कार्यसम्भवे द्वयोः प्रवेशस्य वैयर्थ्यात् । ननु भवतूभयोः प्रवेशः, तथापि 'द्वा सुपर्णे'त्यत्र ब्रह्मणो भोगाभावकथनान्मन्त्रार्थस्य कथं सङ्गतिरितिचेत् । इत्थम् । पूर्वाधिकरणे वैशेष्येण भोगस्य साधितत्वाद् द्वा सुपर्णमन्त्रेऽपि न यावद्भोगनिषेधः, किन्तु जीववद्भोगस्यैव निषेधः । सिद्धे च भोगे मन्त्रार्थ एवं बोध्यः । ऋतं सत्यं परं ब्रह्मेति, तस्मात् तत् सुकृतमुच्यत इति श्रुतिभ्याम् ऋतं सुकृतं च ब्रह्मैव । षष्ठी तु राहोः शिर इतिवदभेदेऽपि भेदोपचारात् । लोकोऽक्षरम् । परमे परार्धे इति सामीप्ये सप्तमी । सत्यलोकसमीपे । छाया अतिसारूप्यं, सायुज्यं प्राप्तस्य जीवस्यापि तथात्वात्ततोऽपि विशिष्टं ब्रह्म प्रकटानन्दत्वादातपः । तथाच परमपरार्धात्मकसत्यलोकोपरितने अक्षर-

त्मके ब्राह्मशरीरे गुहां हृदयाकाशं प्रविष्टौ सुकृतात्मकब्रह्माभिन्नं ऋतं स्वरूपामृतं पिबन्तावनुभवन्तौ मुक्तजीवपरमात्मानौ ब्रह्मवित्प्रभृतयश्छायातपौ वदन्तीति । एतस्यार्थस्य युक्तत्वाय सूत्रे हिशब्दः । नन्वस्त्वेवं तथापि तयोरत्राप्रकृतत्वाच्छब्देनासंशब्दिततत्वाच कथं तल्लाभ इति शङ्क्यम् । सूत्रे तद्दर्शनादित्यस्य तयोर्दर्शनं तद्दर्शनमित्यर्थेन विषयवाक्यस्थयोर्येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्य इति, अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादिति मन्त्राभ्यां पृष्टयोर्जीवब्रह्मणोर्मध्ये पूर्ववल्ल्यां ब्रह्मणो निरूपितत्वादत्राग्रे जीवस्य निरूप्यत्वाच्चोभयोः सिद्धावेतन्मन्त्रे तुल्यतया महाभोगनिरूपणार्थं तयोरेव स्वरूपकीर्तनस्य लाभादिति । तस्माद् ब्रह्मवाक्यमेवैतदिति सिद्धम् ॥ ११ ॥

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

पूर्ववल्ल्यामणोरणीयानित्यादिमन्त्रेषु द्रष्टृद्रष्टव्यत्वप्रसाद्यप्रसादार्हत्ववरणैकलभ्यत्ववरणीयत्वरूपोभयविशेषणाद्, अस्यां वल्ल्यामात्मानं रथिनं विद्धीति सन्दर्भे, 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पद'मिति प्राप्तृत्वप्राप्यत्वरूपाद्विशेषणाच्चेदं ब्रह्मवाक्यमेवेत्यर्थः । द्वा सुपर्णेति श्वेताश्वतरमन्त्रस्तु न सन्दिग्धः । 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो अनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोक' इति समनन्तरमन्त्रे जीवपरमात्मनोरेवोक्तत्वेन पूर्वस्मिन्नपि तयोरेव निश्चयादिति । सूत्रे चकारस्तु प्रकरणोक्तसर्वोपपत्तिसमुच्चायकः ॥ १२ ॥ ४ ॥

इति चतुर्थं गुहां प्रविष्टावित्यधिकरणम् ।

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

अतीतेषु त्रिष्वधिकरणेषु प्रथमे वैशेष्येण भोगबाधकं परिहृत्याग्रिमे चराचरग्रहणयुगपदुभयप्रवेशाभ्यामुभयविधो विवक्षितो भोगः साधितः । तत्र किं वैशेष्यमित्याकाङ्क्षायां तन्निर्णेतुमुपोद्घातेनेदमधिकरणमारभ्यते । तत्र छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठकोपकोशलविद्यायां श्रूयते । 'य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति, तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छती'त्यादि । वाक्यार्थः कं ब्रह्मेतीत्यन्तं पुरःस्फूर्तिकः स्फुट एव । अग्रे तु पूर्ववाक्ये यदाचार्येणोक्तम् । 'अहं तु ते तद् वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत' इति फलम् । तत्र निदर्शनं च स आह । तद्यद्यपीत्यादि । तत् तत्र इदं निदर्शनम् । यद्यप्यस्मिन्नक्षिपुरुषस्थानभूते अक्षिणि सर्पिर्वा उदकं वा सिञ्चति, धारया भूयः पातयति, वर्त्मनी अक्ष्यावरणादिभूते पक्ष्मणी एव गच्छति प्राप्नोति । ते एवार्द्रे स्निग्धे च भवतो, न त्वक्षि । तथाच यत्स्थानस्येदृशं माहात्म्यं तस्य ज्ञाने सति पापं न श्लिष्यते इत्यत्र किं वाच्यमित्यर्थो बोध्यः । इदं वाक्यं प्रतिबिम्बपुरुषस्य ब्रह्मत्वेनोपासनापरम् ? उत ब्रह्मवाक्यमिति । नचात्र दृश्यत इति पदेन दर्शनविषयत्वस्यो-

क्तत्वाद् ब्रह्मणश्चादृश्यत्वात् संशय एव न घटत इति वाच्यम् । अमृतत्वादीनां ब्रह्मधर्माणां श्रावणेन तत्त्वज्ञानजनितालौकिकसामर्थ्यकृतदर्शनस्य शक्यवचनतया तदुदयसम्भवात् । तत्र दृश्यत इति वचनाद्, एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्या आत्मविद्या चेत्यग्नीनां वाक्ये ब्रह्मविद्योपसंहारदर्शनाच्च प्रतिबिम्ब एवायमिति युक्तम् । अन्यथा उपसंहारदर्शनविरोधापातात् । नचाभयादिपदविरोधः शङ्क्यः । उपासनार्थतया सुखेनान्वयादित्येवं प्राप्ते ।

अभिधीयते । अन्तर इत्यादि । अन्तरः अक्षिमध्ये स्थितः परमात्मैव । कुतः ? उपपत्तेः । सर्वत्र ब्रह्म पश्यतः स्वसन्निधाने अक्षिरूपस्य स्थानस्य जलाद्यसंश्लेषेण माहात्म्यबोधकतयोत्कृष्टत्वात्तत्र भगवन्तमुपदिशतीति दर्शनस्य स्वल्पस्थानस्य चोपपत्तेः । नचोपसंहारदर्शनस्य बाधकत्वं शङ्क्यम् । उपकोसलेन ब्रह्मोपदेशेऽपह्नुतेऽपीमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इति वदता आचार्येणाग्निकृतोपदेशे ज्ञाते, तत उपकोसलेनाचार्याज्ञयाऽन्युक्तेऽनूदिते, आचार्यः कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति अग्निवाक्यस्य 'लोकं वाव किल तेऽवोच'न्नित्यनेनात्मप्राप्यं ब्रह्मार्थत्वेनोक्त्वा, 'अहं तु ते तद् वक्ष्यामी'ति प्रतिज्ञाय, य एषोऽक्षिणि इत्यादिना तत्प्राप्तिप्रकारं चोक्तवानिति महता प्रबन्धेन पुनरुपक्रमेणोपसंहारविरोधस्याभावात् । नच प्रकरणस्य श्रुत्यपेक्षयातिदुर्बलत्वात्तदनुरोधेन दर्शनश्रुतिसङ्कोचोऽनुचित इति वाच्यम् । दर्शनविषयस्य पुरुषत्वानियमात् । अन्येषामपि प्रतिबिम्बदर्शनेन तथा निश्चये विषयवशेन दर्शनश्रुतिसङ्कोचस्य पूर्वपक्षिमतेऽपि तौल्यात् । प्रकरणविरोधस्याधिक्याच्च । अतो विरोधाभावादिदं ब्रह्मवाक्यमेव ॥ १३ ॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

पूर्वसूत्रोक्तस्य हेतोर्वादकवलितत्वाद्धेत्वन्तरमाह । स्थानादिति । स्थानमादिर्येषाम् । अतद्गुणसंविज्ञानः । तेषां व्यपदेशात् । अक्षिपुरुषमेव निर्दिश्य, 'एतं संयद्वाम' इत्याचक्षते, एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति, एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति, एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाती'ति कथनात् । कर्मणां फलार्थं करणात् । तेषां मनोहरत्वेन वामत्वम् । संयन्ति वामानि यत्रासौ संयद्वामः । शेषं स्फुटम् । अत्र कर्मफलं कर्मफलदानं च, ततः सर्वेषु लोकेषु भानं च तस्योक्तम् । न हीदं प्रतिबिम्बात्मनः सम्भवति । तथाच पूर्वोक्तहेतोर्वादकवलितत्वेऽपि तेभ्योऽसाधारणधर्मेभ्योऽत्र ब्रह्मैव मन्तव्यमित्यर्थः । चकाराच्छान्दोग्य इन्द्रविरोचनसंवादेऽपि प्रथमपर्याये, य एषोऽक्षिणीत्युपक्रम्यैतद् ब्रह्मेत्यन्तमेवमेवोपदिष्टत्वात् तत्राप्येवमेव बोध्यमिति सूचितम् ॥ १४ ॥

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

ननु किमित्येवं ब्रह्मवाक्यत्वं निर्बन्धेन प्रतिपाद्यते, उपासनापरत्वमेवाद्रियताम्, प्राञ्जलत्वादित्यत आह । सुखविशिष्टेत्यादि । एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति सुखविशि-

ष्टाभिधानात् । छान्दोग्ये भूमानं सुखस्वरूपमुपक्रम्य, यो वै भूमा तदमृतमिति श्रावणादमृतमानन्दः । बृहदारण्यके ज्ञानोपदेशोत्तरमभयं वै जनक प्राप्तोऽसीत्युपसंहारादभयं ज्ञानम् । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यत्र प्रथमं सत्यपदाद् ब्रह्म सत्, अत्र ह्येतद्विशेषणत्रयं पूर्वमभिधाय, तदनन्तरं संयद्वामत्वादीनां तद्धर्माणां कथनाद्यदशिभिः कंपदेन सुखविशिष्टं ब्रह्मरूपमुक्तं तदत्रैष इत्यनेनाऽक्षिपुरुषं निर्दिश्य एतद्वाक्यं प्रवृत्तमित्येतद् ब्रह्मवाक्यमित्यर्थः । यद्यपि सच्चितोरपि ब्रह्मात्मकत्वम्, तथापि तयोर्यथायथं जडे जीवे च प्रव्यक्तत्वेनानैकान्तिकत्वात्तदनुक्तिः । एषा मुख्योपपत्तिरिति बोधनाय सूत्र एवकारः । चकारः सच्चितोरपि समुच्चायकः । तस्मात् ब्रह्मैवाक्षिपुरुषः ॥ १५ ॥

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

एवं स्वरूपतो निर्णीय फलस्य तात्पर्यलिङ्गत्वात् फलतो निर्णयमाह । श्रुतेत्यादि । श्रुता उपनिषद् ब्रह्मविद्या येन, तस्य ब्रह्मविदो या गतिश्छान्दोग्ये एव, अथ यदु चैवास्मिन् शव्यं कर्म कुर्वन्ति, यदि च न, अर्चिषमेवाभिसंयन्तीत्युपक्रम्य चन्द्रमसो विद्युतमित्याद्युक्त्वा तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति, एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते इति । इयं चाग्निविद्यायामुक्त्वा तस्या एवात्राक्षिपुरुषमुपक्रम्याभिधानादप्यक्षिपुरुषो ब्रह्मैवेति । चकारस्तूक्तसमुच्चयार्थः ॥१६॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

इदमेवाधिकरणं पुनर्निषेधमुखेन विचारयति । नन्वत्र प्रतिबिम्बपुरुषस्योपासना ब्रह्मत्वेन कर्तव्योच्यते । सा च ब्रह्मधर्मव्यपदेश एव सिध्यति, अतः अमृतत्वमारभ्य गत्यन्ताः सर्वा अप्युपपत्तयो गौण्या व्यपदेशेन सङ्गता भवन्तीति नेदं ब्रह्मवाक्यमिति प्राप्ते ।

अभिधीयते । नेतर इत्यादि । इतरः प्रतिबिम्बपुरुषो न वाक्यार्थः । कुतः । अनवस्थितेः । अस्थिरत्वात् । अयमर्थः । त्वया हि दृश्यत्वकथनात् प्रतिबिम्बपुरुषो वाक्यार्थत्वेनापाद्यते । तत्रेदं विचारणीयम् । किमाचार्येण स्वचक्षुर्गत उपदिश्यतेऽन्यचक्षुर्गतो वा । आद्ये वक्तुस्तददर्शनेन तत्कथने यथादृष्टार्थवादित्वाभावाद्वक्तुरनाप्तत्वादुपदेशस्याप्रमाणतया अस्थिरत्वम् । द्वितीये तु द्रष्टरि सत्येव भानात् तदपगमे चापगमात् प्रतिबिम्बस्यैवास्थिरत्वम् । द्रष्टरि सद्वितीये प्रतिबिम्बस्यापि तथात्वेनैकत्वोपदेशविरोधादस्थिरत्वम् । उपासनाकाले चित्तस्थैर्यायाक्षिनिमीलने प्रतिबिम्बमात्रस्याभावेनोपास्याभावादुपासनायाः सुतरामस्थिरत्वम् । यदि च द्वितीयं विना तदसम्भवात् पत्नीद्वितीयस्याग्निहोत्रादिवदेकत्वं मुख्यपरमङ्गीकृत्य सद्वितीयस्यैवात्रोपासनोपगम्यते, तदा तु वाक्यश्रवणकाले श्रोतुरेकत्वादुपासनाकाले च तस्य सद्वितीयत्वाच्छ्रवणमननयोः प्रकारभेदेनोपासनाया वैरूप्यादस्थिरत्वम् । यदि च श्रवणदशायां वक्तुः सत्त्वाद्वैरूप्यं परिह्रियते, तदा तु वक्त्रैव सद्वितीयत्वाद् गुरोर्निर्बन्धापत्त्या तस्याः कर्तुमशक्यत्वेन च सुतरामु-

पासनाया अस्थिरत्वम् । किञ्च, मनसा ह्युपासनम्, तत्र च प्रतिबिम्बस्य सन्निधापयितुमशक्यत्वादसम्भव एव । चकारेण प्रतिबिम्बस्यात्मत्वामृतत्वयोरसम्भवे प्रतिबिम्बपरत्व उपासनाया आसुरत्वं च संगृह्यते । तस्मादक्षिस्थाने व्यापकः सर्वतः पाणिपादान्तत्वादानन्दमूर्तिर्भगवानेवोच्यत इति सिद्धम् ॥ १७ ॥ ५ ॥

इति पञ्चममन्तर उपपत्तेरित्यधिकरणम् ।

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १८ ॥

पूर्वाधिकरणे भोगवैलक्षण्यसाधकं वैशेष्यमक्षिपुरुष उपपादितम् । वाजसनेयिनां मण्डलब्राह्मणे, 'स एष एवेन्द्रो योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषोऽथेयमिन्द्राणी'त्यादिना हृदयदेशे तयोर्भोगस्य श्रवणात् । अतःपरं तदेव वैशेष्यममृतत्वादन्तर्यामिणि सर्वहृदयदेशवर्तिन्यस्तीति बोधनायेदमधिकरणमारभ्यते । काण्वमाध्यन्दिनयोर्बृहदारण्यके श्रूयते । 'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयती'त्युपक्रम्य,'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत' इति । एतदग्रे ईदृशान्येव अग्न्याकाशवाय्वादित्यचन्द्रतारकदिग्विद्युत्स्तनयित्नुवाक्यानि । तत्समाप्तौ, इत्यधिदैवतमित्युपसंहारः । ततः सर्वलोकः सर्ववेदः सर्वयज्ञः सर्वभूत इति वाक्यानि । तेषु, अधिलोकम्, अधिवेदम्, अधियज्ञम्, अधिभूतमिति क्रमेणोपसंहारः । ततः प्राणवाक्चक्षुःश्रोत्रमनस्त्वक्तेजस्तमःरेतःप्रभृतीन्यात्मान्तानि वाक्यानि । तेष्वध्यात्ममित्युपसंहारः । काण्वपाठे त्वन्तरिक्षमधिकम् । आत्मस्थाने च विज्ञानं पठ्यते । ततः, अदृश्यो द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता, अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता, नान्योऽतोऽस्ति मन्ता, नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्त'मिति । माध्यन्दिनपाठे तु, स त आत्मेत्युच्यते । वाक्यार्थस्तु य इमं च लोकमेतज्जन्मीनं देहं, परं च लोकं जन्मान्तरीयं देहं, सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादितृणस्तम्बान्तानि पृथिव्यादीनि वा, अन्तरः अभ्यन्तरवर्ती सन् यमयति स्वेच्छानुरूपं व्यापारं कारयति, इत्येवं कार्यद्वारा तं ज्ञापयित्वा तत्स्वरूपप्रश्ने उद्दालकेन कृते याज्ञवल्क्यस्तदुक्तमनूद्य, यः पृथिव्यामित्यादीनि वाक्यान्याह । तत्र यः पृथिव्यां तिष्ठन् सोऽन्तर्यामीत्युक्ते आधारात्मकजडव्यावृत्तावपि तत्रावस्थितेषु प्राणिष्वतिप्रसङ्ग इति तद्वारणाय, यं पृथिवी न वेदेति, पृथिव्यभिमानी यं न जानाति । तेन ततोऽभिन्नाज्जडाज्जीवाच्च भेदेऽपि तस्य तत्र स्थितेः प्रयोजनं वक्तुं, यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयतीति । तथाच, 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसे'ति भूतधारणकार्यार्थं सशरीरं तन्नियमनं च तस्य सिद्ध्यर्थम् । अनियमने तद्विसंमतौ तत्कार्यं न सिध्येदिति । अत्र द्वितीयमन्तरपदं नामधातुनिष्पन्नम् । अन्तरं करोत्यन्तरयतीत्यन्तर इति तदन्तःस्थापकत्वबोधनार्थम् । अन्यथा पौनरुक्त्यापत्तेरिति । एवं प्रकारेण सर्वत्र बोध्यः ।

अत्र प्रश्नवाक्येऽनुक्तानां धर्माणां कथनं याज्ञवल्क्यस्यान्तर्यामिज्ञानज्ञापकम् । तत्र संशयस्तु, किमन्तर्यामी सर्वत्रैकः परमात्मा, उत दैवादीनामभेदात्तत्र तत्र भिद्यत इति । संशयबीजं तु सर्वत्रान्तर्यामिणां तत्तद्वाक्येषु चाधिदैवतादिपदैरुपसंहारः । ननु तैरुपसंहारस्य कथं संशयजनकतेतिचेद्, इत्थम् । यद्यपि दैवेष्वित्यधिदैवादिव्युत्पत्त्या तेषां यौगिकत्वं, तथापि गीतायां, 'पुरुषश्चाधिदैवतं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते, अधिभूतं क्षरो भावः, अधियज्ञोऽहमेवात्रेति योगमनादृत्य रूढिबोधनादेतेषां नामत्वमवधार्यते । समानन्यायादधिवेदाधिलोकयोरपि नामत्वम् । नपुंसकलिङ्गं तु लोकाश्रयत्वादशिष्यम् । तेन तेषामपि संभवदुक्तिकत्वात् संशयजनकत्वम् । नचान्तस्तद्धर्मोपदेशादित्यधिकरणे सर्वान्तर्वर्तिनः परब्रह्मत्वं निर्णीतमिति पुनः किमर्थोऽयं प्रयास इति शङ्क्यम् । अधिदैवादिपदानामुक्तरीत्या नामत्वात् तेषां च तत्तद्वाक्यान्ते प्रयुक्तत्वाद्वाक्येषु च शब्दतोऽन्तर्यामिणः संनिधानेऽप्यर्थतोऽभिमानिनामपि सन्निधानात्तत्संज्ञाभूतैरेतैः षड्भिरन्तर्याम्याधारभूतस्याभिमानिनो धर्मा भगवत्युपचर्यन्ते, उत तत्तत्संज्ञाविशिष्टाः पुरुषादय एवान्तर्यामित्वेन स्तूयन्त इति सन्देहसम्भवेन प्रयासस्य सार्थक्यात् । एवं सिद्धे सार्थक्ये तत्रेदं प्राप्तम्, तेषु देवादिष्वधिकरणेष्वेतेषु योगेन वर्तन्ते पुरुषादिरूढ्याऽत्त उभयेऽपि भगवदाधारभूता अतस्तद्धर्मा भगवत्यौपचारिका इति ज्ञापनायात्र ते शब्दाः प्रयुज्यन्ते । नचैतेषां भावनामत्वमिह शङ्क्यम् । तैत्तिरीयाणां शिक्षोपनिषदि, अथाधिलोकम् अथाध्यात्ममित्येवं लोकादिष्वेव तेषां प्रसिद्धत्वात् । वैदिकप्रसिद्धेश्च सर्वतो बलिष्ठत्वात् । नचाभिमानिशक्ता एवात्रादरणीया इत्यपि शङ्क्यम् । एतेषु शब्देषु केषाञ्चिद्वाक्यसङ्घाते केषाञ्चिद् बहुवचनान्तसर्वलोकादिशब्दोपबद्धवाक्यान्ते प्रयोगेण तेषु सर्वानुस्यूतस्यैकस्याभिप्रेततया अभिमन्तुश्च प्रतिनियततया तादृशत्वाभावेन तस्य संज्ञिततयाऽत्र कल्पयितुमशक्यत्वात् । अतोऽन्तर्यामिब्राह्मणं कुत्राप्ययुक्तं सत्तत्तदभिमानिदेवतास्तुतिपरमेव तत्तदुपासनार्थं भविष्यति । नच 'यं पृथिवी न वेदे'त्यादिभिरुक्तस्याज्ञानस्य चेतनधर्मत्वादभिमानिनां च स्वज्ञानात्तदसङ्गतिः शङ्क्या । नित्यानुवादरूपत्वात् । नचात्र मानाभावः । षष्ठस्कन्धे दक्षस्तुतौ 'देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा नात्मानमन्यं च विदुः परं य'दितिदेहादीनां जडानामप्यज्ञानस्योक्तत्वात्, तस्य च नित्यानुवादत्व एव संभवात् तन्न्यायस्यात्रापि सुवचत्वात्, तस्य सङ्गतावन्यस्याभिमानिव्यावर्तकस्यात्राभावात् । नचायमाग्रहो निर्मूल इति शङ्क्यम् । अभिमानकृतसंज्ञाया निकृष्टतया भगवति कल्पयितुमयुक्तत्वादिति । एवं प्राप्ते,

उच्यते । अन्तर्यामीत्यादि । अन्तर्यामी अधिदैवादिषु सर्वेषु भगवानेव, नान्यः सर्वानुस्यूतो भवितुमर्हति । ननु निषिद्धसंज्ञानां भगवत्ययुक्तत्वमुक्तं, तत्कथं परिहार्यं, तत्राह । तद्धर्मव्यपदेशात् । तेषां धर्मास्तद्धर्मा देवाधिष्ठातृत्वाभिमानप्रयुक्तानि कर्माणि तेषां व्यपदेशात् भगवत्युपचारेणाधिदैवतादिपदैः प्रयोगात् ।

अयमर्थः । विषयवाक्ये उद्दालकेनैतल्लोकपरलोकयोः सर्वभूतानां चान्तर्वर्तित्वे सति तन्नियामकोऽन्तर्यामिशब्दवाच्यः पृष्टः, तत्र चेद्याज्ञवल्क्यस्तावदेव वदेत्, तदान्तर्यामिज्ञातृत्वं न स्फुटीभवेत्, अत उद्दालकश्रुतांस्तद्धर्मान् विशेषतः पृथिव्यादिवाक्यैः प्रकाशयति । तत्र पृथिव्यग्निकार्यस्य भगवत्प्रयुक्तत्वं गीताद्वादशाध्याये, 'गामाविश्य च भूतानि,' 'पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा,' 'अहं वैश्वानरो भूत्वे'त्यत्र स्फुटमुक्तम् । ततः 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट' इत्यादिनान्तर्यामित्वं चोक्तम् । तृतीयस्कन्धे च 'अदो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमाभ्रम' इत्याकाशकार्यस्य 'भीषास्मा'दिति श्रुतौ वाय्वादित्याग्नीन्द्रमृत्यूनां कार्यस्य तथात्वं बोधितम् । प्रकृते मृत्युश्चन्द्रस्थाने विद्युत्स्तनयित्नू । एवमन्येषामपि बोध्यम् । अत्र देवधर्माणां भगवत्प्रयुक्तत्वबोधनात् परलोकात्मकजन्मान्तरीयदेहयमयितृत्वं साधितम् । ततो लोकपदस्य भूरादिषु प्रसिद्धत्वात् 'अथाधिलोक'मिति प्रतिज्ञाय तत्संबन्धिनः सर्वस्य तथात्वं बोधितम् । ततः कथं सर्वलोकान् यमयतीत्यपेक्षायां वेदयज्ञाभ्यां यमनबोधनायाधिवेदाधियज्ञवाक्ये उक्ते । ततः सर्वभूतयमनं पूर्ववदुक्त्वा एतल्लोकयमनबोधनाय दशाध्यात्मवाक्यान्युक्तानि । एवं सर्वं तत्पृष्टं कार्यमुक्त्वा तत्स्वरूपमिदमित्थन्तया वक्तुमशक्यमिति बोधनाय 'अदृष्टो द्रष्टा' इत्याद्युक्त्वा 'अतोऽन्यदार्त'मित्युपसंहारे तस्यामृतसुखरूपत्वं यदोक्तं तदान्तर्यामिस्वरूपज्ञातृत्वं याज्ञवल्क्यस्यावगत्य उद्दालकस्तूष्णीं भूत इत्युद्दालकोपरमोक्त्या सूचितम् । तेन सर्वेषां सर्वेषु कार्येषु यत्सामर्थ्यं तदन्तर्यामिप्रयुक्तमेव, न स्वत इति साधितम् । अतोधिदैवादिपदप्रवृत्तिनिमित्तभूतो योऽभिमानः, सोपि भगवत्प्रयुक्त इति तेषां पदानां भगवत्यौपचारिकत्वबोधनायैव तेषां कथनम् । नो चेत्, तदनुक्तावपि विवक्षितज्ञापनस्य सुखेन सिद्धेस्तद्वैयर्थ्यमेव स्यात् । एवं च सौत्रमधिदैवादिष्विति पदं देहलीदीपवदुभयत्रापि संबध्यते । तथा चानेनास्पष्टलिङ्गेनान्तर्यामिण एकत्वसाधनाच्चाधिकरणवैयर्थ्यम् । यद्यपि श्रुतावधिदैवतपदं सूत्रे चाधिदैवपदम्, तथापि गीतायामधिदैवं किमुच्यत' इति प्रश्ने 'पुरुषश्चाधिदैवत' मितिप्रत्युत्तराद्द्वयोरेकार्थता निश्चीयत इति न कोपि दोषः । एवं दोषनिवृत्तेऽन्यत् सर्वं सुसङ्गतमेवेतीदं ब्रह्मवाक्यमेवेति सिद्धम् ॥ १८ ॥

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥

ननु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्यादिषु सिद्धे ब्रह्मवादे कार्यत्वेन जडजीवौ, कारणत्वेन ब्रह्मैवेत्येव त्रय एव पदार्थाः सिद्धाः । अन्तर्यामी तु नोभयथापि सिद्धः । अतो नियमनरूपेण चेतनधर्मेणात्मत्वेन च जडं प्रधानं व्युदस्य, ब्रह्म वा जीवो वा वक्तव्यः । तत्र ब्रह्मणोऽशरीरत्वात् साधारणजीवानां च सर्वनियामकत्वासम्भवात् कार्येश्वरभूत एव कल्पनीयः । तादृशश्च प्रकृत्यभि-

मान्येव भवतीति तादृशस्य सांख्यपरिकल्पितस्य सिद्धौ तस्य ब्रह्मत्वे वा साधिते ब्रह्मवादिनां न कोऽपि पुरुषार्थः । उपनिषत्सु तादृशस्य दर्शनात् । अतः पूर्वपक्षन्यायेनान्तर्यामिब्राह्मणस्य प्रकृत्यभिमानिस्तावकत्वं वा, तेनैव सांख्यमतस्य श्रौतत्वं वाङ्गीकार्यमित्यत आह । न चेत्यादि । स्मार्तं सांख्यस्मृतिसिद्धमन्तर्यामिस्वरूपं न भवति । कुतः । अतद्धर्माभिलापात् । तद्धर्माणामभिलापस्याभावात् । अतद्धर्माणामभिलापाच्च । न ह्यत्र सत्त्वरजस्तमोगुणास्तत्कार्यं वा । अत्राभिमन्तुः समष्टिभूते शरीरे विद्यमाने व्यष्टिभूतानि पृथिव्यादीनि न युगपच्छरीराणि भवितुमर्हन्ति । नच योगिवदिति वाच्यम् । गुणप्रधानभावगमकानुपलम्भात् । नापि गमकं कल्पयितुं शक्यम् । तद्धर्मानभिलापस्य बाधकस्योक्तत्वात् । एवं सत्येतेषां ब्रह्मधर्मत्वाद् ब्रह्मवादः फलिष्यति । तस्माद् ब्रह्मवाक्यत्वमक्षुण्णम् ॥ १९ ॥

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥

ननु पूर्वपक्षोक्तन्यायेन शारीर एवान्तर्याम्यस्तु, तथाच यथा संवर्गादिविद्याः प्रतीकविषयास्तथान्तर्यामिब्राह्मणमपीति देवतास्तावकत्वेऽपि ब्रह्मवादविरोधाभावान्नास्य ब्रह्मवाक्यत्वमित्यत आह । शारीर इत्यादि । नेत्यनुवर्तते । शारीरश्च । अभिमानिजीवोऽपि नाऽन्तर्यामिब्राह्मणे प्रतिपाद्यः । कुतः । हि यतो हेतोरेनमभिमानिनं तेऽन्तर्यामिणो भिन्नतया अधीयते । यं पृथिवी न वेदेत्यादिभिस्ततोऽपि भिन्नतया कथयन्ति । नच देहोऽसवोऽक्षा इति न्यायः शङ्क्यः । सर्वानुस्यूतत्वस्य बाधकत्वेनाभिमानिनः प्रतिपादयितुमशक्यत्वादित्युक्तम् । किञ्च । उभये काण्वा माध्यन्दिनाश्च शाखिन एनं शारीरं भेदेन 'यो विज्ञाने तिष्ठन्, य आत्मनि तिष्ठ'न्नित्येवमन्तर्याम्याधारतया तद्भिन्नत्वेनाधीयते कथयन्ति । तस्मान्मुक्तोऽमुक्तो वा केवलोऽपि जीवो नात्र प्रतिपाद्यः । तस्मादन्तर्यामिब्राह्मणे ब्रह्मैव वाक्यार्थ इति सिद्धम् ॥ २० ॥

इति षष्ठमन्तर्याम्यधिकरणम् ।

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

पूर्वाधिकरणविषयवाक्यैः, अमृत इति, अतोऽन्यदार्तमिति च श्रावणात् सर्वहृदयवर्तिन्यन्तर्यामिणि भोगवैलक्षण्यसाधकं वैशेष्यं दर्शितम् । तत्रादृष्टो द्रष्टेतिश्राविते तत्कथमित्याकांक्षायां हेतुबोधनायेदमधिकरणं प्रसङ्गसङ्गत्यारभ्यते । मुण्डकोपनिषत् सर्वाऽस्य विषयः । तत्र हि शौनकेन कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवेदित्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञाने पृष्टे, अङ्गिरसा, द्वे विद्ये वेदितव्ये इत्यादिना नामांशे वेदादिविद्या, रूपांशे परविद्या चोक्ता । तावता नामरूपात्मकस्य सर्वजगतो ज्ञानसम्भवात् । तत्र वेदादिविद्यायां न सन्देहः । परायां सन्दिह्यते । किमेषा सांख्यमतविद्या, किं वा ब्रह्मविद्येति । सांख्यधर्माभिलापाच्च सन्देहः । तत्र 'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय

ज्येष्ठपुत्राय प्राहे' त्युपक्रम्य ह्येवं पठ्यते, 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययम्, तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा' इत्यादि । द्वितीयमुण्डके च 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः पर' इत्युक्त्वा, 'एतस्माज्जायते प्राण' इत्यनेन सृष्टिं निरूप्य, 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ'वित्यादिना रूपमुक्त्वा, 'पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वयः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूता' इति पुरुषात् सृष्टिरिति ।

पूर्वपक्षस्तु । मुण्डकत्रयेऽप्येकस्यैव मतस्य प्रतिपादितत्वेन वाक्यनामितरेतरसाकांक्षतयैकप्रकरणत्वादेकवाक्यता अवश्यं वक्तव्या । सा तत्र ब्रह्मवाक्यत्वाङ्गीकारे न सम्भवति । 'अक्षरात् परतः पर'इत्यत्राग्रे अक्षरपुरुषयोर्भेदश्रावणात् । रेतःसेकेन प्रजासूतिश्रावणादुभयजन्यायाः सृष्टेरत्राभिप्रेतत्वाच्च । अत एवोपक्रमगतं ब्रह्मविद्यापदमपि समाख्यारूपत्वाल्लिङ्गापेक्षया निर्बलम् । नच सांख्ये प्रकृतेरेव स्रष्टृत्वादत्र चोभयोस्तथात्वकथनान्नात्र सांख्यमतमिति शङ्क्यम् । जगतो जीवजडात्मकत्वेनोभयविधत्वात् प्रकृतिपुरुषयोस्तुल्यतया अन्यतरप्राधान्येन वा सृष्टिकथने तन्मतबाधाभावात् नच 'अग्निर्मूर्धे'त्यादिनोक्तस्य रूपस्य विरोधः । अग्रे समष्टिव्यष्टीनामेवोत्पत्तिकथनेन तज्जनयितृ रूपस्यापि श्लिष्टरूपत्वेन बोध्यतया तन्मतबाधाभावात् । नचेदं ब्रह्मवादेऽपि तुल्यमिति वाच्यम् । सच्चिदानन्दरूपताया अत्रानुक्त्या ब्रह्मवादस्यात्र वक्तुमशक्यत्वात् । नच ब्रह्मविद्यापदस्यासङ्गतिः । 'आनर्थक्ये प्रमाणानां विपरीतं बलाबल' मिति न्यायेन सर्वमिदं शिथिलमिति शङ्क्यम् । ब्रह्मपदस्य वेदेऽपि रूढेस्तस्य वेदविद्यापरतया नेयत्वेनासङ्गत्यभावादिति । एवं प्राप्ते ।

अभिधीयते । अदृश्येत्यादि । अदृश्यत्वादिगुणकः परमात्मैव । कुतः । धर्मोक्तेः । एतद्विज्ञानेन तस्य ब्रह्मविज्ञानधर्मस्य सर्वविज्ञानस्य कथनात् । तत्सम्बन्धादेव विद्यायाः परत्वकथनाच्च । नचात्राक्षरं, ततः परः पुरुषश्चोक्त इति तदुभयविज्ञानेन सर्वविज्ञानं केवलाक्षरविज्ञाने नेति कथं तस्य ब्रह्मत्वमिति शङ्क्यम् । अक्षरपुरुषयोः परापरभावेऽपि भेदाभावेन ब्रह्मत्वस्याव्याहतेः । नच परापरभावस्य भेदलिङ्गत्वात्तस्मिन् सति कथमभेद इति वाच्यम् । एतदर्थमेवाधिकरणप्रणयनात् । पुरुषे ब्रह्मत्वस्य वाक्यादेव प्रतीत्या अक्षरस्यैव संदिग्धत्वेन पक्षतया निर्देशादेव तथा निश्चयात् । अत्रापि धर्मोक्तेरेव हेतुत्वम् । तथा 'अक्षरात् सम्भवतीह विश्वमिति जगज्जनकत्वस्य ब्रह्मधर्मस्य तत्र कथनात् । उपनिषत्सु तत्रैव जगज्जनकतायाः सर्वत्र दर्शनेनात्रान्यस्याङ्गीकर्तुमशक्यत्वात् । नचाभेदे परापरभावविरोधः शङ्क्यः । अभेदे ईषदानन्दतिरोभावपूर्णतत्प्राकट्याभ्यामवस्थाभ्यां सुखेन तत्सिद्धेर्ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यत्र प्रागेव निर्णीतत्वात् । अतोऽवस्थाभेदेऽप्यदृश्यत्वादिगुणकः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ २१ ॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

ननु पञ्चशिखवृत्तावव्यक्तपर्यायेषु नपुंसकलिङ्गस्याक्षरपदस्य पाठादत्र तादृशाक्षरपदप्रयोगो, योनिपदस्योपादानवाचकत्वाद् भूतयोनित्वं चाव्यक्तलिङ्गम्, अक्षरात् परत्वं च पुरुषलिङ्गम् । अतस्तत्सर्वं न्यक्कृत्य ब्रह्मविद्यात्वं न स्थापयितुं शक्यम् । नच कस्मिन् विज्ञात इत्येकविज्ञानहेतुकसर्वविज्ञानप्रश्नविरोधः । तत्र कस्मिन् मते विज्ञात इत्यर्थस्य शक्यवचनत्वेन तस्य विज्ञानस्य ब्रह्मविद्यालिङ्गत्वाभावात् । नापि ब्रह्मविद्येति समाख्याबलात् तथा वक्तुं शक्यम्। 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये मूर्तं चामूर्तं चे'तिश्रुतौ विकारेऽपि ब्रह्मपदरूढेरत्र प्रकृतिपुरुषयोर्ब्रह्मणोर्विद्येति योगस्यापि शक्यवचनत्वात् । लिङ्गापेक्षया पञ्चमप्रमाणभूतायास्तस्या अतिनैर्बल्याच्चेत्यत आह । विशेषणेत्यादि । इतरौ प्रकृतिपुरुषौ नात्र वाक्यार्थभूतौ । कुतः । विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम् । विशेषणभेदो व्यपदेशश्च ताभ्याम् । को विशेषणभेद इतिचेत् । अदृश्यत्वादीनां विशेषणानां प्रकृतावघटमानत्वमेव स इति वदामः । कथमितिचेद्, इत्थम् । तैर्हि प्रकृतेर्विकारः सर्वमित्यङ्गीक्रियते । तच्च विकारजातं दृश्यत्वादिमत् । तथा सति तदुपादानमपि तादृशमेव । न हि घटादौ दृष्टे तदुपादानभूता मृन्न दृश्यते इति शक्यवचनम् । अतोऽस्मादेव हेतोर्नात्र प्रकृतिः शक्यवचनेति । ननु ब्रह्मवादे ब्रह्मण एवोपादानत्वात् प्रकृतिवत्तस्यापि दृश्यत्वाद्यापत्तेरस्य ब्रह्मपरतापि न स्यादिति शङ्क्यम्। ब्रह्मणः सर्वभवनसमर्थत्वात् परिणामित्वेऽपि नित्यसदैकरूपत्वाविक्रियमाणत्वयोरिव दृश्यत्वादावप्यदृश्यत्वादेर्विरोधाभावादेवोपपत्त्या वाक्यस्य ब्रह्मपरताया अक्षतेः । नच प्रकृतावपि तथा सामर्थ्याङ्गीकारे परिहारतौल्येन वाक्यस्य प्रकृतिपरता वक्तुं शक्येति नैतेन ब्रह्मवादसिद्धिरिति वाच्यम् । सांख्यैः प्रधानस्य परिणामिनित्यतयैवाङ्गीकृतत्वेन तथा वक्तुमशक्यत्वात् । इदानीं तथाङ्गीकारे च प्रतिज्ञासंन्यासप्रतिज्ञान्तरयोरापत्त्या सर्वब्रह्मधर्मतौल्ये पुरुषस्यापि ततोनतिरेकेण नाममात्र एव कलहेन तन्मतस्य ब्रह्मवाद एव प्रवेशेन ब्रह्मवादिनामेव जयाच्च । यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यादीनां तु सुतरामघटमानत्वम् । तस्या जडतयैवोपगमात् । नच तत् पुरुषविशेषणमिति वाच्यम् । एतस्य प्रथममुण्डके पाठेन व्यवधानात् । पुरुषस्य द्वितीयमुण्डके पाठात् । पूर्वमुण्डकसमाप्तावेव 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्य'मित्यक्षरविशेषणाच्च । तस्मादक्षरविशेषणानां प्रकृतावघटमानत्वमेव । तथा पुरुषविशेषणानामपि सांख्याभिमतपुरुषे अघटमानत्वम् । तन्मते पुरुषबहुत्वेऽपि जीवब्रह्मवद्भिन्नलक्षणत्वाभावेन नियामकत्वरूपस्य दिव्यत्वस्याभावात्। साक्षित्वकैवल्यमाध्यस्थ्यद्रष्टृत्वाकर्तृत्वाद्यतिरिक्तधर्मानङ्गीकारात् । सर्वरूपत्वाभावेन बाह्याभ्यन्तरत्वस्य सुतरां तथात्वात् । तैर्महदादिक्रमेण सृष्टेरङ्गीकृततया 'एतस्माज्जायते प्राण' इतिमन्त्रोक्तायाः सृष्टेः क्रमभेदात् सहोत्पन्नत्वात् साक्षात्तज्जन्यत्वाच्च तन्मतीयत्वस्याभावात्। अतः स्फुटो विशेषणभेदः । आदिमध्यावसानेषु ब्रह्मविद्यामितिव्यपदेशभेदाच्च । अन्यथा सांख्यविद्यामित्येव नाम वदेत् । न हि वेदाचार्यो ब्रह्मा स्वज्येष्ठपुत्राय वेदसारभूतां ब्रह्मविद्यां विहाय सांख्यविद्यां वक्तुमर्हतीत्यपि चकारेण सूच्यते ॥ २२ ॥

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्या'वित्यादिनोक्तं रूपं विश्वकायस्य ब्रह्मण एव सम्भवति, न तु प्रकृतिपुरुषयोरन्यतरस्य, तन्मते केवलयोस्तथारूपानङ्गीकारात् (तस्य) । नच श्लिष्टस्येति वाच्यम् । यथा सुदीप्तादित्यनेन केवलादक्षरात् सृष्टिमुक्त्वा, ततो 'दिव्यो ह्यमूर्त' इति केवलस्य पुरुषस्याक्षरात् परत्वमुक्त्वा, तत 'एतस्माज्जायत'इत्यनेन तादृशादेव सृष्टिकथनानन्तरम्, अग्निर्मूर्धेति रूपमुपन्यस्यत इति । तत्र श्लिष्टत्वस्याशक्यवचनत्वादिति । अत्र सूत्रविभागादेषा मुख्योपपत्तिरिति सूच्यते । चकारेण श्रुत्यन्तराविरोधः, सर्वेषां वेदान्तानामेकवाक्यता च संगृह्यते। अत्रेदं बोध्यम् । गीतायां द्वादशाध्याये, 'एवं सततयुक्ता य' इति सन्दर्भे अक्षरपुरुषोत्तमयोरैक्यमवस्थाभेदेन भेदश्च बोधितः । पञ्चदशे च 'द्वाविमा'वित्यादिना (अक्षरपुरुषादुत्तमत्वं स्वस्योक्तम् । श्वेताश्वतरश्रुतावपि 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एक' इति) अक्षरस्यात्मत्वं देवस्य क्षराक्षरेशितृत्वं चोक्तम् । अतोऽत्राक्षरस्य पुरुषत्वमुक्त्वा पुरुषस्य तत उत्तमत्वं यदुच्यते, तेन गीताद्युक्तमेवाक्षरपुरुषयोः स्वरूपं ज्ञाप्यते, न तु तदतिहाय भूतसूक्ष्मरूपमक्षरम् । प्रकृतहानाप्रकृतकल्पनयोः प्रसङ्गात् । नच परत इति पञ्चम्यन्तस्य वैयर्थ्यम् । सांख्ये प्रधानस्याप्यक्षरपदवाच्यत्वात्तद्वारणार्थं परत इत्यस्याक्षरविशेषणत्वेनावश्यकत्वादिति । तस्मादक्षरशब्देन पुरुषशब्देन च ब्रह्मण एवावस्थाभेदपुरःसरमुक्तत्वादेषा ब्रह्मविद्यैवेति सिद्धम् ॥ २३ ॥ ७ ॥

इति सप्तममदृश्यत्वाधिकरणम् ।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥

एवमदृश्यत्वाद्यधिकरणेनान्तर्यामिणोऽदृष्टत्वे अदृश्यत्वरूपो हेतुः प्रसङ्गाद्दर्शितः । तथा, चराचरग्रहणादिभिस्त्रिभिरधिकरणैस्त्रिविधं भोगमुपपाद्य जीवतुल्यत्ववारणार्थमन्तर्याम्यधिकरणे वैशेष्यं हृदयान्तर्वर्तिनि समर्थयित्वा अन्तर्यामिणो रूपाभावादेवादृश्यत्वमिति शङ्कावारणाय रूपमपि तत्र प्रदर्शितम् । तत् तदा सङ्गतं स्याद्यदि परमात्मनः साकारता वास्तवी स्यात् । अतस्तदुपोद्घातत्वेनेदमधिकरणमधुना आरभ्यते । तद्विषयस्तु छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके श्रूयते । तत्रोपक्रमे, प्राचीनशालः सत्ययज्ञ इन्द्रद्युम्नो जनो बुडिल इतिनामानः पञ्चापि श्रुताध्ययनसम्पन्नाः क्वचन समेत्य मीमांसां चक्रुः, को न आत्मा किं ब्रह्मेति । अत्र किम आवृत्त्या वाक्यभेदस्य स्फुटत्वात् स्वात्मब्रह्मणी अभिन्ने भिन्ने वेति न संशयः, किन्तु अस्माकमुपास्यं ब्रह्म वा तदेकदेशो वेति संशयः । ततस्ते स्वतो निश्चयमलभमाना उद्दालकनामानमन्यं वैश्वानरोपासकं संशयनिवारकत्वेन सम्भाव्य,

ततोऽपि तदनिवृत्तौ तेन सह षडपि कैकेयराजस्य वैश्वानरोपासकस्य निकटे गत्वोक्तवन्तः । आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि, तमेव नो ब्रूहीति । ततो राज्ञा पृथक् ते पृष्टाः 'कं त्वमात्मानमुपास्स' इति । तदा ते स्वस्वोपास्यत्वेन द्युसूर्यवाय्वाकाशवारिपृथिवीः पृथक्पृथगुक्तवन्तः । तदा राज्ञा तत्तदुपास्यानां क्रमेण सुतेजस्त्वविश्वरूपत्वपृथग्वर्त्मात्मत्वबहुलत्वरयित्वप्रतिष्ठात्वरूपान् गुणान् उक्त्वा तेषु वैश्वानरमूर्धचक्षुःप्राणदेहमध्यभागबस्तिपादरूपतां चोपदिश्यैकैकोपासने क्रमेण मूर्धविपातान्धत्वप्राणोत्क्रमणदेहविशरणबस्तिभेदपादविम्लानिकथनरूपया निन्दया तान् प्रतीकत्वेन बोधयित्वा स्वयं तत्स्वरूपमाह । यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमाननात्मानं वैश्वानरमुपास्ते, स सर्वेषु लोकेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति, तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः, चक्षुर्विश्वरूपः, प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा, सन्देहो बहुलो, बस्तिरेव रयिः, पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो, मनोऽन्वाहार्यपचन, आस्यमाहवनीय इत्यादि ।

तत्र संशयः । किं वैश्वानरशब्देन ब्रह्म प्रतिपादयितुं शक्यते, न वेति । नन्नूपक्रमे ब्रह्मात्मपदयोः सत्त्वाद् उपक्रमस्य चासञ्जातविरोधत्वादत्र सन्देह एव कथं घटत इति चेत् । सत्यम् । तथापि तदुपपादकयुक्तेरग्रे अदर्शनेन वैश्वानरश्रुतेर्ब्रलिष्ठतायां तयोरुपासनापरतयापि नेतुं शक्यतया, विमतो वैश्वानरो न ब्रह्म, साकारत्वाल्लोकवदितिन्यायेन च सन्देहस्य सम्भवदुक्तिकत्वात् । तर्हि किमत्र युक्तम् । नेति । कुतः । वैश्वानरशब्दस्य श्रुतौ प्रजापतौ प्रसिद्धत्वात् 'संवत्सरो वा अग्निर्वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्व'न्निति भूताग्नाविव, 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्री'रिति देवतात्मन्यपि प्रसिद्ध इति देवतात्मपरिग्रह एव युक्तः । एवं पूर्वकाण्डे सिद्धावप्युत्तरकाण्डे संवत्सरादिश्रुतेर्विश्वानरः प्रथमः पाद इतिश्रुतेश्च हिरण्यगर्भोपासनापरमिदं वाक्यमित्येव युक्तम् । ब्रह्मनामत्वेन जीवसमष्टिरूपत्वेन ब्रह्मात्मशब्दयोस्तत्र युक्ततरत्वात् । अत एव उपासकस्य सर्वान्नभोजनमपि युक्तम् । प्रादेशमात्रत्वमपि तस्य मुख्यजीवत्वादस्मदाद्यपेक्षया स्थूलत्वाभिप्रायम्, विराडभिमानित्वाल्लोकावयवत्वम्, वेदगर्भत्वादग्नित्रयात्मकत्वं च । तस्माद्धिरण्यगर्भोपासनापरत्वमेव युक्तम् । न तु परमात्मपरत्वमिति प्राप्ते ।

उच्यते । वैश्वानरेत्यादि । वैश्वानरः परमात्मैव । कुतः ? साधारणशब्दविशेषात् । साधारणाः पूर्वपक्षोक्तरीत्या हिरण्यगर्भसाधारणा ये शब्दास्तेभ्योऽपि विशेषात् । प्रादेशमात्रस्यैवाभितो विगतमानत्वलक्षणादाधिक्यात् । तादृशस्यैव द्युमूर्धत्वादिलक्षणादाधिक्याच्च । न हि विरुद्धधर्माश्रयत्वं भगवद्व्यतिरिक्ते सम्भवति । सर्वभवनसामर्थ्यस्यान्यत्राभावात् । ननु प्रादेशमात्राभिविमानशब्दयोः पूर्वपरतया समभिव्याहारादस्तु विरुद्धधर्माश्रयत्वम्, तथापि द्युमूर्धत्वादेःहिरण्यगर्भसाधारण्यं कथं निवर्ततामितिचेत् । उच्यते । समानप्रकरणे वाजसनेयिभिरत्र पुरुषत्वं श्राव्यते । अत्र च मूर्धैव सुतेजा इत्यादिभिराकारकथनेन तदेव समर्प्यते । एवञ्चा-

कारविशेषे रूढोऽपि पुरुषशब्दः, ॐकारवाच्ये ब्रह्मण्येव मुख्यवृत्तः । ॐकारविकृतित्वात् । आनन्दमयाधिकरणेऽन्तःस्थस्यानन्दमयस्य परस्यैव विज्ञानमयादिषु पुरुषाकारसमर्पकत्वेन विमृष्टत्वाच्च । एवं सति, पुरुषौ चात्ममानवावित्यभिधानकोशेनान्यत्र शक्तिग्राहणेऽपि 'सहस्रशीर्षा पुरुषः वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं, पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयते'त्यादिश्रुतिषु, 'तथा पुरुषशब्दोऽयं वासुदेवेऽवतिष्ठते, विना तं पुण्डरीकाक्षं कोऽन्यः पुरुषशब्दभाक्, भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि, निरुपाधी च वर्तेते वासुदेवे सनातने, ब्रह्माद्याः सकला देवा यक्षगन्धर्वकिन्नराः, ते सर्वे पुरुषांशत्वादुच्यन्ते पुरुषा इति' इति पुराणान्तरात् । 'स एव वासुदेवोऽयं साक्षात्पुरुष उच्यते, स्त्रीप्रायमितरत् सर्वं जगद् ब्रह्मपुरःसरम्, स एव वासुदेवोऽयं पुरुषः प्रोच्यते बुधैः, प्रकृतिस्पर्शराहित्यात् स्वातन्त्र्याद्वैभवादपि ' इति नृसिंहपुराणाच्च । अन्येषु तु तदंशत्वाद् गौणः । नचात्र शिवस्यानुक्तत्वात् 'पुरुषो वै हर' इतिश्रुतेश्च तत्र मुख्यवृत्तत्वं शङ्क्यम् । प्रकृतिस्पर्शराहित्यस्वातन्त्र्याभ्यां तस्यापि वारणात् । 'शिवशक्तियुतः शश्व'दिति श्रीभागवतवाक्येन, 'जगत्करणतापन्नः शिवया मुनिपुङ्गवाः, सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थक' इत्यादिभिः पञ्चविंशद्भिः सूतसंहितावाक्यैश्च सर्वावस्थासु शिवस्य प्रकृतियुक्तत्वतदधीनत्वयोरेवोक्तत्वात् । नच कारणस्य सर्वाभिः कार्यावस्थाभिरवस्थावत्त्वात्तादृशं रूपं ध्यानार्थमेवोच्यते, न तु वास्तवं कारणरूपमिति वाच्यम् । अत्र, 'मूर्धैव सुतेजा' इत्यादिना सिद्धान्येवाङ्गानि निर्दिश्य तेषां पुरुषत्वादिविधानेनाङ्गानां तथात्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । नच साकारस्य लोकन्यायेनाब्रह्मत्वं शङ्क्यम् । विरुद्धधर्माश्रयत्वेनैव सिद्धे वैश्वानरस्य ब्रह्मत्वे तस्याप्रयोजकत्वात् । अलौकिकाकारत्वेन सत्प्रतिपक्षत्वाच्च । एवं सिद्धे तस्य स्वाभाविक आकारे सर्वात्मकत्वे तस्याप्रयोजकत्वाद्, अलौकिकाकारत्वेन सत्प्रतिपक्षत्वाच्च । एवं सिद्धे च लोकात्मकत्वे मन्त्रविधीयमानमपि रूपं तस्यैव, न तु तत्कार्यस्य हिरण्यगर्भस्यान्यस्य वेति । नच वैश्वानरोक्तिविरोधः । विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पाद इति ब्रह्माण्डदेहस्य जडस्य, [illegible] तैजसो हिरण्यगर्भो द्वितीयः पाद इति तदन्तर्गतस्य मुख्यजीवस्य नरस्य च भगवदंशत्वेन देवतात्वाद्, देवताद्वन्द्वे कृते विश्वानरौ तौ निवासो यस्येति तद्धिते कृते योगेन भगवद्बोधने विरोधाभावात् । नच रूढ्यपेक्षया नैर्बल्यम् । औत्सर्गिकरूढेरत्र प्रागेव व्युत्पादनादिति । तस्माद्वैश्वानरः परमात्मेति सिद्धम् ॥ २४ ॥

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

ननु पूर्वसूत्रेण सिद्धे वैश्वानरस्य ब्रह्मत्वे किमिति सूत्रान्तरारम्भ इति शङ्कायां प्रकारान्तरेण श्रुत्युपपादन[1]व्यावृत्त्यर्थं पठति । स्मर्यमाणेत्यादि । 'केचित् स्वदेहान्त-

१ श्रुत्युपपादनसंभवादाग्रहवादनिरासार्थमिति पाठः ।

हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्, चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ती'ति स्मर्यमाणं रूपं प्रादेशमात्रवैश्वानरस्य ब्रह्मत्वेऽनुमानं स्यादिति हेतोः प्रादेशमात्रो वैश्वानरो ब्रह्मैव । ये हि ब्रह्म स्मरन्ति, ते श्रुतितः श्रुत्वैव स्मरन्ति, अतो मननरूपं तत् । यदि प्रादेशमात्रवैश्वानरप्रतिपादकवाक्यजातीयानां ब्रह्मवाक्यत्वं न स्यात्, तदा एतत्स्मरणं नोपपद्येत । तथाच, 'अनन्तशाखासापेक्षे वैदिकार्थस्य निर्णये, स्वबुद्धिकल्पितादर्थाद् बलीयानुपबृंहित' इति बोधनायेदं सूत्रमित्यर्थः ॥२५॥

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानान्नेति चेन्न तथादृष्ट्युपदेशादसम्भवात् पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

ननु यदि स्मर्यमाणस्यानुमानतया तदनुरोधेन वाक्यार्थो निर्णीयते, तदा 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः, प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विध' मिति स्मृत्यन्तराज्जाठर एवाग्निर्वैश्वानरो भवतु। नच वाक्यार्थविरोधः शङ्क्यः। तस्य भगवद्विभूतित्वेन यथाकथञ्चिद्योजनसम्भवात् । नचैवं सति भगवत्परत्वमेवास्त्वितिशङ्क्यम्, विरुद्धधर्माणां विद्यमानत्वात् । के ते इतिचेत्,तत्राह । शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानादिति। वाजिनां वैश्वानरविद्याप्रकरणे,'य एषोऽग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यत'इति वैश्वानरपदसमभिव्याहृतोऽग्निशब्दः। आदिपदेनात्रापि 'हृदयं गार्हपत्य' इत्यादिनोक्तस्योपासनार्थं त्रेताग्निकल्पनस्य 'तद्यद् भक्तं प्रथममागच्छेत् तद्धोमीय'मित्यादिनोक्तस्य प्राणादिदेवताकाहुत्याधारत्वस्य च संग्रहः। तेभ्यः शब्दादिभ्यः पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितमित्यन्तःप्रतिष्ठानान्न परमात्मपरत्वं वाक्यस्य युक्तमिति चेत्, न। जाठरविभूतिपरत्वं न वक्तुं शक्यम् । कुतः । तथादृष्ट्युपदेशात् । भगवतः सर्वभोक्तृत्वं वक्तुमनेन शब्देन भगवति जाठरदृष्टेः कर्तव्यत्वोपदेशात् । असम्भवात् । द्युमूर्धत्वादीनां धर्माणां जाठरे असम्भवात् । नचोपासनार्थं तत्कल्पनमुपचारादिति वाच्यम्। पुरुषमपि चैनमधीयते। च पुनः वाजसनेयिनः, 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेदे'ति एनं वैश्वानरं पुरुषमपि वदन्ति । तथा जाठरे असम्भवतां धर्माणामत्रोपदेशाद्भगवति च तेषां सत्त्वात् प्राप्ताप्राप्तविवेके कृते भगवत्परत्वमेव वाक्यस्य सेत्स्यति, न जाठरपरत्वम् । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'ति श्रुत्या सर्ववेदस्य भगवत्परत्वे श्राविते वृथा गौण्यादरस्यायुक्तत्वादित्यर्थः ॥ २६ ॥

अत एव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥

अत एव भगवत्परत्वे सम्भवत्यन्यपरत्वकल्पनस्यायुक्तत्वादेव, अग्न्यभिमानी देवता, महाभूततृतीयं तेजश्च नात्र वाक्यार्थ इत्यर्थः ॥ २७ ॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः॥ २८ ॥

एवं भगवदसाधारणेन विरुद्धयोः प्रादेशमात्रत्वाभिविमानत्वयोराश्रयत्वेन वैश्वानरस्य परत्वं निर्णीय तयोरुभयोरपि साहजिकत्वे विरुद्धधर्माश्रयत्वं सिध्येदिति प्रादेशमात्रत्वं विचारयति । तत्रास्मिन्नर्थे चत्वार ऋषयो वेदार्थविचारकाः प्रकारभेदेन । तत्र केवलशब्दबलविचारका आचार्याः । शब्दार्थयोर्बलेनार्थविचारको जैमिनिः। शब्दोपसर्जनतयार्थविचारक आश्मरथ्यः । केवलार्थविचारको बादरिरिति । तत्र बृहदारण्यके 'मा ते मूर्धा व्यपतदनतिप्रश्न्या वै देवता अतिपृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षी'रित्यतिप्रश्ने दोषश्रावणेन, कठवल्ल्यां 'नैषा तर्केण मतिरापनये'ति निषेधेन च कल्पनया विचारे दोषः श्रावितः । तैत्तिरीये च 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्ये'त्यविचारेऽपि दोषः श्रावितः। अत आचार्यो विचाराविचारयोर्दोषं पश्यन्, 'तदन्वेष्टव्यं तद्विजिज्ञासितव्य'मित्यादिश्रुतेर्विचारमपि वदन् स्वशास्त्रे द्विविधमपि विचारमुपनिबबन्ध। तत्रान्यापेक्षयोत्कृष्टत्वात् पूर्वं जैमिनेर्मतमाह । साक्षादित्यादि । व्यापकस्य प्रादेशमात्रत्वे साक्षादपि कल्पनां विनापि स्वरूपविचारेणैवाविरोधं जैमिनिर्मन्यते। अयमर्थः। श्रुतौ 'ह्याकाशवत् सर्वगतश्च नित्य'इति 'सर्वतः पाणिपादं त'दिति 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति नियतपरिणामपक्षेऽपि स्वेच्छयैव केवलं ब्रह्मणो व्यापकत्वं साकारत्वमनन्तमूर्तित्वं च श्रावितम् । तथा, 'बहु स्या'मितीच्छया बहुभवनमपि सिद्धम् । एवं सति नियतपरिमाणपक्षे स्वेच्छयैव केनचिद्रूपेणाभिविमानं केनचिद्रूपेण प्रादेशमात्रमित्यविरोधः । अनियतपरिमाणपक्षे तु एकमेव स्वरूपमाकाशवन्नानापरिच्छेदककृतवृद्धिह्रासाभ्यां नानापरिमाणं सर्वतः पाणिपादत्वात् पूर्णं प्रतीयत इत्यविरोधः । नानारूपत्वं च स्मृतावप्युक्तम्। 'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः, प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्, तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते' इति । तत्र सर्वभूतस्थं भूतेषु पञ्चधा तत्तत्कार्यार्थं तिष्ठति। उदरे पुरुषोऽङ्गुष्ठमात्रः । 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठती'ति। 'अधो निष्ट्या वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठती'ति श्रुतेः । हृदये ध्यानार्थं प्रादेशमात्रः पूर्वमुक्त एव । शिरसि च सर्वार्थमग्रे वक्ष्यते । मनसीन्द्रियेषु चाणुः । चक्षुषश्चक्षुरित्यादिश्रुतेस्तन्नियमनाय तत्र तिष्ठंस्तदनुरोधात्तथा । तत् सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेदित्यादिवाक्यात्तद्वृद्ध्यर्थं तत्र तिष्ठन् व्यापक इति । अतो वैश्वानरस्य पुरुषत्वात् सच्चिदानन्दरूपेणैव प्रादेशमात्रत्वं न विरुध्यते इति साकारब्रह्मवाद एव जैमिनेः सिद्धान्तः । चतुर्लक्षण्यन्तभागे स्थितस्य, स विष्णुराहेति, तद्ब्रह्मेत्याचक्षते इति सूत्रद्वयस्य शतदूषणीकारप्रभृतिभिः स्वस्वग्रन्थ उपन्यासादिति ॥ २८ ॥

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

एतदादिषु त्रिषु अविरोधमित्यस्यानुषङ्गो बोध्यः । अर्थस्तु निराकारमेव ब्रह्म मायाजवनिकाच्छन्नं, तदपगमे प्रणवमात्रीयदेवताधिष्ठितेन पुरुषाकारेणाभिव्यज्यते ।

सोऽभिव्यक्तः पुरुषोन्तर्यामी । अत एव पुरुषविध इत्युक्तम् । अभिव्यक्तिहेतुकत्वादाकारस्य न स्वाभाविकत्वम्, अतः प्रादेशमात्रत्वमपि । तथापि निर्दिश्यमानं वस्तु सच्चिदानन्दरूपमेवेत्याश्मरथ्य आचार्योऽभिव्यक्तेर्हेतोरविरोधं परिमाणस्य मन्यत इत्यर्थः ॥२९॥

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

बादरिस्तु केवलयौक्तिकोऽनुचिन्तनवशात् प्रादेशमात्रो हृदि प्रादुर्भवतीति तादृशरूपानुवादिका श्रुतिरित्येवमविरोधं मन्यते । 'यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाये'ति वाक्यानुरोधात् । अस्मिन् पक्षे त्वतात्त्विकम् ॥ ३० ॥

सम्पत्तेरितिजैमिनिस्तथाहि दर्शयति ॥ ३१ ॥

जैमिनिमते पूर्वत्र प्रकारद्वयं प्रदर्शितम् । अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचतीत्यत्र शाब्दक्रमादार्थक्रमस्य बलवत्त्वाङ्गीकारादत्राप्यभिविमानस्य प्रादेशमात्रताया आकाशवत् परिच्छेदकवशादुपपद्यमानत्वात् । आद्यं तु तदेकदेशिनोऽभिप्रेतम् । तयोः किं बलवदित्याकाङ्क्षायामेकदेशिनिराकरणाय सम्पत्तेः सकाशात् 'प्रादेशमात्रताया अविरोधं जैमिनिर्मन्यते । तत्र का सम्पत्तिः, कथं च सेत्याकांक्षायां तत्र प्रकारं हि यतो हेतोरेकदेशिन्युदासाय श्रुत्या स्वयं दर्शयति । श्रुतिस्तु वाजसनेयिब्राह्मणे । 'प्रादेशमात्रमिह वै देवा सुविदिता अभिसम्पन्नास्तथा तु व एतान् वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसम्पादयिष्यामीति स होवाच, मूर्धानमुपदिशन्नुवाच एष वै अतिष्ठा वैश्वानर इति, चक्षुषी उपदिशन्नुवाच एष वै सुतेजा वैश्वानर इति, नासिके उपदिशन्नुवाच, एष पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानर इति, मुख्यमाकाशमुपदिशन्नुवाच एष वै बहुलो वैश्वानर इति, मुख्या अप उपदिशन्नुवाच, एष वै रयिर्वैश्वानर इति, चिबुकमुपदिशन्नुवाच एष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इती'ति । अत्र हि द्युप्रभृतिपृथिवीपर्यन्तान् वैश्वानरावयवानुपासकाध्यात्ममूर्धादिचिबुकपर्यन्तेषु आधारानुरोधेन सम्पादयति । तथाचैषा सम्पत्तिरेतत्कृतं प्रादेशमात्रत्वम्, न स्वाभाविकम् । तथाचान्यत्र तथाऽस्तु वैश्वानर इति जैमिन्याशय इत्यर्थः ॥३१॥

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

एवं मतान्तराण्युक्त्वा मुख्यं स्वसिद्धान्तमाह । आमनन्तीत्यादि । एवं व्यापकमेव वैश्वानरम् एतस्मिन् मूर्धचिबुकान्तराले जाबाला आमनन्ति । 'एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा योऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति । सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति । वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै वरणा का च नासीति । सर्वानिन्द्रियकृतान् दोषान् वारयति तेन वरणा भवतीति । सर्वान् इन्द्रियकृतान् पापान्नाशयति तेन नासी भवतीति । कतमच्चास्य स्थानं भवतीति । भ्रुवोः प्राणस्य च यः सन्धिः स एष

द्यौर्लोकस्य च परस्य च सन्धिर्भवती'ति । अत्र मूर्धचिबुकान्तराले प्रतिष्ठितस्यानन्तत्वमाम्नातम् । तथा पूर्वोक्ते वाजसनेयिब्राह्मण एकस्यैव वैश्वानरस्य पुरुषत्वं पुरुषविधत्वं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं चाम्नातम् । न ह्यनन्तस्य संकुचिते स्थाने स्थितिः सम्भवति, न वा तस्यैव तद्विधत्वं, तत्र प्रतिष्ठितत्वं च । नच तत्र कालापरिच्छेदोऽत्र च पुरुषान्तरविधत्वादिकमेवोच्यते इति वाच्यम् । आत्मत्वेनैव सिद्धे कालापरिच्छेदे, पुरुषत्वेनैव च सिद्धे तद्विधत्वेऽनन्त इति पुरुषविध इति विशेषणयोर्वैयर्थ्यापत्तेरिति । नच सूत्रकृता स्फुटतयाऽनुक्तत्वादयमेव सूत्राशय इत्यत्र किं गमकमिति वाच्यम् । अविरोधाध्याये श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादिति सूत्रे यथाश्रुताङ्गीकारस्य सूत्रकृतैवोक्तत्वेनात्रापि तथैव बोध्यत्वादिति । अत एव श्रीभागवतेऽपि 'न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगण ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्य' इत्यादिनैतदेवोपबृंहितम् । लोकेऽपि वस्तुस्वभाव एव यत्र कार्यहेतुर्न तत्र युक्तिसम्भावना । तथा अयःकान्तसन्निधौ लोहपरिभ्रमणे, गर्भस्यौदर्येणादाहे, रेतसो मयूरादिभावे । अतो ब्रह्मणः श्रुत्येकसमधिगम्यत्वाद्यथाश्रुतमेव मन्तव्यम् । दृष्टं चेदं यशोदास्तनन्धयस्य जृम्भालीलायां मृत्स्नाभक्षणोत्तरं व्यादानलीलायां च मुखारविन्दे विश्वं दर्शयतः । उलूखलबन्धने च सन्धीयमानानां स्वगेहदाम्नां द्व्यङ्गुलन्यूनता च । तेनानन्दांशस्यायं धर्मो, यत्र स्वाभिव्यक्तिस्तत्र विरुद्धधर्माधारत्वमिति । इयमुपपत्तिरपि चकारेण सूत्रे सूच्यते । तस्मात् प्रादेशमात्रोऽपि व्यापक इति वैश्वानरो भगवानेवेति सिद्धम् ॥

(अथात्र मतान्तराणि विचार्यन्ते । तत्र जाठराग्निप्रतीकस्य जाठराग्न्युपाधिकस्य वा परमेश्वरस्योपास्यत्वं व्यासमते । जैमिनिमते तु तदुभयकल्पनं विनैव साक्षात् परमेश्वरोपासनं विधीयत इति साक्षादपीति सूत्रे व्याख्यायाभिव्यक्त्यादिसूत्रेषु प्रादेशमात्रत्वस्याविरोधो विचार्यत इति शङ्कराचार्याः प्राहुः ।

तत्रेदमवधेयम् । आचार्यस्तद्गुरुः सर्ववेदव्यासकर्ता स्वयं समन्वयं प्रतिज्ञाय सरलां सुन्दरीं जैमिनिविचारितां युक्तिं श्रुत्यादिसंमतां जानानः किमिति नोपगतवान् । अथ दुष्टां तर्हि कुतो न दूषितवानिति ।

भास्कराचार्यास्तु, नायं वैश्वानरशब्दो जाठराग्न्यभिप्रायेण प्रयुक्तो, येनात्र तद्गुणकोपासनं कल्प्येत । किन्तु यौगिकोऽयं शब्दो विश्वान्नरान् नयतीति । तद्धितस्तु राक्षसवायसादिवत् स्वार्थे । अभिविमानशब्दश्चाभिमुख्येन विचित्रं जगन्निर्मिमीत इति वा, अभिगतश्चासौ विगतमानश्चेति वा योगेन । वैश्वानरशब्दस्य यौगिकार्थग्रहणे जाठरानलविशिष्टोपासनमनभिप्रेतं बादरायणस्येति साक्षात्सूत्रं व्याचक्रुः । तत्र बीजं तु सौत्रोऽपिशब्दः । साक्षादविरोधं जैमिनिरपीत्यन्वयादिति तदाशयः ।

(१) चिह्नान्तर्गतो भागो मत्संनिधौ विद्यमानेषु प्राचीनहस्तलिखितत्रिष्वपि पुस्तकेषु नास्ति । भाष्यप्रकाशेऽयं भागोक्षरशो मुद्रितो दृश्यते । स एवात्र निवेशित इति प्रतिभाति ।

रामानुजाचार्यास्तु मतद्वयेऽपि जाठरविशिष्टपरमात्मोपासनमङ्गीकृत्य, वैश्वानरशब्दोऽग्निसाधारणोऽपि परमात्मधर्मविशेषितो यथा विश्वेषां नराणां नेतृत्वादिना गुणेन परमात्मानमेवाचष्ट इति निश्चीयते, तथा स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुष इति वाजसनेयिपठितोऽग्निशब्दोऽपि येनैवाग्रनयनादिना गुणेन योगाज्ज्वलने वर्तते तस्यैव गुणस्य निरुपाधिकस्य काष्ठां गतस्य परमात्मनि सम्भवादस्मिन् प्रकरणे परमात्मासाधारणधर्मविशेषितः साक्षादव्यवधानेन परमात्मानमेवाभिधत्त इति साक्षात्सूत्रार्थमाहुः । सम्पत्तिसूत्रे चोपासकैः क्रियमाणायाः प्राणाहुतेरग्निहोत्रत्वसम्पादनार्थमुरःप्रभृतीनां वेदित्वाद्युपदेश इति । आमननसूत्रे च,एनं द्युमूर्धत्वादिविशिष्टं वैश्वानरमस्मिन्नुपासकशरीरे प्राणाहुत्याधारत्वायामनन्ति च। तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा इत्याहुः ।

तत्रापीदमवधेयम्। अत्र द्यौमपन्यवादिसंवादवाक्येषु, मूर्धा त्वेष आत्मनश्चक्षुष्ट्वेतदात्मन इत्यादिना यदुक्तं, तस्य निगमनमत्र प्रतीयते । तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्येति सर्वैः पदैस्तमेव परामृश्य मूर्धप्रभृतीनां समभिव्याहरणात् । तत्कथं सन्निहितपरित्यागेन व्यवहितस्योपासकस्य परामर्शः कर्तुं शक्यते । नचाग्रे सुतेजःप्रभृतिभ्योऽतिरिक्तानामुरःप्रभृतीनां वेद्यादित्वकथनात् तथेति वाच्यम् । भगवतो विश्वकायत्वाय तन्मूर्धादीनां सुतेजस्त्वादिदृष्ट्युपदेशवत्तस्य यज्ञत्वाय तदुरआदीनां वेदित्वादिदृष्ट्युपदेशस्य शक्यवचनतया तस्योपासकावयवगमकताया निश्चेतुमशक्यत्वात् । नचैवं सति तद् यद्भक्तं प्रथममागच्छेदित्यादौ यः प्राणाग्निहोत्राधारत्वेनोपासकास्यादिपरिग्रहः स कथं सङ्गच्छेतेति शङ्क्यम् । सम्पत्तिसूत्रविषयवाक्ये वैश्वानरावयवानामुपासकमूर्धादिषु सम्पत्तिकथनेन तेषां तत्र मानवदनुक्तानां तदुरःप्रभृतीनामप्युपासकोरःप्रभृतिषु सम्पत्त्या मानस्याभिप्रेततया सुखेनैव तदास्यादिपरिग्रहसङ्गतेः । अत एव सर्वत्र वैश्वानरस्थितिबोधनायोपसंहारे, तस्मादुहैवंविद् यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य वैश्वानरे हुतꣳ स्यादिति श्रावितम् । तस्मादत्र न जाठरप्रतीकोपासना, न वा तदुपाधिकोपासना, नापि तद्विशिष्टोपासना । किन्तु केवलपरमात्मोपासनेति निश्चयः । शैवभिक्षू अप्येतेनैव दत्तोत्तरौ, माध्वाश्च ।

प्रकृतमनुसरामः । एवमस्मिन् पादे जीवपुरःसरेणार्थसन्देहो निवारितः । मनोमयत्वादिधर्मवान् हिरण्यश्मश्रुत्वादिधर्मवानत्ताऽलौकिकभोगयोगेपि दोषरहितः प्रकटसच्चिदानन्दस्वरूपोऽधिदैवादित्रयनियामकोऽक्षरादुत्कृष्टः स्वत एव साकारो विरुद्धधर्माश्रयो भगवानेव, न जीव इति । तेन सर्वान्तर्याम्येको भगवानिति सिद्धम् । आधेयरूपो विचारित इति च) ॥ ३२ ॥ ८ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणनखचन्द्रकिरणसुधासंसिक्तहृदयश्रीव्रज-
नाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां तच्छिष्यपुरुषोत्तम-
लिखितायां भावप्रकाशिकाभिधायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ
प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥ १ ॥ २ ॥

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

द्वितीयपादस्यान्तस्तद्धर्माधिकरणप्रपञ्चरूपत्वादाधेयरूपो भगवानन्तर्यामी निरूपितः। तेनाष्टाधिकरण्यां 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः, यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर' इति गीतोक्तलक्षणमपि विचारितम् । प्रथमेऽधिकरणे अन्तःस्थस्य मनोमयत्वादीनां (धर्माणाम्, द्वितीये हिरण्यश्मश्रुत्वादीनां च) विचारेण तादृशधर्मविशिष्टत्वस्य तत्र सिद्धया, ततस्त्रिभिः कार्यबोधनेन बिभर्तिपदार्थस्य धारणपोषणात्मकस्वरूपसिद्धया, ततोऽन्तर्याम्यधिकरणेऽन्यत्वपरमात्मत्वावेशानां सपरिकरस्य लोकत्रयस्य च स्वरूपज्ञापनेन, ततोऽदृश्यत्वाद्यधिकरणेऽक्षरादुत्तमत्वेनाव्ययत्वस्य, वैश्वानराधिकरणे विरुद्धधर्माधारत्वेनेश्वरत्वस्य च सिद्धया तथाऽवसायात् । अतः परं तृतीयपादे तल्लिङ्गाद्यधिकरणप्रपञ्चरूपतया आधाररूपो विचार्यते । तेन सर्वं ब्रह्मेति फलनात् सर्वेषां ब्रह्मणि समन्वयः सेत्स्यति । नच पूर्वपाद आधेयनिरूपणेऽप्याकाशात्मत्वाकाशज्यायस्त्वादिभिर्व्यापकत्वावधारण आधारताऽप्यवधारिता भवत्येवेति व्यर्थः पादारम्भ इति वाच्यम् । तत्र प्रेत्याभिसम्भवाध्वपारप्राप्त्यन्तरात्मत्वादीनामाधेयत्वसाधकानामुपपादितत्वेन तेषां बलिष्ठतया आकाशात्मत्वादीनामाधारत्वसाधकानां चानुपपादितत्वेन निर्बलतया आधारत्वधर्मस्य बाध्यत्वमाशङ्क्येतेति तन्निर्धारणार्थमावश्यकत्वात् । पादक्रमनियामिका तु जडार्थवारणरूपाऽवसरसङ्गतिरेवेति न पुनरुच्यते । तत्राथर्वणोपनिषदि द्वितीयमुण्डके श्रूयते। 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः, तमेवैकमात्मानं जानथान्या वाचो विमुञ्चथाऽमृतस्यैष सेतु'रिति। नचास्यैव वाक्यस्य कुतः पूर्वं विचार इति शङ्क्यम्। एतद्वाक्यस्यार्थप्रकरणलिङ्गैर्बाधितत्वभानेन तन्निर्णयस्यात्यन्तमावश्यकतया पूर्वं तस्यैव विचार्यत्वात् ।

अत्र संशयः । द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्म वा, पदार्थान्तरं वेति । किमत्र युक्तम् ? अर्थान्तरमेवेति। अत्र द्युभ्वादीनामोतत्वोक्त्या सूत्रप्रोतमणिकुसुमादिव भारत्वबोधनात्तद्वाहकस्यार्थबलादेव परमात्मत्वनिरासात् । एकविज्ञानेन सर्वज्ञानस्यारम्भ एव पृष्टत्वेनात्रोच्यमानवाग्विमोकस्य प्रकरणविरुद्धत्वात् । सेतोः प्राप्तिसाधनत्वेन शब्दसामर्थ्यविचारेऽप्यफलतयेव सिद्धेरात्मलाभश्रुतिविरुद्धत्वाच्च । किन्तु सांख्योक्तस्य प्रधानस्य वा तद्विशिष्टस्य पुरुषस्य वा बोधकमिदं वाक्यमिति प्राप्ते । उच्यते ।

द्युभ्वित्यादि । उक्तवाक्योक्तानां द्युभ्वादीनाम् आयतनं ब्रह्मैव । कुतः । स्वशब्दात् । द्युभ्वादीनां सर्वेषाम् अनारोपितानागन्तुकभूतस्वरूपत्वबोधकादात्मशब्दात् । स्वपदमत्र श्रौतात्मपदव्याख्यानरूपम् । तथाच नेदं जीवस्यात्मत्वेनोपासनार्थमात्मपदम्, किन्तु पूर्वोक्तानामात्मभूतमिति बोधनार्थमिति लभ्यते । अतः कारणे कार्यस्यौ-

ततया भारत्वाभावाभार्थकृतो बाधकः । तज्ज्ञानस्यामृतत्वसाधकतया ज्ञानद्वारा सेतुत्वस्यापि युक्तत्वान्न लिङ्गादपि बाधः । अतो बाधितार्थत्वाभावाल्लक्ष्यं सर्वगतं चैवेत्युक्तस्य लक्ष्यस्य सर्वगतत्वव्युत्पादनायास्य प्रवृत्तत्वाच्चात्रोक्तं द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैवेत्यर्थः ॥१॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

ननूपक्रमे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्योक्तत्वादस्य वाग्विमोकबोधकत्वेन विरुद्धत्वमिति चेत्, तत्राह । मुक्तेत्यादि । मुक्ताः देहाद्यध्यासरहिता जीवन्मुक्तास्तेषामुपसृप्यत्वेन उपसृप्तुं योग्यतया व्यपदेशात् । अयमर्थः । अवान्तरप्रकरणे तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धीत्यैकाग्र्येण तु ज्ञानं प्रतिज्ञाय, तत् कथं स्यादित्याकाङ्क्षायां धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धीयीत, आयाम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धी'त्यत्र ब्रह्मभावगतेन चेतसा या उपासा तया निशितस्य शरस्य सन्धानमुक्त्वा, किमस्त्रं, कः शर इत्यपेक्षायां, प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मेत्यनेन धनुःशरावुक्त्वा उपासनानिशितत्वाधायकं तद्भावगतं चेतः कथं स्यादित्यपेक्षायां तदर्थमन्यविषयकवाग्विमोक उच्यते । स च शरीराद्यध्यासराहित्य एव भवतीति तेन जीवन्मुक्तनिष्ठा भगवदुपसृप्यता बोध्यते, न तु ब्रह्मज्ञानं निषिध्यते । अतस्तस्या अत्रोपदेशो न सर्वज्ञानोपक्रमविरोधक इत्यर्थः । किञ्चात्र वाग्विमोक एवोच्यते, न त्वर्थविमोकः । वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वात् । विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वात् । अतः सर्वज्ञानबाधाभावादिदं ब्रह्मवाक्यमेवेति । एवं प्रकरणविरोधोऽपि परिहृतः ॥ २ ॥

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

इदमेवाधिकरणं पुनर्निषेधमुखेन विचारयति । नन्वत्र प्रकरणे, 'अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः, स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमान' इति नाडीसङ्घाताधिकरणत्वं शरीरधर्मत्वाज्जडधर्मेऽरनाभिदृष्टान्तो जडदृष्टान्तः । 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि, दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्नि आत्मा प्रतिष्ठित'इत्यत्र पुरत्वं पुरमिव पुरमिति च जडदृष्टान्तः । भूमिष्ठमहिमवत्त्वं च जडधर्मः । मनोमयः प्राणशरीरनेतेत्यत्र मनोविकारत्वं च, तथा प्राणशरीरनेतृत्वं, पुरे व्योम्नि प्रतिष्ठितत्वं, बहुधा जायमानत्वं च पुरुषधर्म इति बहूनां सांख्यानां निरूपकाणां शब्दानां दर्शनादिदं तन्मतानुमापकमेव प्रकरणमिति द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृतिरेवेति चेत् । न । अत्रैतैः शब्दैः क्रियमाणमनुमानं न साधकम् । कुतः अतच्छब्दात् । तन्मतासाधारणशब्दाभावात् । तथाहि । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धान्नाडीसङ्घाताधिकरणत्वमन्तःप्रविष्टस्य सञ्चरतो भोक्तुः प्रतीयते, अतो न जडधर्मः । दृष्टान्तस्तु विष्टम्भकत्वमेव बोधयति, न तु जडत्वमपि । अन्यथा दृष्टान्तीयाशेषधर्मोपपत्तिः पक्षे भवन्ती अनुमानस्य प्रामाण्यमेव भञ्ज्यात् । एवं सर्वज्ञ इत्यत्राप्युक्तयुक्त्या आत्मन एव महिमा

प्रतीयते, न जडस्य । पुरमपि दिव्यत्वेन लोकविलक्षणमेव सिध्यतीति दृष्टान्तमात्रेण न जडत्वम् । मनोमय इत्यत्रापि प्राचुर्यमेवार्थो, न विकार इति प्रागपि सिद्धम् । अतो निःसन्दिग्धतन्मतबोधकशब्दाभावाद् आत्मसर्वज्ञानन्दरूपादिशब्दानां ब्रह्मत्वाद्बोधकानामसन्दिग्धानां सत्त्वात् सन्दिग्धानां तत्समभिव्याहारादिना ब्रह्मपरत्वे निर्णीते एतद्वाक्येऽपि सर्वाधारत्वेन निरूप्यमाणः परमात्मैव, न प्रधानमिति ॥३॥

प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

ननु माऽस्त्वेवं सांख्यानुसारित्वनिर्णयः, तथापि प्राणानामोतत्ववचनं प्रधानासाधारणम् । प्राणशरीरनेतेति प्राणयुक्तशरीरनायकत्वं पुरुषासाधारणम् । सर्वज्ञादिकमपि योगप्रभावविशिष्टजीवधर्मः । अतः केषाञ्चिज्जीवधर्माणां जडधर्माणां च दर्शनाज्जीवजडविशिष्टः सांख्यवाद एवात्रास्त्विति चेत् । न । [illegible] अत्र जीवो न भवति । कुतः । अतच्छब्दात् । न शब्दो हेतुश्च पूर्वसूत्रादेवानुवर्तते । तथाच मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभातीति मन्त्रे हि मनोमयत्वादिधर्मविशिष्टस्य प्राणभृतो विज्ञानेनानन्दामृतरूपस्य विभातो दर्शनमुच्यते । ज्ञानदर्शनयोश्चैकविषयत्वं द्रष्टॄणां च धीराणां ततो भेदः । न हि तन्मते पुरुषस्यानन्दामृतरूपत्वं, येन पुरुषः शङ्क्येत । अतः प्राणभृत्त्वमपि साधारणमेव ॥४॥

भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

ननु मास्तु मनोमयमन्त्रे जीवसिद्धिः । यस्मिन् द्यौरिति मन्त्रे तु भविष्यतीत्यतो हेत्वन्तरमाह । भेदेति । 'तमेवैकं जानथ आत्मान'मिति ज्ञातृज्ञेयभावः प्रतीयते, प्राणानामोतत्वं च ज्ञेये उच्यते । स च ज्ञातुर्भिन्नः, अतो भेदव्यपदेशान्न प्राणभृत् जीव इत्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रकरणात् ॥ ६ ॥

ननु यद्यपि मन्त्रगतो हेतुर्जीवव्यावर्तकः, तथाप्येकशब्दस्य मुख्यार्थस्याङ्गीकारे द्वितीयसिद्धावेवकारस्यासङ्कुचितान्ययोगव्यवच्छेदकत्वस्याशक्यवचनत्वात् तमपि जानथ, ततोऽपि मुख्यमात्मानं जानथेति वचनव्यक्तावस्य मन्त्रस्य जडजीवसाधारणधर्मबोधकत्वं स्यादतस्तदभावायाह । प्रकरणादिति । आरंभे, स ब्रह्मविद्यामिति, मध्ये च, ब्रह्मैवेदमित्यादि, अन्ते च प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्यामिति निरूपणात् प्रकरणं ब्रह्मणोऽवगम्यते । अतस्तदतिहाय, मन्त्रः कथमकस्मात् सांख्यमभिदध्यात्, प्रकृतहान्यप्रकृतकल्पनाप्रसङ्गात्, अतो नात्र सांख्यसिद्धिरित्यर्थः ॥ ६ ॥

स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥

ब्रह्मपदस्य सांख्यमते प्रधानवाचकत्वात् सर्वस्यान्यार्थत्वमाशङ्क्य हेत्वन्तरमाह । स्थितीत्यादि । द्वा सुपर्णेति मन्त्रे, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतीति परमात्मनः केवला

स्थितिः श्राव्यते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति जीवस्य कर्मफलभोगः श्राव्यते । अतः स्थित्यदनाभ्यां जीवपरमात्मानावेव मध्ये परामृष्टौ । न हि सांख्यमते तथास्ति । सर्वेषां पुरुषाणां साम्यात् । वैषम्येऽप्येकत्रात्मद्वयस्थित्यनङ्गीकारात् । अतोनया विशेषोपपत्त्या तन्मते निरस्ते तदुपोद्बलितप्रकरणादिभिरपि ब्रह्मवादस्यैव सिद्धिः । तेन द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥ ७ ॥ १ ॥ इति प्रथमं द्युभ्वाद्यायतनाधिकरणम् ।

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

छान्दोग्ये नवमप्रपाठके सनत्कुमारनारदसंवादे श्रूयते । 'यो वै भूमा तत् सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इति सुखलक्षणत्वेन भूमानं जिज्ञास्यतयोपक्षिप्य, को भूमेति जिज्ञासायां भूम्नो लक्षणमाह। 'यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यद्विजानाति स भूमे'ति । तत्र संशयः। भूमा किं सुखबाहुल्यमुत ब्रह्मेति । उपक्रमे वेदादीनां नामत्वमुक्त्वा,ततस्ततो भूयस्त्वं वागादीनां प्राणान्तानामुक्त्वा,ततोऽपि भूयस्त्वं विज्ञानादीनामन्तरङ्गाणामुक्त्वा, सुखस्य फलत्वादन्ते तस्यैव भूयस्त्वं वदतीति । तथोपक्रमे, 'तरति शोकमात्मवि'दिति प्रश्नबीजमुपन्यस्य मध्ये च मुख्यप्राणविद्याया अवरत्वं बोधयति । विज्ञानादीनां पश्चात्कथनेन । तदेतद् यथायथं कोटिद्वयोपस्थितिबीजम् ।

तत्र पूर्वः पक्षस्तु यद्यप्युपक्रमे, तरति शोकमात्मविदिति नारदप्रश्नेन ग्रन्थावतारादुपसंहारे भूम्नो अमृतत्वेन विशेषणाच्च भूम्नो ब्रह्मत्वं प्रकरणाद् वक्तुं शक्यम्, तथाप्युपान्ते भूमानमेव प्रकृत्य अहङ्कारादेशात्मादेशावुक्तौ । तत्राहङ्कारादेशे सर्वत्र विद्यमानत्वेन सर्वत्वेन च भूयस्तयोक्तस्याप्यहङ्कारस्य तद्विशिष्टस्यात्मनो वा यथा न ब्रह्मत्वम्,तथा आत्मादेशेऽपि तथोक्तस्य केवलस्याप्यात्मनो न ब्रह्मत्वम् । आत्मा चात्र सुखस्य स्वरूपम् । पूर्वाधिकरणे आत्मपदस्यानारोपितानागन्तुकस्वरूपपरताया एवोपगमात् । नच प्रश्नापूर्तिः शङ्क्या । विविक्तजीवात्मज्ञानस्यैव तादृशसुखस्वरूपज्ञानस्याप्यात्मज्ञानत्वेन तावतैवात्मवित्त्वे शोकतरणसिद्ध्या प्रश्नपूर्तेः सम्भवात् । ब्रह्मण एवात्मत्वादिना ज्ञानस्य विवक्षितत्वे गमकाभावात् । नच भूम्नः स्वप्रतिष्ठत्वश्रावणात् तस्य च ब्रह्मासाधारणत्वाद् ब्रह्मत्वं शङ्क्यम् । आत्मैवाधस्तादित्यादिना तस्य सर्वत्र व्याप्तेरुक्तत्वात् सर्वतः पूर्णविषयलाभेऽनाकाङ्क्षायां तस्य पूर्णत्वानुसंधाने स्वमहिमप्रतिष्ठतायाः सम्भवात् । यदि च तस्य लाभस्य प्रयाससाध्यतया सुखबाहुल्यं तत्राङ्गीक्रियते, तदा सुषुप्तिरस्तु । तत्रापि, 'न कञ्चन कामं कामयत' इत्यादि, 'तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्त' इत्यादिश्रावणाद् अन्यापेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वाच्च । अतः सैवात्र भूमत्वेन ग्राह्येति प्राप्तम् ।

तत्रोच्यते । भूमेत्यादि । भूमा भगवानेव । कुतः ? सम्प्रसादादध्युपदेशात् । बृहदारण्यके, 'स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वे'ति श्रवणात् सम्यक् प्रसा-

दोऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या सम्प्रसादः सुषुप्तिः । तत्र यद्यपि, 'यद्वैतत् प्रपश्यती'त्यादिनायोऽन्यदर्शनाभाव उच्यते, सोऽत्र 'यत्र नान्यत् पश्यती'त्यादिनोच्यते, इति लक्षणं समानम्, तथापि 'स एवाधस्ता' दित्यादिना या सर्वत्र व्याप्तिः सर्वत्वं च यदुच्यते, तत्ततोऽधिकम् । न हि सुषुप्तेः सर्वत्वादिधर्माः सम्भवन्ति । आत्मशब्दश्च मुख्यवृत्तो भवति । अतस्तदुपदेशादित्यर्थः । नच, बहोर्लोपो भू च बहोरिति सूत्रं भावार्थप्रत्ययाधिकारे पठितम् । तत्र व्युत्पादितो भूमशब्दो नानात्वं बाहुल्यं वा वदिष्यतीति कथं तस्य ब्रह्मवाचकत्वमिति शङ्क्यम् । भगवतः सर्वत्वस्यात्र श्रावणात् । सर्वमध्ये भावस्यापि प्रवेशात्तस्यापि भगवति वृत्तेः सुखेन संभवादिति । तस्माद् भूमा भगवानेव ॥ ८ ॥

धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

ननु भवतु सम्प्रसादाद् भूम्न आधिक्योपदेशः, तथापि भूमजिज्ञासया प्रश्ने तल्लक्षणत्वेन, यत्र नान्यत् पश्यतीत्यादिवाक्यमुच्यते । तत्र योऽन्यदर्शनादिनिषेधः, स तु सुषुप्तिसाधारण[1] इति भूमपर्यन्ता अन्यविद्या भवतु । ततो भूमाधारमारभ्यात्मविद्येति शङ्कायामिदमुच्यते । धर्मोपपत्तेरिति । यत्र नान्यत् पश्यतीत्याद्युक्ता येऽन्यदर्शनाभावप्रयोजकत्वादयो धर्मास्तेषां भगवत्युपपत्तेः । कथमितिचेत् । इत्थम् । फलाध्यायोपान्तभागे 'स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं ही'ति सूत्रे मैत्रेयीब्राह्मणोक्तमद्वैतदर्शनं प्रकारवैशिष्ट्येन उभयत्राम्नानात् सुषुप्तिब्रह्मसम्पत्तिरूपावस्थाद्वयेऽपि जीवस्य ब्रह्मसम्बन्धादेवेति निर्णीतम् । तेन सुषुप्तावन्यदर्शनाभावस्य ब्रह्मसम्बन्धप्रयुक्ततया तदीयत्वनिश्चयात् तस्मिन् सति लक्षणे अतिव्याप्तिनिरासाद् भूमविद्याप्यात्मविद्यैवेत्यर्थः । चकारात्,'स वा एष एवं मन्वान' इत्यादिनोक्तमात्मक्रीडत्वादिरूपं फलमपि ब्रह्मसम्बन्धादेव सम्भवति, न सुषुप्तिसम्बन्धात् । तस्यां तमोऽभिभवेन क्रीडाद्यभावादिति । तस्माद् भूमा ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥ ९ ॥ २ ॥ इति द्वितीयं भूमाधिकरणम् ।

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥

गार्गिब्राह्मणे श्रूयते । 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च, स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वि'त्यादि । तत्र संशयः । किमक्षरशब्देन पदार्थान्तरमुच्यते, ब्रह्म वेति । तद्बीजं तु ओतप्रोतत्वस्य विकारित्वापादकतया जडलिङ्गत्वमक्षरपदस्य च 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर' इत्यादिश्रुतौ जीवबोधकत्वेन प्रसिद्धजीवलिङ्गं,'क्षरात्मानावीशते देव एक' इति श्रुत्यन्तरात् प्रशासनं ब्रह्मलिङ्गं बोध्यम् । तत्रौतप्रोततया विकारत्वेनाचेतनसाधारण्यात् । 'अहं त्वा याज्ञवल्क्य यथाकाश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं

१ सुषुप्त्यसाधारण इति पाठः ।

त्वां द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्था'मिति द्वयोः प्रश्नयोर्ब्राह्मणतुल्यतया क्लेशजनकत्वात् प्रथमप्रश्नोत्तरभूताकाशवदस्य द्वितीयप्रश्नोत्तरभूतस्याक्षरस्याप्यब्रह्मत्वमेव ।

किञ्च, यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतमित्यत्रौतस्येवात्र प्रोतत्वस्यापि, 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इवे'ति स्मार्तदृष्टान्ताद्भारवाहकतास्फोरकत्वम् । अतोऽचेतनतुल्यत्वाद् ब्रह्मवादस्य समाप्तत्वात् प्रश्नकर्त्र्या गार्ग्याः स्त्रीत्वेनाग्रहाविष्टत्वेन च ब्रह्मश्रवणेऽनधिकारित्वाच्च, यथा 'स्मरो वा आकाशाद् भूया'नित्यत्र कार्योत्कर्षमादाय भूयस्त्वोक्तिः, तथात्र अश्नुते इति न क्षरतीति वा योगेनाक्षरत्वं प्रशासितृत्वं च स्मरणकालभूतसूक्ष्मप्रकृतिजीवविशेषाणामन्यतमस्यादृत्य तदन्यतमपरिग्रह उपासनार्थं वक्तव्यः । नचात्र प्रापञ्चिकसर्वधर्मराहित्यस्य ब्रह्मधर्मस्य विरोधः शङ्क्यः । उपासनार्थत्वेनोपपत्तेः । नचैतदनुरोधेन ब्रह्मैवात्राऽस्त्विति युक्तम् । प्रष्टुः श्रवणानधिकारस्योपपादितयात्र वक्तुरुपदेष्टृत्वस्याभावाद् वाक्यवैयर्थ्यापत्तेः । तस्मादत्राक्षरमन्यदेव, न तु ब्रह्मेति प्राप्ते, उच्यते ।

अक्षरं परमात्मैव । कुतः । अम्बरान्तधृतेः । पृथिव्याद्यम्बरान्तानां धारकत्वात् । नच विषयवाक्ये अदर्शनात् स्वरूपासिद्धो हेतुरिति शङ्क्यम् । श्रुतौ व्याख्यातायां तात्पर्यसिद्धत्वात् । कथमितिचेत्, इत्थम् । अत्र यद्यपि प्रश्नानेकत्वमापाततः प्रतीयते, तथापि पूर्वब्राह्मणे, अब्वाय्वनन्तरमाकाशस्योक्तत्वेऽप्यत्र यदाकाशस्य पुनः कथनं तन्न भूताकाशपरं, किन्तु सूक्ष्माद्यन्यतमप्रथमकार्यपरम् । ततोऽधिको धारकस्तत्र तदन्यतमो जीवविशेषो वा न भवति । उक्ताकाशौतप्रोतत्वस्य तेषु जीवेषु क्वाप्यदर्शनात् । एवं जडजीवयोर्निवृत्तौ तद्धारणं ब्रह्मकार्यत्वेनैव निश्चीयते । नच भारवाहकत्वापत्तिः । केवलस्य प्रोतत्वस्यैव वस्तुभेदबोधकत्वेनौतप्रोतत्वस्योपादानतागमकत्वात् । 'नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे, ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पट' इति श्रीभागवतवाक्यात् । नच श्रोतृदोषाद् ब्रह्मोपदेशो नात्रेति शङ्क्यम् । दोषवत्त्वेऽपि ब्रह्मवित्त्वेनाधिकारित्वादुपदेशस्य युक्तत्वात् । नच ब्रह्मज्ञत्वे मानाभावः । अतिप्रश्ने मूर्धविपातस्य पूर्वमुक्ततयाऽत्र तस्य पुनः करणेऽपि मूर्धविपाताभावस्यैव ब्रह्मवित्त्वगमकत्वात् । अतः सर्वाधारत्वेनात्र ब्रह्मैवोपदिश्यते । निरङ्कुशस्य सर्वाधारत्वस्यान्यत्राभावात् । नन्वेवं सति ब्रह्मपदस्यात्र कुतोऽनुक्तिरिति शङ्क्यम् । परोक्षेण कथनार्थं तदनुक्तेः । अतोऽत्र ब्रह्मधर्मस्याम्बरान्तधारणस्योपदेशादक्षरं परमात्मैव ॥ १० ॥

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

ननु द्युभ्वाद्यधिकरणविषयवाक्ये सर्वविधारणं ब्रह्मधर्मत्वेन आश्रितमित्यन्यत्रापि तथाश्रयितुं न शक्यम् । नियामकस्याभावादित्यत आह । सेत्यादि । सा च विधृतिरत्रापि

ब्रह्मधर्म एव । चोऽप्यर्थे । कुतः । प्रशासनात् । अत्राकाशोपादानप्रश्ने तदुत्तरत्वेनाक्षरं द्यावापृथिव्यादिविधारणं च वदन् विधारणहेतुत्वेन मध्ये प्रशासनं वक्ति । 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने, गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठत' इत्यादि । प्रशासनं चाज्ञैव । तथाच यदि विधारणमन्यधर्मत्वेन स्वीक्रियते, तदापि तद्भगवदाज्ञाहेतुकमेव । तिष्ठेति विश्वामित्रोक्तत्रिशङ्कुधारणवत्, नतु तदाकाशादिसामर्थ्यहेतुकम् । एतेनैवाक्षरं प्रशासनादिति सूत्रापत्तिरपि निरस्ता । आकाशान्तधर्मत्वेन प्रतीयमानाया एव तस्याः प्रशासनहेतुकत्वस्य विवक्षितत्वेनाम्बरान्तधृतिपदस्यावश्यकत्वादिति ॥ ११ ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

ननूक्तमुपासनार्थं ब्रह्मधर्मकथनमित्यत आह । अन्येत्यादि । अन्यस्य भावोऽन्यभावो ब्रह्मेतरधर्मस्तद्व्यावृत्तेः । एतस्यैवाक्षरस्येत्येवकारेण प्रशानस्यान्यधर्मत्वं व्यावर्त्यते । एतद्वै तदक्षरं गार्गि अदृश्यं द्रष्टृ इत्यादिना चाकाशधर्तर्यक्षरे चेतनत्वबोधनेन जडत्वं निवर्त्यते । यस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति कथनेन जीवत्वं व्यावर्त्यते । एवमक्षरस्य जडजीवत्वनिवृत्तौ प्रशासनस्य धर्मत्वमेवेति तथेत्यर्थः । चकाराद्, यो वा एतदक्षरमविदित्वा गार्ग्यस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ यो वा एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मण इति फलकथनमप्यक्षरस्य ब्रह्मत्वगमकम् । अतोऽत्र नोपासनप्रतिपादनम् । तस्मादक्षरं ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥ १२ ॥ ३ ॥ इति तृतीयमक्षराधिकरणम् ।

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः ॥ १३ ॥

आथर्वणानां प्रश्नोपनिषदः पञ्चमे प्रश्ने श्रूयते । 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः, तस्माद् विद्वानेतेनैवायनेनैकतरमन्वेति यद्येकमात्रमभिध्यायीते' इत्यादिना एकद्वित्रिमात्रोपासनया ऋग्यजुःसामभिर्मनुष्यसोमसूर्यलोकप्राप्तिपुनरागमने निरूप्य अर्धचतुर्थमात्रोपासनया परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि परे सम्पन्नो यथा पादोदरस्त्वचेत्यादिना परात् परं पुरिशय पुरुषमीक्षत इति । अत्र ध्यानविषयः परः पुरुषः किं परमात्मा, उत विराट् पुरुषो ब्रह्मा वेति संशयः । परापरयोरुभयोरपि प्रकृतत्वात् । तत्र तावदोङ्कारेण प्रतीकेन ब्रह्मोपासनार्थमोङ्कारस्य द्विविधब्रह्मरूपतामुक्त्वा तेनैवायनेनैकतरमन्वेतीत्येकतरप्राप्तिं प्रतिज्ञाय साधनैक्ये कथं फलभेद इत्याकाङ्क्षायां भावनाप्रकारभेदस्य तत्र नियामकत्वं बोधयितुमेकद्वित्रिमात्रोपासनया तत्तल्लोकप्राप्तिपुनरागमने निरूप्यार्धचतुर्थमात्रोपासनया परतेजःसम्पत्तिपापनिर्मुक्तिब्रह्मलोकप्राप्तीरुक्त्वा परपुरुषक्षणं फलत्वेन वदति । तत्र परपुरुषध्यानस्य त्रिमात्रेणाप्युक्तत्वादर्धचतुर्थमात्रेणापि तद्ध्यानस्य तत्तुल्यकक्षत्वेनामुख्यप्रवाहपतितत्वात् प्राप्यब्रह्मलोकस्याप्य-

मुख्यत्वात्तं लोकं गतस्य यत् परपुरुषेण फलं श्रूयते, तत् पूर्वापेक्षया तत्परस्यैव, न तु सर्वतः परस्य। ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यत्र परप्राप्तेरेव फलत्वेन सिद्धतया तज्ज्ञानमात्रस्य फलत्वाभावात्। अतस्तात्पर्यलिङ्गात् फलादपरस्यैव सिद्धेर्विराड् वा, तदभिमानी वा ध्यानविषयः। स एवेक्षतिकर्मभूतः। नच जीवघनात् परात्परमिति विशेषणानन्वयः। ल्यब्लोपपञ्चम्या जीवघनं प्राप्येत्यर्थे पूर्वेभ्यः परं जीवघनं प्राप्य पुरिशयमित्यर्थात् सुखेनान्वयसिद्धेः। अतो न परमात्मेति प्राप्ते, प्रतिवदति।

ईक्षतीत्यादि। अभिध्यानविषयः परपुरुषः परमात्मैव। कुतः। ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्। ईक्षतिर्दर्शनं तत्कर्मत्वेन निर्देशात्। अत्र जीवघनो हि मुक्तजीवानां घनः पिण्डीभावो यत्र तादृशो ब्रह्मलोकोऽक्षरं सर्वस्मात् परं तस्मात्। परः पुरिशयः सर्वान्तर्यामी यः पुरुषः सोऽत्र तथा व्यपदिश्यते। ध्यानेक्षणयोरेककर्मकत्वम्। अन्यथा द्वे ब्रह्मणी इत्युपक्रम्य त्रिमात्रपर्यन्तमपरं निरूप्य यदि परं न निरूपयेत्, प्रतिज्ञा न पूर्येत। मन्त्रे च तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता इत्युक्त्वा द्वितीयमन्त्रोत्तरार्धे यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं परायणं चेति फलान्तरं च न वदेत्। किञ्चाभिध्याने हि साक्षात्कारः फलम्। अतः फलरूपज्ञानविषयत्वादपि परमात्मैवात्र युक्तः। एतेनैव परशब्दादौ ल्यब्लोपपञ्चम्यप्यपास्ता। तस्माद् ध्यानविषयः परमात्मैव। इदं च सूत्रं परमात्मा न दृश्यत इति मन्दाशङ्कानिवृत्त्यर्थं प्रसङ्गादुक्तम्। अत्र यद्यपि शङ्कराचार्यादिभिर्यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकमिति पाठ आद्रियते, स त्विदानीन्तनेषु पाठकेषु न प्रसिद्ध इत्युपेक्षणीयः॥ १३॥ ४॥ इति चतुर्थमीक्षतिकर्माधिकरणम्।

दहर उत्तरेभ्यः॥ १४॥

छान्दोग्ये दशमप्रपाठकारम्भे श्रूयते। 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्य'मिति। तत्र संशयः। किं जीवोऽन्वेष्टव्यः, किं वा परं ब्रह्मेति। नचाकाशस्तल्लिङ्गादित्यधिकरणे आकाशशब्दवाच्यताया ब्रह्मणि विचारितत्वादधिकरणस्य किं प्रयोजनमिति शङ्क्यम्। अत्र दर्शने श्रुत्यर्थस्य निर्णयत्वाज्जीव एव परमार्थतो ब्रह्म? उत ब्रह्म भिन्नमित्येतन्निर्णयार्थत्वेनावश्यकत्वात्।

तत्र तावद्दहराकाशो जीव एव। तथाहि अत्रापहतपाप्मादिगुणकात्मप्रतिपादके महावाक्य आद्यं दहरप्रकरणं, द्वितीयं चेन्द्रप्रजापतिसंवादात्मकम्। तत्र द्वितीये चतुर्भिः पर्यायैर्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमुक्त्यवस्थाभेदेन अमृताभयरूपो जीव एव प्रतिपादित इति प्रथमेऽपि प्रकरणे स एव युक्तः। द्वितीयस्यैतद्व्याख्यारूपत्वात्। अत्राप्यर्थविचारे

हृदयाकाशमेव प्रक्रम्य, तस्य ब्रह्मवेश्मत्वमप्युक्त्वा, तत्र वर्तमानस्यैव जीवस्यैष आत्मापहतपाप्मेत्यङ्गुल्येव निर्देशात्। तत्र च आराग्रमात्रस्य जीवस्यैव मातुं शक्यत्वात्। नचाकाशशब्दवाच्यत्वविरोधः। तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशस्य सुवचत्वात्। यदि च, तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यमित्याकाशान्तर्वर्तिनोऽन्वेष्टव्यत्वं, न जीवस्येति शङ्क्यते, तथा सति तत्र वासनारूपेण विद्यमानस्य सर्वस्यात्रोक्तस्य तन्महिमरूपत्वात्तस्यान्वेष्टव्यत्वमस्तु। नच तन्महिम्नो वासनात्मकत्वे मानाभावः। यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः, उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी समाहिते इत्यादिना अन्तर्बहिश्च सर्वकथने प्रत्यक्षविरोधापत्त्या जीवान्तस्तादृशस्यैव मन्तव्यत्वात्। नचैतद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरिसञ्चरन्तोऽपि न विन्देयुरेवमेवेमाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्तीति जीवानां प्रत्यहं ब्रह्मनिकटगमने तदज्ञानं यदत्र श्रावितं, तज्जीवस्य वस्तुतो ब्रह्मत्वे स्वस्य स्वाज्ञानाप्राप्त्योरशक्यवचनत्वादसङ्गतं स्यादिति शङ्क्यम्। स्वप्नमायामनोरथादिषु स्वयं कल्पिता ये जीवास्तद्गमनागमने लक्ष्यीकृत्य सुखेन सङ्गतिसम्भवात्। तस्माज्जीव एव दहर इत्येवं प्राप्ते, प्रत्युच्यते।

दहर इत्यादि। दहरः परमात्मैव, न जीवः, कुतः। उत्तरेभ्यः। दहरनिरूपणानन्तरं वक्ष्यमाणेभ्यो हेतुभ्यः। तेषामपि हेतूनां हेतुताया अस्फुटत्वे साध्यत्वादेवं कथनम्। तस्माद् दहरः परमात्मा॥ १४॥

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च॥ १५॥

उक्तहेतूनां मध्ये हेतुद्वयं प्रसाधयति। गतीत्यादि। गतिर्ब्रह्मलोकगमनं, तद्यथा हिरण्यनिधिमित्यादिनोक्तम्, शब्दः एष आत्मापहतपाप्मेत्यादिपदानि, ब्रह्मलोकपदं च, ताभ्यां हेतुभ्यां तथा। ननु तयोरेव कथं भगवपरत्वम्। गतेर्मनोरथादिकल्पितजीवपरत्वस्य शब्दानां मुक्तावस्थजीवपरत्वस्योपपादितत्वादित्यत आह। तथाहीत्यादि। गतिशब्दौ भगवत्परत्व एव युक्तौ, न तु जीवपरत्वे। अत्र हि, ब्रह्मलोकेऽहरहर्गच्छतां ब्रह्मलोकाज्ञानहेतुभूतं विशेषणमनृतेन प्रत्यूढा इति। तेन चाज्ञानावेष्टितत्वमुच्यते, न त्वज्ञानकल्पितत्वम्। तच्च दृष्टं प्रत्यक्षगम्यमेव। सर्वेषां सुषुप्त्यनन्तरमुत्थाने, न किञ्चिदवेदिषमित्येवं स्मरणस्यानुभवसाक्षिकत्वात्। यदि हि गन्तारोऽज्ञानकल्पिता भवेयुः, तदा जाग्रद्शायामज्ञाननाशात् स्मरणं नोपपद्येत। नच गन्तुरभाव एवेति युक्तम्। तथा सति य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्तीति गतिबोधकशास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गात्। आत्मगन्त्रोर्ज्ञानकर्मकर्तृत्वविरोधापत्तेश्च। न च अज्ञानस्य चरमवृत्तिनाश्यत्वात् ततः पूर्वमज्ञानसत्त्वात् सर्वमुपपद्यत इति वाच्यम्। तथा सति गन्तृत्वेन विवक्षितस्य चरमवृत्तौ वा सत्त्वे आत्महानात्तस्या अपुरुषार्थत्वापत्तेः। तस्माज्जीवब्रह्मवादे गत्यनुपपत्तेस्तथाकल्पनमयुक्तं, किन्तु मते जीवभिन्नपरत्वमेव युक्तमित्यर्थः। एवमपहतपाप्मत्वादिशब्दानामपि ब्रह्म-

परत्वमेव । तद्विरुद्धधर्माणां जीवे दृष्टत्वात् । मुक्तावस्थाप्रसङ्गस्यात्राभावेन तेषामत्र वक्तुमशक्यत्वात् । भगवति तु ध्यानादाविदानीमपि तेषामुपलब्धेः । अतः शब्दानामपि ब्रह्मपरत्वमेव युक्तमित्यर्थः । ननु ब्रह्मवादेऽपि सर्वस्य ब्रह्माभिन्नत्वाज्जीवब्रह्मणोरंशांशिभावजनकविभागस्याज्ञानिकत्वमेव वाच्यम् । क्रियया तदङ्गीकारे ब्रह्मणोऽनित्यत्वापत्तेः । अतो जीवानामज्ञानकल्पितत्वमेव सेत्स्यतीति वृथा तत्परिहाराडम्बर इति चेत्, न । बहु स्यामित्यादीच्छयैव विभागेपि पृथिवीशराववदेवांशांशिभावाज्ञानावृतत्वाद्युपपत्तेः सर्वसामञ्जस्येनादोषात् । अतो जीवानामज्ञानदर्शनाद् ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वदर्शनाद्गतिशब्दौ जीवभिन्नब्रह्मविषयावेव, न जीवविषयौ । किञ्च, गतिशब्दयोर्ब्रह्मपरत्वे लिङ्गं च वर्तते । तथाहि । 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयत' इत्यस्य वाक्यस्य शेषे आत्मानमननुविद्य व्रजन्तीत्यात्माज्ञानं लोकक्षयहेतुत्वेनोच्यते । यदि च गन्तारो मनोरथकल्पिताः स्युः, तदा तेषां मिथ्यात्वेन अनुविद्य व्रजन्तीत्याद्युक्तसर्वलोककामचारादिरूपस्य हितस्य वैयर्थ्यात् तदकरणं प्रसज्ज्येत । अतोऽस्या गतेर्ब्रह्मभिन्नाभिमानिकल्पितसत्यजीवकर्तृकत्वं जीवविषयत्वावगमे लिङ्गम् । एवं सर्वलोककामचारसत्यसङ्कल्पादिरूपं माहात्म्यमप्यपहतपाप्मादिशब्दानां जीवभिन्नब्रह्मपरत्वावगमे, लिङ्गम् । यथा बृहदारणयके 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत तथर्षीणां तथा मनुष्याणामित्यनेकजीवानुपक्रम्य 'तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवती'त्युक्तं सार्वज्ञ्यं ब्राह्मणोपक्रमपठितस्यात्मपदस्य जीवभिन्नब्रह्मपरत्वे लिङ्गं तद्वत् । अतो लिङ्गादपि गतिशब्दौ जीवभिन्नब्रह्मविषयौ । चकारात् 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेती'ति श्रुतौ विशेष्यान्वित एवकारोऽपि ब्रह्मण एवात्मत्वेन ज्ञानं मोक्षायेति बोधयति, न त्वात्मनो ब्रह्मत्वेन ज्ञानं मोक्षायेति सूच्यते । श्रुतौ विषयत्वेन ब्रह्मण एव परामर्शादिति । तस्माद् दहरः परमात्मा ॥ १५ ॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

दहरसूत्रे हेतुबाहुल्यस्य प्रतिज्ञानादत्र तृतीयं हेतुमाह । धृतेरित्यादि । इतोऽपि हेतोर्दहरः परमात्मा । कुतः । धृतेः । 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाये'ति श्रुत्युक्ताद् विधारणाभिरङ्कुशसर्वलोकधारकत्वस्य ब्रह्मासाधारणत्वात् तथेत्यर्थः । चकारात् सेतुत्वं संगृह्यते । सेतुत्वस्य निःसाधनपारतारणसाधनात्मकत्वात् तादृशत्वस्य च 'अहथापूतं निशि शयानम्' इत्यादौ ब्रह्मधर्मत्वेन सिद्धत्वादिति । अन्यं हेतुमाह । महिम्न इति । पुरुषसूक्ते, 'एतावानस्य महिमा अतो ज्यायाँश्च पूरुष' इति महिम्नो ब्रह्मज्यायस्त्वगमकत्वं श्रावितम् । अत्र च दहरस्य शरीरैकदेशान्तर्वर्तित्वकथनपूर्वकं, यावान् वेत्यादिना परममहत्त्वं श्राव्यते । उभे अस्मिन्नित्यादिना बहिर्वर्तिनामेवान्तर्वर्तित्वं च । तच्च जीवजडयोरसम्भवद्युक्तिविरोधेनाश्चर्यं जनयद्भगवदसाधारणोत्कर्षत्वात्माहात्म्यरूपं भवति । उत्कर्षजनक एव च महिमा । गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षत इत्यादिश्रुतेः । अतो लोकविधारणादेर्विरुद्धधर्माश्रयत्वबोधकतया महिमरूपत्वात् ततोऽपि दहरो भगवानित्यर्थः । एवं लोकविधारणस्वरूपेण महिमरूपतया चेति द्वेधा हेतुत्वं बोधितम् । अथ कथमस्यासाधारणतेत्यत आह अस्येत्यादि । एतादृशविरुद्धधर्माश्रयत्वस्यास्मिन् ब्रह्मण्येव शब्दात् प्रत्यक्षाच्चोपलब्धेः । शब्दस्तु, 'ज्यायान् दिवो ज्यायानाकाशात् । यावान् वा अयमाकाशः, अणोरणीयान् महतो महीयान्,' 'आसीनो दूरं व्रजति, शयानो याति सर्वतः,' 'अन्धो मणिमविन्दत् तमनङ्गुलिरावय'दित्यादिः । प्रत्यक्षं च यशोदाप्रभृतीनाम् । तस्मात् परमात्मैव दहरः ॥ १६ ॥

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

आकाशशब्दवाच्यत्वप्रसिद्धेरपहतपाप्मत्वादिप्रसिद्धे'ररश्च ह वैण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोक' इत्यरण्यान्तर्गतवाराहोपबृंहितश्रीभागाख्यभगवल्लोकप्रसिद्धेश्च जीवे असम्भवाद् दहरो भगवानेवेत्यर्थः । चकारो विधिमुखेनाधिकरणसमाप्तिसूचकः ॥ १७ ॥

इदमेव पुनर्निषेधमुखेन विचारयति ।

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ॥ १८ ॥

एवं चतुःसूत्र्या दहरस्य परमात्मत्वं साधयित्वेदानीं चतुःसूत्र्या जीवस्य दहरत्वं दूषयन् सूत्रांशेनाशङ्क्य परिहरति । इतरेत्यादि । ननु ब्रह्मवादे जीवब्रह्मणोः स्वरूपस्य श्रुत्येकसमधिगम्यत्वाद्यथाश्रुतमादरणीयम् । तत्र यथा सर्वत्र ब्रह्मासाधारणधर्मदर्शनाद् ब्रह्मप्रकरणत्वं निश्चीयते, एवमत्रोपक्रमाद्युपसंहारान्तं जीवपरामर्शाज्जीव एव प्रकरणी निश्चयः । कथं स इतिचेत्, इत्थम् । अत्र हि, 'य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्ती'त्यारम्भे जीवमुपक्रम्य, 'अत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधाना' इत्यन्तेन दहरविदः कामा उक्ताः । मध्येऽपि, 'तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहित'मित्यत्र ब्रह्मसमीपगमनेऽपि तदप्राप्तिः प्रतिपादिता, आत्मनो हृदि स्थितिश्च । अन्ते च 'य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इति प्रतिपाद्य तस्यैव सेतुत्वादिकं प्रतिपादितम् । तत्रादिमध्ययोर्जीवो निःसन्दिग्धः । अन्तेऽपि सम्प्रसादो जीव एव । बृहदारण्यके,'स एषोऽस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वे'ति सम्प्रसादस्य जीवावस्थाविशेषत्वेनोक्ततया तदुपलक्षितस्य जीवस्यैव आदरणीयत्वात् । तस्य च परत्वसम्बन्धेन स्वरूपाभिनिष्पत्तिवचनं जीवासाधारणं लिङ्गम् । तेनोपक्रमगतमात्मवेत्तृत्वमपि स्ववेत्तृत्वरूपं जीवधर्म एव । अज्ञानस्य जीवधर्मत्वं स्फुटमेव । सेतुत्वमपि साधनत्वम् । तथाचात्र प्राप्यत्वेन ब्रह्मणः प्रतिपादनेऽपि न तस्य प्रकरणित्वम् । अत एवं सर्वत्रेतरस्य जीवस्य परामर्शाज्जीव एव प्रकरणार्थ इति चेत् । न । जीवः प्रकरणी न भवति । कुतः । असम्भवात् । सर्वत्र वेदान्ते 'द्वावजावीशानीशौ' 'ऋतं पिबन्ता'वित्यादिभिर्ब्रह्मविरुद्धधर्मवत्तयैव ब्रह्माभिन्नतया च तन्निश्चयेनात्र

सकलजगदाधारत्वादेस्तत्रासम्भवात् । नचैवं सति प्रदर्शितस्य परामर्शस्य का गतिरिति शङ्क्यम् । तस्यान्यार्थताया अग्रिमसूत्रे वक्ष्यमाणत्वात् । तावन्मात्रेण सर्ववेदान्तविरुद्धकल्पनस्य कर्तुमशक्यत्वात् । वाक्यार्थोपपत्तेरुत्तरसूत्रे वक्ष्यमाणत्वाच्चेति । तस्मान्न जीवो दहर इति ॥ १८ ॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

पुनराशङ्क्य समाधत्ते । उत्तरादिति । उत्तरात् प्राजापत्यात् प्रकरणादत्रापि जीवः प्रकरणीतिचेत् । अयमर्थः । उत्तरस्मिन् इन्द्रप्रजापतिसंवादप्रकरणे चतुर्भिः पर्यायैरात्मा बोधितः । तत्र प्रथमे पर्याये, 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मे'त्यनेन जाग्रत्साक्षिणं निर्दिश्य तस्यामृताभयरूपत्वं च दर्शितम् । नचैतदग्रे, 'अथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते, यश्चायमादर्शे कतम एष' इति प्रश्ने 'एष उ एव सर्वेष्वेतेषु परिख्यायत' इत्युत्तरात् प्रतिबिम्बपुरुष एवोच्यते, न जाग्रत्साक्षीति शङ्क्यम् । द्वितीयादिपर्यायारम्भे'ष्वेतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामी'ति प्रतिज्ञाविरोधापत्तेः । अतस्तत्पर्यायेष्ववस्थाविशेषविशिष्टस्य जीवस्यैवोपदेश इति निश्चीयते । तथा सति प्रथमे 'एषोऽक्षिणी'ति यदुक्तम्, तत्राक्षिपदेन मन एव ग्राह्यम् । उपान्तभागे 'मनोऽस्य दैवं चक्षु'रितिवक्ष्यमाणत्वात् । तत्र दृश्यमानश्च जाग्रत्साक्ष्येव । अहंवित्तेः प्रतीयमानत्वात् । तदनु तस्यैव 'य एव स्वप्ने महीयमान' इत्यादिना स्वप्नसाक्षित्वम्, तदनु 'तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्त' इत्यादिना सुषुप्तिसाक्षित्वं च निरूप्य सर्वत्र तस्यामृतत्वं च निरूप्य, तदनु 'मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीर'मित्यादिना शारीरत्वादासामवस्थानां तस्मिन्नताच्चिकत्वं बोधयित्वा, समाध्यवस्थायां मनसि जीवं तादृशं प्रतिपादयतीत्यतो जीवोऽपि वस्तुतोऽपहतपाप्मत्वादिधर्मवान् ब्रह्माभिन्न एव प्रकरणीतिचेत् । एवं सूत्रांशेन आशङ्क्यांशान्तरेण परिहरति । आविर्भूतस्वरूपस्त्विति । अत्र पूर्वपक्षपरिहारकस्तुशब्दः । जीवस्यैवंरूपतायां कारणान्तरमुक्त्वा एतस्य जीवप्रकरणतायाः स्थाप्यत्वान्नात्र नकारप्रयोगः । परिहारप्रयोजकं कारणमाह आविर्भूतस्वरूप इति । स्वाप्ययसम्पत्त्योर्जीवे भगवदावेशः फलाध्यायोपान्ते वक्ष्यते । ब्रह्मसम्पत्तिश्चोपासनादिपौष्कल्यात् । अतो नृसिंहोपासकस्य नृसिंहाविर्भाववत्प्रजापतेर्ब्रह्मज्ञत्वेनोपदेशावसरे ब्रह्माविर्भावात् सर्वत्र स्वात्मानममृताभयरूपं पश्यन्निन्द्रं प्रत्यात्मनस्तथात्वमुपदिष्टवान्, 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इति चोक्तवान् । अतः आविर्भूतस्वरूपत्वाज्जीवस्तादृश उच्यते, न तु स्वतस्तादृश इतीतरपरामर्शेऽपि न पूर्वत्र जीवः प्रकरणीत्यर्थः । नच जीवस्य स्वतस्तादृशसत्त्वाभावे किं गमकमिति शङ्क्यम् । अवस्थाभेदानामेव गमकत्वात् । नच तासामागन्तुकत्वान्न तदभावगमकत्वमिति वाच्यम् । अमृतत्वादेः अभावरूपस्य तत्र साहजिकत्वे घ्नन्तीव जिनन्तीवविच्छादयन्तीवेत्यादिश्रा-

वितस्य तत्प्रतियोगिनो भयादेस्तत्र प्रामाणिकस्याशक्यवचनत्वप्रसङ्गादिति । अतोऽत्रापि ब्रह्मण एवोपदेष्टव्यत्वाद् ब्रह्मैव प्रकरणि, न तु जीवः । तस्माद् दहरः परमात्मैव ॥१९॥

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

ननु यदि प्रकरणद्वयेऽपि ब्रह्मैवोपदेष्टव्यम्, तदा जीवपरामर्शस्य किं प्रयोजनमत आह । अन्येत्यादि । प्रथमप्रकरणे जीवपरामर्शोऽन्यार्थः । ब्रह्मसुखरूपफलानुभवे स्वरूपयोग्यतासम्पत्त्या बोधनार्थः । कथमितिचेत् । इत्थम् । तत्र हि, 'तस्य वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमि'ति । तानि वा एतानि त्रीण्यक्षराणि स ति यमिति । तद् यत् सत् तदमृतमथ यत् ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंवित् स्वर्गं लोकमेती'ति वाक्ये भगवत्कर्तृकामृतमर्त्ययमयितृत्वज्ञाने स्वस्य ब्रह्मसुखं फलमुक्तम् । तत्र यमयितृत्वज्ञानं यन्तव्यज्ञानाधीनमिति तयोर्मर्त्यस्य प्रसिद्धत्वादमृतं ज्ञापनीयमतस्तज्ज्ञापनार्थ जीवपरामर्शः । किञ्चेतः पूर्वमथ य एष इत्यादिना स्वरूपाभिनिष्पत्तिरुक्ता । तेन ज्ञानिदशायां भगवदाविर्भावो भवति । सः चकारेण सूच्यत इति तज्ज्ञापनाय च परामर्श इति । नचैतदर्थमेव परामर्श इत्यत्र किं मानमिति शङ्क्यम् । फलाध्यायोपान्ते स्वाप्ययसम्पत्त्योरिति सूत्रे सम्पत्तौ भगवदावेशस्य वक्तव्यत्वादिति । तस्मान्न परामर्शमात्रेण तथा कल्पनं युक्तमित्यर्थः ॥ २० ॥

अल्पश्रुतेरितिचेत् तदुक्तम् ॥ २१ ॥

ननु न वयं जीवे उपपत्तिरस्तीति जीवप्रकरणं कल्पयामः, किन्तु ब्रह्मणि नायमर्थ उपपद्यत इत्यतो जीवप्रकरणं वदाम इत्याशङ्क्य तत्र पूर्वोक्तं समाधिं स्मारयति । अल्पेत्यादि । अल्पश्रुतेः अल्पेऽधिकरणेऽवस्थानश्रवणात् । दहरपुण्डरीके भगवतो 'यावान् वा अयमाकाश' इत्यादिना व्यापकत्वेन श्रावितस्यावस्थानं न सङ्गच्छते । अतो जीव एवाराग्रमात्रो विरोधपरिहाराय तत्र भवत्विति कल्प्यत इतिचेत् । तदुक्तम् । यद्येवमस्मद्रीत्या विचारयसि, तदा तत्समाधानमस्माभिरर्भकौकस्सूत्रे प्रागेवोक्तम्, निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्चेत्यनेन । हृदये चिन्तनीयत्वाद् इति । तन्न विस्मर्तव्यम् । सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधासम्भवस्यासकृदुपपादितत्वाच्च । तथा 'विजिघत्सोऽपिपास' इत्यादिसूचितं पुरुषशरीरमपि विरुद्धमिति नाशङ्कनीयम् । 'पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः, आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहित'मिति भगवद्वाक्यात् । तस्माद्दहरो भगवानेवेति सिद्धम् ॥ २१ ॥ ५ ॥ इति पञ्चमं दहराधिकरणम् ।

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

ननु दहरवाक्ये, 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते, उभावग्निश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहित'मिति सूर्यादीनां दहरान्तर्वर्तित्वं श्रूयते।

तद्विरुद्धं च मुण्डकादिष्वभासनवाक्यम्। तेषां ब्रह्मपरत्वं सिद्धम्, अतस्तद्विरुद्धवाक्यमाशंक्य परिहरति। अनुकृतेरित्यादि। कठवल्ल्यां मुण्डके च श्रूयते। 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः, तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती'ति। तत्र कठवल्ल्यां, 'य एष सुप्तेषु जागर्तीति' यच्छब्दं पठित्वा मन्त्रान्तरे 'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे,' 'तमेव भान्तमनुभाति' च तच्छब्दः पठ्यते। मुण्डकेऽपि 'यत्र देवः क्रतुभिर्भूतिभावन' इति, 'न तत्र सूर्यो भाती'ति। एवमुभयत्रापि यत्तच्छब्दानामेकार्थत्वं ब्रह्मपरत्वं च यद्यपि प्रकरणादवगतम्, तथापि मुण्डकश्रुतौ 'यस्मिन् द्यौ'रित्यत्र द्युलोकादीनां भगवदाधारत्वकथनात् सूर्यादीनां भगवत्येव स्थितिः प्रतीयते। एतन्मन्त्रपूर्वार्धे च तत्र तेषां भानं निषिध्यते। तच्च भासनस्वभावानां स्वाधारे भावाभावकथनाद्वान्यार्थं सत् सन्देहमुत्पादयति। यदि चोत्तरार्धे, तमेवेत्यादिकथनात् तदपेक्षयाधिकभाननिषेध एव तात्पर्यम्, न सामान्यनिषेधे, अतो न बाधितार्थत्वमिति विभाव्यते, तदाप्यकर्मकस्य धातोः कर्मबोधिका द्वितीया तु बाधितमेव वक्ति। ब्रह्मणः स्वतो भानकथनेन व्यवधारणकल्पनायाः कर्तुमशक्यत्वात्। अतः सन्देहः।

पूर्वपक्षस्तु। श्रुतौ तत्रेत्यधिकरणसप्तम्या कुतोऽयमग्निरिति वचनाच्च, 'गजा यत्र न गण्यन्ते मशकानां तु का कथे'तिवत् कैमुतिकन्यायः पूर्वार्धे दोषः। उत्तरार्धे तु 'तमेव भान्त'मिति कथनाद् भानस्य च तेजोधर्मत्वात्सत्यलोके स्थितः कश्चित् तेजोविशेष एव वक्तव्यः। नच कर्मत्वांशे बाधितार्थत्वम्। अनोःकर्मप्रवचनीयत्वेन तद्योगे जाताया द्वितीयाया उपपदविभक्तित्वेनार्थशून्यत्वात्। अतः स एवाबाधितो वाक्यार्थ इति प्राप्ते, उच्यते।

अनुकृतेस्तस्येति। तस्य भगवतोऽनुकारार्थमेवात्र पूर्वार्धे भाननिषेधवचनम्, न तु सर्वथा तन्निषेधार्थम्। उत्तरार्धे अनुभातीति कथनात्। तच्च तेषां स्वतोऽभाने पर्यवस्यति। नच तेजोविशेषकल्पनं युक्तम्। तमित्यनेन प्रकारेण परामर्शात् कल्प्यमानस्याप्रसिद्धत्वेन यच्छब्दानपेक्षताया वक्तुमशक्यत्वात्। किञ्च। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाती'ति कथनात् सूर्यादीनां स्वतः प्रकाशो नास्त्येव, घटादिवत्, किन्तु भगवत्प्रकाशेनैव प्रकाशवत्त्वमिति चकारेण सूच्यते। अतो ब्रह्मपरत्वे बाधकस्याभावान्नान्यार्थकल्पनं युक्तम् ॥२२॥

अपि स्मर्यते ॥ २३ ॥

उक्तेऽर्थे सम्मतिमाह। अपीत्यादि। अपिः समुच्चये। 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावक' इति। 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्, यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामक'मिति च। तस्माद्भगवानेव सर्वावभासकः, तमेव सर्वमनुकरोतीति सिद्धम्। एवमभासनाशङ्कितविरोधपरिहारेण दहरवाक्यानुगुण्यमस्य साधितम् ॥ २३ ॥ ६ ॥ इति षष्ठमनुधिकरणम्।

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

प्रसङ्गात् परिमाणविरोधरूपं बाधकान्तरमाशङ्क्य परिहरति। शब्दादित्यादि। कठवल्ल्यां श्रूयते। 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति, ईशानो भूतभव्यस्य ततो न विजुगुप्सत' इति। तथा। 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमक' इति। अत्र जीवो वा, ब्रह्म वेति संशयः।

तत्र, 'यावान् वा अयमाकाश' इति व्यापकत्वमन्तःस्थितस्य प्रतीतम्। अत्र चान्तःस्थितस्यैवांगुष्ठमात्रता प्रतीयते। सा च व्यापकताविरुद्धा। अतो जीव एवात्र वक्तव्यः। अङ्गुष्ठमात्रे, 'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो य' इति श्रुत्यन्तरे तस्याङ्गुष्ठमात्रतायाः प्रसिद्धत्वात्, तस्य च 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बला'दिति पुराणवाक्याद्धीनत्वमतस्तद्व्यतिरिक्तमुक्तमन्त्रोपास्यत्वेन बोधयितुमुपासनार्थमीशानत्वादिधर्मा उच्यन्ते। अतो न भगवानिति प्राप्ते, अभिधीयते,

शब्दादेव प्रमित इति। उक्तवाक्ये पूर्वार्धेनाङ्गुष्ठमात्रत्वमुक्त्वोत्तरार्धे तावन्मात्रस्यैव भूतभव्येशानत्वं वक्तीति वाक्यरूपाच्छब्दादेव प्रकर्षेण विरुद्धधर्माश्रयत्वरूपेण मितो ज्ञातः। तथाच यथा दहरवाक्ये सूक्ष्मस्यैव व्यापकत्वं शब्दात्प्रमीयते, एवमत्राङ्गुष्ठमात्रस्यैव भूतभव्येशानत्वम्, अतः शब्दादेवास्य प्रमितत्वादत्र सन्देह एव न कार्य इत्यर्थः। किञ्च। पूर्वाधिकरणविषयवाक्ये सर्वस्य भगवदनुकारकत्वसिद्धेरत्र राजादीनां स्वल्पानामप्यनेकजनपदेशनशीलत्वात् प्रत्यक्षमप्यनुकूलीभवति। तथा तर्कोऽपि। यदि भगवानेवं न स्यात्, राजादिरपि तथा न स्यादिति। तस्माद्भगवतः सर्वतः पणिपादान्तत्वेन यत्र यावानपेक्ष्यते, तत्र तावन्तं श्रुतिर्निरूपयतीत्यङ्गुष्ठमात्रः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥२४॥

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

नन्वनेकरूपविरुद्धधर्माश्रयत्वं च माहात्म्यार्थं स्वरूपे निरूपयति। प्रादेशमात्रं च ध्यानार्थम्। अङ्गुष्ठमात्रत्वस्यात्रोपयोगादर्शनात् किमर्थं तन्निरूपणमित्याशङ्कायामाह। हृदीत्यादि। तुशब्दो निष्प्रयोजनशङ्कानिवृत्त्यर्थः। अस्ति प्रयोजनम्। तदाह। हृदि यदङ्गुष्ठमात्रं निरूपयति, तद् अपेक्षया, 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठती'ति स्मृतेरीश्वरकार्यापेक्षया निरूपयति। तच्च कार्यं धर्मरक्षा। ननु कथमेतदवगम्यते, इत्यत आह। मनुष्याधिकारत्वादिति। मनुष्यानधिकृत्येदं मृत्यूपाख्यानं प्रवृत्तम्। मनुष्याणां च हृदयं स्थूलमपि सत् धर्मात्मकमङ्गुष्ठमात्रमेव। अङ्गुष्ठमात्रस्यैवावदानश्रवणात्। अतः परिमाणान्तरमनुक्त्वाङ्गुष्ठमात्रः सर्वधर्मरक्षार्थं निरूप्यत इत्यङ्गुष्ठमात्रो भगवानेवेति सिद्धम् ॥ २५ ॥ ७ ॥ इति सप्तमं शब्दादेव प्रमित इत्यधिकरणम्।

तदुपर्यपि च बादरायणः सम्भवात् ॥ २६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रनिरूपणार्थं मनुष्याधिकारे निरूपिते जैमिनीयदर्शनाभिनिविष्टस्य कस्यचिद् भ्रमः स्यात्। सर्वासु ब्रह्मविद्यासु मनुष्याणामेवाधिकार इति। तन्निराकरणाय देवानामधिकारं स्थापयितुमिदमधिकरणमनुप्रसङ्गसङ्गत्या आरभते। तदुपर्यपीत्यादि। मनुष्येष्वपि त्रैवर्णिकानामुपनयनादिधर्मवतामधिकारो, न तु ततोऽर्वाक्तनानामिति जैमिनीयदर्शनेपि शूद्राधिकरणे सिद्धम्। तदत्राप्यङ्गीक्रियते। तदनुक्तमधिकं तु बोध्यते इति ज्ञापनार्थमपिशब्दः। तदुपरि विशिष्टत्रैवर्णिकेभ्यो मनुष्येभ्यः सकाशादुपरि मनुष्यगन्धर्वादिप्रजापत्यन्तानन्दिनामधिकारं बादरायण आचार्यो मन्यते। तत्र जैमिनिप्रभृतीनां न सम्मतिरतः स्वनामग्रहणम्। स्वोक्ते हेतुमाह। सम्भवादिति। जैमिनिर्हि कर्मविधीनां स्वापेक्षितोद्देश्यत्वातिरिक्तदेवतागतधर्मान्तरानाकाङ्क्षित्वमङ्गीकृत्य तच्छेषभूतयोर्मन्त्रार्थवादयोर्देवताविग्रहसाधकत्वं मन्वानो विग्रहाभावादेवार्थित्वसामर्थ्यविद्वत्तानामभावादधिकारासम्भवं मन्यते। सोऽसम्भवोऽत्र नास्ति। विग्रहाभावे तेषां विधीनां व्यापारकौण्ठ्यप्रसङ्गात्। तथाहि, देवतोद्देशेन विधीयमानं यागादिकं स्वस्योद्देश्यसम्बन्धाय वषट्कारमपेक्षते। स च ध्यानम्। यस्यै देवतायै हविर्निरुप्तं स्यात्, तां मनसा ध्यायेद, वषट् करिष्यन्निति विधानात्। ध्यानं च विग्रहमन्तरेणासम्भवद्ध्यानविध्यानर्थक्यं प्रसञ्जयति। अशरीराया देवतायाः ध्यातृबुद्धावनारोहात्। तदनारोहे च ध्यानवषट्काराद्यभावाद्यागसिद्ध्यभावेन तद्विधिवैयर्थ्यं वज्रलेपायत इति कर्मविधीनामुद्देश्यगतधर्मान्तरापेक्षा अनुक्तसिद्धा। तांश्च धर्मान् 'वज्रहस्तः पुरन्दर' इत्यादयो मन्त्रा 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते'त्यादयोऽर्थवादाश्च समर्पयन्तीति मन्त्रार्थवादयोर्विग्रहसाधकत्वं निर्बाधम्। एवं सिद्धे कर्माधिकारे बाधकानां निरासेन ज्ञानाधिकारोऽपि सम्भवत्येव। धर्मज्ञानाभ्यां सातिशयाभ्यां तादृशजन्मसम्भवात्। 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' इति श्रुतेस्तेषां शारीरारम्भकारणत्वात्। नचोपनयनाभावादनधिकारः शङ्क्यः। 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्ता'दिति 'यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मा' इति यज्ञोपवीतवेदाध्यापनादिलिङ्गेन शतानन्दिनां श्रोत्रियत्वलिङ्गेन च तन्निश्चयात्। अतः सातिशयाभ्यां धर्मज्ञानाभ्यां ब्रह्मविद्यायोग्यजन्मसम्भवान्नारदवत्तेषां पूर्वसंस्कारालोपाच्चाक्षरार्थित्वे सिद्धे उत्तरोत्तरमुपदेष्टॄणां विद्यमानत्वात् प्रजापतिपर्यन्तं सर्वेषामधिकारः सम्भवति। सम्भवोक्त्या तादृशाधिकारस्य दुर्लभत्वं सूचितम्। 'यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत, स एव तदभवत्, तथर्षीणां तथा मनुष्याणा'मिति श्रुतेः। अतस्तदुपरितनानामप्यधिकारः सिद्धः॥ २६॥

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्॥ २७॥

अधिकार एव किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति। विरोध इत्यादि। नन्वेवमुपरितनानां ज्ञानाधिकारेऽङ्गीक्रियमाणे तत्पूर्वभाविन्युपनयनवेदाध्ययनादिरूपे कर्मण्यप्यधिकारोऽवश्यं

वक्तव्यः। स च तेषु ब्राह्मण्याद्यभावादशक्यवचनः। नचाधिकारबलेन ब्राह्मण्यादिकं तेषामाक्षेप्यमिति वक्तुं युक्तम्। तस्य विप्रतिपन्नत्वेन बलाभावात् तस्याक्षेपकताया दूरापास्तत्वात्। यज्ञोपवीतमन्त्राद्युक्तलिङ्गेन तदङ्गीकारेऽपि स्वर्गस्थानां तेषां भूमिरूपस्य देशस्य, व्रीह्यादिरूपस्य द्रव्यस्य, तथा तल्लोके सूर्यगत्यभावेन दर्शादिरूपस्य कालस्य, ऐन्द्रं दध्यमावास्यायामित्यादिषूक्तायाः कर्तृभिन्नाया देवतायाश्चाभावेन तैः क्रियमाणे यज्ञादिकर्मणि च श्रुतिविरोध इति चेत्। न। नात्र विरोधः। कुतः। अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्। 'साध्या वै देवाः सुवर्गकामा एतं षड्रात्रमपश्यन्, तमाहरन्, तेनायजन्त, सोऽग्निष्टोमेन वसूनयाजयत्, स उक्थेन रुद्रानयाजयत्, सोऽतिरात्रेणादित्यानयाजय'दित्यादिषु अनेकेषां देवानां प्रतिपत्तेः कर्मणि प्रवृत्तेर्दर्शनात्। तथाचैवं प्रत्यक्षश्रुत्यैव करणे दर्शिते तत एवाधिकारसिद्धौ, 'त्वं देवेषु ब्राह्मणोऽसि यानि ह वै देवत्राणि मरुतो वै देवानां विश' इत्यादिश्रुतिबलेन तेषु वर्णसत्तायाः, 'तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतु'रित्यादिष्विन्द्रादीनामाश्रमसत्तायाः, 'आदित्या वा अस्माल्लोकादमुं लोकमाय'न्नित्यादिषु भूमावागत्य यज्ञकरणश्रावणेन देशसत्तायाः, तत एव कालद्रव्यसम्पत्तेरग्निर्होता अश्विनाध्वर्यू इत्यादित्यानां देवानां च श्रावणाद् विनैवाक्षेपं सर्वबाधकनिरास इष्टः। नच जैमिनिस्मृत्यनवकाशः शङ्क्यः। इदानीं वेदविभागादाधुनिकानां सर्वज्ञानाभावेन मुख्ययज्ञानधिकारे तान् प्रति तस्यावकाशादिति। अतः कर्माधिकारस्तत्करणं चोपर्यपि सिद्धम्॥ २७॥

शब्द इतिचेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥ २८॥

ननु पूर्वोक्तरीत्या देवेष्वधिकारव्यवस्थापनेन कर्तृत्वापादनात् तैः कर्मकरणे माऽस्तु श्रुतिविरोधः, तथापि शब्दे तु विरोधो भविष्यति। कथमितिचेत्। इत्थम्। अर्थज्ञानानन्तरं हि कर्मकरणम्। अर्थज्ञानं च वेदात्। वेदस्तु साध्यादीनां कर्मकरणं वदति। तच्च साध्याद्युत्पत्तितत्कृतकर्मणोरनन्तरभावि। अतः कर्मकरणार्थं प्रवृत्तानां साध्यादीनां वेदार्थप्रमितिसमये साध्यादिकार्यस्य कर्मणोऽभावेन तद्बोधकवेदभागस्याप्यभावात्तदनित्यत्वापत्तिः। तदा(प)पत्तौ च, 'वाचा विरूपनित्यये'त्याद्या, 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा, शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारका' इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधापत्तिः। नच तादृशवेदभागोक्ताः साध्यादयः सा यागव्यक्तिश्चान्यैवेति वाच्यम्। तदन्यत्वव्यवस्थापकप्रमाणाभावात्। अतो देवानां कर्मकरणाङ्गीकारे वेदनित्यत्वबोधकश्रुतिविरोध इतिचेत्। न। नात्र श्रुतिविरोधः। कुतः। अतः प्रभवात्। प्रभवः प्राकट्यम्, स च विद्यमानस्य धर्मः। तथाच शब्दोक्तपदार्थानां शब्दादेव प्राकट्येन विद्यमानतावधारणान्न पूर्वोक्तो विरोधः। वेदोक्ताः सर्व एव पदार्था आधिदैविकाः पुरुषावयवभूताः। नचैत एव त इति शङ्क्यम्। अनुकृतिसूत्रे विषयवाक्येन भगवतः सर्वानुकार्यत्वनिर्धारात् तेषामनुकारिभ्यो भेदस्य सिद्धत्वात्। अतो

लौकिकप्रमाणागोचरो ज्ञानात्मकः प्रपञ्चो भिन्न एव भगवदवयवरूपः । पदानां च वैदिकानां तेनैव सम्बन्ध इति देवैरगम्यमानाः साध्यादयो भिन्ना इति न ज्ञाता-वात्माश्रयादिर्न वा शब्दनित्यत्वहानिरिति शब्देऽपि न विरोध इत्यर्थः । ननु लौकिकैरेव द्रव्यादिभिर्यज्ञनिर्वर्तनदर्शनात् कथं वैदिकस्य प्रपञ्चस्यातिरिक्तत्वमुपगन्तुं शक्यमित्या-शङ्कायामाह । प्रत्यक्षानुमानाभ्यामिति । तथाचैताभ्यां प्रमाणाभ्यामुपगन्तुं शक्य-मित्यर्थः । तत्र प्रत्यक्षं तावदिदानीमपि यजमानो यजमानकृत्यं ऋत्विजश्चार्त्विक्कृत्यं वेदा-देवावगच्छन्ति । तथाच यथा तत्कर्म वेदैकसमधिगम्यम्, तथा पदार्था अपि । ननु प्रसिद्ध-पदसमभिव्याहाराद्धर्मे शक्तौ गृहीतायां पश्चाल्लोकानां वैदिककर्मविषयकं शाब्दं भवति, ततस्तैस्तदनुष्ठीयत इति तत्प्रत्यक्षं भवति । तत्र लौकिकातिरेकश्च वैलक्षण्याद्भासत इति तत्र प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यं युक्तम् । पदार्थानां तु सङ्केतग्राहकस्याभावेन तच्छाब्दाभावा-द्वैलक्षण्यादर्शनेन[1] तस्यानुपस्थितत्वाच्च कथं तत्प्रत्यक्षमितिचेत् । उच्यते । न ह्यत्र तेषां प्रत्यक्षमुच्यते । किन्तु वेदात् प्रभवस्य । एवं सति यथा कर्मणः प्रभवः, एवं पदार्थानामपि ज्ञेयः । अन्यथा प्रोक्षणादीनां संस्काराणामपार्थत्यमेव स्यात् । किञ्च । पूर्वेषां ब्रह्मादीनां भगवतः साक्षात्कारात्तदवयवरूपाणां पदार्थानामुपस्थितिः सुकरैव स्यात् । ततोऽर्वाची-नानामिदानीन्तनपर्यन्तानां तु सम्प्रदायपारम्पर्यात् सर्वस्य भगवदनुकारित्वज्ञानाच्च भेदे सादृश्ये च भाते उपमानादेव तेषु शक्तिग्रहः । अप्रत्यक्षत्वेऽपि शाब्दं च भवति । यथा स्वर्गादीनामतीन्द्रियाणाम् । उत्तमानां तु वैलक्षण्यमपि किञ्चिद्भासत एव । अतो जैमि-निमते वेदाद्धर्मावगतिवद् वैयासे मते वेदादेव पदार्थानामप्यवगतिः । किञ्च । जमद-ग्नीनां पञ्चावत्तमित्यादिकमनुमानम् । मनुष्यत्ववज्जामदग्न्यत्वस्य प्रत्यक्षत्वाभावात् । भारत आजगरे मनुष्यत्वव्याप्यानां ब्राह्मणत्वादीनां दुष्परीक्ष्यत्वकथनेन, जैमिनिना स्त्र्य-पराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनमितिसूत्रकरणेन, प्रवरानुमन्त्रणश्रुत्या, 'यन्मे माता प्रममादे'ति श्रुत्या च तथा निश्चयात् । ब्रह्मवादे परोक्षज्ञानस्याप्यनुमानत्वेन व्यवहारादिति । तस्मात् कर्मावगतिवत् प्रत्यक्षेण स्वस्य जामदग्न्यावगतिवत् परोक्षेण च तस्य प्रपञ्चस्यावगतेः शब्देऽपि न विरोध इत्यर्थः ॥ २८ ॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

एतदतिदेशेनैव वेदस्यापि नित्यत्वं साधयितुमाह । अत एवेत्यादि । अत एव सर्वप्रपञ्चवैलक्षण्यादेव हेतोर्वेदस्य नित्यत्वम् । चकाराद्ब्रह्मतुल्यत्वं, शब्दब्रह्मवेदपुरुष-इत्यादिपदवाच्यत्वं च संगृह्यते । एवं सूत्रद्वये शब्दबलविचारेण वेदप्रामाण्यसिद्ध्यर्थं भिन्न एव प्रपञ्च आधिदैविकः सर्वत्र सिद्धः । तेनानुकारिसृष्टेरपि यत् कीर्तनं तत्रापि नानित्यसंयोगः । 'सदेव साम्ये'ति, 'हंताऽहं मदेव मन्मात्रं द्वितीय'मिति । 'विश्वं वै ब्रह्म

[1]. वैलक्षण्याभावेन दर्शनेनेति पाठः ।

तन्मात्र'मित्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मोपादानकतया तस्या अपि नित्यत्वावधारणादिति च सिद्धम् ॥ २९ ॥

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

इदानीमुत्तरकाण्डे 'तत्तेजोऽसृजते'त्यादिवाक्यानां विचारे तेजःप्रभृतीनां जन्यत्व-श्रावणादनित्यत्वे सिद्धे शब्दार्थयोस्तदंशे अनित्यसंयोगोऽर्थबलेन प्राप्नोतीति तन्नि-वृत्त्यर्थमाह । समानेत्यादि । वस्तुतस्तु सर्वस्य भगवद्रूपत्वादाविर्भावतिरोभावेच्छयैवा-नित्यत्वेन भानस्य विष्णुपुराणे, 'तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्, आविर्भावति-रोभावजन्मनाशविकल्पवदि'ति जगतो विकल्पचतुष्टयताबोधनेन चोक्तत्वादावृत्तिशङ्कैव नास्ति । यदि पुनर्लोकबुद्धिमनुसृत्य जन्मनाशाङ्गीकारेणानित्यतोपगम्यते, तदापि मृदा-दीनां पिण्डघटखर्परचूर्णभस्मपरमाण्ववस्थानां पौनःपुन्यदर्शनाद् द्रव्याकृत्योरावृत्तिरङ्गी-कार्या । एवमावृत्तावपि, समाननामरूपत्वात्, घटादीनां च पृथुबुध्नोदरादिरूपाया आकृतेस्तुल्यत्वाद्, अविरोधः । नित्यानां वैदिकपदार्थानामनित्यपदार्थेन सह सम्बन्ध-कृतो विरोधो नास्ति । कुतः । दर्शनात् स्मृतेश्च । दृश्यते हि लोके कालिकनित्य-प्रलयशालिषु पितृमातृस्त्रीभर्तृशरीरेषु गङ्गादीपप्रभृतिषु च प्रतिक्षणमन्यान्यत्वेऽपि प्रवाहैक्येनैकतायाः शक्यतायाश्चाभिमानः । दृश्यते च 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्व-मकल्पयद्, दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो सुव'रिति सर्वस्य यथापूर्वत्वबोधिका श्रुतिः । अतो लोकदृष्ट्या पदार्थानित्यत्वे तत्तत्प्रवाहस्य नित्यत्वात् तत्रैव पदानां शक्तिः । इदं चानादिसृष्टिवादिनो मीमांसकस्य मतेऽपि तुल्यम्, अतो यथा अव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्ध इत्यत्र व्यवहाराव्यतिरेकेण प्रवाहनित्यतया धर्मे शब्दसम्बन्धस्तद्ग्रहणं च, तथा वस्त्वन्त-रेऽपीत्यनित्यसम्बन्धगन्धस्याप्यभावान्न विरोधः । किञ्च । स्मृतेः । 'सर्ववेदमयेनेदमा-त्मनात्मात्मयोनिना, प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरत' इति यथापूर्वसृष्टिबोध-कस्मृतेः । 'ऋषीणां पूर्वचरितस्मरणं स्मृतिरुच्यते' इति स्मृतिसाधारणलक्षणे पूर्व-कल्पीयाचारस्मरणस्य बोधनेन सृष्टियथापूर्वतायाः सिद्धेः प्रवाहनित्यत्वस्य सिद्धत्वात् तत्रैव पदानां शक्तेस्तथेत्यर्थः ॥ ३० ॥

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥ ३१ ॥

अर्थबलविचार एव उपासनाविशेषमादाय पूर्वपक्षमाह । मध्वादिष्वित्यादि । ननु छान्दोग्ये 'असौ वा आदित्यो देवमधु, तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्रास्तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एव प्राच्यो मधुनाड्य' इत्यादिना मधुविद्यायां सूर्यस्य देवमधुत्वं पञ्चदिक्कानां तद्रश्मीनां पञ्चनाडीत्वं च प्रतिपाद्य अग्रे 'तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेने'त्यादिना वसुरुद्रादित्यमरुत्साध्या देवगणाः स्वमु-ख्येनाग्नीन्द्रवरुणसोमब्रह्मरूपेण मुखेन दृष्ट्वैव तृप्यन्तीति निरूप्य, अग्रे 'स एतदेवममृतं

वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यती'त्याद्युपासनमुक्तम् । तत्र देवानां ब्रह्मविद्याधिकारोपगमे विद्यात्वाविशेषान्मधुविद्याविषयत्वाद्वेद्यवेत्रैक्यापत्त्यानुपपत्तेरादित्यः कथमादित्यमुपासीत । किञ्चाग्रे आदित्याश्रितानि पञ्च रोहितादीन्यमृतान्यनुक्रम्य वस्वादीन् पञ्चदेवगणाँस्तदुपजीवकानुक्त्वा वस्वाद्युपजीव्यान्यमृतानि विजानतो वस्वादिरूपप्राप्त्या स्वगणमुख्यमुखेन तृप्तिरुच्यते । सा चोपासनातः प्रागेव वस्वादिरूपेण वर्तमानानां पुनस्तत्प्राप्तिकथनात् प्राप्यप्राप्त्रोरैक्यापत्त्यानुपपन्ना भवति । नचादित्यवेद्य आदित्यो वस्वादिप्राप्त्या वस्वादयोऽन्य एवेति वक्तुं शक्यम् । प्रमाणाभावात् । अधिकारानङ्गीकारे तु तेषामनुपासकत्वात् प्राप्तफलत्वेन कृतार्थत्वाच्च न देवान्तरकल्पना । नच माऽस्तु मधुविद्यायामधिकारः, तावता ब्रह्मविद्यानधिकारो न वक्तुं शक्यः । तेषां मोक्षार्थित्वात्तत्र बाधकाभावाच्चेति वाच्यम् । ब्रह्मणोऽपि देवत्वात्तस्याप्युपासककोटिप्रवेशेनोपास्यत्वप्राप्यत्वयोर्विघटनादिति । अत्र मध्वादीत्यादिपदेन, 'अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद' इति, 'वायुर्वाव संवर्ग' इति 'आदित्यो ब्रह्मे'त्यादेश इत्याद्याः सर्वा एव देवोपासनाविद्या गृहीताः । अतस्तासु पूर्वोक्तरीत्या देवानामुपासकत्वासम्भवात् सर्वास्वेव विद्यासु देवानामनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

अधिकारानङ्गीकारे पुनरुपपत्त्यन्तरमाह । ज्योतिषीत्यादि । तेषां सर्वेषामेवानधिकारः प्रत्यक्षत एव दृश्यते । सर्वेऽपि नक्षत्रादिरूपेण महाभोगवन्तो जगदवभासकत्वेन ज्योतिश्चक्रे दृश्यन्ते, तस्मादिति ॥ ३२ ॥

नच सर्वेषां ज्योतिश्चक्रे स्थित्यभावः शङ्क्यः । तैत्तिरीयारण्यके शिशुमारोपासने 'अग्निः पुच्छस्य प्रथमं काण्डं, तत इन्द्रस्ततः प्रजापति'रित्यादिश्रावणात् । न हि तादृशां प्राप्तैश्वर्याणां सर्वोपास्यानामुत्तरमार्गवर्तित्वेनाधिकारसमाप्तौ मोक्षभाजां ज्ञानकर्मणोः कश्चनोपयोगोऽस्ति । तस्मान्न तेषामधिकार इति प्राप्ते, उच्यते ।

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३॥

तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । भावं देवानां ज्ञानकर्माधिकारसद्भावं बादरायण आचार्यो मन्यते । गौणसिद्धान्तो नायमिति बोधनाय स्वनामग्रहणम् । ननु यद्यार्षज्ञानेनाधिकारोऽङ्गीक्रियते, तदा जैमिनेरपि तथात्वात् तौल्यमित्यतः प्रमाणमाह । अस्ति हीति । नास्माभिरार्षज्ञानेनाधिकार उच्यते, किन्त्वस्ति प्रत्यक्षं देवानामुभयाधिकारज्ञापकं वचनम् । 'प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति, स एतदग्निहोत्रं मिथुनमपश्यत्, तदुदिते सूर्येऽजुहोत्, देवा वै सत्रमासतर्द्धिपरिमितं यशस्कामा' इत्यादि । तथा 'यो यो

देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभव'दित्यादि । तथेन्द्रप्रजापतिसंवादे इन्द्रस्य ब्रह्मविद्याधिकारः । नचैतेषामर्थवादत्वेन स्वार्थे प्रामाण्याभावान्नैतैरधिकारसिद्धिरिति शङ्क्यम् । अत्र प्रथमवाक्यस्य विद्वद्वाक्यशेषत्वेन स्वार्थे प्रामाण्याभावे तदुक्तार्थस्याप्रामाणिकत्वात्तज्ज्ञानेन यस्यैवं विदुषोऽग्निहोत्रं जुह्वति प्रैव जायत इति फलस्याप्यभावापत्तेः । अतस्तदनुरोधेनैव प्रजापतेरग्निहोत्रद्रष्टृत्वं तद्धोतृत्वं चावश्यमभ्युपेयम् । नच प्रजापतिरिति भाविनी संज्ञेति वक्तुं शक्यम् । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व'मिति श्रुतेस्ततः पूर्वस्यान्यस्याभावात् । एवं सिद्ध एकस्मिन् देवेऽधिकारे, देवा वै इत्यादिभिर्यो य इत्यादिभिश्चान्येषामपि कर्मणि ज्ञाने चाधिकारो निश्चेतव्यः । यत्र पुनर्देवानां फलभोग एव तदवयवभूता उपास्या भिन्ना एव, अनशनात् । न हि जीवा दृष्ट्वा तृप्यन्तीति । तस्माद्वेदनित्यत्वाय शब्दबलविचार एवादरणीय इति देवानामप्यधिकार इति सिद्धम्॥ ३३ ॥ ८॥

इत्यष्टमं तदुपर्यपीत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि ॥ ३४ ॥

अथानुप्रसङ्गसंगत्या शूद्रस्याधिकारो ब्रह्मविद्यायामस्ति, न वेति विचार्यते । एवं हि छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठकारम्भे श्रूयते । जानश्रुतिर्ह पौत्रायण इत्यत्र, श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस । स ह सर्वत आवसथान्मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीत्यथ ह हंसा निशायामतिपेतुस्तद्धैव हंसो हंसमभ्युवाद हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीत्, तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति । तमु ह परः प्रत्युवाच कं वर एनमेतत्सन्तँ संयुग्वानमिव रयिक्कमात्थेति । ततो, योऽनु रयिक्वमित्यादिना रयिक्वप्रशंसामुक्त्वा, ततो जानश्रुतिस्तच्छ्रुत्वा रयिक्कमन्विष्य तत्र गत्वा रयिक्वेमानि षट् शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथोनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्स' इति । तमु ह परः प्रत्युवाच अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति । तथा शूद्रानेन मुखेनालापयिष्यथा इत्युक्त्वा, स होवाचेत्यादिना संवर्गविद्यामुपदिष्टवानिति । एतदर्थस्तु । जनश्रुतेरपत्यं जानश्रुतिः । पुत्रस्य पौत्रः पौत्रायणः । श्रद्धया देयं यस्यासौ श्रद्धादेयः । बहुपाक्यो बहुपाककारयिता । स हेतिभिन्नं पदम् । मापयाञ्चक्र इति कारयामास । मेऽत्स्यन्तीति । मत्सम्बन्ध्यन्नं भक्षयिष्यन्ति । हो हो इति भये द्विरुक्तिः सम्बोधनस्य । अयीति कोमलालापे । दिवेति द्युलोकेन दिनेन वा । तन्मा प्रधाक्षीरिति । तस्माज्ज्योतिषः, त्वाडादेशः । त्वां मा प्रदहतु । कं वरे इति । कम् उ अरे एतत्सन्तमेतावत्कारिणं सन्तं सयुग्वानमिव रयिक्वमात्थेति । युज्यते इति युग्वा शकटं तेन सह वर्तमानः सयुग्वा । रयिक्व इति नाम । सयुग्वानं रयिक्वमिवात्थेति पदसम्बन्धः । अह हारे इति । अह हाऽरे । अरे । स ह गोभिरिति । स रथः ह गोभिरिति । सहयुक्ते तृतीया । मुखेनेति द्वारेण । अत्र शूद्रेति सम्बोधनात् सन्दिह्यते ।

यथा, 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्, सा हि तस्येष्टि'रिति श्रुतेः कर्मविशेषे शूद्रस्याधिकारो, यथा वा, हविष्कृदाधावेति शूद्रस्येति लिङ्गाद्दोहादौ च शूद्रजातेरधिकारः, तथा ब्रह्मविद्यास्वप्यस्ति न वेति। तत्र शूद्रेति सम्बोध्य पश्चाद्, विद्योपदेशश्रावणात्, निषादस्थपतिमितिवद्विशेषानुल्लेखाज्जातिशूद्रस्याधिकारः सर्वब्रह्मविद्यासु संवर्गविद्यायां वेत्याशङ्क्य परिहरति । शुगस्येत्यादि ।

अत्र शूद्रेति पदाज्जातिशूद्रस्याधिकारो न शक्यवचनः । तत्र हेतुः । तद नादरश्रवणात् । तस्माद्धंसादनादरश्रवणात् । कं वर एनमेतत्सन्तँ संयुग्वानमिव रयिक्वमात्थेति स्वापकर्षश्रवणात् तदनन्तरम् आद्रवणात् । शुचमनु आद्रवतीति शूद्रः । पृषोदरादित्वाच्चकारस्य लोप उकारस्य दीर्घश्च परोक्षवादत्वात् । ननु पूर्वतन्त्र आधानप्रकरणे, वर्षासु रथकार इत्यत्र रूढिरेवादृता । रूढिर्योगमपहरतीतिन्यायात्सा रूढिर्योगापेक्षया प्रबला । अतः कथं तदनादर इत्यत आह । सूच्यते हीति । अत्र हि शूद्रेति संबोधनेन स्वस्य सर्वज्ञत्वं रयिक्वेन सूच्यते। हंसवाक्यश्रवणाच्छोके जाते त्वमत्रागत इति । नचात्र तथा सूचने मानाभावः शङ्क्यः । प्रसिद्धकारणाभावेऽपि प्रपन्नाधिकारवचनानामन्यथानुपपत्तेरेव मानत्वात् । एतद्बोधनायैव युक्तत्वबोधकस्य हिशब्दस्य प्रयोगः । नच स्वस्य सर्वज्ञत्वख्यापनार्थमेवं वचनमपि ब्रह्मविदो न युक्तमिति शङ्क्यम् । तन्मात्सर्यनिवारणेन तस्य योग्यतासंपादनार्थत्वेन युक्तत्वात् । अतो रथकारस्थले तथोपाख्यानाभावेन तन्न्यायस्यात्र वक्तुमयुक्तत्वात् तत्र तथार्थयुक्तेर्योगादेवात्र शूद्रपदप्रयोगो, न जातिशूद्रवाचीति न तस्याधिकारसमर्थनायालमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥ ३५ ॥

ननु मास्त्वत्र रूढः शूद्रशब्दः, तथापि जानश्रुतिजातेरत्रानुक्तत्वाच्छूद्रस्य शब्दत्वयोगं बोधयन्नेवानुपूर्वीसाम्याज्जातिमपि बोधयिष्यतीत्याशङ्कायां जात्यन्तरगमकमाह । क्षत्रियत्वेत्यादि । बहुपाक्यत्वावसथकरणक्षत्तृस्थापनान्तानां गोनिष्करथयुक्तस्वकन्याया भार्यात्वेन दानाच्च पौत्रायणस्य क्षत्रियत्वावगतेः। चकारेणोपदेशादपि तदवगतेः । तथा चैवं पूर्वग्रन्थपर्यालोचने तज्जातेर्बुद्धावारोहात्कुण्ठः शूद्रशब्दो नानुपूर्वीसाम्यादपि तां बोधयितुं शक्ष्यतीत्यर्थः । नच धनवति धार्मिके शूद्रेऽपि बहुपाक्यत्वादीनां कथञ्चन वक्तुं शक्यत्वाच्छूद्राद्दारोपसङ्ग्रहस्य मन्वादिभिरुक्तत्वेन तस्य च कन्यादानहेतुकत्वेन तस्मिन् कन्यादातृत्वस्यापि शक्यवचनत्वान्नैतैः क्षत्रियत्वनिश्चय इति शङ्क्यम् । समं दिवेत्यादिप्रथमहंसवाक्योक्तमाहात्म्यस्य क्वापि शूद्रे अश्रवणादस्मरणाच्च तदसङ्गत्यापत्तेः । रयिकप्रथमविवाहस्य क्वाप्यदर्शनादेतद्विवाहस्यैव प्राथमिकतया वक्तव्यत्वे रयिकस्यापि शूद्रताप्रसक्तौ दुष्टतायां 'यथा कृतायविजितायाधेरयाः सँयन्त्येवमेतँ तदभिसमैति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद् वेद यत् स वेदे'ति द्वितीयहंसोक्तस्य रयिकमाहात्म्यस्यापि तथात्वापत्तेश्च । वाक्यार्थस्तु यथा लोके कृतायविजिताय कृतो य आयो द्यूतसमयप्रसिद्धो ग्लहः । तं यो विशेषेण जयति स कृतायविजितस्तस्मै जेत्रे तादर्थ्ये चतुर्थी, तादृशजेत्रर्थम्, अधरेयाः सँयन्ति स्वल्पजेतारस्तत्रान्तर्भवन्ति । एवमेतत्प्रायेण एतं रयिकं तदभिसमेत्य अन्तर्भवति, तत् किमित्यत आह । यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्तीति । किञ्च । यत् स रयिको वेद तस्मिन्नपि तादृग्माहात्म्यं भवतीति । ननु हंसवाक्यस्य धर्मिष्ठतामात्रबोधकत्वं ब्रह्म[illegible]माहात्म्यबोधकत्वं च, न तु क्षत्रियासाधारणतद्बोधकत्वम् । अतो न तेन क्षत्रियत्वावगतिरिति ग्रहिलवादनिराकरणाय हेत्वन्तरमाह । उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गादिति । अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्ष इत्यादिरूपे उपसंहारगते वाक्यशेषे । कक्षा सेना यस्येति कक्षसेनस्तस्यापत्यं काक्षसेनिरित्यत्र । 'कक्षा स्यादन्तरीयस्य पश्चादञ्चलपल्लवे स्पर्धापदे च दोर्मूल' इति कोशेन कक्षापदस्य स्पर्धास्थानबोधकत्वात् स्पर्धायाश्च चित्रत्व एव सम्भवात् कक्षापदस्य चित्रत्वे पर्यवसितत्वात् सेनापदस्य च रथेषु पर्यवसितत्वात् काक्षसेनिपदेन चित्ररथपुत्रो लक्ष्यते । तेन चैत्ररथेन अत्र क्षत्रियत्वावगतेः । नन्वेवं क्लेशेन कथं क्षत्रियत्वं गम्यत इत्यत आह । लिङ्गादिति । छन्दोगानां द्विरात्रे श्रूयते । 'एतेन चैत्ररथं कापेया अयाजयँस्तमेकाकिनमन्नाद्यस्याध्यक्षमकुर्वँस्तस्माच्चैत्ररथो नाम क्षत्रपतिर्जायत इति' । 'समानान्वयानां समानान्वया एव याजकाः प्रायेण दृष्टा' इति कापेयसम्बन्धः काक्षसेनेश्चैत्ररथत्वे लिङ्गम् । अतस्तद्बलात्तस्य क्षत्रियत्वावगतिः । ब्रह्मचारी ब्रह्मवित् । तस्य तथात्वं परीक्षितुमेतौ संवर्गविद्योपासकौ संवर्गरूपाय प्राणाय पूर्वं भिक्षां न ददतुः, ततस्तदुक्तश्लोकेन तं तद्विदमवगत्य पश्चाद्ददतुः । अतस्तस्यां विद्यायामुपक्रमसन्दिग्धत्वेऽप्युपसंहारे गुरुशिष्यौ ब्राह्मणक्षत्रियौ सिद्धावतस्तस्य निःसन्दिग्धत्वात् प्रकृतेऽपि तावेवावगन्तव्यौ । तस्मान्न जातिशूद्रः संवर्गविद्यायामधिकारी ॥ ३५॥

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥ ३६ ॥

ननु 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षा'दिति जैमिनीयसूत्रात्, 'प्रत्यक्षे चानुमाने च यथा लोके बलाबलम्, शीघ्रमन्थरगामित्वात् तथेह श्रुतिलिङ्गयो'रित्यभियुक्तोक्तेश्च श्रुत्यपेक्षया लिङ्गस्य दौर्बल्यात्तत्र क्लेशतस्तल्लाभेन सुतरां दौर्बल्यात् श्रुतिबलादेव शूद्रस्याधिकारोऽस्त्विति शङ्कायामाह । संस्कारेत्यादि । शूद्रस्य क्वचिदपि ब्रह्मविद्यायामधिकारश्चेदत्रापि कल्प्येत । तत्तु नास्ति । कुतः । संस्कारपरामर्शात् । तं होपनिन्ये । सनत्कुमारनारदसंवादेऽपि, ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं सामवेदमित्यध्ययनलिङ्गात् । एवमन्यत्र सर्वत्र वैदिके अर्थे ज्ञातव्ये उपनयनसंस्कारः परामृश्यते, तस्मात् । किञ्च । वैश्वानरविद्यायां तान् हानुपनीयेत्यत्रापि प्राचीनशालादीनां महाश्रोत्रियत्वलिङ्गेन ब्राह्मणतयोपनयनस्य सिद्धत्वाद्वैशेषिकतन्निषेधस्यैवानुवादात् सर्वत्र

तत्परामर्शो निर्बाधः । तदभावाभिलापाच्च । शूद्रस्य तु चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्र इति । 'न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हती'ति संस्काराभावकथनात् । चकारो, 'न शूद्राय मतिं दद्या'दिति निषेधस्य संग्रहाय । तथाचात्र शूद्रस्याधिकारकल्पनेऽनेकश्रुतिस्मृतिविरोध इति, 'आनर्थक्ये प्रमाणानां विपरीतं बलाबल'मिति न्यायात् श्रुतेरेव दौर्बल्यमिति न शूद्रस्य श्रुत्याधिकारसिद्धिरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

इतश्च न सर्वथाधिकारः । तदभावस्य शूद्रत्वाभावस्य निर्धारण एव प्रवृत्तेः । गुरुशिष्यभावस्य प्रवर्तमानत्वात् । छान्दोग्येषु (षष्ठ) प्रपाठके सत्यकामो जाबालो जबालां मातरं मन्त्रयांचक्र इत्यत्र अपृच्छं मातरम्, सा मा प्रत्यब्रवीत्, बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे, साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि, जबाला तु नामाहम्, सत्यकामो नाम त्वमसीति सत्यकामवाक्यश्रवणोत्तरं गौत्तमो 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हती'ति तत्सत्यवचनेनोत्तमवर्णत्वं च निश्चित्यैव 'सत्यकाममुपनिन्य' इति श्रावणात् । न च निश्चिते ब्राह्मणबीजजत्वे शूद्राभावनिश्चयोक्तिवैयर्थ्यं शङ्क्यम् । व्यभिचारजन्ये शूद्रत्वस्य स्मृतिसिद्धत्वेन वामदेव्यसामोपासकस्य 'न काञ्चन परिहरे'दिति श्रुत्या सर्वगामिनः समीपे तस्या गमने तद्भोगाज्जातस्य व्यभिचारदोषानाक्रान्तत्वबोधनाय शूद्रत्वाभावनिश्चयकथनस्यावश्यकत्वादिति । तस्मान्न शूद्रस्याधिकारः ॥ ३७ ॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

अधिकारचिन्ता तदा स्यात्, यदि केनचित्प्रमाणेनात्र स संभाव्येत । यथा पतिताग्निहोत्रप्रतिपत्तिस्थले शूद्रस्य श्रवणमध्ययनमर्थज्ञानं चेति त्रयाणां निषेधात् । सूत्रे ज्ञानपदानुक्तिस्तु शूद्रसन्निधावन्यस्याप्यध्ययननिषेधबोधनार्थम् । तथाच अर्थपदमध्ययनसमभिव्याहारेण तद्वस्तु बोधयदेव समभिव्याहारमहिम्नाऽभिधेयरूपार्थज्ञानमपि वृत्त्यन्तरेण बोधयतीत्येतदर्थमित्यर्थः। शूद्रप्रतिषेधस्तु 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमिति । यद्युवा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसामीप्ये नाध्येयमिति । उदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद' इति श्रुतिषु द्रष्टव्यः । यद्युवेत्यत्र यदि उ वेति पदच्छेदः । किञ्चार्थपदेनेदमपि ज्ञाप्यते । देहादौ शूद्राख्यदेवतासम्बन्धे मन्त्राणां तत्राभाव एवेति । नचात्र विप्रतिपत्तव्यम् । 'छन्दांस्येनं प्रजहन्ति काले नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा' इति महाभारते तत्कृतत्यागबोधनात् । पद्मपुराणीये गीतामाहात्म्ये विभूतिविश्वरूपाध्याययोः पक्षिरूपेणोपनयनस्मरणाच्च । किञ्च, 'वेदाक्षरविचारेण शूद्रः पतति तत्क्षणात्, वेदाक्षरविचारेण ब्राह्मणीगमनेन च, कपिलाक्षीरपानेन शूद्रश्चाण्डालतां व्रजे'दित्यादिस्मृतेरपि न शूद्रस्याधिकारः । अतः स्मृतेरिति शब्दरूपस्य षष्ठीसादृश्यादिदं बोध्यते । यत्स्मार्तपौराणज्ञानकर्मणोरपि न शूद्रजातिजनकेन दुष्कर्मणा जातिशूद्रस्याधिकारः, किन्तु

शापादिना कारणविशेषेण जातानामेवाधिकार इति । तेन पुराणादिपाठोऽपि सङ्कोचादेवावगन्तव्यः । तस्मात् क्वचिदपि वैदिके शूद्रस्य नाधिकार इति स्थितम् ॥ ३८ ॥ ९ ॥ इति नवमं शुगस्येत्यधिकरणम् ।

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

एवं प्रसङ्गाद् ब्रह्मविद्याधिकारं विचार्य पुनः कठवल्लीस्थमेव वाक्यान्तरं विचारयति । 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतं महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ती'ति । अर्थस्तु । यदिदं किञ्च, परिदृश्यमानमपरिदृश्यमानं च सर्वं जगत्, प्राणे विद्यमाने निःसृतं बहिरागतं सदेजति कम्पते । तत्र हेतुः, महद्भयं महतां भयं यस्मात् तादृशं, वज्रमुद्यतम् । आयुधमुल्लासितमिति पदसम्बन्धात् स्फुटयति । चतुर्थपादस्त्वेतज्ज्ञानफलबोधकं वाक्यान्तरम् । तत्र सन्देहः । किमत्र प्राणोपासनोच्यते, इन्द्रोपासना वा, ब्रह्मवाक्यं वेदमिति । तत्र बीजं तु प्राणः, वज्रोद्यमनरूपमिन्द्रलिङ्गं, ब्रह्मप्रकरणं च यथायथम् । पूर्वपक्षस्तु, प्रकरणापेक्षया श्रुतेर्बलिष्ठत्वाद् 'अमृतं वै प्राण' इति श्रुत्या प्राणोपासकस्याप्यमृतत्वप्राप्तेर्युक्तत्वाद्देहप्राणवियोगे मरणसम्भवेन भयरूपत्वस्यापि सम्भवाच्च प्राणोपासनैवात्र युक्ता । लिङ्गविचारे त्विन्द्रस्याप्यमरत्वात्तदुपासकस्याप्यमृतत्वं युज्यते । बलाधिष्ठातृत्वात् प्राणत्वं चेन्द्रस्य । अतः प्राण इन्द्रो वा वाक्यार्थ इत्येवं प्राप्तम् । तत्रोच्यते । कम्पनादिति । आयुधोद्यमनजभयहेतुकं कम्पनमत्र प्रथमवाक्यार्थः । तत्रापि 'यदिदं किञ्चे'त्यनेन सर्वपदे सङ्कोचवारणात् तत् सर्वसम्बन्धि, तच्च भगवद्धेतुकमेवेति तदसाधारणम् । अतो न प्राणधर्मः । इन्द्रस्य तु लिङ्गमपि शिथिलम् । वज्रस्याग्निहृदयत्वात् । 'तस्य तान्तस्य हृदयमाच्छिदत् साऽशनिरभव'दिति श्रुतेः । नच प्राणश्रुतिविरोधः । प्राणशब्दवाच्यत्वस्य 'अत एव प्राण' इत्यत्रैव साधितत्वात् । नचाधिकरणव्यर्थता । भगवत एतादृशमारकत्वस्य प्रागसाधितत्वेन तत्साधनार्थत्वात् । नच पक्षानुल्लेखदोषः । एतादृशस्य हेतोर्वाक्यान्तरे अदर्शनाद्धेतुरेव पक्षमाक्षेप्स्यतीत्याशयेन विमृष्टनिष्ठविशेषान्तरविमर्शस्यात्र करणेन च तत एव तस्य स्फूर्त्या न्यूनताया अभावादिति ॥ ३९ ॥ १० ॥ इति दशमं कम्पनाधिकरणम् ।

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

छान्दोग्ये दशमप्रपाठके दहरविद्यायां श्रूयते । 'य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स आत्मे'ति । इन्द्रप्रजापतिसंवादे तु, स आत्मेत्यस्य स्थाने 'स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीड'न्नित्यादि पठ्यते । तत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद्विभक्तिसामानाधिकरण्याच्च जीवो ग्रहीतुं शक्यते, तथापि गीताया'मुत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत'इत्युत्तमपुरुषत्वेन परमात्मनो बोधनस्यात्र प्रत्यभिज्ञानात् तत्र सन्निधिं विभक्तिसामानाधिकरण्यं चानादृत्य व्यवहितं व्यधिकरणवि-

भक्तिबोधितमपि ब्रह्मैव वाक्यार्थत्वेन निश्चीयते। अतो दहरविद्यास्थमेव वाक्यं विषयः संशयस्तु, परं ज्योतिर्महाभूतं, ब्रह्म वेति । तत्र, राजशिबिराणि नदीतीरात् समुत्थितानीत्यादौ लोके समुत्थानस्योद्गमने प्रयोगदर्शनादस्माच्छरीरात् समुत्थायेत्युक्तस्य शरीरात् समुत्थानस्य तत उद्गमनार्थत्वे निश्चिते तदुत्तरमुपसम्पत्तव्यस्य ज्योतिषोऽर्चिरादिरूपस्यैव युक्ततया जीवस्यार्चिरादिमार्गेण गमनेऽर्चिराद्यपेक्षया आदित्यादेः परत्वस्यापि सम्भवेन रूढेस्त्यागायोगाद्भौतिकं भूतरूपं वा ज्योतिरत्रोच्यते इति प्राप्तम्। तत्राभिधीयते । ज्योतिरत्र परं ब्रह्मैव। कुतः। दर्शनात्। समानप्रकरणे, 'सता सौम्य तदा संपन्नो भवति सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह' इति । 'अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छन्ती'त्यादिप्रदेशेषु सम्पत्तव्यत्वेन ब्रह्मण एव दर्शनादत्रापि सम्प्रसादवचनेन सुषुप्तेरेव बोधनाद् ब्रह्मस्थाने प्रयुक्तस्य ज्योतिःपदस्य ब्रह्मवाचकताया एव न्याय्यत्वादित्यर्थः । नच श्रुत्यपेक्षया स्थानस्य नैर्बल्यान्नेदं युक्तमिति शङ्क्यम्। वाग्ज्योतिरित्यत्र वाच्यपि तत्प्रयोगेण श्रुतेः सन्दिग्धत्वादिति । तस्माद् ब्रह्मस्थाने यः शब्दः प्रयुज्यते स ब्रह्मवाचक एवेति निश्चयः । नच ज्योतिश्चरणाधिकरणे ब्रह्मणो ज्योतिःशब्दवाच्यतायाः सिद्धत्वात् किमेतत्प्रणयनेनेति शङ्क्यम् । ये धर्माः पूर्वं ब्रह्मासाधारणतया सिद्धाः, ये च युक्त्या साधितास्तेभ्योऽतिरिक्ता ये धर्मास्तेषां ब्रह्मासाधारण्यबोधनार्थत्वात् । ते च उपसम्पत्तव्यत्वम्, उपसम्पन्नस्वरूपाभिनिष्पादकत्वम्, पूर्ववाक्यगतं हृदयत्वम्, उत्तरवाक्यगतसत्यपदोक्तमर्त्यामृतनियामकत्वं चेति चत्वारो बोध्याः । अतो न प्रयोजनशून्यत्वदोषः ॥ ४० ॥ ११ ॥
इत्येकादशं ज्योतिर्दर्शनाधिकरणम् ।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

छान्दोग्यसमाप्तौ श्रूयते 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्मे'ति । अत्राकाशशब्दे सन्देहः । श्रुतौ वैशब्दात् प्रसिद्ध्यनुग्रहेण ब्रह्मशब्दप्रयोगेण चोभयत्र युक्तेस्तौल्याद् भूताकाशवाची, ब्रह्मवाची वेति । तत्र नामरूपनिर्वाहो नाम तयोरविच्छेदेन चालनम् । तत्कर्तृत्वमात्रमत्र प्रतीयते, न त्वन्यः कोऽपि धर्मः । तन्मात्रं त्वाकाशस्याप्यवकाशदानात् सम्भवति । नच धर्मसामान्यत्वेन प्रकरणबलाद् ब्रह्म ग्रहीतुं शङ्क्यम् । प्रजापतिरुवाचेत्यस्य द्विरुक्त्या श्यामाच्छबलमिति प्रकरणान्तरव्यवधानेन च ब्रह्मप्रकरणस्यात्राभावात्। नापि द्वितीयप्रकरणशेषत्वम्। अभिसम्भवानीत्यस्य द्विरुक्त्या तस्यापि समाप्त्यवगमात्। अत एव न जीवपरत्वम्। आकाशपदस्य जीवपरतायाः काप्यसिद्धत्वात् । नचोपसंहारगतानां ब्रह्मामृतात्मशब्दानामसङ्गतिः शङ्क्या। तेषामवकाशदानकृतबृंहणनित्यत्वव्यापकत्वगुणयोगेनोपासनार्थं प्रशंसानिबन्धनया गौण्यापि नेतुं शक्यत्वात् । नापि ते यदन्तरेत्यस्य व्यापकतया आकाशेऽपि तत्संभवात् । अत उपक्रमगतस्याकाशपदस्योच्चारणमात्रतो भूताकाशावगमात् स एव ग्राह्य इत्येवं प्राप्ते। उच्यते । आकाशः परमात्मैव । कुतः। अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् । अर्थः प्रयोजनं यद् भूताकाशस्य श्रुतिसिद्धं वायुजननरूपं तस्मादन्यद् अर्थान्तरं, ते यदन्तरेत्यादिनोक्तम्। आसमन्तान्नामरूपयोरन्तःस्थापनम् । आदिपदेन तद् ब्रह्मेत्यादिना बोधितं तत्पोषकत्वं तयोरानन्दकत्वं तदात्मत्वं च बोध्यम् । तेन अन्तरःअर्थो यस्मादित्यर्थान्तरम्, वाहिताग्न्यादिष्विति परनिपातः। तस्य भावोऽर्थान्तरत्वम्। तदादयः पूर्वोक्ता धर्मा ब्रह्मादिश्रुतयश्च तेषां व्यपदेशात् कथनादिति सौत्रपदस्यार्थः। न चेदमसंकुचितं नामरूपनिर्वोढृत्वं निरुह्यस्य रूपान्तर्गतस्याकाशस्य सम्भवति, न वा क्वापि श्रुतावाकाशमाहात्म्यहेतुत्वेनोक्तमस्ति । नाप्यसङ्कुचितं तयोरन्तःस्थापनं बृंहणं वा तथा। अत आकाशकार्यातिरिक्तकार्यकर्तृत्वादेरत्रोक्तत्वाद् ब्रह्मादिश्रुतीनां चानुकूल्याद् ब्रह्मैवाकाशः । स्वारसिकं च शब्दानां ब्रह्मवाचकत्वम्, अतो न लक्षणादोषः। यदपि लोकदृष्ट्याकाशस्यावकाशदानान्नामरूपनिर्वाहकत्वं तदपि भगवदधीनम् । 'अदो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमान्नभ' इति श्रीभागवतवाक्यात्। नचैतेषामुपासनार्थत्वं वक्तुं शक्यम्। वैपदविरोधात्। तस्माद् ब्रह्मधर्म एवायम्। एतस्य ब्रह्मधर्मत्वं न श्रुत्यन्तरसिद्धमत इह विचारितम् । अत एव तद्धर्माधिकरणेन तल्लिङ्गाधिकरणेन वा नास्य गतार्थता । तेनेदं सिद्धम्। यत्रैव सिद्धवत्कारेणोत्कृष्टधर्मा अतदीया अन्यवाचकपदवाच्यस्योच्यन्ते, तत्रार्थापत्त्या ब्रह्मैव बोध्यमिति ॥ ४१ ॥ १२ ॥
इति द्वादशमर्थान्तरव्यपदेशाधिकरणम् ।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

बृहदारण्यके ज्योतिर्ब्राह्मणं शरीरब्राह्मणं चात्र विषयः। अत्र, किं ज्योतिरयं पुरुष इत्युपक्रमे, समाप्तौ च अभयं ह वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेतिवेत्तृत्वेन जीवस्यैव परामर्शान्मध्ये च ब्रह्मधर्माणां सर्वेशितृत्वादीनां श्रवणात् सन्देहः। किमिदं जीवस्य ब्रह्मत्वप्रतिपादनपरं जीववाक्यम्, उत स्वातन्त्र्येणैव ज्ञानकर्मत्वप्रतिपादनपरं ब्रह्मवाक्यमिति। विचारप्रयोजनं त्वानन्दमयाधिकरणमारभ्य दहराधिकरणपर्यन्तं 'नेतरोऽनुपपत्ते'रित्यादीनां जीवनिषेधकानां सूत्राणां वैयर्थ्यस्य परिहारः । अन्यथा तु जीवस्य वस्तुतो ब्रह्मत्वे जीवभावस्याविद्यासंसर्गकृतावस्थान्तररूपत्वात् तत्सत्त्वेपि ब्रह्मत्वस्यानपेतत्वेन संसारावस्थावस्थितस्य च जगत्कर्तृत्वादिधर्माणां प्रत्यक्षबाधितत्वेन दर्शनान्तराच्च बाधितत्वेन शङ्काया एवानुदयात्तद्वैयर्थ्यं वज्रलेपायेत । आचार्यस्य ग्रहिलवादित्वं बर्बरत्वं चापद्येत । विचारे तु श्रुत्यैव तत्सिद्धेर्न त्रयमपीत्युपोद्घातेनेदं विचार्यते । तत्रोपक्रमोपसंहारयोर्जीवपरामर्शान्मध्य उक्तानां धर्माणां चावस्थान्तरेऽपि वस्तुतो ब्रह्मतया तदीयत्वाद् 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्यत्र विद्यानिर्मुक्त्या स्वस्वरूपानुसन्धानेन 'ब्रह्मैव सन्' विभेदरहितो भवतीत्यर्थेन वस्तुतो ब्रह्मत्वाद् जीवस्य ब्रह्मत्वप्रतिपादनपरमेवेदं वाक्यमिति प्राप्ते। अभिधीयते । सुषुप्त्यादि । अस्मिन् प्रकरणे ब्रह्मैव वाक्यार्थः । कुतः। सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन। व्यपदेशादिति

पूर्वसूत्रतोऽनुवर्तते । सुषुप्तौ 'अयमात्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तर'मिति । उपक्रमे च 'अयमात्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ' इति जीवात्मनः सकाशात् प्राज्ञस्य परमात्मनो भेदेन कथनात् । न ह्यवस्थाभेद एको भेदेन व्यपदिश्यते । न हि पण्डितो देवदत्तः कर्मादिवशात् पतितो देवदत्ताद्भिद्यते । अतः पूर्वाधिकरणे यथा अन्यथानुपपत्तिबलादाकाशवाक्यस्य ब्रह्मपरत्वनिर्धारः, तथात्रान्यथानुपपत्तिबलात् प्रकरणस्य तथात्वनिर्धारो युक्त इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

किञ्च । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ती'ति पत्यादिशब्दाः सर्वस्येत्यादयस्तेभ्य इदं प्रकरणं स्पष्टमेव ब्राह्मत्वेन गम्यते । न हि निरङ्कुशं सर्वाधिपत्यं जीवस्य सम्भवति । न वा जीवस्यावस्थाविशेषत्वे ब्रह्मानतिरेकात् सर्वत्वमसम्भवदधिपतित्वं समर्थयितुं शक्नोति । अतः सर्वस्याधिपतिरित्यादिश्रुतिबलादप्यस्य ब्रह्मप्रकरणत्वमित्यर्थः ॥ ४३ ॥ १३ ॥ इति त्रयोदशं सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरित्यधिकरणम् ।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रकृतायां
ब्रह्मसूत्रवृत्तौ प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ १ ॥ ३ ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

—:०:—

आनुमानिकमप्येकेषामितिचेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

अतीतेषु त्रिषु पादेषु प्रथमे शब्दकृतसन्देहनिवारणाय कार्यनिरूपकाणि वाक्यानि विचार्य, द्वितीयतृतीययोश्च यथायथं जीवजडरूपार्थकृतसन्देहवारणायान्तर्याम्युपास्यरूपनिरूपकाणि च वाक्यानि विचार्य, सर्वेषां वेदान्तानां साक्षात्परम्परया च ब्रह्मणि समन्वयः प्रतिपादितः । स तदा दृढीभवति यदा श्रौतत्वेनाभिमन्यमानस्य मतान्तरस्य श्रौतत्वं निराक्रियते । अतस्तदर्थं चतुर्थे पादे जीवजडसमुदायात्मकार्थनिरूपकतया मतान्तरश्रौतत्वभ्रमजनकानि प्रकीर्णकानि वाक्यानि विचार्यन्ते । अत उपोद्घातोऽत्र पादसङ्गतिः । तत्र ईक्षत्यधिकरणे ब्रह्मलक्षणस्य प्रकृतावतिव्याप्तिं वारयितुमशब्दमिति पदेन सांख्यमतमशब्दत्वान्निवारितम् । तद्दार्ढ्यार्थमिह सूत्रांशेन आशङ्क्यांशान्तरेण समाधत्ते । आनुमानिकमित्यादि । एकेषां कठानां शाखासु कठवल्ल्याम्, आनुमानिकं सांख्यैः, स्थूलभूतानि शब्दादितन्मात्रजन्यानि, मूढत्वात् । यद्यज्जन्यं तत्तत्सदृशम् । यथा मार्तिकादिबाह्याभ्यन्तरकरणानि तन्मात्राणि च अहंकारजन्यानि । शान्तघोरविमूढत्वात् । अहंकारो महत्तत्त्वजन्यः । शान्तादिरूपत्वात् । महत्तत्त्वं प्रकृतिजन्यम् । शान्तादिरूपत्वात् । पूर्ववत् । प्रकृत्यादीनि चतुर्विंशतितत्त्वानि परार्थानि । संघातरूपत्वात्, पर्यङ्कादिवत् । यः परः स पुरुष इत्येवमनुमानकल्पितं मतं श्रूयते । 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति'रिति । अत्र बुद्धेः सकाशात् पर आत्मा अहंकारः । 'चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः' इत्यहंकारेऽप्यात्मपदप्रयोगात् । ततः परो महान् महत्तत्त्वम् । ततः परमव्यक्तं प्रकृतिः । ततः परः पुरुष इति । तथाचैवं सांख्यमतप्रत्यभिज्ञानात् तन्मतं श्रौतम् । अपिशब्दाद् 'अजामेका'मित्यादिवाक्येषूक्तः प्रकृतिरूपो वादो, 'मायां तु प्रकृतिं विद्या'दित्याद्युक्तो मायावादः, 'पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीम' इत्याद्युक्तोऽविद्यावादश्च श्रौत इतिचेत् । न । कुतः । शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः । शरीरसम्बन्धिरूपकं शरीररूपकम्, तत्र विन्यस्तानां गृहीतिर्ग्रहणं शरीररूपकविन्यस्तगृहीतिस्ततः । अत्र हि पूर्वम्, 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनःप्रग्रहमेव च । इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण' इत्युक्त्वा, ततो 'यस्त्वविज्ञानवान् भवती'त्यादीनि पञ्च वाक्यान्युक्त्वा, तदनु 'इन्द्रियेभ्यः परा' इत्यादि पठ्यते । अत इन्द्रियवाक्यं प्रकरणावरुद्धमिति तत्र पूर्वसम्बद्ध एवार्थो वक्तव्यः । अन्यथा प्रकृतहान्यप्रकृतपरिग्रहापत्ती स्याताम् । इदं हि जीवप्रकरणम् । 'यस्त्वविज्ञानवा'नित्यादौ तस्यैव परामर्शात् । तत्र जीवस्य मुक्त्युपायो निरूप्यते, 'विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः । सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पद'मिति । न ह्येतत् सांख्यमते सम्भवति । स्वरूपावस्थानातिरिक्तस्य भगवत्प्राप्तिरूपस्य मोक्षस्य तन्मतेऽभावात् । अहमस्तदग्रिमे 'इन्द्रियेभ्य' इति वाक्ये अहंकारादितत्त्वरूपो नार्थः, किन्तूक्तविद्वन्मोक्षसाधनानुसार्येवार्थः । तत्र साधको जीवो रथी । तस्य ब्रह्मप्राप्तौ मुख्यं साधनं शरीरम् । स रथः । सर्वसामग्रीसहितस्वायत्तयानत्वात् । तेन शरीरे रथरूपकम् । रथस्तु गमने हयाधीन इतीन्द्रियेषु हयरूपकम् । इन्द्रियाणि मनोऽधीनानि, हयाश्च प्रग्रहाधीना इति मनसि तद्रूपकम् । मनश्च बुद्ध्यधीनं, प्रग्रहश्च सारथ्यधीन इति बुद्धौ सारथिरूपकम् । इन्द्रियाणि तु विषये प्रवर्तन्ते, हयाश्च मार्गरूपे देशे, सारथिश्च मार्ग एव हयान् प्रेरयतीति विषयेषु गोचरपदेन मार्गरूपकम् । ततो रथिस्वरूपनिगमना'यात्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण' इत्यर्धश्लोकः । ततो मार्गस्य प्राप्याधीनत्वात्तद्बोधनाय प्रापकसामग्रीनिगमनपूर्वका 'यस्त्वविज्ञानवा' नित्यादयश्चत्वारः श्लोकाः । तत इष्टस्य प्राप्यस्य निगमनाय विज्ञानसारथिरिति पञ्चमः । तत्रेयमाशङ्कोत्तिष्ठते । एवमत्र मोक्षप्रणाडीनिरूपणे विषयाणां यद्देशत्वमुक्तं तन्न युक्तम् । संसारमार्गत्वस्य प्रत्यभिज्ञादिसिद्धत्वादिति । तन्निवारणाय वदतीन्द्रियेभ्य इत्यादि । तथाचायमर्थः ।

इन्द्रियेभ्यो हयेभ्योऽर्था विषयाः पराः । मार्गतया नियामकत्वादुत्कृष्टाः । नियामकत्वं चात्र, 'घ्राणं च गन्ध' इतिन्यायेनेन्द्रियाधिदैविकतया भगवदीयत्वेन मनसा सम्यग्भाविततया च । न तु विषयतया । मोक्षप्रकरणत्वात् । नापि ज्ञानीन्द्रियतया । विरक्तेन्द्रियाणां विषयेषु सम्यक्त्वेन भावनाभावात् । अतस्तस्यारविन्दनयनस्येत्यादिवद् यत्र भगवदभिप्रायस्तां प्रणाडीं बोधयितुमिन्द्रियेभ्यो विषयाणां परत्वमुक्तम् । तत्तेषां परत्वं मनसा सम्यक्तया भावने भवतीति मनसस्तन्नियामकत्वाद् 'अर्थेभ्यश्च परं मन' इत्युक्तम् । मनसस्तु परा बुद्धिरिति तु सारथिभावादेव स्फुटम् । बुद्धेः सकाशात् परो बुद्धिनियामकस्त्वात्मा विज्ञानम् । तस्य बुद्धिजन्यत्वेऽपि भगवद्विषयकत्वान्महत्त्वमिति तथात्वबोधनाय महानित्युक्तम् । विज्ञानस्य बुद्धिजन्यत्वेऽपि 'द्रव्यस्फुरणविज्ञान'मित्यत्र बुद्धिस्वरूपस्य विज्ञानसमानाकारतया सिद्धत्वात् तस्य बुद्धिनियामकत्वं युक्तमेव । तादृशं च विज्ञानं भगवत्कृपां विना न भवतीति ततो महतः परमव्यक्तं ज्ञातुमशक्यत्वादप्रकटं भगवत्कृपैव । तस्मादव्यक्तात् परस्तन्नियामकः पुरुषो भगवानेव । यत्पदं प्राप्यत्वेनोक्तं तदेतन्निगमयितुं 'सा काष्ठा सा परा गति'रित्युक्तम् । अतः शरीररूपकविन्यस्तानां ग्रहणादत्रायमेवार्थो युक्तो, न तु सांख्यमतग्रहणं युक्तमित्यर्थः । एतेनैव हेतुनात्र मायादिवादा अपि निरस्ता वेद्याः । हेत्वन्तरमाह । दर्शयति चेति । उक्तमर्थं श्रुतिस्वरूपमेव दर्शयति । 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि'रिति । द्रष्टृणां बहुत्वकथनेन तद्भिन्नस्यात्मनो दृश्यत्वकथनेन च बुद्धेरुपनिषदनुसारित्वरूपसूक्ष्मत्वकथनात् सांख्यप्रतिपन्नपुरुषत्वाद्भिन्नत्वमात्मनो दर्शयति । चकारा'त्ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर'मिति स्मृतिर्गृहीता । तत्र च ज्ञानानन्तरं सायुज्यं दर्शयति । न हीदृश आत्मा तत्प्राप्तिश्च सांख्यमते सिध्यति । अतोत्र साध्यत्वोपदेशान्न सांख्यमतप्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः ॥ १ ॥

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

नन्वव्यक्तपदेन भगवत्कृपा न ग्रहीतुं शक्या । धर्मिप्रायपाठविरोधादित्याशङ्क्य तुशब्देन परिहरति । इयमाशङ्का न कार्या । तद् अव्यक्तं कृपारूपधर्मात्मकमपि सूक्ष्मम्, दुर्ज्ञेयं ब्रह्मैव, न ततो भिन्नम् । कुतः । अर्हत्वात् । योग्यत्वात् । अयमर्थः । 'बुद्धेरात्मा महान् पर' इत्यत्र 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यत' इत्यादिश्रुत्युक्तं परोक्तं ज्ञानं योग्यताबलाद्बुद्धिनियामकत्वेन परामृष्टम् । तच्च 'नायमात्मे'ति श्रुत्यन्तराद्वरणाधीनम् । वरणं कृपयेति ज्ञानात्परस्य विमर्शे योग्यताबलात् कृपैव ज्ञाननियामकत्वेन सिध्यति । सा च भगवद्धर्मः । धर्मधर्मिणोश्चाविभागादविनाभावेन स्थित्या चाभेद इति योग्यताबलादेव तस्या अपि ब्रह्मत्वम् । अतो धर्मत्वेपि धर्म्यभेदान्न प्रवाहविरोध इत्यर्थः ॥ २ ॥

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

ननु यदि पूर्वोक्तयुक्त्या कृपाया ब्रह्मत्वं तदा भिन्नत्वमनुपपन्नम् । यदि च कयाचिद् युक्त्या धर्मत्वं तदा प्रायपाठविरोध इत्यत आह । तदित्यादि । कृपायाः ब्रह्मभेदेऽपि तदधीनत्वाद् ब्रह्माधीनत्वाद् भिन्नत्वम् । तथाच यथा अभेदे अविनाभावेनैकरूपयोगग्रहणं युक्तिः, तथा भेदे नियम्यनियामकभावो युक्तिः । अतो द्वयमप्युपपन्नमिति न कश्चिद्दोषः । नन्वेकत्वे नियम्यनियामकभावः एव कथमित्याकाङ्क्षायां तत्साधनाय दृष्टान्तमाह । अर्थवदिति । अर्थः पुरुषार्थः फलं तद्वत् । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र यथैकस्य ब्रह्मणः सच्चिद्रूपेण विषयत्वमानन्दरूपेण फलत्वम् । गणितानन्दत्वेनाक्षरत्वमगणितानन्दत्वेन पुरुषोत्तमत्वं च, तथा कृपाविष्टः साधनमानन्दरूप फलमित्येकस्यापि रूपभेदेनोभयत्वोपपत्त्या सर्वसामञ्जस्यमित्यर्थः । यदि च कृपापक्षे अव्यक्तपदस्य यौगिकत्वाच्छैथिल्यं शङ्क्यते, तदाव्यक्तपदेनाक्षरमेवात्र ग्राह्यम् । अव्यक्तोक्षर इत्युक्त इति गीतायां तत्र रूढिबोधनात् । एवमपि सामञ्जस्याच्चेति । तस्मादिन्द्रियेभ्य इति वाक्ये नानुमानिकं किञ्चिदस्ति ॥ ३ ॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

प्रकरणविचारेणेन्द्रियेभ्य इति वाक्ये आनुमानिकमतासिद्धिः प्रदर्शिता । तत्र पूर्वतन्त्रमाश्रित्य प्रकरणापेक्षया वाक्यप्राबल्यप्रदर्शनेन चेत्कुर्यात्, तदा पूर्वोक्तं शिथिलं स्यादतो वाक्यविचारेण तन्मतासिद्धिमाह । ज्ञेयेत्यादि । अव्यक्तं ज्ञेयत्वेन नोक्तम् । तेषां मते तु गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमितिप्रवचनसूत्रात् विभूतिविशेषाप्तये प्रधानस्यापि ज्ञेयत्वस्मरणाच्च तत्प्रत्यभिज्ञापकाभावेनात्र वाक्यादपि न तन्मतसिद्धिरित्यर्थः । चकारोऽनुक्तसमुच्चायकः । तेनात्रोक्तोऽव्यक्तपुरुषयोः परापरभावोऽपि तन्मतविघटक इति सूच्यते । परापरभावो हि पुरुषप्रकृत्योर्विश्लेषेऽवगन्तुं शक्यते । अज्ञानदशायां तु श्लेष एवेत्युदासीनतयोक्तौ पुरुषस्य परत्वानवगम इति सोऽपि तथेत्यर्थः ॥ ४ ॥

वदतीतिचेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

ननु ज्ञेयत्वावचनमसिद्धम् । इन्द्रियेभ्य इति वाक्ये निर्देशमात्रमुक्त्वा, अग्रे 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्, अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यत' इति ज्ञेयत्वं वदतीतिचेत् । न । कुतः । प्राज्ञो हि प्रकरणात् । हि यतो हेतोस्तस्मिन् वाक्ये प्राज्ञः परमेश्वर एवोच्यते । तत्र हेतुः । प्रकरणादिति । अयमर्थः । अव्यक्तश्रुतेः परत्वलिङ्गस्य तद्घटितवाक्यस्य च मतद्वयसाधारणत्वादेकतरनिर्धारे प्रकरणस्य नियामकत्वं वक्तव्यम् । प्रकरणं च 'ऋतं पिबन्ता'वित्यारभ्य, नाचिकेतमुपाख्यानमित्यन्तमेकम् । तत्र चात्मानात्वेन परामृष्टस्य जीवात्मनो

रथित्वं तदुपकरणं तत्फलं चोक्त्वा, अग्रे 'एष सर्वेषु भूतेष्वि'त्यारभ्य वल्लीसमाप्तिपर्यन्तं परमात्मैव परामृश्यते। मृत्युमुखप्रमोकरूपफलदर्शनात् । प्रधानज्ञानेन सांख्यैस्तदनभ्युपगमनात् । चेतनात्मज्ञानादेव तदुपगमाच्च । अतः प्रकरणस्य विचारे अशब्दवाक्यस्यापि भगवत्परत्वाज्ज्ञेयत्वावचनं नासिद्धमित्यर्थः ॥ २ ॥

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

ननु न वयं सर्वमेकं प्रकरणमित्युपगच्छामः । किन्त्विन्द्रियेभ्य इत्यारभ्य, नाचिकेतमुपाख्यानमित्यन्तं भिन्नं प्रकरणम् । तत्र प्रथमं पदार्थनिर्देशः, तदन्वेष सर्वेषु भूतेष्विति पुरुषज्ञानम्, अशब्दमस्पर्शमिति प्रकृतिज्ञानं पृथक्पृथगुच्यत इति । तेन तयोरन्तरमेव ज्ञातं भवतीति सांख्यमतस्यात्रैवं सिद्धेस्तस्याशब्दत्वकथनमयुक्तमित्याशङ्क्य परिहरति। त्रयाणामित्यादि । एवम् अस्मदुक्तरीत्या त्रिप्रकरणत्वं, त्वद्रीत्या तु चतुष्प्रकरणत्वं स्यात्। नच को दोष इति वाच्यम्। यतस्त्रयाणामग्निजीवब्रह्मणामेवोपन्यास उत्तरं प्रश्नश्चात्र दृश्यते। 'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्य'मिति प्रथमोऽग्निप्रश्नः । 'प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नाचिकेतः प्रजान'न्नित्यादिनोत्तरम् । 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैक' इति द्वितीयो जीवप्रश्नः।'देवैरत्रापी'त्युपक्षिप्याग्रे 'न साम्परायः प्रतिभाति बाल'मित्यादिना परलोकासत्त्वमानिनः पुनः पुनः स्ववशगत्वोक्त्या तादृशस्याप्यस्तित्वबोधनमुत्तरम् । 'अन्यत्र धर्मा'दिति तृतीयो ब्रह्मप्रश्नः, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'त्यादिनोत्तरमिति तत्कृतप्रकरणविभागविरोधस्यैव दूषणत्वात् । नच पितृसौमनस्येनाग्निजीवप्रश्नाभ्यां च वरत्रयपूर्तेर्ब्रह्मप्रश्नस्य काल्पनिकत्वं निर्हेतुकत्वं वा शंक्यम् । 'यत्तत् पश्यसि तद्वदे'ति, 'नैषा तर्केण मतिरापनेया,' 'प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठे'ति मन्त्रगतयोर्वदप्रेष्ठपदयोरेव मानत्वात् । नच 'यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्त'दितिवद् ब्रह्मप्रश्नस्य जीवप्रश्नानुवादत्वं शङ्क्यम् । विषयभेदनिर्देशविरोधात् । अतस्तं दुर्दर्शमिति वाक्यद्वयान्तसन्दर्भ एव तृतीयवरप्राप्तस्य द्वितीयप्रश्नस्य पूर्तेरन्यत्र धर्मादित्यनेनोक्तस्य प्रश्नस्य तृतीयत्वं प्रसादहेतुकत्वं च मन्तव्यम् । नच यथा वरव्यतिरेकेण प्रश्नकल्पनायामदोषः, एवं प्रश्नव्यतिरेकेण प्रधानोपन्यासकल्पनायामप्यदोषः इति शङ्क्यम् । वदप्रेष्ठपदाभ्यां बोधितत्वेन कल्पनाया अभावेनापर्यवस्थेयत्वादिति । अतश्चतुर्थस्य प्रकरणान्तरस्यात्र वक्तुमशक्यत्वान्न सांख्यमतसिद्धिरिति तस्याशब्दत्वकथनं नायुक्तमित्यर्थः ॥ ६ ॥

महद्वच्च ॥ ७ ॥

ननु तथापि मतान्तरेऽन्यत्र सङ्केतिताः शब्दाः ब्रह्मवादे कथं ब्रह्मपरतया योज्यन्त इत्याशङ्क्य परिहरति । महद्वदिति । यथा सांख्यमते प्रथमकार्ये सङ्केतितोपि महच्छब्दो 'महान्तं विभुमात्मानं,' 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्त'मित्यादौ योगेन ब्रह्मपरः

पदान्तरसन्निधानादुच्यते, प्रकरणाच्च । अन्यथा तदनन्वयात् । एवमव्यक्तशब्दोऽप्यक्षरवाचकः। सर्वेषां पदानां ब्रह्मवाचकत्वस्यौत्सर्गिकत्वादिति । तस्मा'दिन्द्रियेभ्य' इति वाक्ये सांख्यपरिकल्पितानां पदार्थानां नामापि नास्तीति सिद्धम् । चकारोऽधिकरणसम्पूर्णत्वद्योतकः ॥ ७ ॥ १ ॥ इति प्रथममानुमानिकाधिकरणम् ॥ १ ॥

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

ननु मास्त्वस्मिन् वाक्ये सांख्यमतसिद्धिः, तथापि श्वेताश्वतरे तैत्तिरीये चाजामन्त्रः पठ्यते । 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य' इति । नचास्यापि 'किं कारणं ब्रह्मे'त्यादिना ब्रह्मविद्यामुपक्रम्य पठितत्वाद् ब्रह्मविद्यैव केनचित्प्रकारेण निरूप्यत इति शङ्क्यम् । पूर्वकाण्डीयप्रणवादिमन्त्राणामन्यत्र विनियुक्तानामपि प्रकृतोपयोगः, एवमत्रापि मतान्तरवाचकस्यैव प्रकृतोपयोग इति शक्यवचनत्वात् । किञ्चात्र यद्येक एव मन्त्र एतादृशोऽन्ये चान्यादृशा इति स्यात्, तदा बहूनामनुग्रहस्य न्याय्यत्वादेतस्यार्थोऽन्यथा कल्प्येतापि । यथा कठवल्लीस्थेन्द्रियमन्त्रस्य । इह तु 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढा'मिति,'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ते'ति, 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वा' इति, 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्ये'दित्यादीनि बहूनि वाक्यानि सन्ति । तेषु यथायथम्, अजाया जुष्टत्वादिकं, स्वगुणैर्निगूढत्वं, मुक्तामुक्तजीवसंघौ भोक्तृभिर्भोग्यार्थैः मात्रादिकार्यैर्युक्ता प्रकृतिः, योन्यधिष्ठातृत्वं, कपिलस्य नामतद्धर्माश्च प्रत्यभिज्ञायन्ते। एतावान् परं विशेषो यत् कापिलैः प्रकृतिः स्वतन्त्रोच्यते, अत्र तु परमेश्वरशक्तित्वेनेति । न तावता तस्य अजात्वहानिः । शक्तेर्नित्यत्वात् । अतः शक्तित्वमात्रेण विशेषेण कपिलमतप्रत्यभिज्ञापकनानापदानादरणस्यानुचितत्वात् सांख्यमतस्यानुमानिकत्वोक्तिः प्रधानस्याशब्दत्वोक्तिश्चानुपपन्नेति प्राप्ते, उच्यते। चमसवदित्यादि। एकपदमिदं सूत्रम्। चमसेन तुल्यः अविशेषश्चमसवदविशेषस्तस्मात् । यथा 'अर्वाग्बिलश्चमस उर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्यासते ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाने'ति मन्त्रे कर्मविशेषं कल्पयित्वा तत्रार्वाग्बिलं चमसं कल्पयित्वा, तत्र यशोरूपं सोमं सप्त होतारो मन्त्रेण भक्षयेयुरिति कल्पयितुं न शक्यते, तथात्र लोहितशुक्लकृष्णशब्देन सत्त्वरजस्तमांसि कल्पयित्वा, तद्बलेन सर्वमेव सांख्यमतं न कल्पयितुं शक्यते । शक्तित्वेन शक्तिमदधीनोदयतया पारतन्त्र्येणैव सिद्धत्वात् । नच स्वगुणैर्निगूढामिति तद्गमकम्। तत्र स्वपदेन ब्रह्मण एव ग्रहीतुं शक्यतया तद्गुणानामेव ग्राह्यत्वात् । उत्तरार्धे 'यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक' इत्यनेन तस्यैव परामृष्टत्वाच्च । नापि भोक्तृभोग्यार्थयोगस्तत्त्वकल्पकः । जन्यायामपि

शक्तौ तथात्वस्य पुराणसिद्धत्वात्। नापि योनिमित्यस्य तथात्वम् । वीप्साया बहुत्वस्य च बाधकत्वात् । अंशभेदात् समाधानेऽपि शक्तिसाधारण्यानपायाच्च। नापि कपिलादिपदस्य। नित्ये वेदे अनित्यसंयोगविरोधात्। नचापौरुषेयत्वेऽपि वेदस्य जन्यत्वं युक्तम्।'वाचा विरूपनित्यये'त्यादिश्रुतिविरोधात्। वेदप्रामाण्यस्य कपिलाचार्यैरप्यङ्गीकारात् । अतश्चमसवाक्यवदत्रापि विशेषस्य कल्पयितुमशक्यत्वान्न सांख्यमतसिद्धिरिति पूर्वाधिकरणोक्तमक्षुण्णमित्यर्थः । अत्राप्यानुमानिकं नेति पक्षसाध्ये बोध्ये ॥ ८ ॥

ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥

ननु चमसमन्त्रे 'शिरो वै अर्वाग्बिलश्चमसः प्राणा वै यशः प्राणा वै ऋषयः' इति व्याख्यानं श्रौतमस्तीति तत्र विशेषः कल्पयितुं न शक्यते। प्रकृते तु श्रौतव्याख्यानाभावात् सुखेन तन्मतमत्र ग्रहीतुं शक्यमित्याशङ्कां तुना परिहृत्यात्रापि श्रौतं व्याख्यानं तत्तुल्यत्वायाह। ज्योतिरित्यादि। अजाशब्देनात्र श्रुत्यन्तरोक्ता ज्योतीरूपा देवतोच्यते। नचैवं सत्यजापदस्य कुतः प्रयोग इति शङ्क्यम्। पूर्वत्र रूपकविन्यस्तगृहीतिवदत्र रूपकातिशयोक्त्या अजावदल्पनश्वरफलदत्वं तस्या बोधयितुं तदुक्तेः। तेनात्र किं गमकमत आह। उपक्रमादिति। 'तदेवाग्निस्तद्वायुस्तदादित्यस्तदु चन्द्रमा' इति पूर्वमन्त्रे ज्योतिष उपक्रमात्। तथाचोपक्रम एवाजाया ज्योतिष्ट्वगमक इत्यर्थः। नच चतूरूपत्वाभावे कथं तदिति शङ्क्यम् । अग्निसूर्यचन्द्रविद्युद्भेदेन श्रुत्यन्तरे चतूरूपत्वस्य तत्रोक्तत्वात्। नचात्रोत्तरार्धे अजद्वयकथनात्तयोरभावे कथं मंत्रार्थनिर्धार इति शङ्क्यम्। एतदग्रिमे 'द्वा सुपर्णे'ति मन्त्रे तयोरभावेऽपि कथनात्। ननु तथाप्यजद्वयस्यात्र जीवबहुत्वेनानिर्धारात् कथं मन्त्रार्थनिर्धार इति शङ्कायां सर्वनिर्धाराय संमत्यन्तरमाह । तथा ह्यधीयत एक इति । यथास्माभिर्व्याख्यायते ज्योतीरूपत्वं, तथा तेन प्रकारेण हि यतो हेतोः, एके शाखिनश्छन्दोगा अधीयते श्रुतिं पठन्ति। पूर्वं 'तत्तेजोऽसृजते'ति प्रथमं कार्यमुक्त्वा, ततः 'तत् तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेये'त्यादिना तत्कृतां सृष्टिं वदति, अग्रे च त्रिवृत्करणोत्तरं 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्ये'ति। एतदग्रे 'यदादित्यस्य रोहितं रूपं यच्चन्द्रमसो यद् विद्युत' इत्यादिना तस्य त्रिरूपत्वं वदति। तथा 'अनेन जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकं करवाणी'ति त्रैविध्याज्जीवब्रह्मणोः प्रवेशं, बीजे भगवत्यपि सच्चिदानन्दभेदात् त्रैविध्यं, जन्येऽपि बीजे अण्डजमुद्भिज्जं जीवजमिति संघशस्त्रैविध्यम्। तेन 'सृजमानां सरूपा' इति प्रजानां सरूपत्वं वक्ति। अनावनश्नन्निति यदनशनमुक्तं तत्र हेतुर्जीवेन भुक्तभोगामिति। तेनात्रोक्ताया देवताया छान्दोग्ये सत्यकामाय हंसेन 'अग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सौम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नामे'त्युपदिष्टो य पादस्तद्रूपत्वं प्रथमकार्यरूपत्वं च विवृतं भवति। अतः प्रकृतेऽपि चमसवच्छ्रुतावेवार्थप्रतिपादनान्न सांख्यमतप्रतिपादकत्वमित्यर्थः ॥ ९ ॥

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

ननु द्विविधा पदशक्तिर्योगो रूढिर्वा । तत्राजाशब्दश्छाग्यां रूढः। न जायत इत्यजेति योगः। अत्रोभयं विहाय कया वृत्त्या सृष्टिवाचकत्वमङ्गीक्रियत इत्याशङ्क्य परिहरति । कल्पनोदेशादिति। कल्पनाया उपदेशः कल्पनोपदेशस्तस्मात्। यथाजा वर्करसहिता सवत्सा स्वामिहिता, तथेयमाद्या सृष्टिरपि भगवत्सहिता कार्यसहिता चोपायसहितेत्युपासनार्थं कल्पनयाऽजापदेनोच्यते। चकारात् परोक्षवादोऽपि देवहितायेति बोध्यते। तथाच 'तत्तेषां न प्रियं यन्मनुष्या विद्यु'रिति श्रुतेर्मनुष्याणां ज्ञानं देवहिताय न भवतीति तद्धीताय यथेन्धे इन्द्र इति परोक्षवादः, तथात्र चतुर्मुखाजन्यायेनास्मदादिसाधारणजन्माभावाज्ज्योतीरूपे प्रथमकार्येऽप्यजेति भगवत्प्रियत्वाय परोक्षवाद इत्यर्थः। नन्वेवं किमिदानीमेवं वादिनिग्रहायोपगम्यते? उतान्यत्र सिद्धमतिदिश्यत इत्याशङ्कायां समाधत्ते। मध्वादिवदविरोध इति। 'यथासौ वा आदित्यो देवमधु' 'वाचं धेनुमुपासीते'त्यादौ कल्पनया मधुत्वाद्युपदेशस्तथात्रापरोधः। तथाचान्यत्र सिद्धैव वैदिकपदानां गौण्येव वृत्तिरत्रातिदिश्यते। तत्त्वादीनां कल्प्यते इत्यर्थः। अयं च दृष्टान्तो वादिबोधनार्थः। सांख्यसमाससरूपसूत्राणां पञ्चशिखप्रणीतवृत्तौ सूर्यस्य चक्षुरधिदैवतत्वेन सिद्धत्वान्मधुत्वस्य तस्मिन् सांख्यवादिनापि कल्पनयैवादरणीयत्वादिति। तस्मादजाशब्देन न सांख्यमतस्यात्र प्रत्याशेति सिद्धम्॥१०॥ इति द्वितीयं चमसाधिकरणम् ॥२॥

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११ ॥

ननु बृहदारण्यके चतुर्थप्रपाठके श्रूयते। यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः, तमेवमन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतमिति। अर्थस्तु यस्मिन्नेते पञ्चादय आकाशान्ताः प्रतिष्ठिताः, तमात्मानमेवं ब्रह्मामृतं विद्वानन्यो जीवः अमृतो मुक्तो भवतीति शेषः। अत्र पञ्चगुणिताः पञ्च पञ्चपञ्च जनयन्तीति जनास्तत्त्वानि। पुरुषस्यापि छत्रिन्यायेन जनत्वात् तत्संख्यापूर्तिः। तथा चैवं पञ्चविंशतितत्त्वानां संख्योपसंग्रहादस्मिन् मन्त्रेऽस्ति सांख्यमतसिद्धिरित्याशङ्क्याह । न संख्येत्यादि। उक्तरीत्या संख्योपसंग्रहादपि न सांख्यमतस्यात्र प्रत्याशा। कुतः। नानाभावात्। पञ्चविंशतिसंख्यासंग्राहकधर्माणां तन्मते पञ्चपञ्चकनिष्ठत्वाभावेन तेभ्यो भिन्नत्वात्। यदि ह्येवं पञ्च पञ्चपदेन तेषां सा संख्या संग्राह्या स्यात्तदा ते भूतत्वतन्मात्रात्वाकूतित्वचित्तित्वान्तःस्थत्वरूपानेकैकपञ्चकनिष्ठान् पञ्च धर्मान् ब्रूयुर्न तु 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष' इति मूलप्रकृतित्वप्रकृतिविकृतित्वपुरुषत्वाख्याश्चतुरोऽन्यथा ब्रूयुः। अतो नैवं तन्मतप्रत्याशा। किञ्च, नायं श्रुत्यर्थ इति श्रुतावेव प्रतीयते। कुतः। अतिरेकाच्चेति। 'पञ्च पञ्चजनेभ्य आकाशश्च

प्रतिष्ठित' इत्याकाशस्य यस्मिन्नित्यनेनोक्तस्यात्मत्वबाधिकत्वात् । तस्मान्न अनेनापि मन्त्रेण तन्मतसिद्धिरित्यर्थः ॥ ११ ॥

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ ११ ॥

ननु पञ्चविंशतिसंख्योपसंग्रहे मन्त्रवर्णविरोधो दोषत्वेनोक्तः । स तु नास्माकमस्ति । यथाच, 'पञ्च सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतु'रित्यत्र द्वादशसंख्याघटकतया पञ्च सप्तेति पदद्वयेऽवयवद्वारा समुदायलक्षणा । यथा वा, 'त्रिणवेनौजस्कामं याजयेत्, युद्धं त्रिणवरात्रं तदभूत्तुमुलमुल्वणम्' इत्यत्र त्रयो नव यत्रेति बहुव्रीहिणा सुल्लुका च गणलक्षणा, तथात्रापि पदद्वये लक्षणया बहुव्रीहिघटित एकपदे लक्षणया वा पञ्चविंशतिसंख्यां ज्योतिःशास्त्रवत् परिकल्प्य, यस्मिन्नात्मनि पञ्चविंशति तत्त्वान्याकाशश्च परार्थत्वेन ज्ञेयत्वरूपां प्रतिष्ठां प्राप्तस्तमात्मानमेव ब्रह्मामृतं विद्वानमृतो भवतीति मन्य इत्यर्थात् । नच तत्त्वेष्वात्माकाशयोः प्रविष्टत्वात् पुनस्तत्कथनमतिरेकापादकमिति शङ्क्यम् । कामात्ममाहात्म्यस्य स्फुटीकरणाय तयोः पुनरुक्तेः । नच विनिगमकाभावात्तुल्यत्वं शङ्क्यम् । भवन्मतसिद्धपञ्चसंख्या वा पञ्चविंशतिसंख्याका वा जना पञ्चसंख्या वा पञ्चजना इति त्रिष्वर्थेष्वेकतरस्य निश्चेतुमशक्यत्वेनास्माकं च निश्चितत्वेनास्मन्मतस्य ज्यायस्त्वादित्याशङ्कायामाह । प्राणादय इत्यादि । प्राणादयः पञ्चजनाः । कुतः । वाक्यशेषात् । पञ्चजनवाक्योत्तरं 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदु'रिति वाक्यशेषोऽस्ति । तत्र षष्ठ्यन्ताः प्राणादय उक्ताः, ते च संशयाद्याः पञ्च बुद्धिवृत्तीर्जनयन्तीति पञ्चजनाः । अतस्त एव ग्राह्याः । वृत्तयस्तु 'संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च । स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथ'गिति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यादवगन्तव्याः । नन्वैकार्थ्ये सति विभागे साकांक्षत्वस्यैकवाक्यताबीजत्वादत्र च साकांक्षत्वस्याप्रतीयमानत्वात् कथं वाक्यशेषत्वावगतिरितिचेत् । इत्थम् । प्राणादिपदानां क्रियाकरणवाचकत्वेन प्राणादीनां च तद्वान्यानां स्वव्यापारे करणान्तरानपेक्षत्वेन पुनः प्राणादिमत्त्वं बाधितं भवदुक्तस्य वाक्यस्यार्थान्तरं बोधयति । पञ्चजनावाक्ये पञ्चपञ्चजनपदमपि सांख्यरीत्या पञ्चपञ्चकनिष्ठधर्मपञ्चकानुपलंभेन बाधितं सत्तस्य वाक्यस्यार्थान्तरं बोधयति, तच्च ब्रह्ममाहात्म्यरूपम्, उभयत्रापि ब्रह्मपदात् । अत उभयोरैकार्थ्यम् । किञ्च । प्राणवाक्यं प्राणादीनां करणत्वं बोधयत् पञ्चजनवाक्यानूदितं कार्यमाकांक्षते । पञ्चजनवाक्यं च तेषां पञ्चजनानां स्वस्वकार्यक्षमत्वाय तन्नियामकं प्राणवाक्योक्तं ब्रह्माकांक्षत इत्युभयोरपि विभागे साकांक्षत्वम् । एवमुभयोरेकवाक्यत्वे सत्यन्यस्य तत्खण्डत्वात् सुखेनैवास्य वाक्यशेषत्वावगतिं जानीहि । तस्मात् प्राणादय एव पञ्चजना इति नात्र सांख्यमतसिद्धिरितिसिद्धम् ॥ १२ ॥

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१३॥

ननु काण्वपाठे अन्नस्यान्नमिति नास्ति । तत्र कथं पञ्चसंख्यापूर्तिरित्याकांक्षायामाह । ज्योतिषेत्यादि । तेषामपि पाठे 'यस्मादर्वाक्संवत्सर' इति मन्त्रोस्ति । तत्र 'द्वे

ता ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृत'मिति ज्योतिः पठ्यते । तेन तत्पूर्तिरित्यर्थः । तस्मान्न सांख्यमतस्य श्रुतिमूलकत्वमिति सिद्धम् ॥ १३ ॥ इति तृतीयं संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ॥ ३ ॥

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

आनुमानिकसूत्रमारभ्यैतदन्तैः सूत्रैः सांख्यमतस्य श्रौतत्वं निराकृत्येदानीं श्रुतेर्विप्रतिषेधेन निश्चयासम्भवाद्विप्रतिषेधरहिता स्मृतिरेव ग्राह्येति मतं निराकर्तुं विप्रतिषेधो नास्तीति बोधनायाधिकरणान्तरमारभते । तत्र नानाविधसृष्टिबोधकानि वाक्यानि विषयाः । तानि भगवतो जगत्कारणत्वबोधने तात्पर्यवन्ति, न वेति संशयः । तत्र श्रुतौ कचिदाकाशादिका सृष्टिः । यथा 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इति । कचित्तेजआदिका । यथा 'तत्तेजोऽसृजते'ति । क्वचिदन्यथैव । यथा 'एतस्माज्जायते प्राण' इत्यादि । क्वचि'दिदँ सर्वमसृजते'ति । एवमन्येऽपि बहवः प्रकाराः सन्ति नानाविधक्रमनानाविधव्युत्क्रमाणां प्रतिपादकाः । ते सर्वे यथाकथञ्चिद्ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमर्थवादरूपाः । यथा पूर्वकाण्डे 'ग्रहान्वा अनुप्रजा असवः प्रजायन्त'इति । न हि तस्य ग्रहाणां प्रजादिकारणत्वे तात्पर्यम्, अपि तु ग्रहप्रशंसामात्रे, तथैतेषामपि न ब्रह्मणो जगत्कारणतायां तात्पर्यम्, किन्तु यथाकथञ्चन तत्प्रतिपत्तौ । अन्यथा 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इत्यादावकर्ताऽभोक्तेत्यादौ च तन्निषेधो न स्यात् । एकस्य वस्तुनो द्वैरूप्यासम्भावादेवं विप्रतिषिद्धनानाप्रकारेण सृष्टिनिरूपणं च न स्यात् । अतोऽध्यारोपापवादन्यायसिद्ध्या वेदान्न ब्रह्मणः कारणत्वसिद्धिः । नच जगन्नास्तीति वक्तुं शक्यम् । आगोपालपण्डितं प्रसिद्धत्वात् परिदृश्यमानत्वाच्च । अतस्तस्य कारणेऽन्विष्यमाणे बाह्याबाह्यभेदेन नानास्मृतिषु सतीष्वपि कपिलस्य भगवतोंशावतारत्वात् तन्मतप्रकारेणैव जगद्व्यवस्थोचितेति प्राप्ते, उच्यते । कारणत्वेनेत्यादि । एवं सृष्टिप्रभेदेष्वपि न ब्रह्मणः कारणत्वे विप्रतिपत्तिः । कुतः । आकाशतेजःप्रभृतिषु क्रमिकेषु प्राणादिषु च क्रमिकेषु कार्येषु कारणत्वेन ब्रह्म यथा व्यपदिष्टं, येन सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वात्मत्वैकत्वाद्वयत्वसच्चिदानन्दधर्मवत्त्वप्रकारेणोक्तमेवमन्यत्राप्युक्तेः कथनात् । नच निषेधव्याकोपः । तस्य लौकिककर्तृत्वनिषेधपरत्वात् । नच मानाभावः । न तस्य कार्यमिति निषेधवाक्योत्तरार्धे एव 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'ति क्रियासद्भावप्रतिपादनात् । द्वितीयपादे समाभ्यधिकनिषेधेन कार्यकरणसापेक्षलौकिककर्तृत्वनिषेधस्यैव प्रतीतेश्च । सृष्टेर्नानाप्रकारेण निरूपणं तु लोकेपि कर्तृमाहात्म्यबोधकम् । नानाकालेष्वेककर्तृकस्य नानाविधकार्यस्य लोके दर्शनादिति । चकारस्तु भगवतः सर्ववैलक्षण्यार्थं वैदिकपदवाक्यानामबाधितार्थैकवाक्यत्वस्याभिप्रेतत्वसमुच्चायकः । अतः श्रुतिविप्रतिषेधाभावान्न स्मृतिपरिग्रह इति सिद्धम् ॥ १४ ॥ इति चतुर्थं यथाव्यपदिष्टाधिकरणम् ॥ ४ ॥

एवमेकः श्रुतिविप्रतिषेधः परिहृतः, पुनः प्रकारान्तरेण श्रुति विप्रतिषेधमाशङ्क्य परिहरति ।

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

ननु श्रुतौ क्वचिदसद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायतेति, क्वचित् सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्युपक्रम्य, तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदित्युक्त्वा, कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यात्, कथमसतः सज्जायेतेति निषिध्यते । क्वचिच्च नासदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरायदिति सदसती निषिध्य तम आसीत्, तमसा गूढमग्र इत्युच्यते । क्वचिच्च तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदिति, क्वचिच्च किं तदानीन्न सन्नासन्न सदसदिति । एवमादिषु पुरावृत्तवाक्येषु सत्यवाच्यस्य ब्रह्मणो विरुद्धं गानं श्रूयते । नचासत्तमःप्रभृतिभिःशब्दैर्ब्रह्मैवोच्यत इति शङ्क्यम् । 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चे'दिति निन्दाश्रवणाद्, 'आदित्यवर्णं तमसः परस्ता'दिति तमोविरुद्धरूपत्वस्य तमःपरत्वस्य श्रवणाच्च । अतः कारणत्वेनापि श्रुतिप्रतिषेधाद् ब्रह्म कारणं नेति प्राप्ते । उच्यते । समाकर्षात् । कारणत्वेनेति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । कारणत्वेन ब्रह्मैव ज्ञेयम् । नात्रोक्तश्रुतिविप्रतिषेधः । कुतः । समाकर्षात् । आकृष्यते स्वस्थानाच्च्याव्यत इत्याकर्षः । समीचीनो वस्तुनिश्चायनार्थ आकर्षः समाकर्षस्तस्मात् । सर्वेष्वेतेषु वाक्येष्वसदादिपदानां न निरात्मत्वादिरूपा अर्था उच्यन्ते, किन्त्वेकश्रुत्युक्तरूपविलक्षणं रूपान्तरमभिप्रेत्य श्रुत्यन्तरे तस्य तस्य शब्दस्य प्रसिद्धात्स्वार्थात् प्रच्च्यावनं तत्कृत्वा तत्तद्रूपविशिष्टं ब्रह्मैवोच्यते । नच लक्षणापत्तिः । ब्रह्मणः सर्वशब्दवाच्यत्वस्य प्रागेव तल्लिङ्गाद्यधिकरणेषु व्युत्पादितत्वात् । नच सर्वत्र ब्रह्मण एव कारणत्वे वक्तव्ये विरुद्धशब्दप्रयोगे किं प्रयोजनमिति शङ्क्यम् । यथा 'को अद्धा वेद क इह प्रवोच'दित्यत्र सृष्टिकर्तृविषयकमज्ञानं, 'सर्वे वेदा' इत्यत्र साधनैस्तज्ज्ञानं, 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्यत्र वागाद्यप्राप्यत्वं, 'मनसैवानुद्रष्टव्य' इत्यत्र तत्प्राप्यत्वमित्यादयो भगवति विरुद्धधर्मा उच्यन्ते माहात्म्यबोधनार्थं श्रुतिषु, तथा 'तं यथायथोपासते तथा भवती'ति फलज्ञापनार्थं तानि तानि विरुद्धरूपाण्यपि ब्रह्मणि बोध्यन्त इत्यपि तेषां तेषां प्रसिद्धार्थतः समाकर्षवदवगम्यते । अत्रोदाहरणं तु यथा कंसादिभिर्मारकत्वभावनात् तेषां मृत्युः, एवमसत्त्वेन भावनादसत्त्वमिति । अत एतदर्थमेवं प्रयोगस्यावश्यकत्वादिति । तस्माच्छब्दवैलक्षण्येन श्रुतिविप्रतिषेधो न वक्तुं शक्य इति सिद्धम् ॥ १५ ॥ इति पञ्चमं समाकर्षाधिकरणम् ॥ ५ ॥

एवं शब्दविप्रतिषेधं परिहृत्यार्थकृतं विप्रतिषेधं परिहर्तुमधिकरणान्तरं प्रणयति ।

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

अत्र कौशीतकिब्राह्मणे षष्ठोऽध्यायः सर्वोपि विषयः । तत्र गार्ग्यो नाम्ना बालाकिरजातशत्रवे काशिराजाय स्वकीर्त्यर्थं स्वत एव ब्रह्मोपदेष्टुं समागत आदित्यचन्द्रवि

द्युत्स्तनयित्नुवाय्वाकाशाग्न्यबादर्शच्छायाप्रतिश्रुत्काशब्दस्वप्नशरीरदक्षिणाक्षिवामाक्षिपुरुषपर्यन्तान्युपासनान्युक्तवान् । तदा तेष्वजातशत्रुणा परिच्छिन्नानि फलानि प्रदर्श्य तेषां परिच्छिन्नब्रह्मोपासनत्वेन तज्ज्ञानस्य मुख्यत्वे निराकृते बालाकिः पूर्णब्रह्मज्ञानार्थं तमेवोपससाद । ततो राजा स्नेहेन तं हस्ते गृहीत्वा सभात उत्थाय क्वचिदेकान्ते सुषुप्तपुरुषसमीपमागत्य, बृहत्पाण्डरवासः सोमराजन्नित्यादिभिर्बालाकिप्रोक्तैर्धर्मैस्तं सम्बोधयाञ्चक्रे । तदापि तं सुप्तं दृष्ट्वा राजा यष्ट्या क्षिप्तवान् । ततः स पुरुष उत्तस्थौ । तदा राजबालाकी वक्ष्यमाणप्रश्नोत्तराभ्यां ब्रह्मवाद्यं चक्रतुः । तत्र 'क्वैष एतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्टे'त्यादिना बालाकिं प्रति राजा पुरुषस्य स्वप्नस्थानं, स्वप्नावस्थां तत आगमनं चेति त्रयं पृष्टवान् । तत्र राजप्रश्नेषु पुरुषपदेन जीवः प्रक्रान्तः । यदाच बालाकिस्तं न ज्ञातवाँस्तदा 'राजैव यत्रैष एतद्बालाके पुरुषोशयिष्टे'त्यादिनोत्तरं जगाद । तत्र हिताख्यासु हृदयनिकटस्थासु नाडीषु जीवस्य शयनं, तत्र स्वप्नसुषुप्तिरूपमवस्थाद्वयं, ततः पुनरत्रागमनं च वदता राज्ञा तत एवाग्निविस्फुलिङ्गन्यायेन सर्वोत्पत्तिरुक्ता । ततः 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरमात्मानमनुप्रविष्ट आलोमभ्य आनखेभ्यस्तद्यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितो विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाय' इति दृष्टान्तद्वयेन प्रज्ञात्मप्राणाख्यस्य ब्रह्मणः प्रवेश उक्तः । तत्र सन्देहः । जीव एव ब्रह्मसहितः कर्ता, ब्रह्मैव वेति । पूर्वपक्षस्तु सर्वस्य जगतो जीव एव कर्ता, यो वै बालाके एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्मेति कर्तारं वेदितव्यत्वेनोपक्षिप्य सुप्तपुरुषनिकटगमनाद्युत्तरं तस्मादेव प्राणानां देवानां लोकानां चोत्पत्तिकथनात् । नच ब्रह्मणोऽपि कर्तृत्वम् । तदनुप्रवेशमात्रस्यैव बोधनात् । अतः साहित्यमात्रं भवतु । नच जीवस्य कर्तृत्वे उपक्रमोक्तस्य ब्रह्मत्वस्य बृहदादीनां धर्माणां च विरोधः शङ्कनीयः । यथा तुल्येऽपि सर्वेषु जीवत्वे क्वचिदेव देहेऽन्यनियोजकत्वोपाधिना राजत्वं, कर्मकरणे मुख्यत्वोपाधिना यजमानत्वं, तथा प्रकृत्यभिमन्तृत्वोपाधिना तेषामप्यागन्तुकानां वक्तुं शक्यत्वात् । नचोपक्रमस्यासञ्जातविरोधत्वेन प्रबलत्वाद् ब्रह्मण एव कर्तृत्वमिति शङ्क्यम् । उपसंहारस्यात्र विवरणरूपत्वेन पूर्वोक्तार्थनिर्णायकत्वादत्र ब्रह्मोपक्रमेण जीवपर्यवसानोक्तेर्ब्रह्मत्वेनोक्तस्य जीवस्यैव कर्तृत्वौचित्यात् । नचोपक्रमोपसंहारभेदस्य निष्प्रयोजनकत्वम् । सर्वत्रैवैतन्न्यायज्ञापनार्थत्वात् । एवमत्र विशिष्टस्याभिमानिनो देहान् प्रति कर्तृत्वे सिद्धे सति लोकेपि जीवस्य कर्तृत्वं सहभाव्येव भवेत् । तत्तत्कर्मणां बन्धमोक्षव्यवस्था च सुखेनोपपद्येत । एवमभिमानिनः कर्तृत्वे सिद्धे यो यादृगभिमानी तेन तादृक् कर्म कर्तव्यमिति नियमात् सर्वकर्तृत्वं प्रकृत्यभिमानिनः सिध्यत प्रकृतावेव फलिष्यतीति प्राप्तः । तत्रोच्यते । जगद्वाचित्वात् । अत्रापि कारणत्वेनेत्यनुवर्तते । ब्रह्मैव कारणत्वेन विवक्षितम् । नात्र प्रकृत्यभिमानी जीवः कर्तृत्वेन विवक्षितः । कुतः । जगद्वाचित्वात् । अत्र हि बालाकिप्रोक्तानादित्यादीन्निराकृत्य अजातशत्रुणा 'यो वै बालाके एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत् कर्म स वेदितव्य' इति

सिद्धान्तकथनोपक्रमे एतदित्येतच्छब्देनादित्यमण्डलाद्युल्लेखाद्युपलक्षणविधया जगदुच्यते । पुरुषपदेन च जीवरूपम् । तच्च जडजीवात्मकं जगद् ब्रह्मकर्तृकमिति पूर्वं 'यतो वे'त्यादिश्रुतिविचारे सिद्धम् । अत्रापीतः पूर्वमिन्द्रप्रतर्दनसंवादे एवमेव सिद्धम्, अतस्तदनुरोधेनात्रापि एतच्छब्दस्य जगद्वाचित्वं कर्तृत्वं ब्रह्मण एव । नचोपसंहारे विवरणरूपत्वम् । तथात्राप्रतीयमानत्वात् । नच 'न जायते न म्रियते वे'ति श्रुतेर्जीवोत्पत्तिः सिद्धान्तेऽप्यनिष्टेति जडजीवात्मकजगत्कर्तृत्वकथनमसङ्गतमिति शङ्क्यम् । 'सर्वे एवात्मनो व्युच्चरन्ती'ति श्रुत्यन्तरेण रूपाया उत्पत्तेर्जीवेऽप्यङ्गीकारात् । अतो जडवत् स्वरूपान्यथाभावाभावादेव न जायत इत्युपपत्तेर्न सिद्धान्ते दोषः । नच सिद्धान्ते उपलक्षणविधावत्पूर्वपक्षे संकोच इति दोषतौल्यमिति शङ्क्यम् । ब्रह्मण उपक्रमे श्रुतत्वेन तदादरस्य उक्ततया उपलक्षणविधाया अदुष्टत्वात् । प्रकृत्यभिमानिनस्त्वश्रुतत्वेन तत्कल्पने श्रुतत्यागाश्रुतकल्पनयोरापत्तेराधिक्याच्च । नच ब्रह्मपदमत्र सांख्याभिमतप्रधानपरमिति शङ्क्यम् । स्वरूपलक्षणविरोधप्रसङ्गात् । अतः सर्वश्रुत्येकवाक्यत्वायात्रापि ब्रह्मण एव कर्तृत्वस्य मन्तव्यत्वात् सुषुप्तावपि ब्रह्मण्येवात्रोक्तानां वाग्वादीनां लयः, तस्मादेव सर्वेषां यथायतनं विप्रतिष्ठेति ज्ञातव्यम् । नच प्राण एव प्रज्ञात्मेत्यस्य विरोधः । इन्द्रप्रतर्दनसंवाद एव प्राणात्मशब्दवाच्यत्वस्य ब्रह्मणि सिद्धत्वात् । तस्मादत्र प्रकृत्यभिमानी जीवो न कर्तृत्वेन सिध्यतीति न तदधिष्ठिता प्रकृतिः कारणमिति सिद्धम् ॥ १६ ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गादितिचेत् तद् व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

ननु जीव एवात्र प्रक्रान्तः । क्वैष एतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्टेति । अतः शयनोत्थानलक्षणजीवधर्मदर्शनात् तस्यैव ब्रह्मत्वं जगत्कर्तृत्वं च । तत् स्वतोऽनुपपद्यमानं प्रकृतौ फलिष्यति । अथवा मुख्यप्राणलिङ्गमप्यत्रास्ति । प्राण एवैकधा भवतीति । सुषुप्तौ च तस्यैव वृत्तिरुपलभ्यते इति विद्यमानत्वात् तस्मादेवोत्पत्तिप्रलयौ । स च प्रकृत्यंशोऽतो जडादेव प्रधानात् सृष्टावपि सर्वोत्पत्तिः । अतः प्रकरणाज्जीवद्वारा साक्षाद्वा प्रकृतेरेव कारणत्वमिति जीवेत्यादिसूत्रांशेनाशङ्क्य परिहरति । तद् व्याख्यातमिति । एतयोर्जीवमुख्यप्राणलिङ्गत्वमेव नास्तीति 'आश्रितत्वादिह तद्योगा'दित्यत्रैव व्याख्यातं निर्णीतम् । सर्वमेव कार्यं भगवत एव, नान्यस्मादिति । अतोऽस्मादपि ब्रह्मवाद एव सिध्यति, न प्रकृतिवाद इत्यर्थः ॥ १७ ॥

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥

स्वमतेन परिहारमुक्त्वा अत्र सांख्यमतमन्येषामप्यनुमतं न भवतीति । स्वापप्रबोधौ जीवधर्मावेव । चक्षुरादिलयाधारत्वं च मुख्यप्राणस्यैवेति नियतधर्मवादेनापि परिहारमाह । अन्यार्थमित्यादि । इदं जीवमुख्यप्राणलिङ्गकीर्तनम् । अन्यार्थम् । ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमेव जीवलयोद्गमौ । आश्रयभूतब्रह्मबोधाय च मृतिवैलक्षण्येन प्राणकीर्तनम् ।

तुशब्दस्तु जैमिनिमतस्य भिन्नत्वात् तस्यापि सांख्यमतनिराकरणावश्यकत्वज्ञापनार्थः । ननु कुत एतदवगम्यते, तत्राह । प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपीति । अपिशब्द उपक्रमोपसंहारात्मकं हेत्वन्तरं संगृह्णाति । तथाच 'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ते'त्यत्र यच्छब्द उपक्रमगतं मुख्यं ब्रह्म परामृशति । उपसंहारे च तज्ज्ञानेनासुरजयः सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं च फलं निर्दिशति । न ह्येतद्द्वयममुख्ये सम्भवति । तेषां प्रागेव निरस्तत्वात् । किञ्च, प्रश्नव्याख्यानाभ्याम् । क्वैष एतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्टेति प्रश्नः । यत्रैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्टेति व्याख्यानम् । ताभ्याम् । तत्र प्रश्ने एष इति पदेन बालाकिज्ञातपदार्थस्यैव निर्देशेन जीवस्य ज्ञातत्वात् स्वापाधिकरणमेव ज्ञातम्, व्याख्यानं च न नाडीर्ज्ञापयितुं करोति, किन्तूपक्रान्तब्रह्मैव ज्ञापयितुम् । अतस्ताभ्यां ब्रह्मण एव मुख्यत्वावगमात् तदर्थमेव जीवप्राणलिङ्गकीर्तनमिति ज्ञायते । ननु नाडीव्यतिरिक्त आत्माऽत्र ज्ञाप्यते इत्यत्र किं मानम्, अत आह । एवमेक इति । एके शाखिनो वाजसनेयिन एवमामनन्ति । दृप्तबालाकिब्राह्मणे, 'स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत् सुप्तोऽभूद्, य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेत' इति । अत्र आकाशशब्दं ब्रह्म । 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवती'ति च, 'स्वं ह्यपीतो भवती'ति च ब्रह्मैव निर्दिशन्ति । तस्मादाधारभूतब्रह्मज्ञापनार्थत्वाज्जीवप्राणलिङ्गस्य न तेन प्रकृतिवादसिद्धिरित्यर्थः ॥ १८ ॥
इति षष्ठं जगद्वाचित्वाधिकरणम् ॥६॥

वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

पुनरपि जीवब्रह्मवादेन प्रकृतिकारणवादमाशङ्क्य परिहरति । बृहदारण्यके चतुर्थे षष्ठे च प्रपाठके याज्ञवल्क्यमैत्रेयीसंवादे 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्या'मिति सर्वतो विरक्तिमुक्त्वा, 'यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूही'ति पृष्टे, तामभिमुखीकृत्य, 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवती'त्यादिना अमृतत्वाय ज्ञानमुपदिष्टम् । षष्ठे पुनरुपसंहारेऽ'प्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राजे'त्युक्तम् । तत्र ज्ञानविषयत्वेनोपदिश्यमानो य आत्मा प्रकरणी स जीवो वा ब्रह्म वेति संशयः । तत्रान्यापेक्षयात्मनः प्रियत्वं स्वप्रतीत्या बोधयन् जीवमेवोपक्रमे आत्मत्वेन वदति । तस्यैव चाग्रे दर्शनादि विधत्ते, तद्दर्शनादिनैव च सर्वज्ञानरूपं फलमाह । तत्रात्मज्ञानेन कथं सर्वं ज्ञातं भवतीत्याकाङ्क्षायाम्, 'ब्रह्म तं परादा'दित्यादिना 'इदं सर्वं यदयमात्मे'त्यनेनात्मनः सर्वत्वमाह । ततः कथमस्मिन् सङ्घाते आत्मज्ञानं भवतीत्याकाङ्क्षायां दुन्दुभिवीणाशङ्खदृष्टान्तानाह । तत्रेदं सिध्यति । यथा महाकोलाहले एकस्यां दिशि जायमाना अन्ये शब्दा नावगन्तुं शक्यन्ते, किन्तु हन्यमानस्य दुन्दुभेरेव शब्दोऽनेकशब्दाभिभावको गृहीतो भवति । तस्य तदीयत्वनिश्चये तु कारणं

दुन्दुभेर्दुन्दुभ्याघातस्य वा दर्शनम् । तथात्र सङ्घाते आत्मबुभुत्सायामात्मबोधकानि यानि चेष्टादिरूपाणि कार्याणि तेषां विचारेणानुमानद्वारा आत्मनि चित्तस्य प्रवेशेऽस्यात्मनोऽप्यस्मिन् सङ्घाते श्रवणादिभिः साक्षात्कारो भवतीति। अत्र प्रथमो दृष्टान्तः परम्परया ज्ञानजनने । द्वितीयो बाह्येन्द्रियेभ्यो भेदज्ञानजनने । तृतीय आन्तराद्भेदज्ञानजनने । एवं सङ्घाताद्भिन्नतया आत्मज्ञानजनने मननात्मक उपाय उक्तः। ततः पूर्वोक्तं आत्मनः सर्वत्वं कथं ज्ञातुं शक्यत इत्यपेक्षायां, तत एवोत्पन्नं सर्वं तत्रैव च च लीयत इति घटादेः पश्चाच्च मृदिव सर्वस्य पूर्वं पश्चाच्चात्मैवेति बोधनाय । नैयायिकाद्यभिमतनिमित्तमात्रतानिराकरणाय च,'स यथार्द्रैन्धाऽग्ने'रिति, 'स यथा सर्वासामपा'मिति कण्डिकाद्वयमाह । तथापि मध्ये स्थितिदशायां भेददर्शनात् सर्वमुपचार इति मंस्यते,तन्निवारणाय स्थितिदशायामप्यात्मैव,नान्यत्किमप्याधेयत्वेन विशतीति बोधयितुं, 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव स्यादेवं वा अरे इदं महद् भूतमनन्तमपारं कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवे'त्यन्तर्बहिस्तस्यैवानन्तरत्वमबाह्यत्वमैकरूप्यं चाह । तर्हि सर्वदा कुतो न प्रतीयते इत्याह। 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यती'ति। एतानि शरीरात्मकानि भूतानि कार्यत्वादस्य ज्ञापकानीति तेभ्यः समुत्थाय तद्द्वारा स्वं ज्ञापयित्वा तानि विनश्यन्ति सन्त्ययमात्माऽप्यनुविनश्यत्यदर्शनं प्राप्नोतीति । तर्हि समुत्थानानुविनाशक्रियादर्शनात्कालपरिच्छिन्नो भविष्यतीति शङ्कायां तावन्मात्रतानिराकरणायाह । 'न प्रेत्य संज्ञाऽस्ती'ति । प्रेत्य भूतलयोत्तरं संज्ञा सम्यग्ज्ञापकं नास्ति । कार्यमेव तस्य ज्ञापकं रूपम्, अतस्तदभावे तस्य स्वरूपं वक्तुं न शक्यत इति न ज्ञायते । न तु स एव नास्तीति। तथाच तदानीमपि विद्यमानत्वान्न स कालपरिच्छिन्न इत्यर्थः । एवमुक्ते मैत्रेय्या मोहो जातः, तत्र विशेषाकाङ्क्षायामतिरिक्ताकथने वञ्चकत्वमाशङ्क्य तत्परिहारायाह । स होवाचेत्यादि । 'न वा अरे मोहमहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवती'ति । अत्र अविनाशीत्यनेन स्वरूपनित्यत्वम्, अनुच्छित्तिधर्मेत्यनेन स्वरूपधर्माणां च नित्यत्वं कार्यवैलक्षण्यज्ञानाय सिद्धवत्कारेणोक्त्वा विषयसम्बन्धेन संसारमाह । मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवतीति । तथाच यद्यनित्यः स्याद्विषयसम्बन्धेन संसारः कस्य स्यादतः सोऽविनाशीत्यर्थः । यद्येवं तर्हि तद्दर्शनार्थं विशेषोऽपि वक्तव्य इत्याकाङ्क्षायां विशेषतस्तत्कथने हेतुमाह । यद्वै तमित्यारभ्य यावत्समाप्ति । तत्रायमर्थः । यद्वै तन्न पश्यतीत्यनुस्वारस्य परसवर्णः । तत्र, यद्वै तन्न पश्यतीत्यनेनात्मदर्शनाभावमनूद्य, कार्यस्य कारणात्मकत्वाद्रूपमप्यात्मैवेति तद्दर्शने कथमात्मादर्शनमित्याशङ्कायां, पश्यन् वै तद्द्रष्टव्यं न पश्यतीत्यनेन रूपात्मकमात्मानं पश्यन्नपि द्रष्टव्यत्वेन न पश्यतीति तस्यात्मदर्शनाभावस्य स्वरूपं, न तु सर्वथा तद्दर्शनाभावरूपं स्वरूपमित्युक्त्वा,कथं न सर्वथादर्शनाभावरूपमित्याकाङ्क्षायां युक्तिमाह।

नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येदिति ।दृष्टेरिति पञ्चमी। अग्रे घ्राणाद्घ्रमादिति पञ्चमीप्रवाहस्यैव दर्शनात् । तथाच द्रष्टुरात्मनो दृष्टेश्चक्षुरिन्द्रियादर्शनात्मकज्ञानाद्वा विपरिलोपः सर्वथा अविषयत्वं न विद्यते, कुतः । अविनाशित्वात् । स्वरूपतः स्वरूपधर्मतश्च नित्यत्वात् । तर्हि पश्यत्त्वमेव यत्कारणं पश्येत्, तथाऽपश्यत्त्वमित्यतो वदति। द्वितीयं इन्द्रियं ततोऽन्यन्नास्ति, ततो विभक्तं च नास्ति। भेदे विभागे च द्रष्टृदृश्यभावः। न तु परस्परं कार्ययो रूपचक्षुषोः, अतो रूपदर्शनम् , न तु कार्यस्य कारणाद्भेदो विभागो वा। अतस्तदभावाच्चक्षुः स्वकारणमात्मानं न पश्यतीत्यपश्यत्त्वम् । अत उभयमपि युक्तमित्यर्थः । एवं द्रष्टृदृश्यव्यवहारे अज्ञानावस्थायां विशेषतस्तज्ज्ञानं, न चेज्ज्ञानोत्तरं तस्य ज्ञानोपायो वक्तव्य इत्यत आह। यत्र वेत्यादि । यत्र वा अन्यदिव स्यात्, तत्रान्योऽन्यत् पश्येज्जिघ्रेदित्यादि । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत्केन कं पश्येज्जिघ्रेदित्यादि । यत्राज्ञानदशायामन्याभावेऽपि रूपादिदर्शनादन्यदिव स्यात्, तत्रैव चेददर्शनम्, तर्हि यत्र ज्ञानदशायामस्य ज्ञातुः सर्वमात्मैवाभूत्तत्र कर्मकर्तृभाव एव नास्तीति तत्र कथं दर्शनम्। अतोऽवस्थाद्वयेऽप्यशक्यवचनत्वाद्विशेषतो न वक्तुं शक्य इत्यर्थः । तदेतन्निगमयति । येनेदं सर्वं विजानातीत्यादिश्योपसंहरति । उक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति । सर्वनिमित्तोपादानभूतमविनाश्येकमेवेत्याकारकज्ञानोत्तरं यन्निर्विषयमात्मरूपं ज्ञानं तदेव अमृतत्वमित्यर्थः । तथाचात्रादिमध्यावसानेषु जीवस्यैवोक्तत्वाज्जीवप्रकरणमेवेदमिति प्रतिभाति। नचामृतत्वजगत्कर्तृत्वयोर्ब्रह्मलिङ्गयोरत्रोक्तत्वादात्मभिन्नं ब्रह्मैवात्रोच्यत इति शङ्क्यम। अस्याभ्यर्हितत्वादेतदुत्कर्षार्थं तयोः कथनात्। नचोत्कर्षार्थमेवेदमित्यत्र किं मानमिति शङ्क्यम् । एतावदरे खल्वमृतत्वमिति नियमेनान्यथानुपपत्तेरेव मानत्वात् । ब्रह्मणोऽविकारित्वेनैव सिद्धतया तस्य सर्वरूपेण विकारायोगस्यापि तथात्वाच्च। तस्माद्वेदे सृष्टिवाक्यानामेतन्न्यायेनान्यार्थत्वान्न ब्रह्म जगत्कारणमतः प्रकृतिकारणवाद एव युक्त इति प्राप्ते । अभिधीयते । वाक्यान्वयादिति । अत्रापि कारणत्वेनेत्यनुवर्तते। अत्रापि कारणत्वेन ब्रह्मैवावगन्तव्यम्, न जीवः । कुतः। वाक्यान्वयात् । वाक्यानामन्वयो वाक्यान्वयस्तस्मात् । अत्रत्यानामवान्तरवाक्यानां भगवत्परत्व एवान्वयान्नात्र जीवप्राधान्यगन्धो येन प्रकृतिवादः शङ्क्येत । नचोपक्रमे निरुपाधिप्रियत्वेन जीवात्मन एव प्रकृतत्वात्प्रकृततावच्छेदकविचारे प्रियत्वस्य सुखधर्मत्वात्, सुखस्य च 'यो वै भूमा तत्सुख'मिति श्रुतेर्ब्रह्मरूपत्वात् ब्रह्मणश्च सर्वत्र समन्वयेन जीवेऽप्यन्वयात् तेनैव जीवप्रियत्वमिति तस्यापि ब्रह्मण्येवान्वयस्य पर्यवसानात् । उपक्रमाद्यपेक्षया उपपत्तेर्बलिष्ठत्वाच्च । किञ्चेदमवान्तरवाक्यं दुर्बलम् । महावाक्यं तूपनिषत् । ततो महान् वेदः । तत्र च 'तं त्वौपनिषदं पुरुष'मिति, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'ति, 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्ब्रह्मपरत्वमेव स्फुटतीति तदनुरो-

धेनाप्यस्य ब्रह्मपरत्वमेव युक्तम् । अन्यथा एतस्य तत्रानन्वयप्रसङ्गात् । किञ्च, 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेती'त्यवधारणाद् ब्रह्मज्ञानमेव मोक्षसाधकम्, अतोऽत्र मोक्षसाधनत्वेन दर्शनादिविधानवाक्यानामपि तत्रैवान्वयः । अन्यथा अवधारणबाधापत्तेः । किञ्च, यथाऽर्द्रैन्धाग्नेरिति कारणत्ववाक्यस्य, 'स यथा सर्वासामपा'मिति प्रलयाधानवाक्यस्यापि ब्रह्मपरत्व एवान्वयः । आनन्दाद्ध्येवेत्यवधारणात् । नच जीव एव ब्रह्मेतियुक्तम् । 'सर्व एवात्मनो व्युच्चरन्ती'ति सावधारणश्रुतिविरोधात् । किञ्चामृतत्वरूपं फलमपि तत एव । 'एष ह्येवानन्दयातीति सावधारणश्रुतेः । अत एवञ्जातीयेषु निःसन्दिग्धत्वेन ब्रह्मरूपस्य कार्यस्यांशानां च प्रतिपादनादिदमपि वाक्यं ब्रह्मपरमेवोचितम् । नच मात्रासंसर्गवाक्यस्यानन्वयः । सर्वव्यवहारस्य ब्रह्ममूलकतया जीवमुख्यप्राणलिङ्गसूत्रे व्युत्पादितत्वाज्जीवस्य ब्रह्माश्रितत्वेन जीवधर्माणामपि तत्रोपासनार्थं कथनेन तस्याप्युपपत्तेः । विज्ञातृत्वं तु नान्योतोऽस्तीति श्रुतेर्ब्रह्मधर्म एवेति तस्य तु सुखेनान्वयः । अतो ब्रह्मपरत्वे सर्वेषां वाक्यानामन्वयान्नात्र जीवपरत्वाशङ्का । तथा सति विप्रतिषेधाभावान्न प्रकृतिकारणवादस्यात्र प्रत्याशेत्यर्थः ॥ १९ ॥

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

अत्रोक्तं प्रियत्वं जीवधर्म एव, न ब्रह्मधर्म इति वादिनामेकदेशिनामपि मतेऽत्र प्रकृतिकारणवादो न सम्भवतीति संमतिबोधनाय तेषां मतानि त्रिभिः सूत्रैराह । तत्र जीवो नाम स्वस्य भोगनिष्पत्त्यर्थं स्वांशो भगवता विस्फुलिङ्गवत् कृत इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते । तत्र लौकिकैः पतिपुत्रादिभिः सहास्य प्रियत्ववचनं लौकिकमेवातोऽत्रात्मपदेन जीव एव परामृश्यत इति जीवप्रकरणमेवेदमिति प्रतिवादिशङ्कायां जीवोपक्रमस्यान्यत् प्रयोजनमित्याह । प्रतिज्ञेत्यादि । प्रतिज्ञासिद्धेरिति षष्ठी । 'मैत्रेय्यात्मनि वा अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते सर्वमिदं विदितं भवती'ति हि प्रतिज्ञा । सा च सर्वत्वस्यैवाग्रे, 'ब्रह्म तं परादा'दित्यादिना व्युत्पादनादवगम्यते । सा तदा पूर्यते, यदा जीवोऽपि सर्वमध्ये प्रविशति । अतस्तत्सिद्ध्यर्थं ब्रह्माभेदेन जीवोपक्रमः । अन्यथा सर्वस्य ब्रह्माभेदव्युत्पादनकोटौ जीवस्यानुक्तत्वात्तत्प्रतिज्ञा न सिध्येत् । कृते तु तदभेदेनोपक्रमे ब्रह्मक्षत्राद्यभिमानित्वेन सोऽपि प्रविशेदत उपक्रमः प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गं भवतीति पूर्वोक्ता प्रतिज्ञैवास्य ब्रह्मप्रकरणत्वगमिका पूर्वसूत्रोपन्यस्तश्रुतिभिर्ब्रह्मण एव श्रवणादिविधिविषयत्वादिति प्रियत्वज्जीवधर्मत्वे न जीवोपक्रमो दोष इत्यर्थः ॥ २० ॥

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥

अनादिसिद्ध एव चैतन्यमात्रो जीवः सङ्घाते प्रविष्टः संसारमापद्यते । केवलस्वरूपेण चिति प्रविष्टः संसारान्मुच्यते । अतो यदत्र प्रियत्वबोधितेन जीवोपक्रमेण भगवतः श्रवणादिकमुक्तम्, तद् एवम्भावादुत्क्रमिष्यतो लिङ्गम् । मुक्तौ जीवो भगवानेव

भविष्यतीत्यस्य ज्ञापकम् । लिङ्गमित्यनुवर्तते । तन्मते केवलस्य जीवस्य चित्स्वरूपे ब्रह्मणि प्रवेशो मुक्तिरिति मुक्त्युपयोगिकैवल्यबोधनार्थं जीवोपक्रमः । एतद्गमकं तु 'येनाहं नामृता स्या'मिति मैत्रेयीवाक्यम् । सा हि मोक्षमिच्छन्ती विद्यां पृच्छति । यदि तस्यै मोक्षयोग्यं जीवस्वस्वरूपं न ज्ञापयेत्, सा कथं मुक्ता भवेत् । इतिशब्दो हेतौ । तथाच स्त्रिया विश्वासार्थं गौणप्रियवैराग्यार्थं जीवोपक्रम इति न तेन जीवस्य प्रकरणित्वसिद्धिरित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते इत्यर्थः ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

आसक्त्या विषयभोक्तृ यद्भगवतो रूपं स जीव इति तन्मतम् । अत्रापि लिङ्गमित्यनुवर्तते । अतः संसारदशायामपि जीवो ब्रह्म तदवस्थाविशेषरूपत्वादिति बोधनार्थं जीवोपक्रमः । अतो नोत्क्रमलिङ्गत्वं, न चोपचारः । एतन्मतगमकं तु 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति वाक्यम् । तथाच सर्वभोक्तारमेकमात्मानं बोधयितुं प्रतिनियततत्तद्भोक्तारं तदवस्थाविशेषमुपक्रमे वदतीति जीवोपक्रमो जीवे भगवदवस्थाविशेषत्वपक्षस्य लिङ्गमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते ॥ २२ ॥ ७ ॥ इति सप्तमं वाक्यान्वयाधिकरणम् ।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

एवं प्रकृतिकारणवादनिराकरणेन ब्रह्मणः कारणत्वेऽत्र सप्ताधिकरण्या अवधारितेऽपि ब्रह्मणो निर्विकारत्वान्निमित्तत्वमभ्युपेयम्, न तु समवायित्वमपि । कार्यस्य त्रिगुणात्मकत्वदर्शनाच्च । अन्यथा प्रत्यक्षविरोधापत्तेः । यदि च यतो वा इमानीत्यादिश्रुत्यनुरोधादुपादानत्वमप्युच्यते, तदापि श्वेताश्वतरेऽजावाक्यस्थाजापदस्य छागीशरीराभिधायकत्वाच्छागीशरीरं यथा तदधिष्ठातृजीवोपाधिविधया नानाविधं प्रजाजनकम्, तथा सांख्योक्तं प्रधानमपि ईश्वरोपाधिभूतं सन्नानाविधप्रजाजनकमित्येतमर्थं रूपकातिशयोक्त्या बोधयितुं शक्नोति । किञ्च, 'यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः समावृणोति, स नो दधातु ब्रह्माव्यय'मिति तत्रत्यवाक्यान्तरे तन्तुनाभशरीरस्य दृष्टान्तितत्वेन तन्तूनां प्रधानजत्वकथनेन चेश्वरशरीरात्मकप्रधानांशैः शरीरैर्जीवानावृणोतीति सिध्यति । अतः पूर्वोक्तन्यायैः सिद्धेऽपि ब्रह्मणः कारणत्वे शरीराख्यशक्तिरूपां तां विना कारणतानिर्वाहाभावादर्धजरतीयतया मायायाः समवायित्वं ब्रह्मणो निमित्तत्वमित्युपेयमिति वादं निराकर्तुमधिकरणान्तरमारभ्यते । तत्र च श्रुत्युक्तत्वाविशेषात् समवायिकारणं प्रकृतिर्निमित्तकारणं ब्रह्म । उत सर्वविधं कारणं ब्रह्मेति संशयः । पूर्वपक्षस्त्वधिकरणप्रयोजनकथन एवोक्त इति ब्रह्म निमित्तकारणमेवेति प्राप्ते प्रतिवदति । प्रकृतिश्चेत्यादि । प्रकृतिः समवायिकारणं, चकारान्निमित्तकारणम् । 'यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद्यथा यदा । स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वर' इति

वाक्योक्तसर्वरूपसमवायिरूपं च ब्रह्मैव । कुतः । प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्याने, 'उत तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं भवती'ति प्रतिज्ञा, निश्चितार्थो नियमविशेषः । 'संविदागूः प्रतिज्ञानं नियमाश्रवसंश्रवा' इति कोशात् । दृष्टान्तः श्रोतृबोधसौकर्यहेतुर्वक्तृश्रोतृसम्प्रतिपत्तिविषयोऽर्थः । इह वाच्यवाचकाभेदविवक्षया तयोर्बोधके वाक्ये प्रतिज्ञादृष्टान्तपदाभ्यामुच्यते । तयोरनुपरोधादबाधनात् । यदि हि ब्रह्मणः प्रकृत्यादिरूपत्वं नाङ्गीक्रियते, तदोक्तप्रतिज्ञादृष्टान्तवाक्ये पीड्येतामतस्तदभावादेवमभ्युपेयमिति । अत्रायमर्थः । समवायिकारणज्ञानेन हि सकलकार्यज्ञानम् । अत्र चाश्रुतादिपदैः सर्वकार्यजातं परामृश्यते । तदश्रुतममतमविज्ञातमपि येनैकेन श्रुतेन श्रुतं मतं विज्ञातं भवति तत्कारणं ब्रह्मैवेति । तत्रैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं योगजधर्मेणापि भवति । यथा, 'विश्वं पश्यति दूरत' इति, 'अनागतमतीतं चे'ति । तथाच न समवायित्वसिद्धिरित्यतो दृष्टान्तस्यापि ग्रहणम् । केवलदृष्टान्तग्रहणे तु सर्वं वाच्यं, ज्ञेयत्वात् । तदेकदेशवत् । घटो वाच्यो, ज्ञेयत्वात् । पटवत् । सर्वं सत् । ज्ञेयत्वादित्यनुमानविधया ज्ञेयत्वादिरूपसामान्यधर्मात्मकं ब्रह्म स्यात्, न तु समवायीत्यतो द्वयोर्ग्रहणम् । तथा सत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः कार्यैकदेशप्रत्यक्षरूपं दृष्टमेव द्वारं समवायित्वगमकम् । यथा ह्येकस्मिन् मृत्पिण्डे मृद्विकारत्वनिश्चयोत्तरं सर्वस्मिँस्तत्सजातीये तथा ज्ञानान्मृत्तिकायां तत्समवायित्वज्ञानं तादृशैकदेशप्रत्यक्षादेव भवति, नानुमानात्, तथा प्रकृतेप्येकत्र सन्मयत्वेपि निश्चिते सर्वेषु तत्सजातीयेषु सद्विकारत्वज्ञानात् सति सर्वसमवायित्वज्ञानं तादृशैकदेशप्रत्यक्षादेव भवतीति सति सर्वसमवायित्वसिद्धिरिति न स्मृतिसिद्धायाः प्रकृतेः समवायित्वमिति बोध्यः । ननु भवत्वेवमेकविज्ञानात्सर्वविज्ञानम्, तथापि पूर्वोक्तश्रुतिभिः सा ब्रह्मोपाधिभूतत्वाद् ब्रह्माविनाभूता वा, ब्रह्माविभक्ता वास्तीति शरीरद्वारकं ब्रह्मण एव समवायित्वम्, स्वतश्च नियामकत्वात् कर्तृत्वमित्येव युक्तम् । न तु केवलस्य प्रकृतित्वम् । उक्तव्याकोपात् । नच 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय'मित्यादिश्रुतिव्याकोपः । तत्र सदेवेत्येवकारेणान्ययोगं व्यवच्छिद्याग्रे एकमेवेति विवरणेन मुख्यस्यैवान्यस्य व्यवच्छेदादमुख्यस्याविनाभूतस्याविभक्तस्य शरीरस्य सत्त्वेप्यविरोधात् । नच 'एके मुख्यान्यकेवला' इति कोशान्नानार्थस्यैकपदस्य मुख्यत्वरूपस्यैवार्थस्य ग्रहणे किं नियामकमिति शङ्क्यम् । सुबालोपनिषदि प्रलयप्रकरणे पृथिवीलयमारभ्य 'अक्षरं तमसि लीयत' इत्यन्तेन सर्वस्य तमसि लयमुक्त्वा, अग्रे 'तमः परे देवे एकीभवति, दिव्यो देव एको नारायण' इति तमसो नामरूपविभागानर्हतया ब्रह्माविनाभावेनाविभक्ततया वावस्थितिबोधनस्यैव गमकत्वात् । नच लिङ्श्लेषण इति धात्वर्थादक्षरान्तानां तमसा अविभागस्तमसस्तु ब्रह्मणा स्वरूपैक्यमिति शब्दान्तरादवगम्यते, न त्वविनाभावोऽविभागो वेति वाच्यम् । अन्तर्यामिब्राह्मणे 'यस्य तेजः शरीरं, यस्य तमः शरीर'मिति शरीरत्वेन श्रावणात् सुबा-

लोपनिषद्यपि 'यो मृत्युमन्तरे संचरन् यस्य मृत्युः शरीर'मिति मृत्युपदेन सर्वानर्थमूलतया तस्यैवोल्लेखाच्च तमसः शरीरतयैव सिद्धत्वेन स्वरूपैक्यस्य गृहीतुमशक्यत्वात् । तस्माच्छरीरस्यैव प्रकृतित्वं सच्छब्दवाच्यत्वं च, न केवलस्येति चेत् । मैवम् । अद्वितीयपदविरोधापत्तेः । 'एकमेवे'ति कथनोत्तरं मुख्यान्यार्थयोर्वारणार्थमेव तत्प्रयोगात् । अन्यथा तद्वैयर्थ्यात् । नचाद्वितीयपदेन मुख्यत्वमेव विवक्षित इति वाच्यम् । एकपदेनैव समाभ्यधिकराहित्ये सिद्धे व्याख्यानापेक्षाया एवाभावात् । तेनासिद्धावनेन सुतरां तदसिद्धेश्च । एतेनैव 'नान्यत्किञ्चनमिष'दिति मिषदन्तरनिषेधपरत्वमपि दत्तोत्तरम् । 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।' 'यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवल' इति सर्वभूतवति काले तद्रहिते तमोऽवशेषाङ्किते च काले ब्रह्मण एव केवलत्वश्रावणेन, यदा तमस्तत्स्वेनैकीभूतं तदा केवलो न शरीरीत्यर्थव्यक्तेर्द्वित्वसंख्यापूरक एव निषेधपर्यवसानसिद्धेश्च । नच कालोक्तिविरोधः । तस्याः सृष्ट्युत्तरव्यवहारे सर्वाधारतया प्रतीयमानकालोपरञ्जनेन पूर्ववृत्तान्तबोधनमात्रार्थत्वात् । अन्यथा शिष्यस्य सृष्टिकालस्थत्वेन कालसत्तामवधारयतः पूर्ववृत्तान्तबोधाभावात् । नच तस्याः कालसत्ताबोधकत्वे किं बाधकमिति शङ्क्यम् । एतस्याः सर्वतः पूर्ववृत्तान्तबोधकत्वेन, तत्र च सतोऽन्यस्य व्यवच्छेदे कालावेदकप्रमाणस्यापि व्यवच्छिन्नत्वादत्र कालानुवादस्य वक्तुमशक्यत्वेन स्वतन्त्रतया कालसत्ताबोधने वाक्यभेदप्रसक्तेरेव बाधकत्वात् । नचात्र कालविशिष्टसत्सत्ताबोधकत्वमिति शङ्क्यम् । गौरवप्रसङ्गात् । समानजातीये बृहदारण्यकवाक्ये 'सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्य'दित्यनुवीक्षाश्रवणस्य बाधापत्तेश्च । तस्माच्छरीरविशिष्टस्योपादानत्वाङ्गीकारे केवलाद्वितीयश्रुत्योर्विरोधो दुर्वार एव । एवञ्च, 'तमः परे देवे एकीभवती'त्यादौ य एकीभावः, स परस्वरूपाभेद एव, न तु नामरूपविभागानर्हत्वमात्रमित्येव मन्तव्यम् । लयस्य श्लेषरूपत्वेन विभागाभावात्मकत्वे एकीभावस्य भेदाभावात्मकत्व एव पर्यवसानात् । नच शरीरत्वबोधकश्रुतिविरोधः । तस्याः सृष्टिकालीनवृत्तान्तपरत्वात् । अन्तर्यामिब्राह्मणेऽधिदैवादिश्रावणेन तथात्वस्य स्फुटत्वात् । सुबालोपनिषद्यपि, 'अन्तःशरीरे निहितो गुहायामज एको नित्य' इत्युपक्रम्य पृथिव्यादिमृत्य्वन्तानां शरीरत्वकथनेन तत्रापि सृष्टिपूर्वकालस्यालाभात् । प्रलयप्रकरणस्य प्रागेव समाप्तत्वाच्च । तस्मान्नोक्तशरीरविशिष्टस्य प्रकृतित्वं, नापि प्रधानादेर्गर्तपतितमृतसर्पादिवत् स्थितिरिति निश्चयः । एवञ्च, 'प्रकृतिं पुरुषं चैवं विद्ध्यनादी'ति यानि वाक्यानि तानि चतुर्मुखाजन्यायेन जगत्साधारणोत्पत्तिनाशनिषेधपराण्येव । 'तन्माया-फलरूपेण केवलं निर्विकल्पतम् । वाङ्मनोगोचरातीतं द्विधा समभवद् बृहत् । तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका । ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते' इत्यादिश्रीभागवतीयभगवद्वाक्येभ्यः । तेन 'यस्तन्तुनाभ' इति वाक्यमपि प्रधानोत्पत्त्यनन्तरकालवृत्तान्तबोधकमेवेत्येव निश्चयः । एवैव परमाण्वादिकारणवादानामपि गति-

र्गोध्या । 'कालस्वभावो नियतिर्यदृच्छे'ति श्रुत्यैव तेषामनादरबोधनात् । तस्मात् केवलस्यैव ब्रह्मणः समवायित्वमित्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं नाविनाभावाविभागयोगजधर्मादिमहिम्ना, किन्तूक्तेन दृष्टेनैव द्वारेणेति सिद्धम् ।

प्रकृतमनुसरामः । नन्वस्तुब्रह्मणः समवायित्वं तथापि कार्यकारणयोरभेदो ? भेदो वा ? नाद्यः । त्रैलोक्यव्यवहारसङ्करापत्तेः । नेतरः । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः बाधप्रसङ्गात्, अतो भेदाभेद एव कार्यकारणयोरास्थेय इति मतं निराकर्तुं लोहमणिनखनिकृन्तनदृष्टान्तौ । तत्र हि कार्यस्य कारणावस्थाविशेषरूपत्वं स्फुटम् । यत्र कचित् कारणज्ञाने सर्वत्र कारणाभेदज्ञानस्य सौकर्यात् । तत्रापि कचिल्लोहमणौ लाक्षासम्बन्धसत्त्वान्न सम्यग्ज्ञानं स्यादतो नखनिकृन्तनग्रहणम् । एवं सति यत्र क्वचिद् भगवान् ज्ञातः सर्वत्र ज्ञातो भवेत्, सर्वं च भगवदभिन्नत्वेन ज्ञातं भवेदिति सौकर्यम् । अत्र च सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिर्न विवक्षितेति ज्ञापनाय 'वाचारम्भणं विकारो नामधेय'मिति । तत्रायमर्थः । यो विकारः पृथुबुध्नोदरादिः स वाचारम्भणं वाचिकक्रियात्मको, न तु कारणाद् व्यक्तिभेदापादकः । यथा सुप्त उत्थित उपविष्टे च पुरुषेऽवयवविन्यासभेदोऽतो नामधेयं, नैमित्तिकक्रियायाः पदार्थस्वरूपभेदानापादकत्वान्न व्यक्तिभेद इत्यतो न सामान्यलक्षणेत्यर्थः । एतदेवैकादशस्कन्धे भगवताप्युक्तम् । 'यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात्पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य । तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वत् । न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्येऽपि तन्न व्यपदेशमात्रम् । भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्यत्तदेव तत् स्यादिति मे मनीषे'ति । यत्परेण भूतं यच्च परेण प्रसिद्धं तत्तदेव स्यादित्यर्थः । अंशे कार्यत्वाभावात् प्रसिद्धमिति पृथग्व्यपदेशः । अष्टमस्कन्धे अमृतमन्थने ब्रह्मस्तुतौ च । 'त्वय्यग्र आसीत्त्वयि मध्य आसीत्त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे । त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मा'दिति । नचैवं कुत्सितादिभानस्य का गतिरिति शङ्क्यम् । ब्रह्मविद्यायां कचिदपि कुत्सितत्वभानाभावात् । दोषदुष्टदृशामेव तज्ज्ञानाच्च । प्रसिद्धं चैतद् ऋषभदेवादिषु । किञ्च, लौकिकेऽपि गोमूत्रगोमयादिषु न कुत्सितत्वभानम् । तस्माद् भगवतः समवायित्वमप्रत्यूहम् ।

ननु यदि विकारस्य वाङ्मात्रत्वं तदैतेन वाक्येन विवर्तोपादानत्वं ब्रह्मणोऽङ्गीकृत्य प्रपञ्चस्यालीकत्वमेवाङ्गीकार्यमित्येतन्निराकरणायाह । मृत्तिकेत्येव सत्यमिति । प्रपञ्चस्य ब्रह्मरूपेणैव सत्यत्वं, न जगद्रूपेणाविकाररूपेणान्येन वा केनचिद् भिन्नेन रूपेण । तेषां रूपाणामागन्तुकत्वेन व्यवहारनिर्वाहमात्रार्थत्वात् । तथाच जगतो ब्रह्मत्वेन सत्यत्वान्नालीकत्वमित्यर्थः । ननु यदलीकत्वं श्रुत्यनभिप्रेतम्, तदा 'अपागादग्नेरग्नित्व'मिति न वदेदितिचेत्, न । यदग्न्यादे रोहितादिगुणकं रूपत्रयं तदनागन्तुकरूपविचारे अत्रिवृत्कृतानां तेजोऽबन्नानामेव, न तु त्रिवृत्कृतस्याग्न्यादेः कार्यस्य । त्रिवृत्करणात् प्रागपि तस्य सत्त्वात् । अतोऽग्न्यादेरनागन्तुकरूपविचारे त्रिवृत्करणोत्तरं जातमग्नित्वादिकमनागन्तुकानारोपितरूपेणापागात्, अग्न्यादेः सकाशादपगतम् । यतोऽग्नित्वादिकं वाचारम्भणम् । अवस्थारूपत्वान्नाग्न्यादीनां तेभ्यो भेदकम्, अतस्त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्, अग्नित्वाद्यपेक्षया अनागन्तुकानारोपितरूपमिति तत्रार्थेनालीकत्वानापादकत्वात् । एतेनापि सामान्यलक्षणा निरारिता । अग्न्यादिविद्युदन्तेषु तेजस्त्वस्य सामान्यधर्मस्य विद्यमानत्वेऽपि तदनादरणात् त्रिवृत्करणस्य च बोधनात्, 'त्रीणि रूपाणी'त्येव सत्यमिति सावधारणकथनाच्चेति । इदं च मूलकारणस्यात्यन्तं परोक्षत्वादन्त्यकार्यापेक्षया शिष्यविश्वासायोक्तम् । तच्च मूलकारणे ब्रह्मण्येव पर्यवस्यतीत्यभिप्रायेण । एतदग्रे च यदुपदिष्टं तत् सर्वं मूलकारणस्य कार्यद्वारा परिचायनार्थम् । अतः सर्वं सुस्थम् । नच जगतो ब्रह्मरूपेण सत्यत्वे जगति ब्रह्मधर्मविरुद्धधर्माध्यासो न स्यात्, देहादेरप्यात्मत्वेन सत्यता स्यात्, तथा सति देहात्मबुद्धेर्दोषत्वाभावेन तज्जनकाविद्यानिवर्तकशास्त्रवैयर्थ्यमप्यापद्येतेत्यतो जगन्मिथ्यात्वमेव साधीय इति वाच्यम् । वस्तुविचारेण जगतो ब्रह्मत्वेऽपि इदानीं बहुजन्माभ्यस्तविकारबुद्धेरनिवृत्तत्वात्तस्यां सत्यां या देहात्मबुद्धिः सा देहाभिन्नत्वेनात्मावगाहिनी, न त्वात्माभिन्नत्वेन देहावगाहिनी, आत्मस्वरूपस्याज्ञातत्वादतो दोषरूपैवेति तदपनोदार्थत्वेन शास्त्रसार्थक्यान्न जगन्मिथ्यात्वं युक्तम् । श्रौतदृष्टान्तबलेन तथा निश्चयात् । अतो ब्रह्मणः समवायित्वे दोषगन्धस्याप्यभावाद् ब्रह्मैव समवायिकारणम्, न प्रकृतिरित्यर्थः ॥२३॥

अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

ननु दृष्टान्ते मृत्तिकेत्येव सत्यमिति कारणे सत्पदमुक्तम् । अतस्तत्सामर्थ्येन कार्ये मिथ्यात्वमपि प्रमातुं शक्यत इति शङ्कायां प्रपञ्चे विवर्तत्वस्य ब्रह्मणि विवर्तोपादानत्वस्य च निरासाय लिङ्गान्तरमाह । अभिध्येत्यादि । अभिध्यानं अभिध्या । इदमेवं करिष्यामीत्यालोचनं, तस्या उपदेशात् कथनात् । 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेती'ति स्वस्य बहुरूपाभिध्यानं सृष्ट्यादावुपदिश्यते । तथाच स्वस्य बहुरूपाभिध्यानेन सृष्टं स्वयमेव भवति, न तु स्वविवर्त इत्यर्थः । न चात्र कामनमुच्यते, नाभिध्यानमिति शङ्क्यम् । आप्तकामत्वश्रुतेः कामनाभावेन तस्यात्र वक्तुमशक्यत्वात् । नच योगिकायव्यूहवदपि भवनादभिध्योपपत्तेर्नेयं अभिध्या समवायित्वसाधिकेति वाच्यम् । ब्रह्मणोऽध्यासाभावात् । आत्मनो बहुत्वाभावेन श्रुतौ गौण्यापत्तेश्च । चकारा'दिदं सर्वं यदयमात्मे'ति कार्यस्य ब्रह्मत्वश्रुतिः संगृह्यते । तथाचैताभ्यां जगतो ब्रह्मैव समवायीत्यर्थः ॥२४॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

ननु 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचर'मिति गीतास्मृतेः प्रकृतिमादृत्य किञ्चिदंशे उपादानत्वमस्त्विति शङ्कायां साक्षाच्छ्रुतिमेव समवायित्वे प्रमाणमाह । साक्षादित्यादि । साक्षाच्छ्रुत्यैव ब्रह्मणः समवायित्वमुच्यते । चकारात् स्मृत्यापि ।

कथमुच्यत इत्यपेक्षायामाह । उभयाम्नानात् । ब्रह्मणः सकाशाद् ब्रह्मण्येव च सृष्टिप्रलययोराम्नानात् । 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति,' 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथे'ति । प्रकर्षेणैकीभावेन लयो यस्मिन्नित्यर्थः । न ह्येतस्मिन् प्रलयबोधके आकाशवाक्ये तस्यानिमित्तत्वं सम्भवति । सुवर्णादिषु तथैव दर्शनात् । अतो लौकिकेन वैदिकेन च न्यायेन साक्षाद् भगवानेव समवायी । अतो मयाध्यक्षेत्यादीनां परम्परासृष्टिविषयत्वेन पाश्चात्यवृत्तान्तबोधकत्वम् । 'हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते' इत्युत्तरार्धे विपरिवर्तनार्थत्वकथनात् । विपरिवर्तश्चात्र भ्रम एव । 'अवजानन्ति मां मूढा' इत्युत्तरवाक्यस्वारस्यादिति ॥ २५ ॥

आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

ननु, 'स एव सर्वं सृजति स एवावति हन्ति चे'ति कर्तृत्वं प्रतीयते । अत आकाशवाक्यमप्यौपचारिकं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह । आत्मकृतेरित्यादि । आम्नानादित्यनुवर्तते । 'स आत्मानꣳ स्वयमकुरुत, तस्मात् तत्सुकृतमुच्यते' इति स्वस्यैव कर्मकर्तृभावस्याम्नानात्, सुकृतत्ववचनेनालौकिकत्वबोधनाच्च सिद्धे समवायित्वे वाक्यांशमादायौपचारिकत्वकथनं न युक्तमित्यर्थः । ननु स्वस्य कर्तृत्वेन सिद्धत्वात् कर्मत्वं कथं बुद्धावारोहेदित्याकाङ्क्षायां युक्तिमाह । परिणामादिति । कार्यकारणभावात् । तथाच सुवर्णादितैजसद्रव्यवदविकृतस्यैव तथात्वाद् वृद्धेश्चालौकिकत्वात् सुवच एवैकस्य कर्मकर्तृभाव इत्यर्थः । अत एव वेदस्तुतौ 'न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम्' इत्युक्तम् । नच पूर्वावस्थान्यथाभावरूपस्य बहुभवनात्मकस्य श्रुत्यैव कथनात् कथं ब्रह्मणोऽप्यविकारित्वमिति शङ्क्यम् । दधिदुग्धन्यायेन स्वरूपस्य स्वरूपगुणानां च योऽन्यथाभावस्तस्यैवात्र दोषत्वेन विवक्षितत्वात्तदभावे सुखेनाविकारित्वसिद्धेः । नचात्र मानाभावः । श्रुत्यैव तथोक्तत्वात् । व्यासचरणैरपि 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वा'दिति वक्ष्यमाणत्वात् । तस्माद् ब्रह्मपरिणामलक्षणं कार्यमिति ब्रह्मैव जगतः समवायिकारणमिति सिद्धम् ॥ २६ ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

नन्वस्तु जडानां ब्रह्मण एव कारणत्वं, चेतनेषु तु योनिबीजयोः समवायित्वदर्शनाद् भगवतः पुरुषत्वेन योनिरूपा प्रकृतिरपि समवायिकारणमस्तु । शुक्रशोणितसमवेतत्वाच्छरीरस्येत्याशङ्क्य परिहरति । योनिरित्यादि । योनिरपि ब्रह्मैव । चकारेण शाक्तवादो निराक्रियते । योनिरपि, न तु योनिरेवेत्यर्थात् । कुत इतिचेत्, तत्राह । हि गीयत इति । यतो हेतोर्गीयते, श्रुत्यैव । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय'मिति सृष्टेः पूर्वमेकमेव कारणं प्रतिज्ञातम् । आकाशादेव आनन्दाद्ध्येवेत्यादिभिरवधारणैश्च निर्णीतः । अतोऽनन्यकारणत्वे सिद्धे कथं तत्र स्मृत्युक्ता प्रकृतिः प्रविशेत् । द्वैतापत्तेः ।

किञ्च । 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तं भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा' इति प्रत्यक्षश्रुत्यैव गीयते । गीतासु च 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यह'मिति 'तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिते'ति च । अतोऽक्षरपुरुषोत्तमभावेनैकस्यैवोभयरूपत्वोपपत्तेर्योनिः पुरुषो वीर्यं जीवश्च भगवानिति । इदं सर्वं यदयमात्मेति सिद्धम् । तस्मात् केनाप्यंशेन प्रकृतिप्रवेशो नास्तीत्यशब्दत्वं सांख्यमतस्य सिद्धम् ।

(माध्वास्तु प्रकृतिश्चेति सूत्रे 'हन्त तमेव पुरुषं सर्वाणि नामान्यभिवदन्ति,' 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रमभिसंविशन्त्येवमेवैतानि नामानि पुरुषमभिसंविशन्ती'ति श्रुतिम्, अभिध्यासूत्रे च 'मायां तु प्रकृतिं विद्या'दिति, 'महामायेत्यविद्येति नियतिर्मोहिनीति च । प्रकृतिर्वासनेत्येवं तवेच्छाऽनन्त कथ्यत' इति वचनम्, 'सोऽभिध्या स ज्ञप्तिः स प्रज्ञा स आनन्द' इति श्रुतिम्, 'ध्यायति ध्यानरूपोऽसौ सुखी सुखमतीव च, परस्यैश्वर्ययोगेन विरुद्धार्थतयेष्यत' इति ब्रह्माण्डवाक्यम्, साक्षात्सूत्रे 'चैष स्त्र्येष पुरुष एष प्रकृतिरेष आत्मैष ब्रह्मैष लोक एष आलोको योऽसौ हरिरादिरनादिरनन्तोऽन्तः परमः पराद्विश्वरूप' इति पैङ्ग्यश्रुतिं चोपन्यस्य भगवतः सर्वविधशब्दवाच्यत्वं च स्थापयित्वा, आत्मकृतिसूत्रे प्रकर्षेण करोतीति प्रकृतिरिति योगात् प्रकृतावनुप्रविश्य तां परिणाम्य तत्परिणामनियामकत्वेन तत्र स्थित्वाऽऽत्मनो बहुधाकरणात् प्रकृतिशब्दवाच्यतां स्थापयित्वा, 'अथ हैष आत्मा प्रकृतिमनुप्रविश्यात्मानं बहुधा चकार, तस्मात् प्रकृतिरित्याचक्षत' इति भाल्लवेयश्रुतिम्, 'अविकारोऽपि परमः प्रकृतिं तु विकारिणीम्, अनुप्रविश्य गोविन्दः प्रकृतिश्चाभिधीयते' इति नारदीयवाक्यं च तदुपष्टम्भायोदाहरन्ति । तच्चिन्त्यम् । श्रुतेरप्रसिद्धत्वात् । तादृश्या अपि कथञ्चित् प्रामाण्योपगमेऽप्यस्या आत्मनो बहुधाकरणबोधकतयात्मकृतिबोधकत्वाभावेन विषयतयोपन्यासायोगाच्च । हन्त तमित्यारभ्य, विश्वरूप इत्यन्तासु स्वोपन्यस्तासु श्रुतिषु सर्वशब्दवाच्यत्वस्य सर्वरूपत्वस्य च स्वत एव बोधनेन तासां पूर्वकालीनव्यवस्थाबोधकतायाः, भाल्लवेयश्रुतौ चाथशब्देन पाश्चात्यबोधकतायाः स्फुटं भानेन कालभेदकृतविषयभेदस्य स्फुटतयैतदनुरोधेन तदर्थनिर्णयस्याप्ययुक्तत्वाच्च । ध्यायतीति ब्रह्माण्डवाक्ये ऐश्वर्ययोगेन विरुद्धार्थतया सर्वरूपत्वादेरिष्टताया उक्ततया सर्वानुपपत्तिपरिहारसम्भवे प्रकृतिशब्दयोगादरणेन रूढ्युपष्टम्भस्य व्यर्थत्वाच्च ।

यत्तु जयतीर्थः ब्रह्मणो जगदुपादानत्वे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया मृत्पिण्डादिदृष्टान्तोक्तेश्च न प्रमाणत्वम्, तम्[illegible]न्यार्थत्वस्य सूत्रव्याख्याने सम्यग्व्याख्यातत्वादित्याह । तदपि श्रद्धाजाड्यमात्रम् । सूत्रव्याख्यानस्यैवासङ्गततायाः प्रदर्शितत्वादिति । यदपि—ब्रह्मणः परिणामोक्तिरसङ्गतैव । एतदध्यायस्याशेषशास्त्रस्य ब्रह्मणि समन्वयप्रतिपादनाय प्रवृत्तत्वादित्याह । तदप्यसङ्गतम् । अशेषशास्त्रमध्ये 'स आत्मानꣳ

१ चिन्हान्तर्गतः प्रकाशस्थः । मूलपुस्तकेषु न दृश्यते ।

स्वयमकुरुत, सर्वं खल्विदं 'ब्रह्म तज्जलानिति,' 'स आत्मानमेव द्वेधापातयत्, ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्,' 'हंताऽहं मदेव मन्मात्रं सर्वं यस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्चे'त्यादिश्रुतीनां, 'विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं,' नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वर, ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः, त्वय्यग्र आसीदित्यादिस्मृतीनां च प्रविष्टत्वात् तासां समन्वयस्यावश्यं प्रतिपाद्यत्वात् परिणामं विना च तदसम्भवादिति । यदप्यानुमानिकपादे, प्रकृतेः शब्दप्रतिपाद्यत्वनिराकरणं चेत्, प्रकृतिस्वरूपस्यानिराकृतत्वात् तस्या उपादानतया वर्तमानत्वात् प्रकृतित्वेन ब्रह्मण उपादानत्वस्थापनमसङ्गतमेव । प्रकृतिस्वरूपनिराकरणं चेत्, सूत्रेषु तददर्शनात् तदप्यसङ्गतमिति न ब्रह्मण उपादानत्वे क्वापि सङ्गतिरित्युक्तम्। तदप्यबुद्ध्वैव । प्रकृतेर्मूलकारणतायाः शब्दप्रतिपाद्यत्वस्य निराकरणं सूत्रेषु सिद्धमिति तस्या अवान्तरोपादानतया विद्यमानत्वेऽपि ब्रह्मणि मूलोपादानत्वाबाधात् । एकादशस्कन्धे 'आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम् । यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगे युगे । तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम् । वाङ्मनोगोचरातीतं द्विधा समभवद् बृहत् । तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका' इत्यादिना भगवतैव तथा निर्णीतत्वात् । अतो ब्रह्मण उपादानत्वानङ्गीकरणमबोधाग्रहयोरन्यतरमूलकमेवेति दिक्) ॥ २७ ॥

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

एतेन ब्रह्मवादस्थापनपूर्वकसांख्यमतनिराकरणेन सर्वे अवैदिका विरुद्धाश्च वादा व्याख्याताः । अनुपयुक्तत्वेन बोधिता इत्यर्थः । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिबोधनाय । एतदेव बोधसौकर्यार्थमग्रे प्रपञ्चयिष्यते ॥ २८ ॥ ८ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ भावप्रकाशिकायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ १ ॥ ४ ॥

प्रथमाध्यायः समाप्तः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भावप्रकाशिका ।

श्रीमद्भाष्यानुसारिब्रह्मसूत्रवृत्तिः ।

शास्त्रवित्तमश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रकृता ।

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेत्, न, अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥ (२-१-१.)

प्रथमाध्याये संदिग्धानां वेदान्तवाक्यानां परब्रह्मत्वेन समन्वयः प्रतिपादितः, स तदा दृढीभवति, यदा श्रुतीनां स्मृतीनां चेतरेतरविरोधः परिह्रियत इति तदर्थं द्वितीयाध्याय आरभ्यते । तत्र परानपेक्षस्य प्रामाण्यस्य श्रुतावेव पूर्वतन्त्रे सिद्धत्वाद्विरोधे कासाञ्चित् स्मृतीनां सङ्कोचेन कासाञ्चिद्दूषणेन लोकमात्रसिद्धयुक्तीनां च सर्वथा दूषणेन विरोधपरिहारो, न तु तद्विरोधेन श्रुतीनां सङ्कोचो विप्रतिषेधपरिहारो वा । तुल्यबलानां स्मृतीनां परस्परविरोधे तूभयोरप्यप्रामाण्यमिति प्रकारः । तेन प्रथमपाद आद्यसूत्रत्रये स्मृतीनामनिर्णायकत्वं परस्परविरुद्धत्वादुच्यते । ततो युक्त्या श्रुतिविप्रतिषेधपरिहारः । ततो द्वितीयपादे तासां वेदबाधकत्वाभावेपि स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वं भविष्यतीति शङ्कानिरासाय बाह्याबाह्यमतान्येकीकृत्य तन्निराकरणम् । भ्रान्तत्वस्य सर्वासु तौल्यात् । ततोऽग्रिमे पादद्वये वैदिकपदार्थानां क्रमस्वरूपविचारो वेदार्थनिर्णयायैव । अतः सम्पूर्णेनाध्यायेनाविरोध एव प्रतिपाद्यते ।

अतः परं सूत्रव्याख्या । तत्र प्रथमतुरीयपादे प्रत्यक्षश्रुतिमूलकत्वाभावेन कपिलस्मृतेरशब्दत्वं यन्निर्णीतम्, तन्न युक्तम् । अष्टकादिस्मृतिवन्नित्यानुमेयवेदस्योच्छन्नप्रच्छन्नविप्रकीर्णशाखानां वा तन्मूलत्वेन वक्तुं शक्यत्वात् । न च द्व्यन्तरितत्वाद्दौर्बल्यं शङ्क्यम्, निरवकाशत्वात् । एवमप्यनादरे तदानर्थक्यप्रसङ्गात् । अतो यथा 'वैतानं प्रक्षिपेदप्सु आवसथ्यं चतुष्पथे । पात्राणि तु दहेदग्नौ यजमानो वृथा मृत' इति पतिताग्निहोत्रप्रतिपत्तिबोधिकया निरवकाशस्मृत्या 'आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्चे'ति सावकाशायाः श्रुतेः सङ्कोचः, तथा कपिलस्मृत्या जगत्कारणत्वबोधिकया प्रत्यक्षश्रुतिरप्यक्षरब्रह्मादिपदानि प्रधानविषयाण्यङ्गीकृत्यात्मपदं वातति व्याप्नोतीत्यात्मेति योगेन

प्रधानपरमङ्गीकृत्येक्षणादींश्चेतनधर्मांश्च पुरुषवैशिष्ट्येन तत्रापाद्य प्रधानविषये सङ्कोचनीया, अन्यथा मोक्षातिरिक्तस्य विषयस्यात्राभावादत्रोपयोगानङ्गीकारे कपिलस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गस्तद्वैयर्थ्यं चेति चेत्, न । कुतः । अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् । यद्यनवकाशदोषेण प्रत्यवस्थीयते, तर्ह्ययं दोषः पातञ्जलाक्षपादकाणभक्षादिष्वपि तुल्य इति ता अप्यादरणीयाः स्युः । एतस्या एवादरे नियामकस्याभावात् । अतः सर्वा एव परिहाप्य प्रत्यक्षश्रुत्यविरुद्धा गीतास्मृतिरेवादरणीया, 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथे'त्यादि । न च तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गः । ये परमाप्त्यनधिकारिणो मुमुक्षवस्तेषां स्वरूपावस्थानविषये सावकाशत्वात् । अतएव मोक्षधर्मे 'साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा । ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै' इत्यादिना पञ्च सिद्धान्तांस्तद्वक्तॄंश्चोक्त्वा, 'सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते । यथागतं तथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः । न चैनमेवं जानन्ति तमोभूता विशांपते । तमेव शास्त्रकर्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः । निष्ठां नारायणमृषिं नान्योस्तीति वचो मम' इत्युक्तम् । यथागतमिति । परम्पराप्राप्तं श्रुत्यविरुद्धम् । पराशरपुराणे च 'अक्षपादप्रणीते च काणादे साङ्ख्ययोगयोः । त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोंशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिः' 'जैमिनीये चे'त्युक्तम् । अतः कपिलस्मृतेर्जघन्याधिकारिविषये सङ्कोचसहिष्णुत्वान्निरङ्कुशप्रधानकारणत्वांशे श्रुतिविरोधस्य साधितत्वेनाप्रामाण्याच्च न तस्या अशब्दत्वहानिरिति सिद्धम् ॥ १ ॥

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

प्रतिबन्द्या निरङ्कुशप्रधानकारणत्वांशे कपिलस्मृतेरप्रामाण्यमुक्त्वा महदाद्यंशेपि तथात्वमाह । इतरेत्यादि । इतरेषां प्रकृतिव्यतिरिक्तानां महदहङ्काराहङ्कारिकतत्त्वान्तररूपवृत्तीनां लोके वेदे चानुपलभ्यमानत्वात्तदंशेपि कपिलस्मृतेरप्रामाण्यम् । अयमर्थः । तैर्हि पञ्चभूतव्यतिरिक्तानि तत्त्वान्यनुमानेन साध्यन्ते, तत्र स्थूलेषु चतुर्षु भूतेषु गन्धादिगुणाविनाभावस्य शब्दे च द्रव्यजन्यत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन गन्धादिगुणानां पृथिव्यादिस्थूलभूतपूर्ववर्तित्वस्य प्रत्यक्षबाधितत्वात् गन्धादिगुणनाशेपि पृथिव्यादिद्रव्यदर्शनेन व्यतिरेकव्यभिचाराद्गुणातिरिक्तानां मात्राणां लोकाप्रसिद्धत्वात् । निर्विशेषगन्धाद्यङ्गीकारेण मात्रासाधनेपि शब्दे आकाशजन्यत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादाकाशस्य निरवयवत्वेन जन्यताया विप्रतिपन्नत्वाच्च मात्राणां स्थूलभूतकारणत्वेन मात्रात्मकस्वरूपेण चासिद्धौ तत्साधितानामहङ्कारमहत्तत्त्वप्रकृतीनामसिद्धिरेव । एवं वेदेपि । मैत्रायणीयोपनिषदि सृष्टिकथने 'तमो वा इदमग्र आसीदेकं तत्परे स्यात्तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै रजसो रूपं तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं रसः संप्रास्रवत्सोंशोयं यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुष' इत्यादिना प्रकारान्तरमेवोक्त्वा 'इत्यास्मान्तर्बहिश्चे'त्युक्तम्, अतो लोके वेदे च तथानुपलभ्यमानत्वमिति ॥ २ ॥ इति प्रथमं स्मृत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥ (२-१-२)

ननु मास्तु साङ्ख्यस्मृतेः शब्दत्वम्, योगस्य तु भविष्यति । श्वेताश्वतरोपनिषदि 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्ये'त्यादिना योगस्योक्तत्वादिति चेत्, तत्राह । एतेनेत्यादि । इदं चातिदेशसूत्रम् । एतेन साङ्ख्यस्मृतिनिराकरणेन योगस्मृतिरपि निराकृता वेद्या । मनोनिरोधसाधनांशस्यैव तत्राविरुद्धत्वेन पदार्थतत्त्वनिर्धारे साङ्ख्यवत्प्रधानादेस्तदुपादानत्वादेश्चाङ्गीकारात्तदंशे वेदविरुद्धत्वात्सापि तत एव निराकृतेति साङ्ख्यवन्न तस्या अपि पूर्वप्रतिपादितसमन्वयबाधकत्वमित्यर्थः ॥ ३ ॥ इति द्वितीयमेतेन योगः प्रत्युक्त इत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥ ४ ॥ (२-१-३)

ननु मास्तु स्मृत्या समन्वयबाधः, तथापि युक्तिश्रुतिविरुद्धो ब्रह्मवाद इत्याशङ्कते । नेत्यादि । न ब्रह्म जगत उपादानम् । कुतः । अस्य विलक्षणत्वात् । यदि हि जगत् ब्रह्मोपादेयं स्यात्, कार्यस्य कारणसजातीयत्वनियमदर्शनाच्चेतनं दोषशून्यं च स्यात्, यतो नैवमतो नैवम् । ननु वैलक्षण्यप्रतीतिर्देहात्मप्रत्ययवद्भ्रम इति चेत्, तत्राह । तथात्वं च शब्दात् । अस्येति पदं देहलीदीपवदुभयत्र संयुज्यते । अस्य जगतो ब्रह्मविलक्षणत्वं च शब्दात् । 'विज्ञानं चाविज्ञानं चे'ति श्रुतिरेव । तथा च यथा श्रुत्या ब्रह्मणः कारणत्वमुच्यते, तथा विलक्षणत्वमप्युच्यते, अतो विप्रतिषेधान्न ब्रह्मण उपादानत्वमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ ५ ॥

ननु किं वैलक्षण्यं ब्रह्मजगतोस्तवाभिप्रेतं येन ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं वक्षि । न तावद्धर्मवैलक्षण्यमकारणत्वसाधकम्, घटत्वमृत्पिण्डत्वयोर्विलक्षणत्वेपि कार्यकारणभावदर्शनात् । अथ येन धर्मेण कारणभूतं वस्तु वस्त्वन्तराद्व्यावर्तते, तद्धर्माभावेन विलक्षणत्वमिति, तादृशं चात्र चेतनत्वमिति जगति तदभावाद्विलक्षणत्वमिति चेत्तवाभिप्रेतम्, तदा तत्तु नास्ति । 'मृदब्रवीत्', 'आपोब्रुवन्', 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यादौ चेतनधर्माणां वदनेक्षणादीनां मृदादिषु श्रावणादित्यत आह । अभिमानीत्यादि । तुशब्द उक्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थः । एवमाशङ्का न कार्या । अत्र अभिमानिव्यपदेशः मृदाद्यभिमानिनीनां देवतानामेव वक्तृत्वादिधर्मवत्तया व्यपदेशः । कुतः । विशेषानुगतिभ्याम्, वेद एव 'विज्ञानं चाविज्ञानं चे'ति विभागकथनात् । 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविश'दित्यग्न्यादिदेवतानामेव पश्चाद्वागादिभावेन मुखादिषु स्थानेषु गतिकथनाच्च । यदि हि सर्वस्य चेतनत्वं स्यात्, यदि चोक्तवाक्ये देवता अभिप्रेता न स्युः, तदा चेतनाचेतनविभागं न ब्रूयात्, पश्चाद्वागादिभावेनाग्न्यादिदेवतानां गतिं च न ब्रूयात् । 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता' इति तेजोबन्नानि देवतापदेन न विशिंष्याच्च । तथा च जगतो ब्रह्मविलक्षणत्वेन ब्रह्मोपादेयत्वानुपपत्तेस्त-

र्कानुगृहीतकपिलस्मृत्यनुसारेण जगतः प्रधानोपादेयत्वमेवादरणीयम् । एवं 'न जायते न म्रियते वे'त्यादौ जीवस्य नित्यत्वेन श्रावणाज्जीवानां ब्रह्मभिन्नत्वमेवादरणीयमिति सूत्रद्वयेनाशङ्क्य परिहरति ।

दृश्यते तु ॥ ६ ॥

तुः पूर्वपक्षनिरासे । दृश्यते । कार्यकारणयोर्वैलक्षण्यं लोके । चेतनात्पुरुषदेहादचेतनानां केशलोमनखानां अचेतनाद्गोमयादेर्वृश्चिकादीनां चेतनानां चोत्पत्तेः । अयमर्थः । विलक्षणत्वेन ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं दूषयतो यदि कार्यकारणयोः सर्वांशसालक्षण्यं विवक्षितम्, तदा तु घटमृत्पिण्डादिष्वपि तददर्शनाल्लोकविरोधः । यदि केनचिद्धर्मेण सालक्षण्यम्, तदा तु सत्तया सादृश्यं वर्तत एवेति न पर्यनुयोगस्यावकाशः । यदि च येन धर्मेण कारणं वस्त्वन्तराद्व्यावर्तते तेन धर्मेण, तदा तु लोकदृष्ट्या गोमयवृश्चिकादिदृष्टान्तः । देहत्वगोमयत्वादीनां वस्त्वन्तराद्व्यावर्तकानां धर्माणां केशवृश्चिकादिष्वभावात् । यदि च देहकेशादीनां जडत्वेन सालक्षण्यम्, तदा सत्त्वेन ब्रह्मजगतोस्तदस्त्येवेति त्वद्धेतोः स्वरूपासिद्धत्वम् । परमार्थदृष्ट्या तु ब्रह्मणः सच्चिदानन्दलक्षणकत्वेन सदंशाज्जडानां चिदंशाज्जीवानामानन्दांशाच्चान्तर्यामिणां व्युच्चरणात्तेषु तेषु तत्तदंशसालक्षण्यस्य विद्यमानत्वाद्विलक्षणत्वरूपस्य बाधकहेतोरसिद्धिः, श्रुत्युक्तस्य विभागस्य चोपपत्तिः । उपपन्ने च विभागे कार्याणामेव परस्परं वैलक्षण्यम्, न तु ब्रह्मणः सकाशात्कार्यस्य जगत इत्यभिमानिव्यपदेशोपि न कारणत्वबाधकः । अग्रेर्वाग्भावोप्यवस्थान्तरं बोधयन् कार्यस्य कारणावस्थारूपत्वान्न कारणताबाधकः । एवं सिद्धे सालक्षण्ये 'न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरभवाती'ति श्रुतिस्वारस्याद्वैलक्षण्यं भ्रमाद्दृश्यते, न त्वस्तीति तृतीयसुबोधिनीस्थं सूत्रव्याख्यानान्तरमप्युपपन्नतरम् ॥ ६ ॥ इति तृतीयं न विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥३॥

असद्व्यपदेशादिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥ (२-१-४)

पुनर्विप्रतिषेधान्तरमाशङ्क्य परिहरति । असदित्यादि । 'असद्वा इदमग्र आसी'दिति श्रुत्युक्तमसत् 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसी'दित्यनेनानूद्य 'कुतस्तु खलु सौम्यैवं स्या'दित्यादिना निषिध्यत इति तस्यालीकात्समाकृष्य ब्रह्मपरत्वं न वक्तुं शक्यम्, ब्रह्मपरत्वे निषेधायोगात् । अतः असदलीकादिकमपि कारणत्वेन श्रुतावस्ति । एवं सत्यसद्वेत्यत्र कारणान्तरकथनेन कुतस्त्वित्यत्र तत्प्रतिषिध्य सतो ब्रह्मणः कारणत्वकथनेन, 'नासदासीन्नो सदासी'दित्यत्र सतोपि प्रतिषेधेन विप्रतिषेधतादवस्थ्यात्स्मार्तं प्रधानमेव कारणत्वेनादरणीयम् । इति चेत्, एवं सूत्रांशेनाशङ्क्य समाधत्ते । नेति । 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसी'दित्यसच्छब्दो न श्रौतासच्छब्दानुवादकः, किन्तु स्मार्तानुवादकः । कुतः । प्रतिषेधमा-

१ असन्निति चेदिति पाठः प्रतिभाति ।

त्रत्वात् । कुतस्त्विति श्रुतौ असन्निषेधमात्रस्यैव दर्शनात् । यदि ह्यसतोपि कारणताभिप्रेता स्यात्, तदा यथा असन्निषेधेनात्र सतः कारणता बोध्यते, तथा क्वचित्सन्निषिध्यासतोपि कारणत्वं बोध्येत, तत्तु न दृश्यते । नासदासीदित्यत्राप्युभे निषिध्येते, न त्वसतः कारणत्वं बोध्यते । अतस्तत्रापि व्याकृताव्याकृतयोरेव प्रतिषेधः । अतो विप्रतिषेधाभावान्न ब्रह्मणः कारणत्वहानिरित्यर्थः । यद्वा । 'असद्वा इदमग्र आसी'दित्यादौ असच्छब्देन इदं कार्यं उत्पत्तेः पूर्वं असदासीदित्युच्यते, 'सदेव सौम्येद'मित्यत्रोत्पत्तेः सदुच्यत इति विप्रतिषेधान्न श्रौतो ब्रह्मवाद आदरणीयः, किन्तु युक्तिस्मृतिसिद्धोऽसत्कार्यवाद एवादरणीय इति चेत् । न । नास्ति विप्रतिषेधः । कुतः । प्रतिषेधमात्रत्वात् । विप्रतिषेधो हि विरुद्धः प्रतिषेधस्तुल्यबलः स इति यावत् । यदि ह्यसन्निषिध्य सत्प्रतिपादनवत्, सन्निषिध्यासत्प्रतिपादनं स्यात्, स्याद्विप्रतिषेधत्वम्, नेह तथा, किन्तु केवल एवासत्प्रतिषेधः, अतः श्रौतो ब्रह्मवाद आदर्तव्य इति ॥ ७ ॥

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

पुनः किञ्चिदाशङ्कते । अपीतावित्यादि । अपीतिर्लयः । कार्यस्य जगतः कारणे ब्रह्मणि लये, तद्वत्प्रसङ्गात्, कार्यधर्माणां कारणे संसर्गेण कारणस्य कार्यतौल्यप्रसङ्गादसमञ्जसम्, स्थौल्यसावयवत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्धत्वापादकं ब्रह्मणः कारणत्ववचनमित्यर्थः ॥८॥

न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

उक्तं दोषं परिहरति । नेत्यादि । नास्मद्दर्शने किञ्चिदसामञ्जस्यमस्ति । तुः शङ्कानिरासे । अतः शङ्का न कार्या । उभयत्रापि हेतुः । दृष्टान्तभावादिति । दृष्टान्तस्य विद्यमानत्वात् । घटशरावादीनां मृदि लये परमाणुभावापत्तौ स्थौल्यसावयवत्वाद्यदर्शनान्महापृथिवीभावे च परिच्छिन्नत्वाशुद्धत्वाद्यदर्शनात् । कटककुण्डलादीनां च सुवर्णे लये तददर्शनात् । प्रत्युत तैजसानां भाण्डानां मद्यादिसंसर्गेण दुष्टत्वेऽग्निसम्बन्धात्तस्याकारस्य नाशनेन पुनर्निर्दोषत्वं स्मर्यते । तैजसानां रेतोविण्मूत्रासृक्कुणपादिभिश्चिरमुपहतानामावर्तनमिति । एवं मार्तिकानामपि मृद्भावे । 'वातोद्धूतं रजः शुची'ति । अतो लोकविचारे शास्त्रविचारे चास्माकमेव दृष्टान्ताः सन्ति, न भवताम् ॥ ९ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ १० ॥

प्रतिवादिनो भ्रान्तत्वायाह । स्वपक्षेत्यादि । निर्विशेषात्प्रधानात्सविशेषस्य शब्दादिमतो महदादेरुत्पत्तेः कार्यकारणयोर्विलक्षणत्वम् । कार्यस्योत्पत्तिर्न कारणस्येत्यपि । एवं विलक्षणकार्योत्पत्तावुत्पत्तेः पूर्वं तस्य वैलक्षण्यस्याभावादसत्कार्यवादप्रसङ्गः । सद्भावे च लयेपि कार्यधर्मसम्बन्धात्तद्वत्त्वप्रसङ्गः । किञ्च, सर्वेषामन्तिमकार्यपर्यन्तानां कार्याणां कारणे सत्त्वेन एतदनन्तरमेतदुत्पद्यतामिति क्रमनियामकहेत्वभावेन क्रमनियमाभावः ।

तं विनापि नियमाङ्गीकार आकस्मिकवादप्रसङ्गः । अथ नियामकसत्ताङ्गीक्रियते, बन्धोत्पत्तिनियामककारणसद्भावे तस्य सर्वसाधारणत्वान्मुक्तानामपि पुनर्बन्धप्रसङ्ग इत्यस्मान्प्रति दत्तानां दोषाणां स्वपक्षेपि सद्भावान्नास्मान् प्रति पर्यनुयोग उचित इत्यर्थः ॥१०॥

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥ ११ ॥

सूत्राक्षरैरेव पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति । तर्केत्यादि । स्वोत्प्रेक्षिता युक्तिस्तर्कः । तर्काणामप्रतिष्ठानं तर्काप्रतिष्ठानम्, तच्च स्वतन्त्रैर्वक्तृभिश्चर्चायां तत्तदुक्तानां तर्काणां परस्परमाभासीकरणेनाव्यवस्थानम्, तस्माद्धेतोर्वैदिकेर्थे प्रत्यवस्थानमयुक्तमिति यदि वदथ, तदा अन्यथानुमेयम्, अस्माभिरपि प्रकारान्तरेणानुमेयं येन तर्काप्रतिष्ठादोषो न भवति । न हि सर्वेपि तर्का अप्रतिष्ठिता इति वक्तुं शक्यते, व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । अत 'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना, यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतर' इति स्मृतेर्निरवद्यतर्कस्य प्रतिपत्तव्यत्वात् इति चेत्, अनेन प्रकारेण तर्कप्रतिष्ठानं वदसि चेत्, एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः, अनेन तर्कप्रतिष्ठायामपि, ब्रह्मवादितर्कस्यैव श्रुतिमूलतया निरवद्यत्वात् प्रकृतिवादिन एव तर्कदोषाविमोक्षप्रसङ्गः, श्रुतिविरोधेन तत्तर्कस्य निर्मूलतया वैमत्यस्य विद्यमानत्वादित्यर्थः ॥११॥ इति चतुर्थमसदितिचेदित्यधिकरणम्॥४॥

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥ (२-१-५)

इदमप्यतिदेशसूत्रम् । एतेन साङ्ख्यगतदूषणेन शिष्टापरिग्रहाः, न परिग्रहो येषां ते अपरिग्रहाः शिष्टैरपरिग्रहाः शिष्टापरिग्रहाः अणुमायाकारणवादास्तेपि व्याख्याताः दूषिता वेद्याः । सत्कार्याद्यादरेण साङ्ख्यमतस्य वैदिकप्रत्यासन्नत्वात्केषाञ्चित् शिष्टानां परिग्रहोस्ति । अणुमायाकारणवादास्तु सर्वथा न शिष्टैः परिगृह्यन्त इति ते तथा । यद्यपि पराशरोपपुराणेंशतः श्रुतिविरुद्धत्वं सर्वेषां तुल्यमुक्तम्, तथापि शिष्टापरिग्रहोधिक इत्यनास्थया पश्चात्तेषां दूषणम् ॥ १२ ॥ इति पञ्चममेतेनेत्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥ (२-१-६)

पूर्वाधिकरणेषु 'दृश्यते त्वि'त्यनेन वैलक्षण्यं 'प्रतिषेधमात्रत्वा'दित्यनेनासत्कारणवादापत्तिं 'दृष्टान्तभावा'दित्यनेनासामञ्जस्यं 'तर्काप्रतिष्ठाना'दित्यनेनान्यानप्युत्प्रेक्षिष्यमाणान् कारणदोषान् परिहृत्य कार्यदोषं परिहर्तुमयमारम्भः । तत्र सूत्राक्षरैरेवाशङ्क्य समाधत्ते । भोक्त्रित्यादि । 'अशब्दमस्पर्श'मिति 'अस्थूलमनण्वि'त्यादिश्रुतिभिर्निर्विशेषत्वं ब्रह्मण उच्यते । 'यतो वे'त्यादिना च कारणत्वम् । कार्यस्य तत उत्पत्तिस्तत्रैव लयश्च । 'सलिल एको द्रष्टा द्वयो भवती'ति जीवस्यापि तद्भावापत्तिः, 'यथाग्नेः क्षुद्रा' इत्यादिना तत एवोत्पत्तिश्च । एवं सति निर्विशेषे ब्रह्मणि कार्यस्य प्रलयदशायामैक्ये सत्युत्पत्तौ भोक्त्रापत्तेर्भोक्तर्यापत्तिर्भोक्त्रापत्तिस्तस्याः सकाशात् भोक्तृभोग्ययोर्जीवविषययोः संश्लेषेणैकीभावात्पुनरुत्पत्तौ भोक्तरि जीवे भोग्यस्रक्चन्दनादिरूपत्वापत्तेर्भोग्येन भोक्तृत्वापत्तेरविभागः लोकसिद्धभोक्तृभोग्यविभागभङ्गः, ततश्च 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्ये'त्यत्र चेतनस्य भोक्तृत्वं सुकृतस्य भोग्यत्वं च यच्छ्राव्यते, तद्विप्रतिषेध इति चेत्, स्याल्लोकवत् । यथा लोके कटककुण्डलादीनां सुवर्णकारणत्वेन सुवर्णानन्यत्वेपि न कटकस्य कुण्डलत्वम्, न वा कुण्डलस्य कटकत्वम्, एवमत्रापि न भोक्तुर्भोग्यत्वं भोग्यस्य च भोक्तृत्वम्, अतो न श्रुतिविप्रतिषेध इत्यर्थः ॥ १३ ॥ इति षष्ठं भोक्त्रापत्तेरित्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥ (२-१-७)

ननु 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवती'त्यादिप्रतिज्ञायाः 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेने'त्यादिदृष्टान्तस्य च बलेन ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं पूर्वं विचारितम्, दृष्टान्तवाक्यशेषे च 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्य'मिति श्रूयते, तत्र च विकारो वाङ्मात्रेणैवारभ्यते, न तु विकारो वस्तुतः कश्चिदस्तीत्यर्थः प्रतिभाति । एवं विकारस्याभावे प्रसक्ते ब्रह्म कस्य कारणं भवेत्, अतो येनैव वाक्येन कारणत्वं साध्यते, तच्छेषेणैव तद्विघटितं भवतीति विप्रतिषेधाद्ब्रह्मवादे पुनरसामञ्जस्यमित्याशङ्कायां श्रुतिविप्रतिषेधं परिहरति । तदनन्यत्वमित्यादि । तस्य अनन्यत्वं तदनन्यत्वम् । कार्यस्य कारणाभिन्नत्वमत्र वाक्यशेषे प्रतीयते, न मिथ्यात्वम् । कुतः । आरम्भणशब्दादिभ्यः । अत्रादिपदेन नामधेयपदमितिशब्दः 'सदेव सोम्ये'त्यादिवाक्यानि च सङ्गृह्यन्ते । तथा च यदि विकारस्य वाङ्मात्रतामभिप्रेयात्, वाचारम्भणं विकारो मृत्तिकैव सत्यमित्येव ब्रूयात्, तावतैव विकारमिथ्यात्वसिद्धेः । वदति त्वेवम् । अतो यो विकारस्तद्वाचारम्भणम् । यदारभ्यते तदारम्भणं 'कृत्यल्युटो बहुल'मिति बाहुलकात्कर्मणि ल्युट् । कारणस्यैव नामधेयम् । कारणमेव हि तत्तदर्थक्रियासिद्ध्यर्थं तेन तेन नाम्ना व्यवह्रियत इति कारणादभिन्नमेव कार्यम्, न तु स्वेन रूपेण कारणाद्भिन्नम् । तदाह मृत्तिकेत्येव सत्यमिति । कारणरूपेणैव सत्यम्, न तु रूपान्तरेण । नापि मिथ्या । मिथ्यात्वे सति कार्याभावेन ब्रह्म कस्य कारणं भवेत् । कारणत्वाभावे सति 'यतो वा इमानी'त्यादयः सर्वा एव श्रुतयः कुप्येरन् । न च शुक्त्यादीनां रजतादीन् प्रतीव ब्रह्मणोपि जगत्प्रति तटस्थकारणतायाः शक्यवचनत्वान्न तत्कोप इति [illegible]म् । पुरुषबुद्धिदोषसाचिव्येन शुक्त्यादिषु रजतादिबुद्धिमात्रजनकतया तेषु रजतादिकारणत्वस्याभिमानमात्रत्वेनापौरुषेयायामीश्वरनिश्वासरूपायां वाचि तादृशाभिमानिवाक्यत्वस्य वक्तुमशक्यत्वेन त्वदभिमतकारणताया वक्तुमशक्यत्वात् । शक्यत्वाभ्युपगमे तर्कवदप्रतिष्ठया सर्वसन्मार्गविप्लवप्रसङ्गात् । किञ्चात्रेदं वाक्यमुपक्रम उक्त्वाग्रे कथमसतः सज्जायेतेति, सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदिति सत्पदेनेदमा च सतः कार्यत्वं श्राव्यते । यदि शुक्तिरजतवत्कार्यं स्यात्, सज्जायेतेति सत्पदमिदङ्कारश्च

कुप्येताम् । किञ्चाग्रे 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये'तीक्षणपूर्विका स्वस्यैव बहुभवनरूपा नानाविधजननहेतुका च सृष्टिः श्राव्यते । यदि चोक्तविधं कार्यं स्यात्, तदा तस्य मिथ्यात्वेन स्वप्रतियोगित्वबोधक उत्तमपुरुषप्रयोगश्च कुप्येत । किञ्चाग्रे 'सेयं देवतैक्षते'त्यादिप्रोक्ते त्रिवृत्करणेक्षणे 'इमास्तिस्रो देवता' इति बोधिता देवतानां या प्रत्यक्षगोचरता सापि ब्रह्मणो भ्रमराहित्यात्कुप्येत। न 'चापागादग्नेरग्नित्व'मिति निगमनवाक्यविरोधः । शिष्यस्यार्वाचीनत्वेनाग्नित्वादीन् स्वाभाविकतयावधारयतस्तादृशावधारणनिवृत्त्यर्थं तस्य वाक्यस्य प्रवृत्तत्वेन तत्राभिमन्यमानस्वाभाविकतापगतिबोधकतया विरोधाभावात् । अत एतैः शब्दैः 'इदं सर्वं यदयमात्मा, सर्वं तं परादाद्योन्यत्रात्मनः सर्वं वेदे'त्यादिभिश्च कार्यस्य कारणाभिन्नत्वमेव वाक्यार्थो, न तु मिथ्यात्वमित्यर्थः ॥ १४ ॥

भावे चोपलब्धेः ॥ १५ ॥

पूर्वसूत्रेण श्रुतिविप्रतिषेधं परिहृत्य कार्यस्य कारणादनन्यत्वे सत्त्वे च युक्तिमाह । भावे चेत्यादि । भावे विद्यमान एव घटे घटोपलम्भात्, चकारेण 'मृत्तिकेत्येव सत्य'मिति श्रुतेश्च कार्यस्य कारणादभिन्नत्वं सत्त्वं चोपगन्तव्यम् । यदि कार्यं वागारब्धं वाङ्मात्रेणैवोपलभ्येत, तदा मिथ्यैव घटोत्रास्तीत्युक्तेप्युपलभ्येत । न तु तथा । अतः सदेव कारणादनन्यदेव कार्यम्, न मिथ्येत्यर्थः ॥ १५ ॥

सत्त्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

'सदेव सौम्येदमग्र आसीत् । यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षत' इत्यादिश्रुतिष्विदमा पूर्वकालसत्ताबोधनेन सर्वस्य सत्यत्वविधानेन च अवरस्य प्रपञ्चस्य सत्त्वात् न मिथ्यात्वमित्यर्थः । 'विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया । यथेदानीं तथाचाग्रे पश्चादप्येतदीदृश'मिति । 'तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम् । आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पव'दिति तृतीयस्कन्धविष्णुपुराणसङ्ग्राहको वा सूत्रे चकारः ॥ १६ ॥

असद्व्यपदेशादिति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥

पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति । असदित्यादि । अयमर्थः । पूर्वपादे समाकर्षसूत्रे 'असद्वा इदमग्र आसी'दिति श्रुतिस्थस्यासच्छब्दस्य स्वार्थात् समाकर्षेण ब्रह्मपरत्वमुक्तम्, परन्तु समाकर्षे बीजं नोक्तम्, अतो न तद्युक्तिसहम्। अथासदिति चेन्नेति पूर्वसूत्रे तद्विषयश्रुतौ चासतः कारणता निवारितेति सैव ब्रह्मणः कारणत्वे युक्तिरिति तया समाकर्षणमुच्यते । तदापि योगे सम्भवति गौण्या अन्याय्यत्वादस्यासत्पदस्यासत्कार्यवादबोधकत्वम् । इदं परिदृश्यमानं जगत्, उत्पत्तेः प्रागसदेवासीत्, तत उत्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मणः सकाशाद्वा सदजायतेत्येवमसद्व्यपदेशात्कार्यं प्रागुत्पत्तेरसत् । तथा सत्याद्यन्तयोर्यदसतोस्ति तदेव मध्ये इति न्यायादिदानीमपि सन्नेति चेदिति सूत्रांशेनाशङ्क्य समाधत्ते । नेति ।

यत्कार्यस्यासत्त्वं श्रुत्या शङ्कितम्, तन्न । कुतः । धर्मान्तरेण अव्याकृतत्वेनासद्व्यपदेशात् । येन व्याकृतत्वेन धर्मेणेदानीं वर्तते, तेन धर्मेण तदानीं नास्तीति तथा व्यपदेशो, न त्वत्यन्तासत्त्वेनेति । ननु किमत्र मानमित्यत आह । वाक्यशेषादिति । 'तदात्मान ५ स्वयमकुरुते'ति पूर्वोक्तासद्वाक्यशेषात् । यदि हि श्रुतिः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्त्वमभिप्रेयात्, तदा करोतिकर्मत्वेनात्मपदं न ब्रूयात्, अतस्तथेत्यर्थः । एवं च निवृत्ते असत्कार्यवादस्य श्रुत्यभिप्रेतत्वे समाकर्षसूत्रे गौण्यङ्गीकारोपि न दोषाय । अनेनैव बीजेन तत्र तदङ्गीकारात् । वस्तुतस्तु न गौणी । सर्वेषां शब्दानां भगवद्वाचकत्वस्य प्रागेव साधितत्वेन समाकर्षसूत्रस्य वादिबोधनार्थत्वात् । एवं चात्रेदंशब्दोपि न परिदृश्यमानत्वमात्रपरः, बोधनीयस्य शिष्यस्याभावात्, किन्तु स्वबुद्धिस्थपरः, केवलश्रुतिवाक्यत्वादिति ॥ १७ ॥

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

औलूक्यादिबोधनाय हेत्वन्तरमाह । युक्तेरित्यादि । युक्तिस्तावत्, कार्यस्य नियतावधिकत्वम्, यत्कार्यं यत्समवेतम्, तत्तेनोत्पाद्यत इति । अन्यथा समवायस्य साधारणत्वात्सर्वतः सर्वोत्पत्तिः स्यात् । अथासाधारणः, तदा असाधारण्यनियामकस्यान्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्तत्तत्कार्यवैशिष्ट्यमेव नियामकत्वेन वक्तव्यम्, ततश्च वैशिष्ट्यनियामकतया तत्सिद्धौ सत एवोत्पत्तिः सिध्यति । किञ्च । समवायः सम्बन्ध इति सम्बन्धिद्वयनिर्वर्त्यः । स च नित्य इति कारणवत् कार्यमप्युत्पत्तेः प्राग्वक्तव्यम् । सम्बन्धित्वस्य तत्रापि तुल्यत्वात् । अन्यथा तस्य सम्बन्धत्वमेव न सिध्येदित्यादिः । न च कार्यस्योत्पत्तेः पूर्वं सत्त्वे कारकव्यापारवैयर्थ्यं शङ्क्यम् । कार्याभिव्यञ्जनार्थत्वेन तस्य सार्थक्यात् । अभिव्यक्तेश्चोत्पत्तिवदसाधारणत्वान्न कोपि चोद्यावसर इति । शब्दान्तरं तु । सच्छब्दादन्य आत्मशब्दः । तेन चाविकृतत्वं युक्त्यगोचरत्वं च श्रुत्यैव बोध्यते । एवं च सर्वस्य ब्रह्मकार्यत्वेपीदं नित्यत्वेन व्यवह्रियताम्, इदं कार्यत्वेनेति नियमस्य प्रजायेयेतीच्छाकारविचारेणैव सिद्धेर्न कोपि शङ्कालेशः ॥ १८ ॥

पटवच्च ॥ १९ ॥

नन्वभिव्यञ्जकैरपि सदेवाभिव्यञ्जनीयम्, यथा गृहस्थो घटो दीपेन। अतः कारणे कारणात्मनापि सत्कार्यं केनचिद्रूपेण प्रतीतिगोचरो वक्तव्यम् । अन्यथा तेनापि रूपेण कार्यसत्ता न सिध्येदित्यत आह । पटवदिति । यथा संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते, प्रसारितस्तु गृह्यते, न तावता अग्रहणदशायां तदसत्ता, तथा कार्यस्यापीत्याविर्भावानाविर्भावाभ्यां जगतोपि प्रतीत्यप्रतीती इत्यदर्शनं न कार्यासत्तासाधकमित्यर्थः ॥ १९ ॥

यथा च प्राणादिः ॥ २० ॥

ननु प्रास्त्वदर्शनमसत्तासाधकम्, तथापि सत्त्वे काचिदर्थक्रिया तु स्यादेव । यथा

अदृश्येनापि भूतेन स्वमपाश्राद्धादियाचनमन्यदुःखादिदानं च । अर्थक्रिया तु न दृश्यत इति कथं तदात्मनापि सत्त्वेस्यत आह । यथेत्यादि । यथा प्राणापानानां नियमने जीवनमात्रम्, अनियमने चाकुञ्चनादि, एवमर्थक्रियाभेदेपि न प्राणभेदो, न वा प्राणादीनां प्रागसत्त्वम् । तथोत्पत्तेः पूर्वं अर्थक्रियाविशेषराहित्येपि न कार्यासत्त्वमित्यर्थः ॥ २० ॥ इति सप्तमं तदनन्यत्वाधिकरणम् ॥ ७ ॥

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥ (२-१-८)

ननु ब्रह्मणो जडकारणत्वे मा भवतां कारणकार्यदोषौ । चेतनकारणत्वे तु तौ भविष्यतः । कुतः । इतरव्यपदेशात् । इतरस्य व्यपदेश इतरव्यपदेशस्तस्मात् । 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश'दित्यत्र कर्तुः सृष्टौ प्रवेशः श्राव्यते । स 'चानेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी'ति जीवस्योच्यते । तेन जीवः स्रष्टृभिन्नः सिध्यति, ततश्च हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः । उक्तरीत्यैक्ये सति तद्धितं कर्तव्यम् । न हि कश्चित्स्वयं समर्थः स्वहितं न करोति । सकलानर्थनिकरहेतुभूते शरीरे प्रवेशनादहितं च करोतीति कारणे दोषः । तादृशकृतिविषयत्वात्कार्येपि दोषः । अतश्चेतनस्य तदनन्यत्वं न युक्तम् । किन्तु नित्यभिन्नत्वमेव युक्तमित्यर्थः ॥ २१ ॥

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

परिहरति । अधिकमित्यादि । ब्रह्म न जीवमात्रम्, येनायं दोषः स्यात् । किन्तु ततोधिकम् । तुः तावन्मात्रत्वशङ्कानिरासे । तत्र हेतुः । भेदनिर्देशात् । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' इत्यादिषु वाक्येषु कर्मकर्तृत्वेन भेदस्य कथनात् । विज्ञानानन्दरूपत्वेनापि भेदस्य कथनात् । तथा च यथैक्यं बोध्यते, तथा ज्ञेयत्वेनानन्दरूपत्वेन भेदोपि बोध्यते । अयं च भेदो ब्रह्मण आधिक्ये पर्यवस्यति । आधिक्यं चांशित्वात्पूर्णत्वे । पूर्णश्चांशस्य हितं करोत्येवेति न नियमः । स्वदेहेपि नखनिकृन्तनकेशप्रसाधनादेर्दर्शनात् । अन्यथा सर्वेन्द्रियव्यापाराभावप्रसङ्गात् । किन्तु स्वलीलयैकं करोति हितमहितं वेति लोके दृश्यते । एवं कार्यदोषोपि लोकादेव परिहर्तव्यः । अतो दोषाभावान्न चेतनस्यानन्यत्वभङ्ग इत्यर्थः॥२२॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्फुटीकरोति । अश्मादीत्यादि । हीरकमाणिक्यपाषाणानां पलाशचंपकचन्दनानां अश्मत्ववनगत्वाविशेषेपि स्वभावभेद उच्चनीचत्वं च लोके दृश्यते । एवं ब्रह्मादिस्थावरान्तानां जीवानां ब्रह्मत्वाविशेषेपि स्वभावभेदस्योच्चनीचभावस्य च सत्त्वात् तस्य तस्य तादृशतादृशदेहादिसम्बन्धः सुखदुःखादिश्चेति कारणे कार्ये चानन्यत्वप्रयुक्तदोषासंसर्गस्य लोकन्यायेनैव सिद्धत्वात्तादृशाशङ्काया एवानुपपत्तिरित्यर्थः । यद्यपि पूर्वपक्ष्युक्तदोषसमाधानं भेदनिर्देशसूत्रादेव सिध्यति, तथापि जीवस्य कार्या-

द्वैलक्षण्यं कार्यानुरोधित्वं च दर्शयितुमिदं सूत्रमिति ज्ञेयम् ॥ २३ ॥ इत्यष्टममितरव्यपदेशाधिकरणम् ॥ ८ ॥

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥ २४ ॥ (२-१-९)

एवं कार्यस्य कारणानन्यत्वे अंशस्यांश्यनन्यत्वे च ये दोषास्तान् परिहृत्य पुनर्ब्रह्मण एकस्यैवान्यानपेक्षतया कारणत्वे किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति । उपेत्यादि । एकस्यैवान्यनिरपेक्षस्य ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वं यदुक्तम्, तन्नोपपद्यते । कुतः । उपसंहारदर्शनात् । उपसंहारोन्यसामग्रीसमवधानम्, तस्य दर्शनात् । लोके हि यत्रोपादानता मृदादिषु दृष्टा, तत्र कुलालादेः कर्तुश्चक्रचीवरादेः समवधानेनैव दृष्टा । न हि बाधितमर्थं वेदोपि ब्रूते इति चेत् । न । एवमाशङ्का न कर्तव्या । कुतः । क्षीरवद्धि । हि यतो हेतोः क्षीरवद्ब्रह्म परिणमते । यथा क्षीरं कालपरिवासेनातञ्चनादिकर्तारमपेक्ष्यैव दधि भवतीति दृष्टम्, तथा ब्रह्मापि परिणंस्यते, अतो न बाधितोपदेश इत्यर्थः ॥ २४ ॥

देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

ननु भवत्वेवं परिणामे कर्तुरनपेक्षा, तथापि निमित्तान्तरापेक्षा तु भविष्यति । क्षीरमपि ह्यधिश्रयणमातञ्चनं कालं वा अपेक्षत एव, न तु सर्वानपेक्षम् । किञ्च, क्षीरं सर्वं स्वयं व्यापृण्वानं स्वान्तः सर्वं दधि भवति, ब्रह्म तु न तथेति व्यधिकरणो दृष्टान्त इत्यत आह । देवादीत्यादि । यथा देवर्षिपितरो बाह्यनिरपेक्षा एव स्वयोगबलेन बहिः सर्वं कुर्वन्ति, एवं ब्रह्माप्यनपेक्ष्य निमित्तान्तरं तत्तत्समवायं च स्वसामर्थ्येनैवं करोतीति नात्रापि लोकविरोध इत्यर्थः ॥ २५ ॥

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

अन्यनिरपेक्षतायां लोकविरोधे परिहृतेपि पुनः श्रुतिविरोधमाशङ्कते । कृत्स्नेत्यादि । यद्येकमेव ब्रह्म स्वात्मानमेव जगत्कुर्यात्, तदा कृत्स्नमेव कार्यं भवेत्, अथांशभेदेन कुर्यात्, तदा 'निष्कलं निष्क्रियं शान्त'मिति निरवयवत्वबोधको निष्कलशब्दः कुप्येत । अतः श्रुतिविप्रतिषेधाद्ब्रह्मण उपादानत्वं न युक्तमित्यर्थः ॥ २६ ॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । इयं शङ्का न कर्तव्या । कुतः । श्रुतेः । आत्मपरिणामो निष्कलत्वं चेति द्वयमपि श्रूयते । श्रुतं च न युक्त्या बाधनीयम् । तर्काप्रतिष्ठानस्य प्रागेव दर्शितत्वात् । 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् । प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥' । 'न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगण ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणदुरवग्रहवादिनां विवादानवसर' इति पुराणवाक्येन ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वस्योपबृंहणात् 'तं

त्वौपनिषद्'मिति श्रुतेश्च ब्रह्मणः शब्दमूलत्वात् श्रुत्येकसमधिगम्यत्वेनैव सिद्धत्वादित्यर्थः ॥ २७ ॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

ननु यद्यपि श्रुतौ केवलस्य ब्रह्मण एव कारणता निरूपिता, तथापि देशकालौ त्वधिकरणत्वेनावश्यकावित्याशङ्का श्रुत्यालम्बनेनैव परिहरति । आत्मनीत्यादि । अत्र प्रथमश्चकारोवधारणार्थः, द्वितीयोप्यर्थः । एवं नानाविधा सृष्टिरपि आत्मन्येव । 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्, सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय'मित्यादिष्वितरनिषेधेन केवलस्य ब्रह्मण एव सृष्ट्यारम्भे कथनात् द्वितीयस्कन्धे च 'स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः । आत्मन्येवात्मनात्मानं संयच्छति च पाति चे'ति ब्रह्मवाक्येपि कण्ठत एवात्मनि सृष्टिकथनाच्च । न च तदानीं 'अग्रे' इति कालस्य श्रुत्या कथनान्नैवमिति शङ्क्यम् । अद्वितीयादिपदविरोधेन कालोक्तेर्बोधनार्थत्वात् । अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात् । विशिष्टविधानेऽवधारणाद्वितीयपदयोः कोपाच्च । 'सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्य'दित्यनुवीक्षाविरोधाच्च । ननु तथापि बोधार्थं काचिद्युक्तिर्वक्तव्येत्यत आह । विचित्रा हीति । हि यतो हेतोः 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'ति श्रुतेस्तस्य शक्तयो विचित्राः आकलयितुमशक्याः । तथा च सामर्थ्यवैचित्र्यमेव युक्तिरित्यर्थः ॥२८॥ इति नवममुपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥ ९ ॥

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ २९ ॥ (२-१-१०)

एवमुपादानत्वे शङ्कितान् दोषान् परिहृत्य कर्तृत्वे शङ्क्यमानान् दोषान् परिहर्तुं पूर्वं तस्य सर्वकर्तृत्वनिर्वाहकं धर्ममाह । सर्वेत्यादि । उपेतेति तृजन्तम् । भगवान् सर्वैः सामर्थ्यैरुपगतः । चकारात्सत्यादिभिः प्रथमस्कन्धे धरित्र्या धर्मं प्रत्युक्तैर्गुणैश्च युक्तः । कुतः । तद्दर्शनात् । वेदे तथा दर्शनात् । 'यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः' 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्त इति' । तथा च य एतादृशः, तस्य सर्वकर्तृत्वं युक्तमेवेत्यर्थः ॥२९॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३० ॥

ननु कर्ता लोके इन्द्रियवान् दृष्टः । ब्रह्मणस्तु विकरणत्वं श्रूयते, 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यत' इति । 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमन' इति । अतः 'स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनि'रित्यादिषूक्तं कर्तृत्वं विप्रतिषेधान्नादरणीयमिति चेत् । तत्राह । तदुक्तम् । अस्य परिहारः पूर्वमेवोक्तः, 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वा'दिति । अनवगाह्यमाहात्म्ये श्रुतिरेव शरणम्, नान्या वाचो युक्तिरिति । श्रुतिस्तु 'अपाणिपादो जवनो गृहीते'त्यादिः करणराहित्यं कर्तृत्वं च वक्तीति तथैवादरणीयम् ॥ ३० ॥

---

१ स्वपक्षदोषाच्चेति सूत्रं ग्रन्थकृद्भिर्नोपन्यस्तम्, नापि व्याख्यातमिति ।

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३१ ॥

पुनराशङ्कते । नेत्यादि । न ब्रह्म जगत्कारणम् । कुतः । प्रयोजनवत्त्वात् । लोके हि कार्यकर्तृत्वं प्रयोजनवतो दृष्टम् । ब्रह्म तु 'आप्तकाम' इति श्रुत्या प्रयोजनशून्यमुच्यते तस्मात् । व्यधिकरणो हेतुः । यद्वा । नप्रयोजनवत्त्वादित्येकं पदम् । तत्र नशब्देन सह सुप्सुपेति समासः । तथा सति पूर्वसूत्रान्नेत्यस्य साध्यस्यानुवृत्तिः । अर्थस्तु पूर्वोक्त एव ॥ ३१ ॥

लोकवत्तु लीला कैवल्यम् ॥ ३२ ॥

समाधत्ते । लोकेत्यादि । तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः । यदत्र भगवतः सृष्ट्यादिकर्तृत्वम्, तत् लोकवल्लीला । यथा राजभिर्मृगया क्रियते, तत्र क्रीडैव प्रयोजनम्, नान्यत् । मांसादेर्भृत्यादिभिरप्यानेतुं शक्यत्वात् । अतो लोकेपि प्रयोजनं विना ईश्वरस्य कार्यस्य दर्शनेन तत एव समाधानसम्भवान्नात्र पर्यनुयोगावकाश इत्यर्थः । तस्याः सामर्थ्यं स्वरूपं च बोधयितुमाह । कैवल्यमिति । तस्य [illegible]न्यस्य कीर्तयितुः कैवल्यजनकत्वात्कैवल्यं सा, स्वयं मोक्षरूपैव वेति ॥ ३२ ॥

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ३३ ॥

ननु ब्रह्मणः कर्तृत्वं न युक्तम्, कांश्चित्सुखिनः कुर्वतो वैषम्यापादकत्वात्, प्रलयं कुर्वतो नैर्घृण्यापादकत्वाच्चेत्याशङ्क्य परिहरति । वैषम्येत्यादि । एवं विभागेन सुखदुःखदानेपि एवं जगज्जन्मादिकरणेपि ब्रह्मणो न वैषम्यं नैर्घृण्यं वा । कुतः । सापेक्षत्वात् । जीवानां कर्मानुरोधेन सुखदुःखे प्रयच्छति, प्रलयं च करोतीति, कर्मसापेक्षत्वात् । इदं च वादिबोधनायोक्तम् । वस्तुतस्तु तदनन्यत्वादिसूत्रैः सर्वस्य चेतनाचेतनात्मकस्य जगत आत्मसृष्टित्वप्रतिपादनाद्वैषम्यनैर्घृण्ययोः सम्भावनैव नास्ति । किञ्च । जीवसुखादिकं प्रति भगवतः साधारणा कारणता, यथा व्रीह्यादीन् प्रति वृष्टेः । असाधारणा तु तत्तत्कर्मणः, यथा व्रीह्यादीन्प्रति तत्तद्बीजानाम् । अतोपि ब्रह्मणि न वैषम्यादिदोषः । न चेदं काल्पनिकम्, तदाह । तथा हि दर्शयतीति । हि यतो हेतोः श्रुतिरेव साधारण्यादिकं तयोर्दर्शयति । 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति, तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति, एष उ एवासाधु कर्म कारयति, तं यमधो निनीषती'ति । 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेने'ति च । न चैवं सापेक्षत्वेप्यनीश्वरत्वम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वेन महामाहात्म्यत्वादिति ॥ ३३ ॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥ ३४ ॥

ननु कर्मसापेक्षत्वेन यत्समाधानम्, तन्न युक्तमित्याह । न कर्मेत्यादि । कर्म चेत्पूर्वं स्यात्, तदा तत्सापेक्षत्वेन ब्रह्मणि दोषो न स्यात् । तदेव तु न । कुतः । अविभागात् ।

सृष्ट्यादौ 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय'मिति ब्रह्मेतरनिषेधे, 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा'इति श्रुत्युक्तस्य कार्योद्गमरूपस्य विभागस्याभावात् । ततः पूर्वं जीवाभावेन तच्छरीरसाध्यं कर्मापि न सम्भवति, येन वैषम्यादिः समाधीयेत । न च विभागोत्तरभाविना कर्मणा समाधानम् । कर्मणः शरीरजन्यत्वेन शरीरसम्बन्धस्य च कर्मजन्यत्वेनान्योन्याश्रयादिति चेत् । न । नायं दोषः । कुतः । अनादित्वात् । स्यादन्योन्याश्रयो, यदि शरीरकर्मव्यक्ती द्वे एव स्याताम्, तत्तु नास्ति । बीजाङ्कुरवत् शरीरकर्मप्रवाहस्यानादित्वात् । अतो विभागोत्तरं सापेक्षत्वात्सुघटः समाधिरित्यर्थः ॥ ३४ ॥

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३५ ॥

ननु सृष्टेः पूर्वं विभागाभावादनादित्वमेव कथमित्यत आह । उपपद्यत इत्यादि । अपिः पूर्वपक्षिगर्हायाम्। स्वयं यौक्तिकः सन् युक्तिं विस्मरतीति। चोवधारणे । उपपद्यत एव जीवस्यानादित्वेन कर्मानादित्वम् । यदि हि जीवस्यानादित्वं न स्यात्, कस्य संसारः स्यात् । किञ्च, प्रलयासन्नदशायां सदसत्कर्मकरणोत्तरं प्रलये जाते तदानीं जीवानां ब्रह्मरूपत्वेन, सृष्ट्यारम्भदशायां विस्फुलिङ्गवद्विभागेपि ब्रह्मरूपत्वस्यानपेतत्वेन कर्मफलभोगायोगात्कृतहानिः । सृष्ट्यारम्भे ब्रह्मरूपतयाऽतिशुद्धानां सकलदुःखनिवहसाधनीभूतशरीरसम्बन्धादकृताभ्यागमश्च स्यात् । जीवस्यानादित्वे चेदं सर्वमुपपद्यते । न चेदं तर्कसिद्धत्वादप्रतिष्ठितमिति शङ्कनीयम् । कुतः । उपलभ्यते च । 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्ये'ति सर्गादौ जीवपदप्रयोगादनादित्वं श्रुतावुपलभ्यते । चकारात् 'तपसैव यथापूर्वं स्रष्टा विश्वमिदं भवा'नित्यादिस्मृतावपि । तथा च श्रुतौ जीवानादित्वस्य स्मृतौ सृष्ट्यनादित्वस्य च बोधनेन कर्मानादित्वं सुखेन सिध्यतीति न कश्चिद्दोष इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३६ ॥

नन्वेवं सति प्रलये नामरूपविभागानर्हरूपेण सर्वावस्थानं सिध्यतीत्यविभागलक्षणस्यैवाद्वैतस्य सिद्धिः, न तु शुद्धाद्वैतस्येत्यद्वितीयश्रुतिविरोधो दुष्परिहर इत्याशङ्कां परिहरन् स्वोक्तमुपसंहरति । सर्वेत्यादि । चोवधारणे । वेदोक्ताः सर्वे धर्माः ब्रह्मणः सर्वसमर्थत्वादुपपद्यन्ते । 'अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जग'दिति श्वेताश्वतरश्रुतेर्जीवानामवयवत्वादवयवैश्चावयविनोऽद्वितीयत्वस्याभङ्गान्न शुद्धाद्वैते कोपि शङ्कावकाश इत्यर्थः । तेन विरुद्धधर्माश्रयं सर्ववादानवसरं समाभ्यधिकरहितं नानावादानुरोधि ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ ३६ ॥ इति दशमं सर्वोपेता इत्यधिकरणम् ॥ १० ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां
ब्रह्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥ (२-२-१)

पूर्वस्मिन् पादे साङ्ख्यादीनां स्मृतीनां यद्यपि सामान्यतो निराकरणं कृतम्, तथापि केषाञ्चन मन्दमतीनां तदुक्तयुक्तिष्वाभासतायामभातायां श्रद्धोत्पत्तौ विभ्रंशः स्यात्, स माभूदित्यतः करुणया तदुक्तयुक्तीराभासीकर्तुं द्वितीयः पादः आरभ्यते । तत्र पूर्वस्मिन् पाद उपपादितः सत्कार्यवादः परिणामवादश्च साङ्ख्यानां ब्रह्मवादिनां तुल्य इति साङ्ख्ये श्रद्धा शीघ्रमास्तिकस्योत्पद्येतेति दशभिः सूत्रैः पूर्वं साङ्ख्योक्तयुक्तिमाभासीकरोति । रचनेत्यादि । अनुमीयत इत्यनुमानम्, प्रधानस्य कारणत्वेनानुमानं न कर्तव्यम् । कुतः । रचनानुपपत्तेः । अयमर्थः । प्रधानं हि महदादिरूपात्परिणामादनुमीयते । विवादाध्यासिता महदादयो भूतान्ताः स्वसजातीया व्यक्तकारणकाः, अव्यक्तव्याप्यत्वात् । ये यज्जातीयव्याप्यास्ते तज्जातीया व्यक्तकारणकाः, यथा घटादयो मृदादिव्याप्या मृदादिकारणका इत्यादिप्रयोगात् । एवं साध्यमानं प्रधानं न जगत्कारणम् । भूरादिलोकरचनायाः केवलेनाचेतनेन प्रधानेनानुपपत्तेः । रचना हि बुद्धिपूर्विका वा प्रतिनियतदेशकालव्यवस्थापिका वा स्पार्शना वा क्रिया । सा हि नाचेतने क्वापि दृष्टा । तथा च भूरादिलोकरचना न केवलाचेतनकारणिका । रचनात्वात् । गृहादिरचनावत् । भूरादिलोकाः नाचेतनकर्तृकाः । स्पार्शनक्रियाविशेषात्मकरचनाविषयत्वात् । घटकुड्यादिवत् । प्रधानं स्वतः अकर्तृ । अचेतनत्वात् । स्तम्भादिवदित्यादिभिः प्रयोगैः सत्प्रतिपक्षत्वान्न तेनानुमानेन प्रधानं जगत्कारणतयानुमातुं शक्यमिति । नन्वेतैः प्रयोगैः कर्तृत्वस्यैवासिद्धिः, न तु कारणत्वस्येति तत्परिणामाङ्गीकारे को दोष इति चेत् । न । तन्मते पुरुषस्य निष्क्रियत्वेन या काचित्क्रियाशक्तिः, सा सर्वापि प्राधानिक्येवेति रचनाया अपि तद्धर्मत्वात्तत्कर्तृकाणां लोकानां न तत्परिणामत्वं तैर्वक्तुं शक्यम् । तथा च भूरादयो लोका न प्रधानपरिणामः, तद्रचितत्वात् । यद्यद्रचितम्, तन्न तत्परिणामः, यथा घटादिः, कुलालादेरित्यनुमानेन लोकेभ्यः परिणामत्वे निवृत्ते प्रधानस्योपादानताया अपि निवृत्तौ कारणत्वस्यैव ततो निवृत्तेः । इदमेव सूत्रे चकारेण सूच्यते ॥ १ ॥

प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

अत्रापि अनुपपत्तेरिति पूर्वसूत्रैकदेशो नानुमानमिति चानुवर्तते । तथा च प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतोः कारणतया प्रधानानुमानं न कार्यमित्यर्थः । ननु पूर्वहेतुनैव साङ्ख्यमते निराकृते किमस्य प्रयोजनमिति चेत् । उच्यते । रचना द्विविधा । भुवनरचना जनरचना च । तत्र भुवनरचनामादाय साङ्ख्यानुमाने दूषितेपि, जनरचनायाः अचेतनशुक-

शोणितपरिणामरूपत्वात्पूर्वोक्ते रचनात्वहेतुकेऽनुमाने जनशरीररचनाया रचनाविषयत्वहेतुके च जनशरीरस्याचेतनत्वहेतुके च शुक्रशोणितयोर्दृष्टान्तीकरणे तेषां साधारणत्वापत्त्या तैः स्वानुमानदूषणममन्वानः पुनः प्रत्यवतिष्ठेदित्यतस्तेषां शुद्धेरेव प्रयोजनत्वात्। कथं शुद्धिरिति चेत्, इत्थं, प्रवृत्तिर्नाम प्रयत्नस्तत्पूर्विका क्रिया वा। तथा च ब्रह्माण्डशरीररचना न केवलचेतनकारणका, प्रवृत्तिपूर्वकरचनात्वात् । मातापितृप्रवृत्तिपूर्वकशुक्रशोणितपरिणामात्मकजनशरीररचनावत् । भूरादिलोकाः न केवलाचेतनकर्तृकाः, प्रवृत्तिपूर्वकरचनाविषयत्वात् । पुरुषशरीरवत् । प्रधानं न स्वतः कर्तृ, प्रवृत्तिमत्त्वे सत्यचेतनत्वात् । जीवशरीरवदिति विशेषणादिना शुद्धेः । नापि धेनुनर्तकीदृष्टान्तेनाचेतनप्रवृत्त्युपपत्तिः । तत्रापि चेतनाधिष्ठानसत्त्वेन केवलाचेतनप्रवृत्त्यभावो बोध्यः ॥ २ ॥

पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

ननु मास्तु धेन्वादिदृष्टान्तेन प्रवृत्तेः केवलाचेतनधर्मत्वम्, तथापि क्षीरजलदृष्टान्तेन केवलाचेतनधर्मत्वं प्रवृत्तेः सुवचम् । यथा दुह्यमानमधिश्रयमाणं च पयो विचित्रफेनरचनां करोति, यथा च नद्यादिजलं स्वत एव स्यन्दते, तथा च विचित्रलोकादिरचना केवलचेतनकर्तृका रचनात्वात्, दुह्यमानपयःफेनरचनावत् । बन्धाद्यर्था प्रधानप्रवृत्तिः केवलाचेतनधर्मः प्रवृत्तित्वात् । नद्यादिस्यन्दनप्रवृत्तिवदिति प्रयोगात् । अतः प्रवृत्तेरपि क्रियाविशेषत्वमेव, न तु प्रयत्नपूर्वकत्वमित्यत आह पय इत्यादि। अत्रापि नानुमानमित्यनुषङ्गः । तथा च उक्तरीत्या पयोम्बुदृष्टान्तेनाचेतनधर्मत्वं प्रवृत्तेर्नानुमातव्यम् । कुतः । तत्रापि । तस्मिन्नपि दृष्टान्ते दोहनाधिश्रयणयोश्चेतनस्यैव प्रयोजकत्वात्, नदीप्रस्रवणादौ च मेघानामेव चेतनानां प्रयोजकत्वान्नैवमपि रचनाप्रवृत्त्योरचेतनधर्मत्वसिद्धिरित्यर्थः ॥३॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

एवं प्रकृतेः कर्तृत्वे दूषणमुक्त्वा तस्याः स्वतः परिणामे दूषणमाह । व्यतिरेकेत्यादि । अत्रापि पूर्ववदनुषङ्गः। व्यतिरेकेण कार्यकरणं विना अनवस्थितिः, अवस्थित्यभावे व्यतिरेकानवस्थितिः, ततोपि बाधकात् प्रधानं स्वतः परिणामशीलत्वेन नानुमातव्यम् । व्यतिरेकानवस्थितिरेव कुत इत्यत आह । अनपेक्षत्वात् । प्रधानस्य स्वकार्यकरणेऽन्यानपेक्षत्वात् । तथा च प्रधानं यदि स्वतः परिणमेत, सर्वदैव कार्योत्पत्तिरेव स्यात्, न तु जातु प्रलयः, गुणत्रयस्य युगपत् क्षोभापत्तेस्तदीयकार्यत्रययौगपद्यापत्तिश्चकारेण समुच्चीयते । तस्मात्प्रधानस्य स्वभावतः परिणामो न युक्तिसह इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥

नन्वस्माभिर्दृष्टान्तान्तरे प्रधानस्य स्वतः परिणामः समर्थनीयः । प्रधानं स्वभावादेव परिणमते, अचेतनत्वात्, तृणादिवदिति । यथा हि तृणपल्लवजलानि गवादिभक्षितानि

स्वभावत एव क्षीराकारेण परिणमन्ते, तथा प्रधानमपि महदाद्याकारेणेति, एवं चानपेक्षाहेतुको व्यतिरेकानवस्थितिदोषोपि न भवतीत्याशङ्कायामाह । अन्यत्रेत्यादि । अत्रापि पूर्ववदनुषङ्गः । अन्यत्र शृङ्गादौ दुग्धरूपस्य तृणादिपरिणामाभावात्, तृणादिकमपि न स्वभावतस्तथा परिणमति । तथा च प्रधानं न स्वभावादेव परिणमति अचेतनत्वात् तृणादिवदिति हेतूदाहरणयोः साधारणत्वेन एतद्दृष्टान्तबलादपि केवलप्रधानस्य कारणतयानुमानं न कर्तुं शक्यम् । चकारात् घासभक्षणादिरूपा गवादिचेतनक्रियापि तत्र प्रयोजिका दृश्यते । अतो लोकदृष्टान्ताभावादचेतनं प्रधानं न कारणमित्यर्थः ॥ ५ ॥

अभ्युपगमेप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥

पूर्वसूत्रेष्वनभ्युपगम्य प्रधानकारणवादो दूषितः । इदानीं स उपगम्य दूष्यते । यथा धेनुर्वत्सार्थं स्वत एव प्रवर्तते, तथा प्रधानमपि पुरुषभोगार्थं स्वत एव प्रवर्तेत इत्यभ्युपगमेपि प्रधानप्रवृत्तेरनुमानं न कर्तुं शक्यम् । अत्रापि पूर्ववदनुषङ्गः । अशक्यत्वे हेतुः । अर्थाभावात् । अर्थः प्रयोजनं तदभावात् । प्रयोजनं हि प्रेक्षावतां भासते । प्रेक्षापूर्वकारित्वस्य चेतनधर्मत्वादचेतने प्रधाने तस्य वक्तुमशक्यत्वात् । तथा च लोके तथा अदर्शनेनासङ्गतस्तथाभ्युपगम इत्यर्थः ॥६॥ इति प्रथमं रचनानुपपत्तेरित्यधिकरणम् ॥१॥

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ ७ ॥ (२.२.२.)

पूर्वसूत्रेषु सप्तसु केवलप्रधानकारणवादो निराकृतः । इदानीं दृक्शक्तिः पुरुषः क्रियाशक्तिराहित्यात्पङ्गुः दृक्शक्तिशून्यमन्धं प्रधानं क्रियाशक्तिमदारुह्यान्योन्योपकाराय सृष्टिं कुर्वाते । अथवा । यथा अयःकान्तः सन्निधिमात्रेण लोहे क्रियामुत्पादयति, एवमेव पुरुषसन्निहितं सृजत इति पुरुषप्रेरितप्रधानकारणवादं निराकरोति । पुरुषेत्यादि । अत्रापि पूर्ववदनुषङ्गः । उक्तरीत्या पुरुषवदश्मवच्च प्रधानप्रेरणमङ्गीक्रियते इति चेत्, तथापि तस्मिन्नपि पक्षे प्रधानस्य कारणत्वेनानुमानं न कर्तुं शक्यम् । तत्र हेतुर्दोषतादवस्थ्यम् । तच्च प्रकरणबलादेव लभ्यत इत्यतो नोक्तम् । तेनायमर्थः । यदि पुरुषस्य प्रेरकत्वं स्वाभाविकम्, तदा प्रधानस्याप्रयोजकत्वान्न कारणत्वमिति कारणत्वभङ्गदोषस्तदवस्थः । यदि प्रधानकृतम्, तदा पूर्वोक्ता अचेतनत्वकृता दोषास्तदवस्था इत्युभयथाप्यसङ्गतः पक्ष इति । सूत्रयोजना तु पुरुषश्च अश्मा च पुरुषाश्मानौ ताभ्यामल्पसम्बन्धः पुरुषाश्मवत् । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणो वतिः प्रत्येकमभिसम्बध्यत इति ॥ ७ ॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

अत्रैव दूषणान्तरमाह । अङ्गित्वेत्यादि । यत्तयोरन्योन्योपकारकत्वमङ्गीकृतम्, तत्तदा स्याद्यदि गुणप्रधानभावेनैकस्याङ्गत्वमन्यस्याङ्गित्वं स्यात्, तत्तु न सम्भवति । पुरुषस्याङ्गित्वे तस्य पुरुषान्तरवैलक्षण्यस्यावश्यकत्वात्तस्य च श्रौतधर्मवत्तयैव सम्भवेन ब्रह्मवाद-

प्रवेशात् । श्रौतधर्मानङ्गीकारेपि कालकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वस्य तत्रावश्यवक्तव्यतया योगिवदीश्वरसिद्ध्या मतहानिप्रसङ्गात् । यदि च तद्भिया प्रकृतेरङ्गित्वमाद्रियते, तदा तस्याः स्वातन्त्र्यात्तया पुरुषाय स्वदोषा न दर्शयितव्याः । तथा सति दुःखाभावेन पुरुषस्य विरागाभावात्कैवल्यार्थं प्रवृत्त्यभावेनानिर्मोक्ष इत्युभयथाप्यङ्गित्वानुपपत्तेः पूर्वोक्तः पक्षो न सङ्गत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ ९ ॥

नन्वन्यथा वयमनुमास्यामहे, यथा न कोपि दोषो भवति, गुणास्तावदन्योन्याभिभवान्योन्याश्रयान्योन्यजननान्योन्यमिथुनक्रियावत्त्वाच्चलस्वभावाः, तथा च गुणाः एवं विभागशः प्रवृत्तिमन्तः चलस्वभावत्वात् । चलद्दलद्लवदिति प्रयोगात् । एवं सति तमसा रजःसत्त्वयोर्नियमने प्रलयः, रजसा तमोनियमने सृष्टिः, ससत्त्वेन तमोनियमने स्थितिः, एवमन्यान्यपि कार्याणि मिथुनीभावादिना । एवं सत्त्वोद्रेके तेन प्रकाशादात्मविवेके सति निर्मोक्ष इत्याशङ्कायामाह । अन्यथेत्यादि । अत्रापि पूर्ववदनुषङ्गः । चोप्यर्थे । एवमन्यथानुमितावपि न चेतनाधिष्ठितायाः प्रकृतेः कारणत्वस्यानुमानं शक्यम् । कुतः । ज्ञशक्तिवियोगात् । ज्ञानशक्तेस्तेष्वभावात् । एवं तत्तत्कालिकक्रियानुमितस्तेषां स्वभावस्तदा स्याद्यदि गुणेषु ज्ञानशक्तिः स्यात् । सा तु पुंप्रकृत्योः संयोगात्पूर्वं गुणसाम्यरूपायां प्रकृतौ न भवद्भिरङ्गीक्रियत इति कथं गुणप्रवृत्त्युपपत्तिः । न च दृष्टान्तबलादिति वाच्यम् । जीवत एवाश्वत्थस्य दलच्चलनात्तत्रापि चेतनाधिष्ठानानुमानात् । अन्यथा छिन्नाश्वत्थशाखाया अपि दलचलनं दृश्येत । अतोन्यथानुमितावपि न सिद्धिः । यदि च चेतनाधिष्ठानसार्वदिकत्वमङ्गीकृत्य प्रवृत्तिः साध्यते, तदा पुंप्रकृत्योर्नित्यविभुत्वेन तदधिष्ठानस्यापि नित्यत्वात्प्रलये च कालस्यापि त्वन्मते नाशाद्वियोजकस्याभावेनाङ्गित्वसूत्रोक्तरीत्या अनिर्मोक्षप्रसङ्गः । तस्मादसङ्गतोयमपि प्रकार इत्यर्थः ॥ ९ ॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

सर्वपक्षसाधारणं दूषणमाह । विप्रतिषेधेत्यादि । 'केचित् षड्विंशतिं प्राहुरितरे पञ्चविंशतिम् । सप्तैके नवषट् केचिच्चत्वार्येकादशापरे । केचित्सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदशेत्ये'कादशस्कन्धोक्तरीत्या साङ्ख्यमतवर्तिनां परस्परविरोधाच्चायुक्तं साङ्ख्यमतमित्यर्थः ॥ १० ॥ इति द्वितीयं पुरुषाश्मवदित्यधिकरणम् ॥ २ ॥

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ ११ ॥ (२-२-३.)

एवं साङ्ख्यमतं निराकृत्येदानीं नैयायिकादिसमयः सप्तसूत्र्या निराक्रियते । अत्र वाशब्दो विकल्पार्थः । कणभक्षाक्षचरणानुयायिनो हि नित्येभ्य उपादानभूतेभ्यः परमाणुभ्यो द्व्यणुकादिक्रमेण जगदुत्पत्तिमङ्गीकुर्वन्ति । अंशुभ्यस्तन्तूनां तन्तुभ्यः पटस्येति

सूक्ष्मादेव स्थूलोत्पत्तिदर्शनात् परमाणूनामवयवाङ्गीकारे चानवस्थापत्तेस्तत्रैव कारणताया विश्रान्तेः । तत्र जीवादृष्टसहकृतेश्वरेच्छावशात्परमाणुषु कर्मोत्पद्यते । ततस्ते परमाण्वन्तरेण संयुज्यमानाः प्रत्येकं द्व्यणुकरूपं कार्यमारभन्ते । परमाणुगुणाश्च द्व्यणुकगुणान् । परमाणुपरिमाणं च ह्रस्वं परितो मण्डलं च । तत्र परमाणुभ्यां द्व्यणुकारम्भे तद्गतद्वित्वसङ्ख्यया द्व्यणुकपरिमाणमपि ह्रस्वपरिमण्डलात्मकमारभ्यते । न तु महत्परिमाणम् । तस्य बहुत्वेन प्रचयविशेषेण वा भवनात् । द्व्यणुकारम्भकपरमाण्वोश्च तदभावात् । ततस्तेभ्यस्त्र्युण्यादिक्रमेण जगदुत्पत्तिरिति । तामिमां परमाणुकारणप्रक्रियां दूषयिष्यन्प्रथमं द्व्यणुकपरिमाणं दूषयति । महदित्यादि । परमाणुद्वयसंयोगे द्व्यणुकमुत्पद्यत इत्युक्तम् । तत्र ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां परमाणुभ्यामुत्पाद्यमानः संयोगो यद्युपर्यधो भावेन, तदा द्व्यणुकं महत्स्यात् । यदि प्राक्पश्चाद्भावेन, तदा द्व्यणुकं दीर्घवत्स्यात्, संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वनियमादित्यर्थः । एतस्य सूत्रस्याग्रिमेण सूत्रेण सहान्वयो वक्तव्यः । उपहासार्थमेतदनुवादः । य एवं लोकतत्त्वमपि न जानन्ति, ते कथमात्मतत्त्वं ज्ञास्यन्तीति ॥ ११ ॥

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥ १२ ॥

नन्वेवं द्व्यणुकपरिमाणे दूषणेन किं सिद्धमत आह । उभयथेत्यादि । उपर्यधोभावेनाग्रपश्चाद्भावेन चेत्युभयथापि परमाणुसंघट्टनं न । परमाणौ प्रदेशाभावादसंयुक्तांशस्याभावेन द्व्यणुकस्यापि परमाणुभावापत्तेः । ननूभयोर्मेलनेस्माभिरपि परिमाणान्तरं न स्वीक्रियते, तथाप्याधिक्यं त्वदण्डवारितमतो न कोपि दोष इत्यत आह । न कर्मेति । नकारो देहलीदीपवदुभयत्र संबध्यते । परमाणुद्वयसंयोगजनकं कर्मापि न सम्भवति, ईश्वरेच्छया तदनुगृहीतादृष्टवदात्मसंयोगेन वा परमाणुषु कर्माङ्गीकारे तेषां प्रलयदशायामपि सत्त्वेन तदानीमपि कर्मापत्त्या द्व्यणुकसत्त्वापत्तेः । प्रयत्नवदात्मसंयोगेन तदङ्गीकारस्त्वसङ्गतः । तदानीं शरीराभावात्तदानींतनात्ममनःसंयोगस्य ज्ञानेच्छाप्रयत्नाजनकत्वात् । अन्यथा मुक्तेष्वपि तदापत्तेः । प्रयत्नाभावे च तेषु कर्मायोगात् । अतस्तदभावः स्वरूपविरोधात् हेत्वभावाच्च द्व्यणुकस्यैवाभाव इति सिद्धमित्यर्थः । एवं च ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां परमाणुभ्यां जायमानं द्व्यणुकं महद्दीर्घवद्वा स्यादुभयथापि न, तज्जनकं कर्मापि न, अतो हेतुद्वयात्तदभावो द्व्यणुकस्याभाव इत्यन्वयो बोध्यः । तस्मादसङ्गतः परमाणुकारणवादः ॥ १२ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ १३ ॥

अत्रापि तदभाव इत्यनुषज्जते । परमाणुद्व्यणुकयोः कारणकार्ययोः सम्बन्धस्य समवायस्याभ्युपगमादपि द्व्यणुकस्याभावः । समवायो ह्ययुतसिद्धयोः सम्बन्धः, अयुतसिद्धौ च तौ ययोर्द्वयोरन्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते । स च सर्वेषामेको नित्यो

व्यापकश्चेत्यभ्युपगम्यते । एवमभ्युपगम्यमानः समवायः सम्बन्धत्वात्सम्बन्धिद्वयस्वरूपनिरूप्यः । सम्बन्धि च द्व्यणुकं न सदातनं असत्कार्यवादाभ्युपगमात् । अतः सृष्ट्यारम्भकाले समवायस्य वक्तुमशक्यत्वादपि द्व्यणुकस्याभावः । किञ्च । साम्यादनवस्थितेः । अभ्युपगम्यमानः समवायः सम्बन्धत्वात्संयोगेन तुल्यो वक्तव्यः । तथा सति संयोगस्य यथा सम्बन्धिनि स्थित्यर्थं सम्बन्धान्तरस्य समवायस्यापेक्षा, तथा समवायस्यापि स्थित्यर्थं सम्बन्धान्तरं वक्तव्यम् । ततश्च तस्यापि तस्यापीत्यनवस्थितिः । तथा चातोपि हेतोः समवायायोगात् द्व्यणुकाभाव इत्यर्थः । सिद्धान्ते तूपादेयस्योपादानेन सह तादात्म्यमेव सम्बन्धः प्रत्यक्षसिद्धः । घटादिकं मृदात्मकं कुण्डलादिकं सुवर्णात्मकमिति प्रत्यक्षेणैवावगमादतो न कश्चिद्दोषः ॥ १३ ॥

नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥

तदभाव इतीहाप्यनुषज्जते । सामग्रीसमवधानेऽवश्यं कार्योत्पत्तिः । प्रकृते च परमाणोः समवायिनः ईश्वरेच्छादेर्निमित्तस्य नित्यत्वेन तज्जन्यकर्मसंयोगयोरपि पूर्वमेव भावान्नित्यमेव सर्गापत्त्या परमाणुजन्यद्व्यणुकाभाव इत्यतोप्यसङ्गतः परमाणुकारणवाद इत्यर्थः ॥ १४ ॥

रूपादिमत्वाच्च विपर्ययोऽदर्शनात् ॥ १५ ॥

एवं द्व्यणुकदूषणेन परमाणुकारणवादे निरस्तेपि यावत्तेषां नित्यत्वं न दूष्यते, तावदनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वरूपस्य तदीयस्य कारणलक्षणस्य परमाणुष्वभिमानेन स वादः पुनरुत्तिष्ठेदतस्तदभावाय परमाणुनित्यत्वं दूषयति । रूपादीत्यादि । यद्धि रूपादिमत्तदनित्यमिति व्याप्तेः विपर्ययः परमाणूनामप्यनित्यत्वम्, तथा च परमाणवो नित्याः, सत्त्वे सत्यकारणवत्त्वादाकाशवदिति साधने अनित्या रूपादिमत्त्वाद्घटादिवदिति प्रतिसाधनस्य सत्त्वात् । किञ्च । यद्रूपादिमत् तन्न परमाणुत्र्यणुकादिवदिति व्याप्तेस्तेष्वपरमाणुत्वरूपोपि विपर्ययः । न च प्रमाणबलेन परमाणुव्यतिरिक्त एव रूपादिमत्त्वानित्यत्वयोर्व्याप्तिरिति वाच्यम् । कुतः । अदर्शनात् । न हि परमाणुर्दृश्यते । येन त्वदुक्तस्याकारणवत्त्वस्य हेतोः पक्षधर्मतावसीयेत् । न च तज्ज्ञानेनुमितिः सम्भवति । अतः प्रमाणबलाभावान्न तथा वक्तुं शक्यम् । न च कार्यानुपपत्त्यापि तथा शङ्क्यम् । श्रुत्युक्तप्रक्रिययैव तत्सिद्धेः । अतः परमाणुकारणताया असङ्गतत्वमित्यर्थः ॥ १५ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

दूषणान्तरमाह । उभयथेत्यादि । परमाणूनां रूपादिमत्त्वे अनित्यत्वं तद्राहित्ये कार्यगतरूपादीनां निर्मूलत्वमित्युभयथा दोषात् । चकारेण हरिद्राचूर्णमेलने विजातीयरूपदर्शनात्सजातीयारम्भकत्वनियमविरोधाच्चासङ्गतोयं वाद इत्यर्थः ॥ १६ ॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

एतन्मतस्य विशेषतो यद्दूषणं तत्प्रयोजनमाह । अपरिग्रहेत्यादि । शिष्टानां एतदपरिग्रहात् अत्यन्तं सर्वथा नापेक्ष्यते, अत एतस्य विशेषेण दूषणमित्यर्थः । चकारोधिकरणपूर्तिद्योतकः ॥ १७ ॥ इति तृतीयं महद्दीर्घवद्वेत्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

एवं सप्तसूत्र्या वैशेषिकादिसमयो निराकृतः । अतः परमूनविंशतिभिर्बाह्यसमयो निराक्रियते । ते च बाह्याः षट् । चार्वाकाः १, वैभाषिकाः २, सौत्रान्तिकाः ३, योगाचाराः ४, माध्यमिकाः ५, आर्हताश्च ६ । तत्र बृहस्पतिप्रणीतलोकायतदर्शनानुसारिणो देहात्मवादिनः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनः तन्मतमत्यसङ्गतत्वाद्व्यासचरणैरुपेक्षितम् । शेषेष्वाद्याश्चत्वारो बुद्धशिष्या वैनाशिकाः । तेत्रार्धवैनाशिकोत्तरं पूर्वं निराक्रियन्ते ।

समुदाय उभयहेतुकेपि तदप्राप्तिः ॥ १८ ॥ (२-२-४.)

तत्र चतुर्णामपि बौद्धानामध्यात्मांशे तैक्यम् । बाह्ये तु वैभाषिकाः सर्वार्थान् प्रत्यक्षानुमानसिद्धान् सतः क्षणिकान् वदन्ति । सौत्रान्तिकास्तु बाह्यान्पदार्थान् ज्ञानानुमेयान्वदन्ति । योगाचारास्तु अर्थजन्यं क्षणिकविज्ञानमेव सत्यं अर्थास्त्वसन्तः स्वाप्नकल्पा इत्याहुः । माध्यमिकास्तु, न सन्नासन्न सदसन्न च सदसद्विलक्षणम् , किन्तु शून्यं सर्वमित्याहुः । तत्राद्या उभये समुदायद्वयं जीवभोगार्थं संहन्यत इति मन्यन्ते । तत्र परमाणुसमूहः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयसमुदायो बाह्य एकः स पृथिव्यादिरूपेण संहन्यते । ततः पुनः स एव भौतिकसङ्घातहेतुतां प्रतिपद्यते । द्वितीय आभ्यन्तरश्चित्तचैत्तिकसमुदायः । स च रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्काराख्यस्कन्धपञ्चकसमुदायात्मकः । तत्र शरीरं रूपस्कन्धः । अहमित्याकारमिन्द्रियादिजन्यं ज्ञानं विज्ञानस्कन्धः । तदेव चित्तमालयविज्ञानेतिव्यवह्रियमाणं जीवः । प्रियाप्रियविषयस्पर्शे या सुखदुःखाद्यवस्था सा वेदनास्कन्धः । सविकल्पः प्रत्ययः संज्ञासंसर्गयोग्यः संज्ञास्कन्धः । रागादयः क्लेशा मदमानादय उपक्लेशा धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः । एवं बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नपुञ्जद्वयस्वीकारेण सकललोकयात्रानिर्वाहे सति नात्मा नित्यो नाप्यवयवी कश्चित् स्वीकार्यः । एते च बाह्याभ्यन्तराः सर्वेर्थाः क्षणिकाः । 'क्षणिकाः सर्वसंस्कारा ' इति बुद्धवचनात् । अयं च समुदायो नेश्वरहेतुकस्तदनङ्गीकारात् । किन्तु परमाणुपुञ्जःस्कन्धपञ्चकं चेत्युभयहेतुक इति तदुभयसङ्घातसम्बन्धे निर्वातस्थदीपवत्पूर्वोक्तक्षणिकविज्ञानात्मकस्य जीवस्य रूपवेदनासंज्ञासंस्कारस्कन्धात्मकः संसार [illegible]ासंस्कारक्षयात्क्षणपरम्परयावतिष्ठते । क्षीणे तु संस्कारस्कन्धे तैलादिक्षये दीपवदेव निर्वाणमृच्छति । सेयमभावप्राप्तिरेव मोक्ष इति । तदिदं दूषयति । समुदायेत्यादि । उक्तरीत्या उभयहेतुकेपि समुदायेङ्गीक्रियमाणे तदप्राप्तिः, जीवस्य तादृशसंसाराप्राप्तिः । बुद्धवचसा सर्वेषां क्षणिकत्वाभ्युपगमात् तेषां

निर्व्यापारतया नश्वरतया च समुदायघटनानुपपत्त्या कथञ्चित्स्वभावेन समुदायघटनाङ्गीकारे वा तत्तद्विधशरीराणां पर्यायेण घटनायाः परिमाणभेदादेश्चानुपपत्त्या रूपस्कन्धसम्बन्धस्यासम्भवात्तन्मूलकस्य वेदनास्कन्धात्मकस्य संसारस्याप्राप्तिः । तथा चासङ्गतं पुञ्जस्य कारणत्वमित्यर्थः ॥ १८ ॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

अत्रापि तदप्राप्तिरित्यनुषज्यते । क्षणिकत्वासमाधिं सूत्रांशेनाशंक्य, अंशान्तरेण परिहरति । इतरेतरेत्यादि । यदुक्तं सर्वक्षणिकत्वेन जीवस्य संसाराप्राप्तिरिति । तन्न । इतरेतरप्रत्ययत्वात् । हेतुं हेतुं प्रत्ययं ते गच्छन्तीति प्रत्ययाः साधारणकारणानि । इतरेतरं प्रत्यया इतरेतरप्रत्ययास्तेषां भावस्तत्त्वं तस्मात् । अयमर्थः । यद्यपि सर्वं क्षणिकं तत्र चाविद्यासंस्कारविज्ञाननामरूपषडायतनस्पर्शवेदनातृष्णोपादानभवजातिजरामरणशोकपरिवेदनादुःखदुर्मनस्त्वानामितरेतरकारणतया चक्रवत्परिवृत्तिः, तथापि न कारणव्यक्तिं प्रति कार्यव्यक्तेः कारणता । किन्तूत्तरोत्तरं प्रतिपूर्वपूर्वस्येत्येवमितरेतरप्रत्ययत्वादुत्तरोत्तरक्षणिकविज्ञानसन्ततिरूपस्य जीवस्य तादृशार्थसन्ततिरूपाणां रूपादिस्कन्धानां सम्बन्धात्मके संसारे तादृशसन्तत्यात्मकसंस्कारस्कन्धेन नानाविधशरीराणां तत्परिमाणादिभेदानां च सिद्धेः संस्कारविरामावेवाभावरूपमोक्षस्यापि सिद्धिर्न स्वत इति न पुञ्जस्य कारणतायां काप्यनुपपत्तिरिति चेत् । न । अस्त्यनुपपत्तिः । कुतः । उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् । ये हीतरेतरप्रत्ययाः पूर्वमुक्तास्ते उत्पत्तिमात्रं प्रतिनिमित्तभूताः स्वसदृशीं सन्ततिमुत्पाद्य नश्यन्ति । तथा सति विज्ञानसन्ततिरूपस्य जीवस्य पूर्वकालीनप्रियाप्रियसंस्पर्शान्नुसंधानात्कथं वेदनादिस्कन्धात्मकसंसारसिद्धिः । अथानुसन्धानमपि कथञ्चिदुपगम्यते, तथा सति सन्तानिनः स्थिरत्वापत्त्या सर्वक्षणिकत्वप्रतिज्ञाभङ्गः । विज्ञानसन्ततिरूपस्य जीवस्य क्षणिकत्वेनास्थैर्याद्रूपादिस्कन्धसम्बन्धवियोगार्थं प्रयतनानुपपत्तिः । अर्थानां क्षणिकत्वेनास्थैर्यात्समुदायानुपपत्तिश्चेति संसाराप्राप्तिरूपं दूषणं दुरुद्धरमित्यसङ्गता पुञ्जस्य कारणतेत्यर्थः ॥ १९ ॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥

अत्रापि पूर्ववदनुषङ्गः । ननु यथा दीपज्वाला उत्पद्यमानैव संहन्यते विषयीभवति च, तथा पदार्थान्तरमपि संहस्यत इति न समुदायानुपपत्तिः । विषयीभावाच्च नास्थैर्येऽपि संसाराद्यनुपपत्तिरित्यत आह । उत्तरेत्यादि । अयमर्थः । उत्पद्यमानस्य संहन्यमानत्वं वदता उत्पत्तिः पूर्वं विचार्या । उत्तरोत्पत्तिः किं पूर्वोत्पत्तिक्षणे किं वा पूर्वनाशक्षणे । नाद्यः, उत्पत्तिक्षण एव कार्यकारणाङ्गीकारे पूर्वापरभावाभावेन कार्यकारणभावविरोधादेकमपि न स्यादित्यनुत्पत्त्यापत्तेः । न द्वितीयः । उत्पन्नस्य स्थितस्यैवोत्पादकत्वदर्शनान्नश्यतस्तददर्शनादुत्तरोत्पत्तिसमये पूर्वनाशादुत्पादकाभावेनानुत्पत्त्यापत्तेः । तथा चोभयथाप्यसङ्गतत्वात्समुदायाप्राप्तिः संसाराद्यप्राप्तिश्च तदवस्थेत्यतोऽपि तथेत्यर्थः ॥ २० ॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २१ ॥

नन्वसत्यपि हेतावभावादेव फलोत्पत्तिरिति न कोपि दोष इत्यत आह । असतीत्यादि । असति हेतौ फलोत्पत्त्यङ्गीकारे प्रतिज्ञोपरोधः, चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यत इति प्रतिज्ञाया भङ्गः । चतुर्विधा हेतवस्तु आलम्बनप्रत्ययः समनन्तरप्रत्ययोऽधिपतिप्रत्ययः सहकारिप्रत्ययश्चेति । तत्रालम्बनप्रत्ययो नाम विषयः तेन चित्तस्य नीलाद्याकारता । समनन्तरप्रत्ययः पूर्वविज्ञानं तेन बोधरूपता । अधिपतिप्रत्यय इन्द्रियं तेन रूपादिग्रहणप्रतिनियमः । सहकारिप्रत्यय आलोकादिस्तेन गृहीतस्य स्पष्टार्थता । एवमेतैश्चतुर्भिर्हेतुभिर्नीलाद्याकारकविज्ञानात्मकं चित्तं · चित्ताभिन्नहेतुजाश्चैत्ताः सुखादयश्चोत्पद्यन्ते । यदि ह्यसत्येव हेतौ फलोत्पत्तिरङ्गीक्रियते, तदेयं प्रतिज्ञा उपरुध्यते । अन्यथा । यद्यस्यां प्रतिज्ञायां वस्तुनः चतुर्विधहेतुप्राप्त्या क्षणान्तरसम्बन्धेनास्याः क्षणिकत्वप्रतिज्ञाभञ्जकत्वादियं नाद्रियते, तदा यौगपद्यम् । हेत्वभावस्य सर्वत्र सुलभत्वात्प्रतिबन्धाभावेन सर्वं सर्वत एकदैवोत्पद्येत । तथा चोभयथाप्यसङ्गतं सौगतमतमित्यर्थः ॥ २१ ॥

प्रतिसङ्ख्याप्रतिसङ्ख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २२ ॥

तदुक्तमुत्पत्तिप्रकारं दूषयित्वा नाशप्रकारं दूषयति । प्रतिसङ्ख्येत्यादि । प्रतिसङ्ख्यानिरोधो नाम भावानां बुद्धिपूर्वको विनाशः । तद्विपरीतो निर्हेतुकः स्वभावाद्वा जायमानोऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधः । तयोरप्राप्तिः असम्भवः । कुतः । अविच्छेदात् । विशेषेण छेदः विच्छेदः निरन्वयध्वंसः तदभावात् । तव मते पदार्थानां सदृशसन्तानजननस्वभावतया, बुद्धेश्च परस्वभावनाशकतायाः काप्यदृष्टतया सन्ततेरन्वयिरूपोच्छेदाभावेन सन्तानिनो निरन्वयध्वंसाभावात् प्रतिसङ्ख्यानिरोधासम्भवः । भावपदार्थमात्रस्य तव मते क्षणिकत्वेन क्षणिकानां च नाशकसम्बन्धस्य काप्यदृष्टत्वेनान्त्यस्यापि क्षणिकतया स्थित्यभावे नाशकसम्बन्धाभावात्कर्मण इव द्रव्यादिसन्ततेरन्वयिरूपोच्छेदाभावेन निरन्वयध्वंसाभावादप्रतिसङ्ख्यानिरोधस्याप्यसम्भव इत्यर्थः ॥ २२ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥

पूर्वसूत्रे कार्यविचारेण दूषयित्वा स्वरूपविचारेणात्र तौ दूषयति । उभयथेत्यादि । अत्र पूर्वसूत्रात्साध्यांशोऽनुवर्तते । प्रतिसङ्ख्यानिरोधान्तर्गतो यो अविद्यानाशस्तस्मिन् सति मोक्ष इति क्षणिकवादिनो विज्ञानवादिनश्च मन्यन्ते । तत्र सपरिकराया अविद्याया निर्है-

तुके विनाशेऽङ्गीक्रियमाणे अर्थचतुष्टयाभ्यासादिसाधनविधायकशास्त्रवैफल्यं द्वयोस्तुल्यम् । यदि स निरोधः सहेतुकोऽङ्गीक्रियते, तदा निर्हेतुकत्वप्रतिज्ञाहानिरपि द्वयोस्तुल्या । विज्ञानवादिमते विज्ञानातिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वान्नाश्यनाशकयोरप्यभावात्सहेतुकत्वं वक्तुमपि न शक्य इत्यधिकं दूषणम् । अतः सहेतुकत्वपक्षे निर्हेतुकत्वपक्षे च दोषाभिरोधद्वयस्याप्यप्राप्तिरित्यर्थः ॥ २३ ॥

आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥

अतः परमाकाशं दूषयति । आकाश इति । अत्राप्यप्राप्तिरित्येकदेशोनुवर्तते । आकाशमप्यावरणाभावमात्रं निरुपाख्यमिति यदुक्तं तस्याप्राप्तिः । कुतः । अविशेषात् । यथा भूमौ घटो जले नौकेत्यादौ भूतान्तरे आधारत्वव्यवहारस्तथात्राकाशे गृध्रोत्र श्येन इति व्यवहारे भूतान्तरतुल्यताया अविशेषात् । तथा च नावरणाभावमात्रं निरुपाख्यं वा आकाशमिति तत्र तथात्वस्याप्राप्तिरित्यर्थः ॥ २४ ॥

अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

एवं क्षणिकवादिसमयं विशेषतो निराकृत्येदानीं संक्षेपेण निराकरोति । अनुस्मृतेश्चेति । अत्राप्यप्राप्तिरित्येकदेशानुवृत्तिः । अनु पश्चात् स्मृतिरनुस्मृतिः प्रत्यभिज्ञानं तस्मादपि हेतोः क्षणिकवादस्याप्राप्तिः । अयमर्थः । क्षणिकवादी हि सर्वस्य क्षणिकत्वं मन्यमानोनुभवितुरनुभूतिविषयस्य सदृशसन्तानेन प्रत्यभिज्ञानमुपपादयति । तदसङ्गतम् । प्रत्यभिज्ञाने यः पूर्वं दृष्टः स एवायं पदार्थ इति । योहं पूर्वमद्राक्षं सोहमिदानीं पश्यामीत्याकारः, तत्र च स इत्यनेन पूर्वकालवर्तिनोऽयमहमित्यनेनोत्तरकालवर्तिनोभूतिविषयस्यानुभवितुश्चैक्यस्य परामृश्यमाणतया पूर्वापरकालवर्तिन एकस्य सिद्धत्वेन तत्र क्षणिकसन्तानस्य वक्तुमशक्यत्वात् । तथा च तत्तेदन्तादिसामानाधिकरण्यावगाहिप्रत्यभिज्ञानात्मकानुस्मृत्यन्यथानुपपत्त्या सिद्धे बाह्यार्थानामात्मनश्च स्थैर्ये सर्वोपि क्षणिकवादः सर्वत्र बाधित इत्यर्थः ॥ २५ ॥

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

वैनाशिकाभिमतं क्षणिकवादमष्टभिर्निराकृत्येदानीं 'नानुपमृद्य प्रादुर्भावा'दिति बुद्धसूत्रात्तदभिमतामभावाद्भावोत्पत्तिं निराकरोति । नासत इत्यादि । असतः अभावादलीकाद्वा भावोत्पत्तिर्न सम्भवति । कुतः । अदृष्टत्वात् । केवलस्य निःप्रतियोगिकस्यादृष्टत्वात् । अलीकादुत्पत्तेश्चादृष्टत्वात् । यत्र यत्र ह्यभावः कार्यजनकत्वेनोदाहियते अङ्कुरदधिघटाद्युत्पत्तिस्थले, तत्र तत्र बीजदुग्धमृत्पिण्डादिप्रतियोगिक एव दृश्यते । स च भावावस्थारूप एव । प्रतियोगिरूपभावविशेषणकत्वेन तदेकव्यङ्ग्यत्वात् । न क्वापि केवलः । अत उपमर्दस्थले तदवस्थाविशिष्टो भाव एव कारणम् । शशशृङ्गादिभ्य

उत्पत्तिस्तु न कस्यापि दृश्यत इति नोपमृद्य प्रादुर्भावस्थलेप्यभावस्यालीकस्य वा न कारणतेत्यर्थः ॥ २६ ॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २७ ॥

अभावकारणवाद एव दूषणान्तरमाह । उदासीनेत्यादि । च पुनः एवं अभावमात्रस्य केवलस्य कारणत्वे; उदासीनानां हलबीजबलीवर्दादिसाधनशून्यानामपि सिद्धिः कृष्यादिफलनिष्पत्तिः स्यादिति शेषः । अभावस्य सर्वत्र सुलभत्वात् । सा तु न दृश्यते, अतो नाभावस्य कारणतेत्यर्थः ॥२७॥ इति चतुर्थ समुदाय उभयहेतुकेपीत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥ (२-२-५)

एवं दशभिर्वैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्मते निरस्ते विज्ञानवाद्यपि कारणांशे निराकृत एव । तथापि कार्यांशे तन्मतं पूर्वस्माद्विलक्षणमतस्तदपि निराचष्टे । नेत्यादि । यत्तेन ज्ञानं साकारमभ्युपगच्छता विचित्रवासनावशाच्च तादृशज्ञानोत्पत्तिमङ्गीकुर्वता बाह्यः प्रपञ्चो नास्तीत्यभाव इष्यते, स न युक्तः । कुतः । उपलब्धेः । इन्द्रियसन्निकर्षे बाह्यप्रपञ्चस्योपलभ्यमानत्वात् । अयमर्थः । यत्तेन ज्ञानं साकारमिष्यते, तत्किं सर्वाकारम्, उत यत्किञ्चिदाकारम् । आद्ये सर्वानेवाकारान्युगपदेव प्रकाशयेत् । द्वितीये त्वेकमेव प्रकाशयन्न कदापीतरं प्रकाशयेत् । न च समनन्तरप्रत्ययात्कादाचित्काकारसिद्धिः । उक्तदूषणस्य तत्प्रवाहेपि तौल्यात् । न च वासनावैचित्र्येणोपपत्तिः । सर्वमेव वैचित्र्यं युगपदेव प्रकाशयेत् । अतः आकारकादाचित्कत्वोपपत्तये बाह्योर्थोवश्यमभ्युपेयः । तस्मान्न तस्याभाव इति ॥ २८ ॥

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥

ननु विमतं नीलादिकं अस्ति, उपलभ्यमानत्वादयं हेतुरनैकान्तिकः । स्वप्नशुक्तिरजतादिदृष्टान्तेन तदभावस्यापि साधयितुं शक्यत्वादित्यत आह । वैधर्म्यादित्यादि । विमतं नीलादिकं अस्ति । उपलभ्यमानत्वेपि स्वप्नादिवैधर्म्यात् । वैधर्म्यं निर्हेतुकतात्कालिकान्यथाभावतदभावाभ्याम्, बाधाबाधाभ्यां दुष्टादुष्टकारणजन्यत्वाभ्यां बोध्यम् । प्रवृत्तेर्बाह्यत्वान्मोक्षार्थं स्वस्य प्रवृत्तेर्विघातोपि चकारेण सूच्यते । तस्मात्प्रपञ्चः सत्य इति सिद्धम् ॥ २९ ॥

न भावोनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

ननु वैधर्म्यमप्रयोजकम् । स्वप्नेपि स्वप्नान्तरवैधर्म्यदर्शनात् । अतो विचित्रवासनाभ्यो विचित्राणि ज्ञानानि तेभ्यः पुनस्ता इति चक्रवदनादिपरिवृत्त्यङ्गीकृतौ किमपि न दूषणमिति शङ्कायां वासनां दूषयति । न भाव इत्यादि । वासनापरम्परायाः सद्भावः नोपपद्यते । कुतः । अनुपलब्धेः । अर्थं विना वासनानामनुपलब्धेः । अयमर्थः ।

वासना नाम अनुभवजनितः स्मृतिजनकः संस्कारः, अनुभवश्चार्थजन्यः । यदि अर्थं विनैवानुभवो वासना वा स्यात्, तदा स्वप्नं दृष्ट्वोत्थितस्य तदनुभवजन्या वासनास्ताभ्यश्च तादृशानि विज्ञानान्येवानुवर्तेरन् । न तु तद्विसदृशानि जाग्रज्ज्ञानानि भवेयुः । तादृशविज्ञानवासनोपमर्दकस्य बाह्यार्थस्य त्वन्मते अभावात् । दृश्यते त्वन्यथा । अतोर्थव्यतिरेकेण वासनाया अभावादर्थान्वयेनैव वासनोपलब्धेश्चान्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थसिद्धेर्न बाह्यार्थापलापः शक्य इति नार्थं विना वासनेत्यर्थः ॥ ३० ॥

क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

दूषणान्तरमाह । क्षणिकत्वादिति । वासनाजनकं प्रवृत्तिविज्ञानं पूर्वक्षणवृत्ति । तदाधारभूतमालयविज्ञानं तत्समानकालम् । तथा सति प्रवृत्तिविज्ञानेन यदा वासनोत्पाद्या, तदानीं प्रवृत्तिविज्ञानाधारस्यालयविज्ञानस्य नष्टत्वादाधाराभावेनापि वासनानुपपत्तिः । न च तत्सन्तानेनोपपत्तिः । विसदृशविज्ञानानुपपत्त्यादीनां दूषणानां प्रागेव व्युत्पादितत्वात् । तस्मादसङ्गतमेवेदं मतमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

किं बहुना । यथा यथा विचार्यते, तथा तथा सर्वप्रकारेणानुपपत्तिरेव स्फुरतीत्यसङ्गतमेव सौगतं दर्शनमित्यर्थः । एतेनैव माध्यमिकमतमपि दूषितमायम् । स हि सत् असत् सदसद्विलक्षणमिति चतस्रोपि कोटीः विधूय शून्यमेव तत्त्वमाह । तत्र येन प्रमाणेन सकोटिचतुष्कं विधूय शून्यतां साधयति, तत्प्रमाणं सत् न वा, यदि सत्, तदा सर्वशून्यत्वप्रतिज्ञाहानिः । यदि न, तदा चतुर्थ्याः कोटेरविधूननादपि तथा, तदभावेन सर्वशून्यताया असिद्धत्वाच्चेति ॥ ३२ ॥ इति पञ्चमं नाभाव उपलब्धेरित्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥ ३३ ॥ (२-२-६)

एवं पञ्चदशभिः सौगतसमयो निराकृतः । इदानीं चतुर्भिरार्हतानां समयो निराक्रियते । एत एव क्षपणका दिगम्बरा जैनाश्चोच्यन्ते । एते ह्यन्तर्निष्ठाः प्रपञ्च उदासीनाः परेच्छया सर्वं वस्तु नित्यत्वानित्यत्वसत्त्वासत्त्वभिन्नत्वाभिन्नत्वादिभिरनैकान्तिकमिच्छन्तः सप्तभङ्गीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति । स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च; स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यः । स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्चेति । ऐकान्त्यस्य सप्तभङ्गा घाता यस्मिन् असौ सप्तभङ्गी । सर्वे पदार्थाः केनचित्सदिति केनचिदसदिति केनचित्सदसदिति केनचिदनिर्वाच्यमिति सत्त्वेनानिर्वाच्यमिति, असत्त्वेनानिर्वाच्यमिति सदसत्त्वेनानिर्वाच्यमित्येवं तेन तेन पुरुषेणोच्यमाना नैकान्तत ऐकरूप्येण निर्धारयितुं शक्यन्तेऽतः सर्व एव नैकान्ततो निश्चिताकाराः । स्याच्छब्दोभीष्टार्थः । तथा च सर्वेप्याकाराः सर्वत्राभीष्टा इति । तद्दूषयति । नेत्यादि ।

अयं सप्तभङ्गी नयो न सङ्गच्छते । कुतः । एकस्मिन्नसम्भवात् । सप्तानां भङ्गानामेकस्मिन् काल एकस्मिन् पदार्थे असम्भवात् । न हि यद्यदास्ति, तत्तदा नास्तीति सम्भवति । सार्वजनीनप्रत्यक्षविरोधात् । न च घटो घटरूपेणास्ति पटादिरूपेण नास्तीत्येवं सम्भवत्येव भङ्ग इति वाच्यम् । तत्रास्तिनास्त्योर्विषयभेदादैकान्त्याभञ्जकत्वेन भङ्गत्वस्यैवाभावात् । तस्मादयुक्तमेवेदं दर्शनम् । ब्रह्मणि तु शब्देन विद्वत्प्रत्यक्षेण च प्रमितत्वादपरिगणितगुणत्वाच्च न श्रौते मते किञ्चिद्दूषणम् ॥ ३३ ॥

एवं चात्माकार्त्स्न्यम् ॥ ३४ ॥

प्रपञ्च उदासीनतया तद्दूषणाङ्गीकारे दूषणान्तरमाह । एवमित्यादि । एवं च एवमपि सति प्रापञ्चिकदूषणाङ्गीकारेपि सति आत्माकार्त्स्न्यम् । वस्तुपरिच्छेदाङ्गीकारादसर्वत्वम् । त्वया हि जीवोस्तिकायेषु गण्यते । अस्तिकायशब्दश्चानेकदेशवर्तिद्रव्यवाचकत्वेन परिभाष्यते । वस्तुपरिच्छेदे च सर्वस्मिन्नात्मनोऽसत्त्वात्तस्यास्तिकायत्वहानिः । यद्वा । अकार्त्स्न्यं कृत्स्नशरीरतुल्यत्वाभावः । तथा च पूर्वोक्तदूषणाङ्गीकारेपि शरीरपरिमाणात्मवादिनस्तव सर्वेषां शरीराणामेकपरिमाणाभावेन आत्मनस्तत्तुल्यत्वाभाव इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥

देहपरिमाणात्मवाददूषणे समाधिमाशङ्क्य परिहरति । न चेत्यादि । न च जीवो नानाविधशरीरेषु तत्तत्कर्मभिः प्रविशंस्ततो निर्गच्छन्नपि तत्तच्छरीरावयवोपचयापचयानुसारेण स्वावयवोपचयापचयाभ्यां पर्यायाख्यात् क्रमिकादवस्थाविशेषात् पर्यायाक्रमाद्वा तत्तत्परिमाणस्याविरोधोपि न च, नैव, कुतः । विकारादिभ्यः विकारसावयवत्वानित्यत्वानां प्राप्तेः । तथा चानित्यत्वापातेनि बन्धमोक्षाङ्गीकारो बाध्येतेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥

दूषणान्तरमाह । अन्त्येत्यादि । अन्त्यस्य मोक्षावस्थावस्थितजीवपरिमाणस्य अवस्थितेः अवस्थानात् अनपायात् । चोप्यर्थे । पूर्वोक्तदोषपरिहारायापि उभयनित्यत्वात् । उभयोः संसारमोक्षावस्थयोर्जीवपरिमाणस्य नित्यत्वम् । न ह्येकस्य वस्तुनः कदाचित्परिमाणं नित्यं कदाचिदनित्यमिति वक्तुं शक्यते, लोके तथा अदर्शनात् । अतोऽवस्थाद्वयेपि परिमाणस्य नित्यत्वात् अविशेषः देहपरिमाणात्माऽसिद्ध्या न त्वदभिमतसिद्धिः । तथा चासङ्गतमेवेदं दर्शनमित्यर्थः ॥३६॥ इति षष्ठं नैकस्मिन्नसंभवादित्यधिकरणम् ॥६॥

एतेषु षट्स्वप्यधिकरणेषु तत्तत्स्मृतिविरोधेन ब्रह्म जगदुपादानं न वेति सन्देहे, नेति पूर्वः पक्षः । सर्वसमयानामयुक्तत्वाद्ब्रह्मैवोपादानमिति सिद्धान्तो बोध्यः । षष्ठे तु, ब्रह्मैव विरुद्धधर्माधारं नेतरदिति नियमो युज्यते न वेति सन्देहे, स्याद्वादिभिः सर्वत्र

तथाभ्युपगमान्नेति पूर्वः पक्षः । स्याद्वादस्यासङ्गतत्वात् श्रुत्या प्रत्यक्षेण च तथा प्रमितत्वाद्युक्त एव नियम इति प्रकारान्तरमधिकं ज्ञेयम् ।

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥ (२-२-७)

पराभिप्रेतान् जडजीवान्निराकृत्य पराभिमतमीश्वरं निराकरोति, अणुमात्रस्यापि वेदविरोधस्य दुष्टत्वबोधनाय । अत्र पत्युरितिपदमेवाधिकरणभेदबोधकम् । पूर्वोक्तेषु मतेषु पत्युरभावात्, तेन स्मार्तस्य पत्युर्निराकरणमिदानीं प्रस्तूयत इत्यर्थः । तत्र ताव- द्गौतमीयैरौलूकैर्हैरण्यगर्भैः पातञ्जलैः शैवपाशुपतकालामुखकापालिकभेदेन चतुर्विधैर्माहे- श्वरैश्चेश्वरो निमित्तकारणत्वेनाङ्गीक्रियते, न तूपादानत्वेनापि । तेषामयमाशयः । चेत- नस्य खल्वधिष्ठातुः कुलालादेः स्वस्वकार्ये कुम्भादौ निमित्तत्वमात्रं दृष्टम्, न तूपादानत्व- मपि । अत ईश्वरोपि जगतो निमित्तमेव, न तूपादानम् । एकस्मिन्नेवैकस्य निमित्तत्वो- पादानत्वयोर्विरुद्धत्वादिति । तदिदं दूषयति । पत्युरित्यादि । अत्र पूर्वाधिकरणारम्भ- सूत्रान्नशब्दोनुवर्तते । यदेतैस्तार्किकादिभिः केवलं निमित्तकारणत्वेनेश्वर इष्यते, तन्न । कुतः । पत्युरसामञ्जस्यात् । पत्युरीश्वरस्य केवलनिमित्तत्वे असामञ्जस्यात् वैषम्यनैर्घृण्या- दिभिः सर्वसमत्वनिवृत्त्या लौकिकेश्वरवत्सदोषत्वापत्तेः । तथा च श्रुतिमनादृत्य दृष्टा- नुरोधे इदं महादूषणमापततीत्यसङ्गतं तन्मतमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

संबन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

दृष्टानुसारेण दूषणान्तरं वदति । संबन्धेत्यादि । अत्र पत्युरितिपदं विभक्ति- विपरिणामेनानुषज्यते । तार्किकादिभिरङ्गीकृत ईश्वरो जीवानां पतिर्न । कुतः । संबन्धा- नुपपत्तेः नियम्यनियामकभावप्रयोजकस्य संबन्धस्यानुपपद्यमानत्वात् । तथा हि । निमि- त्तमात्रत्वाङ्गीकारान्न जीवेश्वरयोः समवायः । उभयोरपि विभुत्वेन कर्मावयवयोरभावान्न संयोगः । नाप्यजः संयोगः । अनुपलब्धिनिरस्तत्वात् । नापि स्वरूपसंबन्धः । स्वरूपस्य नित्यविभुत्वादिभिस्तुल्यत्वेन तस्य नियम्यनियामकभावाप्रयोजकत्वात् । अतः संबन्धा- नुपपत्तेर्न जीवानां पतित्वेनेश्वरस्य सिद्धिरित्यर्थः ॥ ३८ ॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

दूषणान्तरं पुनरप्याह । अधिष्ठानेत्यादि । अत्रापि पूर्ववदनुषङ्गः । तार्किकाद्यभि- मतः पतिर्न । कुतः । अधिष्ठानानुपपत्तेः । अधिष्ठानं शरीरं तदनुपपत्तेः । स हि कर्तृत्वेन कल्प्यमानः शरीरी कल्पनीयः । तथा सति तच्छरीरस्य कर्ता कश्चित्कल्प्यः । शरीरस्य जन्यत्वनियमात् । कर्ता तु न वक्तुं शक्यते । सृष्ट्यादौ जीवानां निःशरीरतया असमर्थत्वात् । दृष्टसामग्रीविरहे केवलजीवादृष्टस्याप्यकिञ्चित्करत्वात् । निःशरीरत्वादेवे- श्वरोपि न स्वशरीरकर्ता । न च तन्नित्यं निरवयवम्; अदर्शनात्तथात्वासिद्धेः । अधि-

ष्ठानपदे आधारस्यापि सङ्ग्रहः । आकाशादेर्नित्यद्रव्यस्याधारत्वानुपपत्तेरपि न निरधिष्ठा- नकर्तृत्वेन सिद्धिरित्यर्थः ॥ ३९ ॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

अधिष्ठानराहित्यस्यादोषत्वमाशङ्क्य परिहरति । करणवदित्यादि । करणवदिति द्वितीयार्थे वतिः । तथा च यथा शरीररहितोपि जीवो मनश्चक्षुरादिकं करणग्राममधिति- ष्ठति, स्वस्वकार्ये प्रेरयतीति यावत्, तथा ईश्वरोपि जीवानधिष्ठास्यतीति चेत् । न । कुतः । भोगादिभ्यः भोगादिदोषप्रसक्तेः । यथा हि करणान्यधितिष्ठन् जीवः पुण्यपापाभ्यां सुखदुःखरागद्वेषादिभाग्भवति, तथेश्वरोपि स्यात् । तत्र तदसंसर्गे नियामकाभावात् । इदानीमपि निरतिशयैश्वर्यस्यासिद्धत्वात् । अतो नानेनापि दृष्टान्तेनाधिष्ठानसम्भव इत्यर्थः ॥ ४० ॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

दूषणान्तरादपि तार्किकसमयो न युक्त इत्याह । अन्तवत्त्वेत्यादि । जडजीवयो- र्नियमनार्थं हीश्वरोभ्युपगम्यते, नियमनं चेयत्तायां सम्भवति, अतस्तेषामियत्ताङ्गीकार्या । तथा सति तेषामन्तवत्त्वम्, इयत्तापरिच्छिन्नेषु घटादिष्वन्तवत्त्वस्य दृष्टत्वात् । यदि चैत- द्भिया जीवानां व्यापकत्वादसङ्ख्येयत्वाच्च नेयत्ताङ्गीक्रियते, तदा असङ्ख्येयस्य सर्वा- ज्ञेयत्वनियमात्सर्वतद्विषयकज्ञानस्येश्वरे अभावेनासर्वज्ञता स्यात् । अत उभयथापि दोषाद- सङ्गतस्तार्किकसमय इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ इति सप्तमं पत्युरसामञ्जस्यादित्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥ ४२ ॥ (२-२-८)

अथ भागवते मते कञ्चिदंशं निराचष्टे तस्यांशस्य श्रुतिविरुद्धत्वख्यापनाय । न च मोक्षधर्मे 'पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वय'मिति वाक्यात्तस्य भगवत्कृतत्वेन कथं तत्र श्रुतिविरोधः सम्भवतीति शङ्क्यम् । कौर्मे चतुर्दशाध्याये गौतमशप्तमुनि- विमोहनाय कृतानां शास्त्राणां मध्ये 'पाञ्चरात्रं पाशुपतं तथान्यानि सहस्रश' इति पञ्च- रात्रस्यापि गणनया तत्रापि तावदंशस्य मोहनार्थं बुद्धिपूर्वं स्थापनेन तत्सम्भवस्य युक्तत्वात् । न च 'साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा । आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभि'रिति मोक्षधर्मीयविरोधः । 'अक्षपादप्रणीते च काणादे साङ्ख्ययोगयोः । त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोंशः श्रुत्येकशरणैर्नृभि'रिति पराशरोपपुराणोक्तदिशा तावदंशव्यति- रिक्तांशे हेतुभिर्न हन्तव्यानीति तदर्थेनाविरोधात् । एतेषां सर्वेषामात्मप्रमाणानां भग- वदेकनिष्ठत्वे प्रमाणत्वम्, पुरःस्फूर्तिकान्यार्थग्रहणे त्वप्रमाणत्वमिति मोक्षधर्मे तत्रैव निष्क- र्षाच्च । एवं सिद्धे विरुद्धांशे सोंश उदाह्रियते । ते हि वासुदेवः परं ब्रह्म तस्मात्सङ्कर्षणो जीवस्तस्मात्प्रद्युम्नो मनस्तस्मादनिरुद्धोहङ्कार इत्येवमुत्पत्तिप्रक्रियां वदन्ति । चतुर्णामी-

श्वरत्वं च । तदत्र दूष्यते । उत्पत्त्यसम्भवादिति । उत्तरसूत्रस्थो नकारोत्राप्यन्वेति । यदत्र जीवस्योत्पत्तिरुच्यते । तन्न । कुतः । उत्पत्त्यसम्भवात् । जीवस्य जन्यत्वाङ्गीकारे अनित्यत्वापत्त्या मोक्षसाधनशासनवैफल्यप्रसङ्गेन 'न जायते न म्रियत' इति श्रुतिविरोधेन च उत्पत्तेरयुक्तत्वात् ॥ ४२ ॥

न च कर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

दूषणान्तरमाह । न चेत्यादि । यदुच्यते सङ्कर्षणसंज्ञकाज्जीवात्प्रद्युम्नसंज्ञं मन उत्पद्यते, प्रद्युम्नसंज्ञकान्मनसोनिरुद्धसंज्ञकोहङ्कार इति, तदपि न । कुतः । लोके कर्तुः सकाशात्करणोत्पत्तेरदर्शनात् करणादपि कार्यान्तरादर्शनाच्च ॥ ४३ ॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

अथोच्यते सर्व एते विज्ञानादिमन्तः परमेश्वरा एव, तथा सति विरुद्धधर्माधारत्वान्न कोपि दोष इति । तत्राह । विज्ञानेत्यादि । उक्तरीत्या विज्ञानादीनामीश्वरधर्माणां तेषु सद्भावे तदप्रतिषेधस्तेषामनियमनम् । तथा सत्यनेकेश्वरत्वापत्तिरित्यर्थः ॥ ४४ ॥

विप्रतिषेधाच्च ॥ ४५ ॥

शाण्डिल्यश्चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा इदं शास्त्रमधीतवानित्यादिरूपवेदनिन्दासूचितात्तद्विरोधाच्च । तथा चैतेभ्यो दोषेभ्य एतावानंशो न युक्त इत्यर्थः । तथा च वेदविरुद्धानां स्मृतीनामप्रामाण्यान्न ताभिः स्वतः किञ्चित्फलमिति सिद्धम् ॥ ४५ ॥ इत्यष्टमुत्पत्त्यसंभवादित्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥ (२-३-१)

द्वितीये पादे श्रुतिविरुद्धस्मृतिनिराकरणेन तद्विरोधस्याकिञ्चित्करत्वख्यापनात्तेन वैदिकवाक्ये प्रमेयविरोधो नापादयितुं शक्यत इति प्रतिपादितम् । तृतीये पादे श्रुतिवाक्यानां विप्रतिषेधपरिहाराय तेषां परस्पराविरोधः प्रतिपाद्यते । न चास्य प्रथमपादेन गतार्थता, तत्र ब्रह्मस्वरूपे तद्धर्मेषु च यो विरोधस्तस्य परिहारात् । अत्र तु जडानां जीवानां संबन्धी यो विरोधः स परिह्रियते इति तदभावात् । न च ब्रह्मजिज्ञासायाः प्रतिज्ञातत्वात्तदतिहायैतद्विचारस्य किं प्रयोजनमिति शङ्क्यम्, ब्रह्मवादे जडजीवयोरपि

ब्रह्मात्मकत्वात् । न च तथापि मुख्यं विहायास्य करणे किमावश्यकमिति शङ्क्यम् । जन्माद्यधिकरणविषयपरिशोधनार्थत्वेन मुख्योपयोगितयास्यावश्यकत्वात् । अतो द्वितीये प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रस्तुतस्य श्रुत्यविरोधस्यैव पुनर्विचारोऽवसरप्राप्तोस्मिन्पादे विधीयते । तत्र जीवविचारे प्रयासाधिक्यात्सूचीकटाहन्यायेन पूर्वं जडविचार आरभ्यते । जडानां सृष्टिर्वेदान्ते द्विधा । भूतभौतिकं सर्वं ब्रह्मणः सकाशादेव विस्फुलिङ्गन्यायेन साक्षादुत्पद्यत इत्येका विधा । वियदादिक्रमेणोत्पद्यत इत्यपरा । न च सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वे अजत्वस्यावश्यकत्वात् तथा सत्युत्पत्तेरभावात्सृष्टिरेवासङ्गतेति वाच्यम् । अनामरूपात्मनोर्थस्य नामरूपवत्त्वेनाभिव्यक्तेरेव सृष्टितया तस्या अजत्वाविरोधित्वात् । सा च जडयैव प्रलये प्रतिनियतनामरूपत्यागेन सर्वेषां जडानामेव ब्रह्मण्येकीभावात् । जीवानां तु स्वरूपतिरोभावाभावेनाविभागेपि स्वरूपतादवस्थ्यात् । न चैवं सति ब्रह्मणो जीवकारणत्वाभावः । विभागद्वारा कारणत्वस्य सिद्धेः । 'अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः । नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधे'त्यभियुक्तप्रसिद्धेराविर्भावशक्तेस्त्रैविध्यात् । एवं च कालविशेषे प्रतिनियतनामरूपशालित्वं कार्यत्वम् । सर्वदातच्छालित्वादिकं च नित्यत्वमिति फलति । एवं सिद्धायां सृष्टौ क्रमिकायां तस्यां सन्देहः । छान्दोग्ये 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय'मित्युपक्रम्य, 'तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत'ेति तेजोबन्नसृष्टिरुक्ता, न वाय्वाकाशयोः । तैत्तिरीये तु 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्युपक्रम्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादिना आकाशादिकोक्ता । तत्र किमाकाश उत्पद्यते, न वा । तत्र तावत् नोत्पद्यत इति प्राप्तम् । कुतः । अश्रुतेः । अत एवौलूक्यादिदर्शनेषु तदवयवानङ्गीकारोपि । न च साङ्ख्यादिदर्शनेषु तामसाहङ्कारात्तदुच्यत इति स एव तदवयवस्थानीय इति युक्तम् । श्रौतानां वादिनां तद्विरुद्धाङ्गीकारस्यायुक्तत्वात् । श्रुतौ ब्रह्मण एव सर्वत्र कारणत्वात् । अतस्तस्मादीक्षापूर्वकसृष्टिबोधके छान्दोग्यवाक्ये तदुत्पत्तेरनुक्तत्वादाकाशो नोत्पद्यत इति ॥ १ ॥

अतः समादधानः सिद्धान्तमाह ।

अस्ति तु ॥ २ ॥

तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । अस्ति वियदुत्पत्तिस्तैत्तिरीयके । यद्यपीक्षापूर्वकसृष्टिः सा न भवति, तथापि तदुक्तादरणे ईक्षापूर्विकायां कस्यचन विरोधस्याभावात्तदुक्तमपि ग्राह्यमेव । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया अनुरोधात्तैत्तिरीयस्येक्षाकाङ्क्षित्वे छान्दोग्यस्थस्य चाकाशादिसाकाङ्क्षत्वेवधारिते द्वयोः क्रमसृष्टैकार्थ्येनैकवाक्यत्वसिद्धेश्च ॥ २ ॥

गौण्यसम्भवात् ॥ ३ ॥

सूत्रत्रयेण पुनः पूर्वपक्षं वदन्ननुत्पत्तिं समर्थयति। वियदुत्पत्तिरावरणनिवारणेनाभिव्यञ्जनाद्गौणी भविष्यति । कुतः । असम्भवात् । लोके हि सावयवस्यैवोत्पत्तिर्दृश्यते, आकाशस्य तु निरवयवत्वात्समवाय्यभावेनासमवायिनस्तद्द्वयसंयोगस्याप्यभावेन निमित्तभूतादीश्वराज्जीवादृष्टाच्च केवलादुत्पत्तिर्न वक्तुं शक्यते । किञ्च । व्यापकस्योत्पत्तिः प्रत्यक्षविरुद्धा । किञ्च । ब्रह्मणो अमूर्तत्वात्तेनाकाशावरणस्याप्यशक्यवचनत्वात्सृष्टेः पूर्वमाकाशाभावोपि न वक्तुं शक्यः । अतो निरवयवत्वविभुत्वाभ्यामसम्भवात्सा गौणी, ब्रह्मप्रशंसार्थमुच्यते, यथा गोअश्वप्रशंसार्थमन्ये त्वपशव इति । लोकेप्यवकाशं कुर्विति गौणप्रयोगदर्शनाच्चेत्यर्थः ॥ ३ ॥

ननु श्रुत्यपेक्षया लोकस्य दुर्बलत्वात् स्वर्गादिफलकतया पूर्वकाण्डस्यापि लोकानुरोधित्वात्तदादायोत्तरकाण्डव्याकुलीकरणमनुचितमित्यत आह ।

शब्दाच्च ॥ ४ ॥

'वायुरन्तरिक्षं च एतदमृत'मिति । 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इत्यमृतत्वनित्यत्वबोधकाच्छब्दादपि गौणीत्यर्थः ॥ ४ ॥

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ५ ॥

ननु तैत्तिरीयोक्ताया वियदुत्पत्तेर्गौणत्वं न वक्तुं शक्यम् । तत्र सम्भूत इत्येकस्यैव पदस्योत्तरत्रावर्तनादेकत्र गौण्यग्रे मुख्येत्यङ्गीकारे युगपद्वृत्तिद्वयविरोधापत्तेरित्याशङ्कायामाह । स्यादित्यादि । इयमाशङ्का न कार्या । यत एकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्मे'ति श्रुतौ प्रथमवाक्ये मुख्या, द्वितीये गौणी दृश्यते, तद्वदत्रापि सम्भवात् । न च तत्र प्रयोगभेदोस्ति, नात्र, सम्भूतशब्दस्यैकस्यैव प्रयुज्यमानत्वात्, अतो न स दृष्टान्त इति शङ्क्यम् । अत्रापि वाक्यान्तरे सम्भूतशब्दस्य पुनरावर्तनेनैवान्वयस्य भवनेन प्रयोगभेदस्यात्रापि सत्त्वात् । तस्माद्गौण्येवाकाशसम्भूतिश्रुतिरित्येवं प्राप्ते तत्परिहरति ॥ ५ ॥

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥

यद्याकाशोत्पत्तिश्रुतिर्गौणीत्यङ्गीक्रियते, तदा शब्देभ्यः प्रतिज्ञाहानिः ' येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञात'मित्यादिशब्देभ्यः सिद्धाया एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य प्रतिज्ञायाः हानिः । प्रतिज्ञापदे सुपां सुलुगिति षष्ठ्यालुक् । कथं तस्याः हानिरित्यत आह । अव्यतिरेकात् । कार्यत्वेन रूपेण व्यतिरिक्तस्याभावात् । अयमर्थः । छान्दोग्यवाक्यं हि तवोपजीव्यम् । तत्र या एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा, साग्रे 'यथा सोम्य एकेन मृत्पि-

ण्डेने'त्यादिना प्रकृतिविकारभावेन व्युत्पाद्यते । यद्याकाशो नोत्पद्येत, तदा तस्य ब्रह्मविकारत्वाभावात् स ब्रह्मविज्ञानेन न विज्ञायेत । न च स्वरूपसंबन्धेनाकाशस्य ब्रह्मसंबद्धत्वात्तस्यापि ज्ञानं सुशक्यमिति वाच्यम् । तथा सति तस्य ज्ञानस्योभयमहिम्ना जायमानत्वेनैकविज्ञानजन्यत्वाभावाद्व्युत्पादनग्रन्थविरोधाच्च प्रतिज्ञाहानितादवस्थ्यमेव स्यात् । न च जीववदंशत्वेन तस्य ज्ञानं भविष्यतीति वाच्यम् । अंशस्य लौकिकज्ञानाविषयत्वात्, आकाशस्य च तद्विषयत्वेनांशत्वस्याशक्यवचनत्वादिति ॥ ६ ॥

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

नन्वाकाशो नोत्पद्यते, निरवयवत्वात् व्यापकाच्च, यदेवं तदेवं ब्रह्मवत्, यन्नैवं तन्नैवं घटादिवदिति प्राक्सूचितस्यानुमानस्य न परिहारः, तदभावे च न गौण्या अपि निवृत्तिरित्यत आह । यावदित्यादि । तुशब्द आकाशोत्पत्त्यसम्भावनां वारयति । इयं शंका न कार्या । कुतः । यावद्विकारं सकले विकारे विभागोस्ति । लोकवत् । यथा लोके विकृतं मात्रमुत्पद्यते, तथाकाशोपीति । अत्र व्याप्तिदृष्टान्तयोरुपन्यासात्प्रत्यनुमानं दर्शितम् । आकाश उत्पद्यते विकृतत्वात् । विकृतो लौकिकव्यवहारविषयत्वात् । यदेवं तदेवं घटादिवत् । यन्नैवं तन्नैवमीश्वरवदिति । तथा च पूर्वोक्तानुमानस्य सत्प्रतिपक्षत्वान्न तेनाकाशस्यानुत्पन्नत्वसिद्धिरित्यर्थः । न 'चाकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इति श्रुतौ ब्रह्मोपमानत्वेनोच्यमानस्याकाशस्य व्यापकत्वनित्यत्वयोः श्रावणात्तद्विरोध इति शङ्क्यम् । 'समोनेन सर्वेणे'त्यत्र सर्वस्य भगवदुपमानताया भगवतः सर्वपरिमाणत्वज्ञापन इवास्यापि भगवतो नित्यविभुत्वज्ञापन एव तात्पर्यात् । न च सादृश्यं विना उपमानताया असम्भव इति शङ्क्यम् । लोकदृष्ट्या सादृश्यमादाय तत्सम्भवात् । न चात्र मानाभावः । ' न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते, न तस्य प्रतिमा अस्ती'ति साम्यनिषेधश्रुते'र्ज्यायानाकाशा'दिति नभोज्यायस्त्वश्रुतेश्च तत्र मानत्वात् । एवं वाक्यान्तरेपि बोध्यम् । तस्मादीदृशां वाक्यानामज्ञबोधनार्थत्वान्न तैराकाशनित्यत्वसिद्धिरिति सोप्युत्पद्यत इति सिद्धम् ॥ ७ ॥ इति प्रथमं न वियदित्यधिकरणम् ॥ १ ॥

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥ (२-३-२)

'म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषानस्तमिता देवता यद्वायु'रिति बृहदारण्यके वायोरनस्तमितत्वश्रावणादनुत्पन्नत्वस्यापि सिद्धेः श्रुतिविप्रतिषेधात्सन्देहे, भूतात्मा वायुर्नोत्पद्यते । छान्दोग्ये तदश्रुतेरिति पूर्वपक्षे आह । एतेनेत्यादि । एतेनाकाशोत्पत्तिसमर्थनेन मातरिश्वा मातर्यन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुर्व्याख्यातश्छान्दोग्योक्तप्रतिज्ञानुरोधिनीभिः पूर्वोक्तयुक्तिभिरुत्पत्तिमत्त्वेन समर्थित इत्यर्थः ॥ ८ ॥ इति द्वितीयं मातरिश्वेत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

असम्भवस्तु सतोनुपपत्तेः ॥ ९ ॥ (२-३-३)

ननु 'हरितो रोहितादासीद्धुन्धुस्तस्याभवत्सुत' इत्यादिपुराणवाक्येष्वस्तेरुत्पत्त्य-
र्थकत्वदर्शना'त्सदेव सोम्येदमग्र आसी'दिति श्रुतावप्यस्तेरुत्पत्त्यर्थकत्वस्य शक्यवचनत्वा-
दाकाशवद्ब्रह्मणोप्युत्पत्तिरस्त्विति वैतण्डिकशङ्कायामाह । असम्भव इत्यादि । तुरुक्तशङ्का-
निरासे । सतः सन्मात्रस्य उत्पत्तेरसम्भवः । न हि कार्योत्पत्तिदृष्टान्तेन कारणस्याप्यु-
त्पत्तिर्वक्तुं शक्यते । न हि कुण्डलोत्पत्तौ कनकोत्पत्तिः । नामरूपविशेषाभावात् । किञ्च,
'तुष्यतु दुर्जन' इतिन्यायेन स्वीक्रियमाणाया अपि तस्या असम्भवः । कुतः । अनुपपत्तेः ।
सा किं स्वतोन्यतो वा । नाद्यः । असम्भवात् । नान्यः । अनवस्थापत्तेः । अतो यदेव
मूलं तन्नित्यमिति तदेव ब्रह्मेति तस्य नोत्पत्तिरित्यर्थः ॥ ९ ॥ इति तृतीयमसंभव इत्य-
धिकरणम् ॥ ३ ॥

तेजोतस्तथा ह्याह ॥ १० ॥ (२-३-४)

तेजः किं साक्षात् ब्रह्मणः सकाशादुत्पद्यते, उत परम्परयेति सन्देहः । छान्दोग्य-
तैत्तिरीयश्रुती परस्परविरोधात्सन्देहोत्पादिके । तत्र छान्दोग्यश्रुतेरीक्षापूर्वकत्वेन मुख्यत्वा-
त्साक्षात्पक्ष एव श्रेयानित्यत आह । तेजोत इत्यादि । तेजः अतः वायुत एवोत्पद्यते । कुतः ।
तथा ह्याह । 'वायोरग्नि'रिति श्रुतिः हि यतो हेतोः तथा वायोरेव सकाशात्तेजस उत्पत्ति-
माह तस्मात् । अयमर्थः । छान्दोग्यवाक्यं प्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं तैत्तिरीयमपेक्षत इति साधि-
तम् । तथा सति तस्य तैत्तिरीयमुपजीव्यमिति निर्विवादम् । तत्र या पञ्चमी वायुपदे, सा
चेदानन्तर्ये, तदा ब्रह्मणः सकाशाद्वाय्वनन्तरं तेज उत्पन्नमित्यर्थो भवति । यदा तु सा हेतौ,
तु (तदा) वायोः सकाशादित्यर्थो भवति । यद्यप्युभयथापि प्रतिज्ञा सिध्यति, तथाप्यात्मन
इति प्राथमिकी पञ्चमी हेतौ, 'पृथिव्या ओषधय' इत्यादावपि प्रत्यक्षानुरोधादित्यग्रेपि
हेताविति हेतोरेव प्रायपाठो युक्तः, नानन्तर्यस्य । अत्र च 'तत्तेजोऽसृजते'ति साक्षा-
दुच्यते, अत उभयसामञ्जस्यार्थं वायुभावापन्नाद्ब्रह्मणः सकाशात्तेजस उत्पत्तिः । एवमा-
काशभावाद्वायोरित्यपि ज्ञातव्यमिति ॥ १० ॥ इति चतुर्थं तेजोऽत इत्यधिकरणम् ॥४॥

आपः ॥ ११ ॥ (२-३-५)

तथा ह्याहेति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । तथा च आपस्तेजस उत्पद्यन्ते । हि यतो हेतोः
श्रुतिद्वयमपि तथाह 'तेज ऐक्षत तदपोऽसृजते'ति 'अग्नेराप' इति च । अतो नात्र किञ्चि-
द्विचार्यमित्यर्थः । अन्ये तु, अतः शब्दस्याप्यनुवृत्तिमिच्छन्ति । सूत्रप्रयोजनं त्वविरोध-
ख्यापनं, श्रुतौ क्वापि न विरोध इति ॥ ११ ॥ इति पञ्चममाप इत्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥ (२-३-६)

'ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्ते'ति । अत्र सन्देहः ।

किमन्नशब्देन पृथिव्युच्यत, उत व्रीह्यादय इति । यद्यप्युपजीव्ये तैत्तिरीयवाक्ये अद्भ्यः
पृथिवीत्युक्तम्, तथापि 'पृथिव्या ओषधय ओषधीभ्योन्न'मित्यग्रे दर्शनाद्यथा तैत्तिरीया-
नुरोधादाकाशवायुव्यवधानं तेजसोभ्युपगतम्, तथा पृथिव्योषधिव्यवधानमत्रास्याङ्गीकर्तुं
शक्यते, रूढिश्च स्वीकृता भवतीति गुणः, तथापि भूतप्रायपाठत्यागोनपेक्षितभौतिकग्रहणं
च दोषः । पृथिवीग्रहणे तु रूढित्यागो महान् दोष इत्यतः पक्षद्वयसाम्यं तत्र बीजम् । पूर्वप-
क्षस्तु, अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वा'गित्यप्तेजसोः सहचारात्पृ-
थिवी लोकप्रसिद्धेर्व्रीह्यादिकम् । 'तस्माद्यत्र क्वचन वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवती'ति वर्षण-
भूयिष्ठलिङ्गादोषधयोप्यत्र सम्भवन्ति । अद्यत इत्यन्नमिति योगोपि त्रिषु तुल्यः । कीटादिषु
मृद्भक्षणस्य पशुष्वोषधिभक्षणस्य पुरुषादिष्वन्नभक्षणस्य दर्शनात् । अतोत्र यौगिकमन्न-
पदं त्रयाणां सङ्ग्राहकमतस्त्रयमपि ग्राह्यम्, न त्वेकं किमपि । एवं सत्युपजीव्यवाक्यप्राय-
पाठरूढीनां त्रयाणामप्यविरोधादिति । तत्रोच्यते । अन्नपदेन पृथिव्येव ग्राह्या । नान्यद्-
द्वयम् । कुतः । अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः । अधिकारः प्रस्तावः, स भूतानामेव, न भौति-
कानाम् । 'यत्कृष्णं तदन्नस्ये'त्यनेनोक्तं नीलं रूपमपि पृथिव्या एव, भूतसहपाठात् ।
'अद्भ्यः पृथिवी'ति शब्दान्तरम् । तेभ्यो हेतुभ्य इत्यर्थः । एतैर्योगनैर्बल्यं परिह्रियते ।
लक्षणा तु नास्त्येव, अतोन्नपदेन पृथिव्येवात्रोच्यत इति सिद्धम् ॥ १२ ॥ इति षष्ठं
पृथिव्यधिकारेत्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ १३ ॥ (२-३-७)

एवं तैत्तिरीयश्रुत्येकवाक्यतया छान्दोग्येपि क्रमेण ब्रह्मणः सकाशात्पञ्चमहाभूत-
सृष्टिरित्यवधारितम् । तत्र संशयः । क्रमसृष्टावाकाशादयः किं स्वतन्त्राः स्वस्वकार्यं
सृजन्ति, उत परमेश्वरतन्त्रा इति । तत्र तावत् प्राप्तम् । 'आकाशाद्वायुः वायोरग्नि'रिति तैत्ति-
रीये, 'तत्तेज ऐक्षत बहु स्या'मिति छान्दोग्ये भूतानां देवतायाश्च हेतुत्वस्य कर्तृत्वस्य कथ-
नात आकाशादयः स्वतन्त्रा एव सृजन्तीति । एवं प्राप्ते, अभिधीयते । तदभिध्याना-
दित्यादि । तुशब्द उक्तपूर्वपक्षव्युदासार्थः । स एव परमात्मा वाय्वादीन् सृजति ।
तर्ह्याकाशादिशब्दैः कथमभिधानं इत्यत आह । तदभिध्यानादिति । 'बहु स्यां प्रजायेये'ति
श्रुत्या सङ्ग्रहेणोक्तात् आकाशरूपः स्याम्, वायुरूपः स्यामित्यादिरूपात्स्वस्य तत्तद्रूपभव-
नाभिध्यानात् । न चाभिध्यानस्य तेजःप्रभृतिसाधारण्यान्न तस्य ब्रह्मतत्पदाभिधान-
लिङ्गत्वमिति शङ्क्यम् । तेजःप्रभृतिष्वपि तत्पदोपनिबन्धेन प्रकरणेन च तस्य ब्रह्म-
धर्मत्वनिश्चयात् । अतस्तस्य तस्य कार्यस्योत्पादनार्थं तदभिध्यानं ततस्तदात्मकत्वं तेन
च तच्छब्दवाच्यत्वमित्युपपत्तेः । ननु यथाश्रुतमेव कुतो न गृह्यत इत्यत आह । तल्लिङ्गा-
दिति । सर्वत्र वेदान्तेषु 'स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः । यतः प्रसूता जगतः प्रसूती ।' 'यः
पृथिव्यां तिष्ठन् यः पृथिवीमन्तर' इत्यादिषु सर्वकर्तृत्वरूपाद्ब्रह्मलिङ्गात् । तथा चातो यथा

श्रुतार्थस्याग्रहणमित्यर्थः । एतेन जडतो देवताया वा यत्कार्यं जायमानं दृश्यते, तत्सर्वं ब्रह्मण एव तत्तदात्मकाज्जायत इति सिद्धम् ॥ १३ ॥ इति सप्तमं तदभिध्यानादेवेत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

विपर्ययेण तु क्रमोत उपपद्यते ॥ १४ ॥ (२-३-८)

ननु तैत्तिरीये छान्दोग्ये सृष्टेः क्रमो निरूप्यते । न तु प्रलयस्य । नैयायिकास्तु समवाय्यसमवायिकारणनाशात्कार्यनाशमङ्गीकुर्वन्ति, तत्किमादरणीयं क्रमसृष्टाविति संशये, नैयायिकमतस्य लौकिकत्वात्, मुण्डकश्रुतौ 'यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः, तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रवर्तन्ते तत्र चैवापियन्ती'त्यत्र यौगपद्येनैवाप्ययश्रावणाच्छ्रौतं यौगपद्यमादरणीयमि'ति प्राप्तम्, तत्राह । विपर्ययेणेत्यादि । तुः उक्तशङ्कानिरासे । क्रमसृष्टौ येन क्रमेणोत्पत्तिर्न तेन क्रमेण प्रलयः, किन्तु तद्विपरीतः प्रलये क्रमः । अतो ब्रह्मणः सकाशादुत्पत्त्यनन्तरं यतस्तत्रैव प्रलयः । ननु तथापि बुद्धौ कथमारोहेत्, तत्राह । उपपद्यते इति । न ह्यत्र युगपत्सृष्टिपक्षो येन यौगपद्यमाद्रियेत । नापि वैशेषिकादिवद् ध्वंसपक्षो येन तदुक्तमाद्रियेत । अत्र तु श्रौतः सत्कार्यवादः, उत्पत्तिप्रलयौ तु निर्गमप्रवेशौ, अतो येन क्रमेण निर्याति, तद्विपरीतक्रमेण प्रविशतीति विपरीतक्रम एवोपपद्यते, नान्य इत्यर्थः ॥ १४ ॥ इत्यष्टमं विपर्ययेणेत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥ १५ ॥

नन्वत्र तैत्तिरीयानुसारेण छान्दोग्यस्थं महाभूतोत्पत्तिवाक्यं विचारितम् । अतः परं जीवमनसोरप्युत्पत्तिक्रमो वक्तव्यः । छान्दोग्ये 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्ये'ति, 'षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टासी'दिति तयोः सिद्धवन्निर्देशादित्याशङ्कायामाह । अन्तरेत्यादि । पूर्वं तैत्तिरीयैकवाक्यतया छान्दोग्यवाक्यं विचारितम् । एवं सति छान्दोग्ये सिद्धवन्निर्देशेपि तैत्तिरीये आकाशाद्यन्नपर्यन्तमुत्पत्तिमुक्त्वा ततोऽन्नमयादयो निरूपिताः । तत्रान्नमयस्यान्नरसमयत्वादिदमा तन्निर्देशाच्च तत्कारणसामग्री ओषध्यन्नरूपा । तत आन्तरः प्राणमयः तत्सामग्री वाय्वाकाशपृथिवीरूपा, तच्छिरःप्रभृतिकथने प्राणव्यानापानाकाशपृथिवीनामेवोक्तत्वात् । एवमेतद्द्वयसामग्री 'ओषधिभ्योऽन्न'मित्यन्तेन पूर्वमुत्पन्नोक्ता । आनन्दमयस्तु परमात्मा मूलकारणम् । स तु 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन' इति मूलकारणत्वादात्मपदेनैवोक्तः । अतः परं मनोमयविज्ञानमयाववशिष्येते । तत्र छान्दोग्यैकवाक्यतासम्पादनाय विपरीतक्रमेणाह । अनन्तरा विज्ञानमनसी इति । मध्ये विद्यमाने विज्ञानमनसी किं भूतेभ्यः पूर्वमुत्पन्ने, उत पश्चादिति वक्तव्यम् । तत्र पूर्वपक्षी आह । क्रमेण तल्लिङ्गादिति । पूर्वमात्मनः सकाशादाकाशोत्पत्तिकथनेऽप्यत्रानन्दमयनिकटे विज्ञानमयः दूरे मनोमयस्ततोपि दूरे आकाशादिघटितः प्राणमय उक्तः, अतोऽग्रे परमात्मनिकटे वचन-

क्रमात्तयोर्लिङ्गादाकाशात्पूर्वं मनस्तस्मादपि पूर्वं जीव इति । तदूषयन् सिद्धान्तमाह । इति चेन्नाविशेषादिति । एवं न वक्तव्यम् । कुतः । अविशेषात् । एतयोर्नामरूपविशेषाभावात् । छान्दोग्ये जीवस्यात्मपदेन विशेषितत्वात् । तैत्तिरीये च तन्निगमनश्लोके 'ब्रह्म ज्येष्ठमुपासत' इति ब्रह्मत्वेन कथनात् । मनसोपि छान्दोग्येऽन्नेन पोषणस्यैवाभिप्रेततया तज्जन्मनोऽनभिप्रेतत्वात् । तैत्तिरीये तस्य वेदरूपतायाः स्फुटत्वाच्च । अतस्तयोरुत्पत्तिर्न वक्तव्येत्यर्थः । नन्वत्रान्तःकरणबहिःकरणानामुत्पत्तिक्रमः कुतो न विचारित इति शङ्क्यम् । प्रश्नोपनिषदि स 'प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीमिन्द्रियं मनोऽन्न'मिति श्रावणेनासन्दिग्धत्वादिति ॥ १५ ॥

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥१६॥

ननु मनोमयस्य वेदस्य विज्ञानमयजीवस्य चानुत्पत्तिर्न युक्ता, तदनुत्पत्तौ सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । व्यवहारमात्रस्य तदधीनत्वात् । न हि जीवं विना संसारी वा मुमुक्षुर्वा कर्मज्ञानभक्त्यधिकारी वा कश्चिद्भवेत् । न वा वेदं विना धर्माधर्मादिकमसङ्कीर्णमवगन्तुं शक्येत । अतस्तयोरुत्पत्तिर्वक्तव्येत्यत आह । चराचरेत्यादि । चरमचरं च चराचरे स्थावरजङ्गमे शरीरे तयोः शरीरयोर्व्यपाश्रयः समागमहेतुकः संबन्धः । स तु जीवस्य स्यात् । 'जायमान' शरीरमभिसम्पद्यमान उत्क्रमिष्यन् म्रियमाण' इति श्रुत्या सम्पदुत्क्रमाभ्यां देहसम्बन्धेनैव जननमरणयोरुक्तत्वादिति । ननु यदि जीवस्य समागममात्रम्, नोत्पत्तिः, तदा जातकर्मादिसंस्काराभावप्रसङ्गः । न हि ते शरीरस्य क्रियन्ते । तथा सति मृतकोत्पत्तावपि कर्तव्याः स्युः । अतस्तस्याप्युत्पत्तिः स्वीकार्येत्यत आह । तद्व्यपदेशो भाक्त इति । तयोर्जन्ममरणयोर्यो जीवे व्यपदेशः, देवदत्तो जातो, देवदत्तो मृत इत्यभिलापः, स तु भाक्तः, शरीरस्य जन्ममरणशालित्वात्तत्संबन्धेन लाक्षणिकः । ननु येन लाक्षणिकत्वमुच्यते, स संबन्धो लक्षणारूपः, को वेत्यत आह । तद्भावभावित्वादिति । तस्य भावस्तद्भावः शरीरेऽहमित्यभिमानस्तेन भवति व्याप्तस्तिष्ठति तच्छीलस्तद्भावभावी तत्त्वात् । तथा च शरीराभिमानरूपः संबन्धो लक्षणारूपः, तद्धेतुकत्वेन जातादिप्रयोगस्य भाक्तत्वम्, जातकर्मादिसंस्काराणां च देहविशिष्टविषयत्वमित्यर्थः । एवं जीवस्य देहसंबन्धेनैवोत्पत्तिमत्त्वम्, न तु स्वत इति सिद्धम् ॥१६॥ इति नवममन्तरा विज्ञानमनसीत्यधिकरणम् ॥९॥

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १७ ॥ (२-३-१०)

ननु पूर्वं नामरूपविशेषसंबन्धाभावाज्जीवस्य नोत्पत्तिरित्युक्तम्, तत्र नियामकं किमप्यस्ति, न वेति शङ्कानिरासायाधिकरणान्तरमारभते । तत्र जीवस्यैव देवदत्तादि नाम, न शरीरमात्रस्य । मृते देवदत्ते गयाश्राद्धादिकरणानुपपत्तेः । एवं नामसंबन्धे तत्र सिद्धे सोऽप्युत्पद्यते इति प्राप्तम्, तत्राह । नात्मेत्यादि । आत्मा जीवो नोत्पद्यते । कुतः । अश्रुतेः ।

जीवोत्पत्तिबोधकश्रुत्यभावात् । लोकेपि देवदत्तो जात इति देहोत्पत्तिरेवाभिलप्यते, न तु तद्व्यतिरेकेणात्मनः । 'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे' इत्यादिश्रुतावपि देहोपलक्षित एव जीवः प्रतीयते, अतः श्राद्धादिशास्त्रेपि देहोपलक्षित एव ग्राह्यः । अन्यथा तु देहवदनित्यतायां पुत्रेष्टिगयाश्राद्धादिविप्लवप्रसङ्गात् । प्रेतादिपूर्वजन्मकथनाद्यनुपपत्तेश्च । अतो देहस्यैव जन्मादिधर्मवत्त्वात्तत्संबन्धेनैव जीवस्य जन्मादिव्यपदेश इति निश्चयः । विस्फुलिङ्गवद्व्युच्चरणं तु नोत्पत्तिः । नामरूपविशेषसंबन्धाभावात् । नामरूपान्तरसंबन्धस्यैवोत्पत्तित्वम्, न केवलस्य व्युच्चरणस्येत्यत्र किं गमकमिति शङ्क्यम् । 'यथोर्णनाभस्तन्तुनोच्चरेदि'त्यव्यवहितपूर्वमुक्तस्य दृष्टान्तस्यैव गमकत्वात् । अन्यथैकेन निर्वाह इतरवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अतस्तन्तूनां नामरूपसंबन्धादयं दृष्टान्तः प्राणादीनां नामरूपान्तरसंबन्धवतामुत्पत्तिबोधको, विस्फुलिङ्गदृष्टान्तस्तु जीवानां व्युच्चरणमात्रबोधक इत्यास्थेयम् । ननु दृष्टान्तस्यान्यथापि नेतुं शक्यत्वान्नैतावन्मात्रेण निर्वाह इत्यत आह । नित्यत्वाच्च ताभ्य इति । ताभ्यः 'अयमात्माऽजरोऽमरः ।' 'न जायते न म्रियते वा विपश्चित् ।' 'नित्यो नित्यानाम् ।' 'अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराण' इत्यादिश्रुतिभ्यो नित्यत्वादपि । तथा च न जीवस्योत्पत्तिरित्यत्र श्रुतिरेव नियामिकेति सिद्धम् ॥ १७ ॥ इति दशमं नात्माऽश्रुतेरित्यधिकरणम् १०

ज्ञोत एव ॥ १८ ॥ (२-३-११)

अतः परं जीवस्य गुणान् विचारयन् प्रथमतश्चैतन्यं गुणमाह । ज्ञ इति । जानातीति ज्ञः । ज्ञानधर्मा । यो यद्गुणकः, स तदात्मक इति व्याप्तेः समन्वयसूत्रे साधितत्वात् ज्ञानस्वरूप इत्यपि । कुतः । अत एव । 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' । 'न पश्यो मृत्युं पश्यति ।' 'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता रसयिते'त्यादिभ्यः, 'अन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः विज्ञानं यज्ञं तनुत'इत्यादिभ्यः श्रुतिभ्य इत्यर्थः । तेन काणभुजानामिव न केवलं चिद्धर्मा । नापि साङ्ख्यवत्केवलं चिद्रूपः । किन्तु चिद्धर्मा चिद्रूपश्चेति सिद्धम् ॥ १८ ॥ इत्येकादशं ज्ञोऽत एवेत्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥ (२-३-१२)

अतः परं जीवस्य परिमाणं विचार्यते । शारीरकब्राह्मणे 'स वा एष महानज आत्मे'ति, कौशीतकीब्राह्मणे च 'योयं विज्ञानमयः पुरुषः प्राणेष्वि'ति श्रावणेन, श्वेताश्वतरे च 'आराग्रमात्रो ह्यवरोपि दृष्ट' इति, 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः, स चानन्त्याय कल्पत' इत्यणुत्वश्रावणेन सन्देहात्, बहुभिः सांख्यनैयायिकादिभिर्जीवस्य व्यापकत्वाङ्गीकाराद्व्यापक एव जीव इति प्राप्ते, आह । उत्क्रान्तीत्यादि । अत्र पूर्वसूत्रादत एवेत्यनुवर्तते । ततः पूर्वस्मादात्मेति च । सूत्रयोजना तु, जीवात्मा, उत्क्रान्तिगत्यागतीनां संबन्धी । कुतः । अत एव । उत्क्रान्त्यादिबोधकश्रुतित एवेति । उत्क्रान्तेः श्रुतिस्तु कौशीतकिब्राह्मणे प्रतर्दनाख्यायां 'स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामती'ति । गतिश्रुतिरपि तत्रैव गाङ्ग्यायनिश्वेतकेतुसंवादे । 'ये के चास्माल्लोकात्प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ती'ति । आगतिश्रुतिस्तु बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणे । 'तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' इति । तथा च व्यापकत्व उत्क्रान्त्यादिक्रियाबोधकश्रुतीनां पीडापत्त्या न तथा, किन्त्वणुरेवेत्यर्थः ॥१९॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २० ॥

ननूत्क्रान्तिगत्यागत्यो लिङ्गविशिष्टस्यैव, न केवलस्येति, यथा स्थूलशरीरोपाधिना जन्ममरणव्यपदेश औपचारिकः, तथा लिङ्गशरीरोपाधिक उत्क्रान्तिव्यपदेशोपीत्यत आह । स्वात्मनेत्यादि । जीवात्मा स्वात्मना स्वस्वरूपेण चकारादिन्द्रियैः सहापि उत्तरयोः गत्यागत्योः संबन्धी । अत एव । तद्बोधकश्रुतिभ्य एवेत्यर्थः । तास्तु । 'ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून्सृजते सञ्चरत्यपि । जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुन'रिति ब्रह्मोपनिषदि । 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्ये'ति छान्दोग्ये । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति बृहदारण्यके । 'कामरूप्यनुसञ्चर'न्निति तैतिरीये भृगूपनिषदि । एवमेतासु चतसृषु जीवस्य षडवस्थाः प्रदर्शिताः । तत्र जाग्रत्युपाधिपरिष्वङ्गादिन्द्रियैः सह गत्यागतिसंबन्धी । स्वप्ने त्विन्द्रियाणां लयेन साक्षिण एव केवलस्य स्वयंज्योतिष्ट्वात्स्वात्मनैव । सृष्टावप्येवम् । अनुप्रवेशस्योपाधिसंबन्धघटकत्वादनुप्रवेशदशायां केवल एवेति स्वात्मना । अप्ययः सुषुप्तेरप्युपलक्षकः । तत्राप्युपाधिलयात्तथा । मुक्तौ तु प्राणो नास्ति, बुद्धिरपि नास्तीत्येवं स्वात्मना गत्यागतिसंबन्धाज्जीवः स्वतोणुरेवेत्यर्थः ॥ २० ॥

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २१ ॥

व्यापकत्वमाशङ्क्य परिहरति । नेत्यादि । जीवात्मा नाणुर्भवितुमर्हति । कुतः । अतच्छ्रुतेः । बृहदारण्यके 'स वा एष महानज आत्मे'ति । कौशीतकीब्राह्मणसमाप्तौ 'योयं विज्ञानमयः प्राणेष्वि'त्यणुत्वविरुद्धमहत्त्वसर्वप्राणव्याप्तृत्वश्रुतेरिति चेत् । न । एताभ्यामणुत्वाभावो न सिध्यति । कुतः । इतराधिकारात् । इतरस्य परब्रह्मणः अधिकारात्, प्रस्तावात् । आद्यायाः ब्रह्मप्रकरणस्थत्वं 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेने'त्यत्र व्युत्पादितम् । द्वितीयस्याः समाप्तौ 'इदं सर्वं यदयमात्मे'ति सर्वात्मस्वरूपाद्ब्रह्मलिङ्गादवगम्यते, तस्मादित्यर्थः ॥२१॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥ २२ ॥

हेत्वन्तरमाह । स्वेत्यादि । बृहदारण्यके 'स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिती'ति जीववाचकः स्वशब्दः । उद्धृत्य वस्त्वन्तरात्पृथक्कृत्य मानं उन्मानम् । 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पत' इति । 'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः । बुद्धेर्गुणेनात्म-

गुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोपि दृष्ट ' इति श्वेताश्वतरे उक्तम् । ताभ्यामपि जीवोणुरेव सिध्यति । स्वप्ने व्यापकस्य शरीरपरिमाणकस्य च विहारासम्भवात् । उत्क्रोम्माना- सम्भवाच्च । चकारेण ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तं 'सन्ध्यं तृतीयं स्थानं तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नुभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं चे'त्युक्तं सन्ध्यावागतिदर्शने सङ्गृह्यते । तथा चैभ्योपि हेतुभ्योणुरेव जीव इत्यर्थः ॥ २२ ॥

अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २३ ॥

ननु सत्यमेभिरणुत्वं सिध्यति, तथापि जलावगाहादौ सकलशरीरव्यापिशैत्या- द्युपलब्ध्या बाध्यते, अतोत्राणुत्वसाधिका युक्तिर्वक्तव्येत्याकाङ्क्षायां तामाह । अविरोध इत्यादि । जीवे अणुत्वसर्वशरीरव्याप्त्योर्विरोधो नास्ति, तादृशसामर्थ्यवत्त्वात् । अयं च हेतुर्दृष्टान्तेन सूच्यते । चन्दनवदि ति । यथा चन्दनं शरीरैकदेशे स्थितं सकलदेहसुखं जनयति, यथा च तत्खण्डस्तप्ततैलकटाहे निक्षिप्तः सर्वं तैलं शीतलं करोति, तद्वत् । सामर्थ्येनाङ्गीकारेपि मूलमुन्मानवाक्यशेषे 'स चानन्त्याय कल्पत' इति 'क्लृप् सामर्थ्ये' इति सामर्थ्यार्थकधातुप्रयोगो बोध्यः। चन्दनसूक्ष्मावयवा सर्वदेहप्रसर्पणमङ्गीकृत्य दृष्टान्तं व्याकुलयतामर्थे 'ज्वरं हन्ति शिरोबद्धा सहदेवी जटा यथे'त्यपि दृष्टान्तो बोध्यः । चन्द- नपदं तु सूत्र उपलक्षणविधयोक्तमित्यदोषः ॥ २३ ॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॥ २४ ॥

ननु चन्दनदृष्टान्तेन सामर्थ्यव्याप्तिसाधनमयुक्तम् । चन्दन एकदेशस्थायित्वस्य प्रत्यक्षतो निश्चितत्वेन ततः सकलशरीरव्यापिशैत्यप्रत्यक्षबलेन च चन्दने व्यापनसामर्थ्य- कल्पनाया उचितत्वेपि जीवे शरीरैकदेशस्थायित्वस्य प्रत्यक्षेणानिश्चयाद्दृष्टान्तवैषम्येन जीवे तादृशसामर्थ्यसिद्धिर्न भवतीत्याशङ्कायामाह । अवस्थितीत्यादि । अत्र पूर्वसूत्रादविरोध- पदमनुवर्तते । अवस्थानमवस्थितिः । विशेषस्य भावो वैशेष्यम्, तस्मात् । अनुपहतत्वचि तप्ततैलकटाहे चैकदेशावस्थानस्य प्रत्यक्षगोचरत्वरूपाद्विशेषभावश्चन्दने भवतु नाम तथा । जीवे तु न तथा वक्तुं युक्तम्, तादृशावस्थितिवैशेष्याभावादिति चेत् । न । कुतः । अभ्यु- पगमात् । जीवस्यापि स्थानविशेषस्याभ्युपगमादविरोधः । नन्वभ्युपगमसिद्धान्तस्त्वप्रयो- जक इति शङ्कायामाह । हृदि हीति । हि 'गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे' इति श्रौतयुक्तिसद्भा- वाद्धृदि हृदयदेशे जीवस्थितिः । तथा च श्रुत्यन्तरम् । 'हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः । स वा एष आत्मा हृदि । हृद्येष आत्मे'त्यादि । तथा च प्रत्यक्षेण चन्दनस्येव जीवस्यापि हृद्यवस्थितेः शब्दान्निश्चये सामर्थ्येन सर्वशरीरव्याप्तौ दृष्टान्तवैषम्याभावेनाविरोध इत्यर्थः ॥ २४ ॥

गुणाद्वा लोकवत् ॥ २५ ॥

श्रौतरीत्या समाधानेपि लौकिकः प्रतिवादी न तूष्णीको भवतीति लोकरीत्या

युक्तिमाह । गुणाद्वेत्यादि । वाशब्दोनादरे । लोकवत् । लोक इव गुणादविरोधः । यथा लोके एकदेशस्थायिनोपि मणेः प्रभारूपो गुणो बहुदेशं व्याप्नोति, तथा जीवस्यापि चैतन्यरूपो गुणः सर्वं शरीरं व्याप्नोतीति । न च प्रभाया द्रव्यत्वम् । स्पर्शानुपलम्भात् । मण्याच्छादने बहिस्तदनुपलम्भात् मणिनाशे नाशाच्चेति ॥ २५ ॥

व्यतिरेको गन्धवत् ॥ २६ ॥

प्रभायां गुणत्वस्य सन्दिग्धत्वादन्यं सिद्धं दृष्टान्तमाह । व्यतिरेक इत्यादि । विशे- षेणातिरिच्यते इति व्यतिरेकोऽधिकदेशवृत्तित्वम्, सोप्यनुभूयते गुणविशेषे । कुत्रेत्या- काङ्क्षायामाह । गन्धवत् । यथा गन्धश्चम्पकादेस्तद्रहितेपि देश उपलभ्यते, तद्वदित्यर्थः । अयमर्थः श्रुत्याप्युच्यते । 'यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद्गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद्गन्धो वाती'ति ॥ २६ ॥

तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥

चैतन्यस्य गुणत्वे प्रमाणमाह । तथेत्यादि । यथास्माभिर्गुणाद्व्याप्तिरुक्ता, तथा च तेनापि प्रकारेण दर्शयति श्रुतिः । कौशीतकिब्राह्मणे बालाक्यजातशत्रुसंवादे 'तं होवा- चाजातशत्रुर्यत्रैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट यत्रैतदभूद्यत एतदागा'दिति प्रतिज्ञाय, 'हिता नाम पुरुषस्य नाड्यो हृदयात्पुरीततमभिप्रतन्वन्ति, तद्यथा सहस्रधा केशो विपाटित- स्तावदण्व्यः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य कृष्णस्य पीतस्य लोहितस्य च तासु तदा भवती'ति हृदयायतनत्वं तादृशनाडीषु स्थानेनाणुपरिमाणत्वं चाभिधाय, तस्यैव हृदया- यतनस्याणोरात्मनः 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरमात्मानमनुप्रविष्ट आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य' इति प्रज्ञात्मत्वोक्तिपूर्वकं प्रविष्टत्वकथनाच्चैतन्येन गुणेन सर्वशरीरव्यापित्वं दर्शयति । अन्यथा अणोर्व्याप्तिर्नोपपद्येत । अतोणुत्वबोधनपूर्वकं व्याप्तिबोधनाच्चैतन्यं गुण एवेत्यर्थः ॥ २७ ॥

पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

हेत्वन्तरमाह । इन्द्रप्रतर्दनसंवादे 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्ये'ति प्रज्ञायाः करणत्वेन पृथगुपदेशात्प्रज्ञापदवाच्यं चैतन्यं गुण एवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २९ ॥

ननु परिमाणविषयिणी विप्रतिपत्तिस्तदा निवर्तते, यदा जीवस्य ब्रह्मणः सकाशा- द्भेदः सिद्धः स्यात् । स एव तु नास्ति । छान्दोग्ये 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्य'मिति सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वमुक्त्वा, अग्रे 'स आत्मा तत्त्वमसी'ति सर्वस्माद्भिन्नतया त्वंपदार्थस्य जीवस्य तत्पदसामानाधिकरण्यश्रावणेन परमेव ब्रह्म जीव इति साधयति । ब्रह्मणश्च व्यापकत्वं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतिशतेषु स्फुटम्, अतः कथमणुत्वमिति शङ्काया-

माह । तद्गुणेत्यादि । तुशब्द उक्तशङ्काऽपावृत्त्यर्थः । उक्तव्यपदेशमात्रेणाणुत्वाभावशङ्का न कर्तव्या । कुतः । तद्व्यपदेशः जीवस्य ब्रह्मत्वेन कथनम् । तद्गुणसारत्वात् । तस्य ब्रह्मणो गुणाः साराः प्रधानभूताः जडवैलक्षण्यकारिणो यस्मिन् । जीवस्य तादृशत्वात् । यथा चाज्ञाशक्त्यादिना राजधर्मेण यथामात्ये राजपदप्रयोगो गौण्या, तथा प्रज्ञाद्रष्टृत्वादि-ब्रह्मधर्मेण जीवेपि गौण्या ब्रह्मत्वव्यपदेशः । प्रज्ञायाः ब्रह्मधर्मत्वं तु 'प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी'ति श्वेताश्वतरे । द्रष्टृत्वादीनां 'तद्वा एतदक्षरं गार्गि अदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ' इत्यादौ प्रसिद्धम् । त एव धर्मा जीवे प्रधानभूता इति त्विन्द्रप्रतर्दनसंवादे 'प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोती'त्यादिवाक्येषु । गौण्या च जीवे ब्रह्मत्वं मैत्रेयीब्राह्मणे 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवती'त्युपक्रममनादृत्य वाक्यान्वयादिभिर्हेतुभिर्ब्रह्मणो वाक्यार्थत्वप्रतिपादनेन प्रियत्व-स्यापि ब्रह्मधर्मत्वे साधितेऽर्थात् सिध्यति । जीवब्रह्मणोर्भेदश्च 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेने'त्यत्र साधितः । अतो ब्रह्मव्यपदेशमात्रान्नाणुत्वबाधः । नन्वेतदयुक्तम् । तत्त्वमस्यादिवाक्ये तस्य ब्रह्मत्वं कण्ठतो निरूप्यते । न हि निरूपणस्थल एवोपचारः सम्भवतीत्यत आह । प्राज्ञवदिति । सम्भवति निरूपणस्थलेप्युपचारो यथा प्राज्ञे । तथा हि । बृहदारण्यके शारीरकब्राह्मणे सुषुप्त्यवस्थासामयिकं जीवस्वरूपं निरूप्य, 'तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर'मिति जीवब्रह्मणोर्भेददृष्टान्तनिरूपणावसरे, 'एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तर'मिति भेदमभि-धाय, कः प्राज्ञ इत्याकांक्षायां प्राज्ञस्वरूपमाह । 'तद्वा अस्यैतदतिछंदोऽपहतपाप्माऽभयंरूप-मशोकान्तरमत्र पिता अपिता भवती'त्यादि । प्राज्ञश्च सुषुप्तिसाक्षीति माण्डूक्ये नृसिंहोत्तर-तापनीये च सिद्धम् । 'विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पादस्तैजसो हिरण्यगर्भो द्वितीयः पादः प्राज्ञ ईश्वरस्तृतीयः पाद ईश्वरग्रासस्तुरीय' इति । प्राज्ञे च ब्रह्मधर्मा बोध्यन्ते । 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूताना'मित्यनेन । तदनन्तरं 'अथ तुरीय ईश्वरग्रासः स्वराट् स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशश्चतुरात्मा ओतानुज्ञात्र-नुज्ञाविकल्पै'रित्युक्त्वा ओतादयो विव्रीयन्ते । एवं सति शारीरकब्राह्मणे अस्य रूपमिति-कथनात् तापनीये च तुरीयस्य स्वयमीश्वरस्येश्वरग्रासत्वकथनेन प्राज्ञस्य ब्रह्मप्रधानत्वबोध-नाच्च प्राज्ञो नेश्वरः । किन्तु तस्य रूपान्तरम् । तस्मिंश्चोपचारो निरूपणस्थल एव दृश्यते शारीरकब्राह्मणे, तथा जीवेपि तत्त्वमस्यादिवाक्येषु निरूपणस्थल एवोपचारो बोध्यः, एकत्र दृष्टः शास्त्रार्थोऽन्यत्रापि तथेति न्यायादित्यर्थः ॥ २९ ॥

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

ननु जीवस्य ब्रह्मणः सकाशाद्भेदाङ्गीकारे अन्यत्वं सिद्धम् । हीनत्वं त्वाप्र-त्वानीशत्वाद्यनुभवसिद्धम् । एवं सत्यन्यस्य नीचस्य सर्वोत्कृष्टत्वेन व्यपदेशः कथं

घटते । न हि प्रामाणिकैः सर्वथा अयुक्तेर्थे व्यपदेशः क्रियते । अथ ग्रामाधीशे राजसेवके त्वमस्माकं राजेति राजधर्मवत्त्वाद्यथा प्रयुज्यते, तथा जीवे आनन्दांशप्राकट्येन ब्रह्मधर्म-वत्त्वाद्ब्रह्मत्वप्रयोगः प्राज्ञवदुक्तः, सोप्ययुक्तः हृताधिकारे राजसेवक इव । तुरीयग्रस्यमाने प्राज्ञ इव च तस्यापि तिरोधानसम्भवेन वैयर्थ्यापत्तेरिति शङ्कायामाह । यावदित्यादि । यावदात्मभावित्वात् । यावदिति पदार्थानतिवृत्तौ । भावित्वं वर्तनशीलत्वम् । आत्मान-मनतिक्रम्यानन्दांशस्य वर्तनशीलत्वात् । आनन्दांशस्य प्राकट्योत्तरं सर्वदा वर्तनादिति यावत् । अतो न दोषः । नानन्दांशस्य पुनस्तिरोधानम् । कुतः यावदात्मभावित्वमित्यत आह । तद्दर्शनात् । 'स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुष ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, न च पुनरावर्तते ।' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।' 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येय सम्पत्स्य' इत्यादिष्वना-वृत्त्यैश्वर्यादीनामुक्तत्वेन तस्य सर्वदा ब्रह्मात्मकत्वेनानुभवादिति । न च प्राज्ञवत्तिरोधान-मानन्दांशस्य शङ्क्यम् । सम्पन्नत्वरूपस्य विशेषस्यास्मिन्नुक्तत्वात् । यद्वा । यावदवधारणे । यावदात्मा संसारी । व्यपदेशस्य तावद्भवनशीलत्वात् । न दोषः । नायुक्तत्वम् । तद्दर्शनात् । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'त्यादिष्वग्रे ब्रह्मभावस्यैव दर्शनादिति । पूर्वव्याख्याने जीवभाव-स्योत्तरावधिग्रहणम्, अत्र तु ब्रह्मभावस्य पूर्वावधिग्रहणमिति विशेषः । एतद्बीजं तु यावदा-त्मभावित्वपदम्, अन्यथा नित्यत्वपदमेव ब्रूयादिति बोध्यम् । अत्र च 'उत्क्रमिष्यत एवं भावा'दित्यौडुलोमिमतं समर्थितं भवति ॥ ३० ॥

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोभिव्यक्तियोगात् ॥ ३१ ॥

ननु पूर्वमसतश्चेदानन्दांशस्य प्राकट्यम्, तदा जन्यत्वेन नश्वरत्वेन व्याप्तेरानन्दांश-तिरोधानस्य सम्भवान्न यावदात्मभावित्वं वक्तुं शक्यमित्याशङ्कायामाह । पुंस्त्वेत्यादि । तुः पूर्वोक्तशङ्कानिरासे । व्यपदेशदशायामपि नात्यन्तमानन्दांशस्यासत्त्वम् । कुतः । अस्य सतोभिव्यक्तियोगात् । अस्यानुद्भूतस्य सतस्तदानीमभिव्यक्तया संसर्गात् । तत्र दृष्टान्तः । पुंस्त्वादिवदिति । पुंस्त्वं सेकादिसामर्थ्यम् । आदिपदेन श्मश्र्वादिगतं विभ्रमादि । तद्यथा बाल्ये विद्यमानमेव यौवने प्रकाशते, तद्वत् । तथा नानन्दांशस्य जन्यतेति यावदात्म-भावित्वं निर्बाधमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोन्यतरनियमो वान्यथा ॥ ३२ ॥

ननु व्यपदेशपक्षमाश्रित्य किमित्यानन्दांशस्य मोक्षदशायामेव प्राकट्यम्, नान्यदे-त्यङ्गीक्रियते, तत्र हेतुं न पश्याम इत्याकाङ्क्षायामुक्तोपगमेन्यथानुपपत्तिरूपं हेतुमाह । नित्येत्यादि । अन्यथा । यद्यानन्दांशप्राकट्यकादाचित्कत्वं नाभ्युपगम्यते, तदा पक्षत्रयं सम्भवति । जीवे सच्चिदानन्दानां त्रयाणां नित्यमुपलब्धिप्रसङ्गो वा, नित्यमनुपलब्धि-प्रसङ्गो वा, जीवो निरानन्द एव, ब्रह्म त्वानन्दरूपमेवेत्यन्यतरयोर्नियमो वा । तत्राद्य आनन्दांशस्य नित्यमुपलब्ध्या संसारावस्थायाः अनुपपत्तिः । द्वितीये नित्यं विद्यमानस्या-

प्यानन्दांशस्यानुपलब्ध्या मोक्षदशाविरोधः । तृतीये 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुत्युक्तब्रह्मभावविरोधः । तस्मात्पूर्वोक्तपक्षाङ्गीकारे श्रौतान्यथानुपपत्तिरेव हेतुरित्यर्थः । एवमणुत्वं जीवस्यावधारितम् ॥ ३२ ॥ इति द्वादशमुत्क्रान्तिगत्यागतीनामित्यधिकरणम् ॥ १२ ॥

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥ (२-३-१३)

अतः परं कर्तृत्वं विचार्यते, जीवेऽस्ति, न वेति । साङ्ख्यैः प्रकृतिगतमेव कर्तृत्वं जीवे भासत इत्युच्यते । नैयायकैस्तु जीवगतमित्युच्यते । अत्र जीवे ज्ञानरूपत्वाङ्गीकारः साङ्ख्यानामिव, ज्ञानवत्त्वाङ्गीकारो नैयायकानामिवेत्यतः सन्देहः । तत्र साङ्ख्यमतस्य शिष्टपरिगृहीतत्वान्न कर्तृत्वमिति प्राप्ते, आह । कर्तेति । कुतः । शास्त्रार्थवत्त्वात् । शास्त्रस्य अर्थवत्त्वं शास्त्रार्थवत्त्वं तस्मात् । शास्त्रस्य फलवत्त्वादिति यावत् । अयमर्थः । 'कारीर्या वृष्टिकामो यजेत, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत, अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति, स क्रतुं कुर्वीते'त्यादिभिर्वेदेऽभ्युदयनिःश्रेयसफलार्थं यज्ञोपासनादीनि कर्माणि विहितानि । तत्र स्वर्गकामादिपदोक्ते कर्तरि विचार्यमाणे ब्रह्मणो न कर्तृत्वम्, आप्तकामत्वात् । नापि जडायाः प्रकृतेः, तादृशकामाभावेन बोधाभावे चाशक्यत्वात् । यदि पुनर्जीवस्यापि कर्तृत्वं नोच्यते, तदा तादृशार्थिविद्वत्कर्तृशून्यानि स्वर्गकामादिपदानि कुप्यन्ति शास्त्रवैयर्थ्यमापादयेयुः । अत उक्तहेतोर्जीवः कर्तेति । न च 'प्रकृतेः क्रियमाणानी'ति गीतादिवाक्यविरोधः । तस्य लौकिककर्तृत्वनिषेधपरत्वात् । अन्यथा 'अधिष्ठानं तथा कर्ते'ति कर्तृत्वोक्तिविरोधापत्तेः ॥३३॥

विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥

ननु प्रतीयते शास्त्रेषु कर्तृत्वं कामिनां जीवानाम् । कामस्तु मनोधर्मः, श्रुतावेव प्रसिद्धः, 'कामः सङ्कल्प' इत्यादीनां मनस्त्वश्रावणात् । मनश्च प्राकृतम्, अतो जीवस्य प्रकृतिसंसृष्टस्यैव तद्विवेकाग्रहात्कर्तृत्वे शास्त्रसार्थक्यसिद्धेर्न तेन जीवस्य वास्तवकर्तृत्वसिद्धिरित्यत आह । विहारेत्यादि । छान्दोग्ये दहरविद्यायां 'स यदि पितृलोककामो भवती'त्यादिना 'यं कामं कामयते, सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति, तेन सम्पन्नो महीयत' इत्यन्तेन तत्तत्समुत्थानादिकथनमुखतो विहारस्य स्वेच्छाक्रीडात्मकभोगरूपस्योपदेशाद्दहरविदो भोक्तृत्वं भासते । न च तादृशस्य विवेकाग्रहः सम्भवति, अतः कर्तृत्वमपि तस्य सिध्यति, 'साधुकारी साधुर्भवती'ति कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः सामानाधिकरण्यश्रवणात् । अतो जीव एव कर्ता ॥ ३४ ॥

उपादानात् ॥ ३५ ॥

सङ्कल्पस्य मनोधर्मत्वाद्दहरविदोपि मनःसंसृष्टत्वमेव, न केवलत्वम्, अतो नानेन जीवे कर्तृत्वसिद्धिरित्याशङ्कायां हेत्वन्तरमाह । उपादानादिति । बृहदारण्यके दृप्तबालाकि-

ब्राह्मणे 'य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेत' इति । 'स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तत' इति स्वप्नावस्थायामज्ञानबहुलायामपि प्राणानामन्तर्बहिरिन्द्रियाणां पृथक्तया ग्रहणश्रावणात्तदानीमिन्द्रियेभ्यो विविक्तस्यैव गृहीतृत्वमुच्यते, अतो दहरविदः सङ्कल्पोप्यात्मधर्म एव ज्ञातव्यः । 'कामः सङ्कल्प' इति श्रुतिस्तु लौकिकतत्परा । अतः स्वातन्त्र्यादात्मन एवोभयत्रापि कर्तृत्वमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥ ३६ ॥

एवं श्रुतार्थापत्त्या जीवस्य कर्तृत्वं साधयित्वा साक्षात् श्रुत्या साधयति । व्यपदेशादिति । 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि चे'ति यज्ञादिविस्तारणक्रियायां प्रथमाविभक्त्या अत्र विज्ञानरूपो जीवः कर्तृत्वेनोच्यते । अतः कर्तृत्वे सन्देह एव नास्तीत्यर्थः । ननु साङ्ख्ये बुद्धेरेव कर्तृत्वाङ्गीकारादस्यामपि श्रुतौ बुद्धिरेव कर्त्री विज्ञानपदेनोच्यत इत्याशङ्क्य परिहरति । न चेदित्यादि । अत्र श्रुतौ बुद्धिरेवोच्यते, जीवो न, चेत् । निर्देशस्य विभक्तिरूपस्य विपर्ययः अन्यथारूपत्वं स्यात् । प्रथमास्थले तृतीया निर्दिश्यते, यथा 'विज्ञानेन विज्ञानमादाये'ति । यदि च कारकमात्रस्य स्थाली पचतीत्यादिवत् स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यान्न दोष इति विभाव्यते, तदापि स एव दोषः । एतस्य श्लोकस्य विज्ञानमयमुपक्रम्य पठितत्वादेतदैकार्थ्यानुरोधेन विज्ञानमयपदेपि विज्ञानपदस्य बुद्धिवाचकत्वे मयटो विकारार्थतापद्येत । सा च 'मयचश्छन्दसी'ति व्याकरणसूत्रस्यनियमाद्विरुध्यत इति तस्य विज्ञानमयप्रयोगस्य विपर्ययः स्यात् । तस्मात् विज्ञानमयो जीव एवेति तस्यैव कर्तृत्वमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

उपलब्धिवदनियमः ॥ ३७ ॥

ननु जीवस्य कर्तृत्वे स्वातन्त्र्यं भवति । स्वातन्त्र्ये च सदा स्वहितमेव कुर्यात्, न स्वाहितम् । दृश्यते तु तत्करणमपीत्यतो न कर्तृत्वं जीवस्य युक्तमित्यत आह । उपलब्धिवदनियम इति । साङ्ख्यमते भोक्तृत्वस्याङ्गीकाराद्भोगस्य च सुखदुःखसाक्षात्कारात्मकत्वात्तत्र स्वातन्त्र्यं तु तवापि वाच्यम् । तथा सत्युपलब्धिवत् उपलब्धिरूपे कार्ये इव अनियमः । तत्र यथा चक्षुरादीनि करणानि व्यापारयन्निष्टमनिष्टं चोपलभत इत्यनियमः, एवं क्रियारूपेपि कार्ये तत्करणानामिन्द्रियाणां व्यापारणादिष्टमनिष्टं चाप्नोतीत्यनियमः । तथा च दोषपरिहारयोः साम्यान्नैवं पर्यनुयोगो युक्त इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८ ॥

नन्वत्रोपलब्धिदृष्टान्तो न युक्तः, उपलब्धेः प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वेन दैवादपि सम्भ-

वात् । कर्मणस्तु बुद्धिपूर्वकस्वप्रयत्ननिष्पाद्यत्वेन स्वायत्ततया दृष्टान्तवैषम्यात् । अतः साम्याभावाद्युक्तः पर्यनुयोग इत्यत आह । शक्तीत्यादि । न दृष्टान्तवैषम्यम् । शक्तेः सामर्थ्यस्य विपर्ययादभावात् । यदि हीश्वरवत्समर्थः स्यात्, स्वानिष्टे यत्नं न कुर्यात् । सामर्थ्यं तु नास्ति । अत उपलब्धिवदत्र कर्माण्यपि दैवादेवाहितमिति दृष्टान्तसाम्याभानेन कर्तृत्वहानिरित्ययुक्त एव पर्यनुयोग इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

समाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥

ननु शक्त्यभाव एव कुत इत्याकाङ्क्षायामाह । समाधीत्यादि । योगेन हि जीवे ज्ञानक्रियाशक्ती सिध्यतः । समाधिस्तु तदङ्गभूतोऽतस्तदभावात्, चकारेण तादृग्मन्त्राभावाच्च शक्त्यभाव इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

यथा च तक्षोभयथा ॥ ४० ॥

ननु यदुक्तं भोक्तृत्ववत्कर्तृत्वमपि न पर्यनुयोज्यमिति, तदयुक्तम् । कर्मकराणां राजभटानां युद्धादिकर्तृत्वेपि तत्सुखभोक्तृत्वाभावेन कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्वैयधिकरण्यादित्यत आह । यथेत्यादि । यथा तक्षा रथं पीठं वा निर्माय तत्रारूढो विहरति । यथा च स्वतो न व्याम्रियते, करणद्वारा च व्याम्रियते । यथा च स्वार्थमिवान्यार्थमपि करोति, तद्वदुभयथापि जीवस्य कर्तृत्वं सिध्यतीति कर्मकरदृष्टान्तः साधारणो न कर्तृत्वबाधक इत्यर्थः । न च कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वं शङ्क्यम् । पयःपातृत्वादेः सुखरूपत्वेन तथा नियमाभावात् । नापि तत्सत्त्वे अनिर्मोक्षः शङ्क्यः । ब्रह्मणि तत्सत्त्वेपि तस्य नित्यमुक्तत्वात् । अतः प्रकृत्यधीन एव कर्तृत्वे दोषाः, न वास्तवे । तस्माज्जीवस्य स्वार्थे परार्थे कर्तृत्वं कारयितृत्वं च तक्ष दृष्टान्ते साधितं बोध्यम् ॥४०॥ इति त्रयोदशं कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादित्यधिकरणम् ॥१३॥

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥ (२-३-१४)

एवं निर्धारिते जीवकर्तृत्वे, तत्किं नैयायकादीनामिव स्वातन्त्र्येण, उत ब्रह्माधीनतयेति सन्देहः । 'पुण्यः पुण्येने'ति 'एष उ एव साधु कारयती'ति विरुद्धश्रुतिद्वयदर्शनात् । तत्र ईश्वराधीनत्वे, ईश्वरस्य सर्वत्र समत्वेन जीवस्य दुःखभोगासम्भवात्कर्मानादित्वस्य प्राक्साधितस्य कर्तृत्वाधीनत्वात्तदप्यनाद्येवेति स्वातन्त्र्येणैव कर्तृत्वं युक्तमित्याशङ्कायामाह । परादित्यादि । तुः पूर्वोक्तशङ्कानिरासे । कर्तृत्वं ब्रह्मगतमेव, परात् ब्रह्मसंबन्धात् ऐश्वर्यादिवत्तद्दत्तं जीवे भासते । कुतः । तच्छ्रुतेः । तस्यैव कर्तृत्वकारयितृत्वश्रवणात् । 'नान्योतोस्ति द्रष्टे'त्यादिषु 'स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता' 'सर्वमिदं प्रशास्ती'त्यादिषु सर्वकर्तृत्वस्य, 'एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषती'ति कारयितृत्वस्य च ब्रह्मण्येव श्रावणादित्यर्थः ॥ ४१ ॥

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥ ४२ ॥

ननु ब्रह्मणः कारयितृत्वं न युज्यते, वैषम्यनैर्घृण्यप्राप्तेः । न च वैषम्यनैर्घृण्यसूत्रे तयोः परिहृतत्वान्न शङ्कावकाश इति शङ्क्यम् । तत्र कर्मानादित्वेन तत्सापेक्षतया कृतस्य परिहारस्य कारयितृत्वानादिताग्रस्तत्वेनायुक्तत्वादिति शङ्कायामाह । कृतेत्यादि । तु. उक्तशङ्कानिरासे । कारयितृत्वानादितया ब्रह्मणि वैषम्यादिदोषो न भवति । यतः परमात्मा कृतप्रयत्नापेक्षः । तैत्तिरीये 'सोकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोतप्यत । स तपस्तप्त्वा इदꣳसर्वमसृजत यदिदं किञ्च । तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् । तदनु प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च । सत्यमभवदि'ति स्वस्यैव बहुभवनोच्चनीचभवनेच्छाभ्यामालोचनेनानुप्रवेशपूर्वकनानाविधद्वैधीभावकथनोत्तरं सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वनिगमनात् सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वे समानेपि तत्तत्स्वभावभेदस्याप्यकारणकत्वाभावेनालोचितत्वात्तसायात्तेन स्वभावेन यो जीवकृतः प्रयत्नस्तत्सापेक्षः कारयति । वेदेन पदार्थगुणदोषौ वर्णयति । यथा पुत्रं यतमानं बालं पदार्थगुणदोषौ वर्णयन्नपि यत्प्रयत्नाभिनिवेशं पश्यति, तथैव पिता कारयति, तद्वत् । एवं सति उन्निनीषत्यधो निनीषतीति या श्रुतिः, सा सर्वत्र कारणत्वं ब्रह्मण एवेति बोधनाय जीवप्रयत्नोत्तरं फलदानेच्छामनुवदति, कारणश्रुतिश्च तदनुकूलसामग्रीसङ्घट्टनरूपं कारयितृत्वम् । तथा च गुणदोषकथनपूर्वकं तदिच्छानुरूपसामग्रीसम्पादके पितरि यथा न दोषः, किन्तु पुत्रस्वभाव एव दोषः, तथा न ब्रह्मण्यपि, किन्तु जीव एव । नन्वेवं कल्पने किं बीजमत आह । विहितेत्यादि । विहितप्रतिषिद्धयोरवैयर्थ्यम्, आदिपदेन प्रमाणव्यापारावैयर्थ्यं प्रामाणिकप्रेक्षावत्कृतप्रमाणानुसरणान्यकृततदननुसरणावैयर्थ्यं चेत्येभ्यो हेतुभ्यः । अन्यथैतेषां वैयर्थ्यमेव स्यात् । ईश्वरस्य स्वतन्त्रस्य फलदातुः सत्त्वात् । कर्मपक्षे पूर्वपूर्वकर्मणैव तादृशतादृशस्वभावकर्मफलपरम्परायाः सिद्धेरन्धपरम्परात्वापत्तेश्च । तथा चैतद्बीजमित्यर्थः । एवं चात्रेदं सिध्यति । भगवान् स्वकृतमर्यादारक्षार्थं तज्ज्ञापकं वेदमाविश्चकार । तत्र च फलदाने कर्मापेक्षाश्रावणात्फलदाने कर्मापेक्षः, कर्मणि जीवकृतप्रयत्नापेक्षः, प्रयत्ने तत्कामापेक्षः, कामे लोकप्रवाहापेक्षः, कारयतीति । एवं फलदाने जीवकृतप्रयत्नापेक्षोपि न स्वातन्त्र्याद्धीयते । तथैवालोचितत्वात् । आलोचनानुसारेण विविधं फलं जीवेभ्यो ददद्पि न वैषम्यादिदोषभाग्भवति, सर्वरूपत्वात् । कर्मणामप्यनादित्वं भगवद्धर्मत्वादेवेति ॥ ४२ ॥ इति चतुर्दशं परात्तु तच्छ्रुतेरित्यधिकरणम् ॥ १४ ॥

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥ ४३ ॥ (२-३-१५)

एवं जीवस्य कर्तृत्वं ब्रह्माधीनमित्यवधारितम् । अतः परं जीवस्य ब्रह्मसंबन्धि रूपं निरूप्यते । अंश इति । जीवो ब्रह्मणोंश एव । कुतः । नानाव्यपदेशात् । नानात्वेन व्यपदेशो नानाव्यपदेशः । 'सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ति । कपूयचरणा रमणीयचरणा' इति श्रुतौ बहुत्वसङ्ख्याविशिष्टत्वेन ब्रह्मणः सकाशाद्विभक्तत्वेन च व्यपदेशः कथनम्, तस्मात् । न च श्रुतौ 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तमि'ति निरंशत्वश्रावणादंशत्वमौपचारिकमिति वाच्यम् । 'सर्वतः पाणिपादं तत्' 'अपाणिपादो जवनो गृहीता ।' 'आसीनो दूरं व्रजति ।' 'अन्यदेव तद्विदिताद्यो अविदिता'दित्यादिश्रुतिशतेषु ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वलोकविलक्षणत्वयोः श्रावणादत्रापि व्युच्चरणादिश्रुतिबलेन निरंशत्वेप्यंशानामङ्गीकर्तुं शक्यत्वात् औपचारिकांशत्वकल्पनाया अप्रयोजकत्वादिति । ननु नानाव्यपदेशमात्रेण जीवस्यांशत्वं न वक्तुं शक्यम् । अंशत्वे साजात्यस्य सुवर्णखण्डादिषु दृष्टत्वेनात्रापि ब्रह्मसाजात्यापातात् । न चेष्टापत्तिः कर्तुं शक्या । 'ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवा उते'ति श्रुत्यन्तरे ब्रह्मविरुद्धस्वभावानां दाशादीनां ब्रह्मत्वश्रावणेन मृद्धटवदसजातीयेषु तेषु ब्रह्मकार्यताया एव स्फुटीभावात् । न च तत्रोपचार इति वाच्यम् । तथा सति कार्यत्वस्याप्यभावे भेदापातादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाबाधः प्रसज्येत । अतो जीवस्य लोकभूतादिवत्कार्यत्वमेव युक्तम्, न त्वंशत्वमिति शङ्कायामाह । अन्यथा चापि । चोवधारणे । प्रकारान्तरेणापि । एतस्याः श्रुतेर्विचारेप्यंश एव जीवः । कुतः । दाशकितवादित्वमधीयते एके । एके शाखिनः ब्रह्मानूद्य दाशत्वादिविधानाद्ब्रह्मणो दाशकितवादित्वं पठन्ति, न तु दाशाद्यनुवादेन ब्रह्मत्वं तस्मात् । स्यात्कार्यत्वं यदि दाशादीननूद्य ब्रह्मत्वं विधीयेत । विधीयते तु विपरीतम् । अतो ब्रह्मण एव शरीरत्वं तन्निविष्टत्वं च । इम इत्यनेन सजीवानां देहानां परामर्शात् । निवेशश्चांशद्वारैव सम्भवति । यथा चन्द्रमसो जलादिषु, वह्नेश्चायःपिण्डादिषु । अत एतच्छ्रुतिविचारेप्येतादृशानूद्यविधेयभावान्यथानुपपत्त्या अंश एव जीवः । न चासजातीयत्वस्य बाधकत्वं शङ्क्यम् । तस्य देहनिवेशहेतुकत्वात् । देहनिवेशस्य चानन्दतिरोभावहेतुकत्वात् । अतो देहनिवेशेन कार्यत्वेपि स्वरूपेण कार्यत्वाभावात् नित्यत्वचिद्रूपत्वादिभिः साजात्यस्य विद्यमानत्वाद्ब्रह्मणोंश एव जीव इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

मन्त्रवर्णात् ॥ ४४ ॥

श्रुत्यन्तरसम्मतिं प्रदर्शयितुं हेत्वन्तरमाह । मन्त्रेति । पुरुषसूक्ते 'पुरुष एवेदं सर्व'-मित्युक्त्वा 'पादोस्य विश्वा भूतानी 'ति वदति । श्रीभागवते पुरुषसूक्तव्याख्यानाध्याये 'पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदु'रिति व्याख्याति । अतोऽस्मान्मन्त्रवर्णाज्जीवानां पादत्वेन पादे स्थितत्वेन चांशत्वमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

अपि स्मर्यते ॥ ४५ ॥

गीतायां 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन' इति स्मर्यते । तेन नित्यानुमेयवेदस्याप्यत्र सम्मतिरित्यर्थः ॥ ४५ ॥

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ ४६ ॥

एवं त्रिभिर्जीवस्यांशत्वं निर्धार्यांशत्वे प्राप्ता दोषाः परिह्रियन्ते । तत्र परमात्मनः पुरुषरूपत्वाज्जीवानां हस्तपादादिवदंशत्वे तद्दुःखेन परस्यापि दुःखित्वं स्यादित्याशङ्कायामाह । प्रकाशेत्यादि । अत्र एवमित्यनेन जीवनिष्ठः प्रकारो बोध्यते, स च नेत्यनेन निषिध्यते । तेन च निषेधेन निषेधहेतुभूतः प्रकारोपि सूच्यते । तथा सति एवं जीववद्दुःखी परः परमात्मा नास्ति, किन्त्वितोन्यथा प्रकारान्तरेण सर्वरूपत्वेनास्ति । अतो न दुःखीत्यर्थः । ननु सर्वरूपत्वे कुतो न दुःखमित्यतो दृष्टान्तमाह । प्रकाशादिवदिति । प्रकाशादिभिरिव । यथा प्रकाशेन न सूर्यस्याग्नेर्वा तापः, शीतरश्मेर्वा शैत्यम् । तथेति । तदुक्तमेकादशस्कन्धे भिक्षुगीतायां 'नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत्स्या'दिति । अतो द्वैतबुद्धिर्यस्य तस्यैव दुःखम्, परस्य तु सर्वत्रात्मबुद्धिरेवेति न तस्य दुःखमित्यर्थः । यद्वा । यथा सूर्यस्य प्रकाशः स्वांशभूतस्य रूपस्य दोषेण न दुष्यति, तद्वदित्यर्थः । रूपस्य प्रकाशांशत्वं द्वादशस्कन्धे उक्तम्, 'सूर्यश्चक्षुस्तथा रूपं ज्योतिषो न पृथग्भवे'दिति ॥ ४६ ॥

स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥

स्मरन्ति चर्षयोंशिनो दुःखासंबन्धम् । तथा हि मोक्षधर्मे 'तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा । कर्मात्मा त्वपरो योसौ मोक्षबन्धैः स युज्यत' इति । चकारात् श्रुतिरपि । 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः, एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्य' इति कठवल्ल्याम् । एवं सूत्रद्वयेनैको दोषः परिहृतः ॥ ४७ ॥

अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥ ४८ ॥

ननु जीवस्य भगवदंशत्वे ब्रह्मण इव विधिविषयत्वायोगात्फलसंबन्धाभावः । ततश्च पूर्वोक्तस्य शास्त्रार्थवत्त्वस्य बाधः । किञ्च । शास्त्रस्य जीवाधिकारकत्वाज्जीवस्य चानेकदेहसंबन्धात्को जीवः शूद्रः को वा भार्येति ज्ञानमप्यशक्यम् । तदज्ञाने च 'ऋतौ भार्यामुपेयात् ।' 'न शूद्राय मतिं दद्या'दिति शास्त्रविषयज्ञानाभावाच्छास्त्रव्याकुलीभावेनाव्यवस्थायां निषिद्धफलभूतदुःखित्वस्याप्ययोग इत्याशङ्कां परिहर्तुमाह । अनुज्ञेत्यादि । अनुज्ञापरिहारौ विधिनिषेधौ । तौ यद्यपि जीवस्य स्वरूपेण विध्यादिविषयत्वाभावान्न सम्भवतः, तथापि देहसंबन्धात् । यो देहो यदा अध्यासेन भगवदिच्छया वा गृहीतः, तत्संबन्धात्सम्भवतः । ननु स्वतोऽविषयत्वमन्यसंबन्धाच्च तद्विषयत्वमिति कथमवगन्तुं

शक्यत इत्यतो दृष्टान्तमाह । ज्योतिरादिवत् । ज्योतिरादयोऽप्युदकपृथिव्यः, तद्वत् । तेषां यथा स्वतो विध्याद्यविषयत्वेपि शवसंबन्धादग्निश्चण्डालभाण्डसंबन्धादुदकं चण्डालसंबन्धात्तद्भाण्डं च परिह्रियते, श्रोत्रियादिसंबन्धाच्च तत्तदुपादीयते, तथावगन्तव्यम्, अतो देहसंबन्धान्नोक्तदोष इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥ ४९ ॥

ननु देहसंबन्धेन विध्याद्यविषयत्वपरिहारो न युक्तः । बाल्यकौमारादिभेदेन देहस्य प्रतिक्षणमन्यान्यतया कर्मकाले ब्राह्मणत्वादेरभावात् । जीवैक्येन तत्र ब्राह्मणत्वाद्यापादने तु देहान्तरेपि तस्य सत्त्वेन सर्वसङ्करप्रसङ्ग इत्यत आह । असन्ततेरित्यादि । अव्यतिकरः असङ्करः । जीवैक्याद्यः सङ्कर आपादितः, स न भवति । कुतः । असन्ततेः । देहान्तरे तस्याः सन्ततेरभावात् । एवं सङ्करे परिहृते सन्तत्यैक्येन तत्र देहे ब्राह्मणत्वादेः सत्त्वात्सुखेनानुज्ञापरिहारविषयत्वमित्यर्थः ॥ ४९ ॥

आभास एव च ॥ ५० ॥

ननु सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणोंशः सच्चिदानन्द एव भवेत् । तथा सति ब्रह्मण इव तस्यापि संसारप्रवाहे प्रवेशोनुपपन्न इत्यत आह । आभास एव चेति । आनन्दांशस्य तिरोभावात् चकाराद्भगवदाकारस्य च तिरोभावाज्जीवो ब्रह्माभास एव । यथाऽनाचारिब्राह्मणो ब्राह्मणाभासस्तथा । तथा चानन्दांशतिरोभावात्संसारप्रवाहे प्रवेशः, तत्सम्पत्तौ च पुनर्ब्रह्मत्वमेवेति न कोपि दोष इत्यर्थः ॥ ५० ॥

अदृष्टानियमात् ॥ ५१ ॥

एवं जीवस्याणुत्वं नानात्वादिकं च श्रुत्यनुसारेण व्यवस्थाप्य साङ्ख्यनैयायिकाद्यभिमतं जीवस्वरूपं निराचष्टे । ते हि पुरुषबहुत्वमात्मनानात्वं च भोगव्यवस्थया आहुः, भोगव्यवस्थां चादृष्टनियमेन । निमित्तभूतस्यादृष्टस्य भोग्योत्पत्तिदेशवर्तित्वेनात्मनां व्यापकत्वं च । तद्दूषयति । अदृष्टानियमादिति । स्यादात्मनां व्यापकत्वम्, यदि भोगव्यवस्थापादकमदृष्टं प्रत्यात्मनियतं व्युत्पादयितुं शक्येत । तदेव तु न सम्भवति । विभूनां सर्वेषामात्मनां सकलमूर्तद्रव्यसंयोगित्वेन सर्वेन्द्रियमनःशरीरसंयोगितया तत्तदिन्द्रियसंयोगादिजन्यानां ज्ञानेच्छाप्रयत्नानां सर्वेष्वात्मसूत्पत्त्यापत्त्या तज्जन्यकर्मभिः सर्वेष्वप्यात्मसु सर्वविधादृष्टोत्पत्तौ बाधकाभावेन तस्य तस्यादृष्टस्य तत्तदात्मनि नियन्तुमशक्यत्वादिति॥५१॥

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥ ५२ ॥

ननु यद्यप्येवं साधारण्यमस्ति, तथापि तत्तच्छरीरेन्द्रियमनोभिमानस्य तस्मिंस्तस्मिन्नेवात्मनि दर्शनात्तत्र हेत्वपेक्षायां विलक्षणमनःसंयोगस्य ईश्वरेच्छाया नियामकत्वे सुखेनादृष्टनियमसिद्धिरित्यत आह । अभीत्यादि । अभिसन्धिः पूर्वोक्तोभिमानस्तस्यादयो

हेतवस्तेष्वपि, एवं पूर्वतुल्यत्वम् । तथा च । विलक्षणमनःसंयोगस्यापि सर्वेषु विभुष्वात्मसु तुल्यत्वान्नादृष्टादिनियमसिद्धिः । न चेश्वरेच्छया नियम इति वाच्यम् । साङ्ख्यमते तस्यैवाभावात् । नैयायिकमत ईश्वराङ्गीकारेपि तदिच्छाया आकारः अयमनेन प्रकारेणेदं भुङ्क्तामित्येव वाच्यः । स त्वण्वात्मवादेपि तुल्य इति न तेनात्मनां नानात्वव्यापकत्वसिद्धिरित्यर्थः ॥ ५२ ॥

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ ५३ ॥

नन्वात्मनां विभुत्वेपि तेषु तादृशः कश्चित्प्रदेशविशेषोस्ति येनादृष्टादिकं व्यवस्थाप्यत इति शङ्कायामाह । प्रदेशेत्यादि । ल्यब्लोपे पञ्चमी । प्रदेशविशेषमालम्ब्य व्यवस्थाप्यत इति चेत् । न । कुतः । अन्तर्भावात् । आत्मान्तरप्रदेशस्यापि तत्रान्तर्भावात् न तत्सिद्धिः । यद्वा । प्रदेशस्य क्रियारहितत्वेन स्थिरतया तं प्रदेशं विहाय देहस्यान्यत्र गमने तस्य प्रदेशस्यान्तर्भावात्तिरोभावाददृष्टादिकं न व्यस्थापयितुं शक्यम् । तथा च श्रुत्युपष्टम्भरहितं तन्मतमसङ्गतमेवेत्यर्थः ॥ ५३ ॥ इति पञ्चदशमंशो नानाव्यपदेशादित्यधिकरणम् ॥ १५ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

तथा प्राणः ॥ १ ॥ (२-४-१)

पूर्वपादे जीवस्य स्थूलशरीरनिष्पादकानां भूतानामुत्पत्तिक्रमादिकं विचार्य ततो जीवस्य स्वरूपादिकं विचारितम् । अस्मिन् पादे तु जीवशरीरान्तर्वर्तिनां प्राणादीनां स्वरूपादिकमवरारेण विचार्यते । तत्र शरीरान्तर्वर्तिनां शरीरान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्किं शरीरवदुत्पत्तिनाशशालित्वम्, उत जीववदुद्गमागमशालित्वमिति संशये, प्राणादिनित्यतागमकस्य श्रुतावनुपलम्भा'देतस्माज्जायते प्राण' इति मुण्डके जन्मोपलम्भाच्च शरीरारम्भकभूतवज्जननादिशङ्कायां पूर्वपादान्ते जीवं निरूप्यात्र जीवनैकट्यात्तादृशधर्मवत्त्वं प्राणेष्वतिदिशति । तथा प्राण इति । लिङ्गे मनसो मुख्यत्वादेकवचनम् । 'अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्युदिरे' इत्यादिश्रुतिषु प्राणशब्द इन्द्रियेषु प्रसिद्ध इति 'प्राणाश्च भिया' इति तथात्वं बोधयितुं प्राणशब्दप्रयोगः । ननु प्राणेषु वियदादिधर्मातिदेशे 'स प्राणमसृजत' इति श्रुत्युक्तं सृज्यत्वरूपं जन्यलिङ्गमतिदेशकं लभ्यते । जीवधर्मातिदेशे तु न किञ्चिदतिदेशकं पश्याम इति चेत् । न । 'स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति ।

स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्त्तेत, एवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' इत्यादीनां उत्क्रान्त्यादिसूत्रेषूक्तानां सर्वासां जीवसहभावबोधिकानामुपपत्तीनामतिदेशकत्वात् । 'विप्रतिषिद्धधर्मसमवाये भूयसां स्यात्सधर्मत्व'मिति पौर्वतन्त्रन्यायेन तासामेवोपपत्तीनां ग्राह्यत्वात् । सृजत्यर्थविचारेपि विसर्गस्य व्युच्चरणरूपताया एव सिद्धेर्जायत इत्यर्थस्यापि प्रादुर्भावरूपत्वेन तयोरप्यविरोधाच्च । न च जैवधर्मातिदेशे पृथग्विचारार्थानां सूत्रान्तराणामानर्थक्यं शङ्क्यम् । प्राणेषु चिदंशस्यापि तिरोभावेन पृथग्विचारस्यावश्यकत्वात् । न च तद्गुणसारत्वतद्व्यपदेशयोरभावः शङ्क्यः । बृहदारण्यके 'प्राणा वै सत्य'मिति सत्यस्य ब्रह्मधर्मस्य, 'प्राणो वै ब्रह्म वाग्वै ब्रह्मे'ति तद्व्यपदेशयोरपि सत्त्वात् । अतोत्र जीवधर्माणामेवातिदेशो युक्तो, न वियदादिधर्माणाम् ॥ १ ॥

गौण्यसम्भवात् ॥ २ ॥

अतिदेशकमाक्षिप्य समाधत्ते । उत्क्रान्त्यादिश्रुतिर्नाशोत्पत्तिपरतया सत्यत्वादिश्रुतिश्चोपासनापरतया प्राणेषु गौणीति चेत् । न । कुतः । गौण्यसम्भवात् । गौण्या असम्भवो गौण्यसम्भवस्तस्मात् । पूर्वसूत्रात्तथा प्राणा इत्यनुवर्तते । 'स यदास्माच्छरीरा'दिति वाक्ये प्रथमा श्रुतिरुत्क्रान्तिविधायिका । द्वितीया तु तामेवानूद्य तत्र प्राणादीनां जीवसाहित्यं विधत्ते । अत एकस्या एवोत्क्रान्तिश्रुतेर्जीवे मुख्यत्वम्, प्राणेषु गौणत्वमिति युगपद्वृत्तिद्वयविरोधान्न सम्भवतीत्यतस्तथेत्यर्थः ॥ २ ॥

तत्प्राक् श्रुतेश्च ॥ ३ ॥

ननु यद्यप्यतिदेशे जीवतुल्यत्वमायाति, तथाप्युत्पत्त्यनन्तरं चिरकालस्थायित्वेनापि तदुपपद्यते, अतो न तेषां नित्यत्वमिति शङ्कायामाह । तदित्यादि । अत्रापि पूर्ववदनुवृत्तिः । तस्याः सृष्टेः सकाशात्प्राक् प्राणानां स्थितिश्रुतेः । वाजिनामग्निप्रकरणे 'असद्वा इदमग्र आसीत्तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेग्रे असदासीत्तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वा ऋषय' इति श्रूयते । अतः सृष्टिप्राक्कालवर्तित्वान्नित्यत्वम् । चकारान्मोक्षे तेषामपि ब्रह्मसम्पत्तेः स्थलान्तरे श्रावणं सङ्गृह्यते । 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते । ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येती'ति । न च 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय'मिति श्रुतौ सृष्टेः पूर्वं ब्रह्मातिरिक्तसत्तानिषेधात्तद्विरोध इति शङ्क्यम् । एतस्याः प्राणस्थित्यपेक्षयापि पूर्ववृत्तान्तबोधकत्वेनाविरोधात् । न चात्र मानाभावः शङ्क्यः । असत्पदेन प्राणानामव्यक्ततया ब्रह्मरूपेणैव स्थितिबोधनात् । अतो यथा जीवस्य उद्गमानन्तरं व्यक्तीभावः, तथा प्राणानामिति तेपि ब्रह्मांशा एव, न तु कार्यरूपा इति नित्यत्वं निर्बाधमित्यर्थः ॥ ३ ॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

ननु प्राक् सृष्टेः प्राणस्थितिबोधिकायाः श्रुतेरवान्तरप्रलयात्प्रागवस्थितस्य प्रजापतेः प्राणानां तदानीं सत्ताबोधकत्वेनाप्युपपद्यमानत्वान्न तया जीववत्प्राणनित्यत्वाग्रहो युक्त इत्याकाङ्क्षायां हेत्वन्तरमाह । तदित्यादि । अत्रापि पूर्ववदेवानुवृत्तिः । 'मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूप'मिति श्रुतेर्वाचः पूर्वरूपं मनः । किञ्च । मनोमयमात्मानमुपक्रम्य तदवयवकल्पनायां 'तस्य यजुरेव शिर' इत्यादिना तदवयवानां वेदरूपत्वमुक्तम् । वेदाश्च 'एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यदृग्वेदो यजुर्वेद' इति 'वाचा विरूपनित्यये'ति च श्रुत्या भगवन्निःश्वासरूपा नित्या इति तेषां स्वरूपत उत्पत्त्यभावादुद्गममात्रम् । तथा सति तत्पूर्वरूपस्य मनसः कथमुत्पत्तिः सम्भवति । तस्मान्न तस्याप्युत्पत्तिः, किन्तूद्गममात्रम् । अतो जीवतुल्यत्वायुक्तमेव नित्यत्वम्, न त्वाग्रह इत्यर्थः । जैवानां तु प्राणमनोवाचां तत्प्रष्ठित्वादेव तथात्वसिद्धिरिति न कोपि शङ्कालेशः ॥ ४ ॥

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

एवं प्राणमनोवाक्ष्वतिदेशिकाया उपपत्तेः सिद्धावपि चक्षुरादिषु सा न स्फुटेत्यतो हेत्वन्तरमाह । सप्तेत्यादि । अत्रापि पूर्ववदेवानुवृत्तिः । शारीरब्राह्मणे 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती'त्यनेनोक्ता सप्तानां प्राणानां या गतिः, सा सप्तगतिः, तस्याः 'अथारूपज्ञो भवत्येकीभवति न पश्यतीत्याहु'रित्यादिषु पूर्ववाक्येषु गत्या विशेषितत्वात् ततो वा जीवगमनस्य विशेषितत्वात् एकीभावेनोक्तत्वात् जीवतुल्याः प्राणाः । तथा चानश्वरस्य भावस्याजन्यत्वनियमाज्जीववदेव नित्याः प्राणा इत्यर्थः । चकारेण व्रतमीमांसादिषूक्तं चक्षुरादीनां देवतात्वेन संवादेन च चेतनतुल्यत्वं सङ्गृह्यते । एवमत्रेन्द्रियाणामुत्पत्त्यादिविचारेण नित्यत्वं समर्थितम् ॥ ५ ॥ इति प्रथमं तथा प्राण इत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ६ ॥ (२-४-२)

'ते प्राणाः कती'त्याकाङ्क्षायां सप्तप्राणाः प्रभवन्तीति । अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति । सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववाञ्चाविति । नव वै पुरुषे प्राणाः नाभिर्दशमीति । दश वै पशोः प्राणा आत्मैकादश'इत्येवमादिषु नानासङ्ख्याश्रावणेन श्रुतिविप्रतिषेधे किं युक्तमिति संशये, तत्सङ्ख्या निर्धार्यते । तत्र, सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मादिति प्रतिज्ञाय, मन्त्रसमाप्तौ 'सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्तसप्ते'ति सप्तलोकेषु सप्तानामेव गतेर्निगमनाज्जीवोत्क्रमणसमये सप्तानामेव च गत्या जीवगतेर्विशेषितत्वाच्च सप्तैवेति युक्तम् । अन्ये त्वेतेषामेव वृत्तिभेदाद्भेदा इति उत्सूत्रे पूर्वपक्षे प्राप्ते, आह ।

हस्तादय इति । तुः पूर्वपक्षनिरासे । 'हस्तौ चादातव्यं च उपस्थश्चानन्दयितव्यं पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं चे'ति श्रुतौ चक्षुरादिगणनायां हस्तादीनामपि चतुर्णां गणनया चक्षुरादितुल्यत्वे स्थिते निर्णीते सति, अतः तत्तुल्यत्वादेव हेतोः नैवम् । सप्तैवेति न, किन्तु ततोधिकाः । 'इन्द्रियाणि दशैकं' च । 'इन्द्रियाणां मनश्चास्मी'ति गीतायाम् । 'एकादशेन्द्रियचमू'रिति पञ्चमस्कन्धे पुरञ्जनोपाख्यान अध्यात्मपारोक्ष्ये वाक्याच्चैकादशे-त्यर्थः । अत्रान्तरगणनासु सप्तगणना तु प्राधान्याभिप्राया । अष्टगणना तु बन्धकत्वाभि-प्राया । नवेति स्वनावृतद्वाराभिप्राया । दशेति द्वारमात्राभिप्राया । चतुर्दशसङ्ख्या त्वन्तः-करणस्य चतुर्विधत्वात्तदादायेत्यविरोधः ॥६॥ इति द्वितीयं हस्तादय इत्यधिकरणम् ॥२॥

अणवश्च ॥ ७ ॥ (२-४-३)

परिमाणनिर्धारार्थमिदम् । तत्र किमेते सर्वे प्राणाः समानपरिमाणाः, उत नाना-परिमाणा इति सन्देहे, त्वचः शरीरव्यापित्वस्य चक्षुर्मनसो दूरग्राहित्वस्य वाचो दूरग-मनस्य च दर्शनादेते महान्तः शेषाः सूक्ष्मा इति प्राप्ते, आह । अणवश्चेति । चोवधारणे । पूर्वोक्तया उत्क्रान्त्या सृष्टिपूर्ववर्तित्वश्रुत्या च गतिमत्त्वे नित्यत्वे च सिद्धेऽणव एवेत्यर्थः । सर्वशरीरव्याप्त्यादिस्तु सामर्थ्याद्गुणव्याप्त्या च जीववदेव बोध्या । गुणश्च त्रिवृत्कृतभूत-पोषितत्वेन च स्पर्श एव बोध्यः ॥ ७ ॥ इति तृतीयमणवश्चेत्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥ (२-४-४)

इन्द्रियाणि विचार्येदानीं मुख्यप्राणं विचारयति । तत्र मुख्यप्राणस्य नित्यतायाः स्फुटतया अश्रवणात्प्राणसंवादे अपहतपाप्मत्वादिरूपमाहात्म्यश्रावणाच्च स नित्यो न वेति सन्देहे 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चे'ति छान्दोग्ये ज्येष्ठपदेन प्रथमोत्पन्नत्वलाभान्माहात्म्य-वत्त्वनित्यत्वयोर्व्याप्तेरभावाच्चानित्य एवेति प्राप्त, आह । श्रेष्ठश्चेति । भाववृत्तसूक्ते 'नास-दासी'दित्युपक्रम्य 'आनीदवातं स्वधया तदेक'मिति वातरूपतानिषेधपूर्वकमननात्मकस्य धर्मस्य पूर्वं सत्ताप्रदर्शनाद्ब्रह्मणोऽननात्मको यो धर्मः स एव मुख्यः प्राण इति नित्यो गतिमानणुपरिमाणश्च । चकारेणातिदेशः सूच्यते । न च ज्येष्ठपदात्प्रथमोत्पन्नत्वं शङ्क्यम् । गुणाधिक्येपि तथा व्यवहारात् । अत एव 'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या सम्भृतानी'ति । 'ज्यायान्गुणै-रवरजोप्यदितेः सुताना'मित्यादिप्रयोगः । तस्मान्नित्यः । गतिमत्वस्यानूत्क्रान्तिश्रुत्यैव सिद्धत्वाच्चाणुरित्यर्थः ॥ ८ ॥

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

ननु मुख्यः प्राणो वायुरेवास्तु । 'यः प्राणः स वायुः । एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानश्चे'ति श्रुतेः । अथवा । इन्द्रियाणां क्रियास्तु । साङ्ख्ये

तथाङ्गीकारात् । अतस्तस्यातिरिक्तत्वकल्पनं न युक्तमत आह । नेत्यादि । यदाशङ्कितम्, तन्न । कुतः । पृथगुपदेशात् । 'एतस्माज्जायते प्राण' इति वायुप्राणयोः पृथगुपदेशात् इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदिष्टत्वाद्वसिष्ठसिमतोरभेदेनेन्द्रियेभ्योपि भेदसिद्धेश्च अतिरिक्त एवेत्यर्थः ॥ ९ ॥ इति चतुर्थं श्रेष्ठश्चेत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥ १० ॥ (२-४-५)

स प्राणः स्वतन्त्रः परतन्त्रो वेति सन्देहे, 'सुप्तेषु वागादिषु प्राण एको मृत्युनाऽनाप्तः प्राणः संवर्गो वागादीन् संवृङ्क्ते । प्राण इतरान् रक्षति मातेव पुत्रा'नित्यादिश्रुतिषु प्राणस्य मृत्युसंसर्गशून्यता इतरसङ्ग्रसितृताया इतररक्षकतायाश्च कथनात्स्वतन्त्र इति प्राप्ते, आह । चक्षुरादीत्यादि । उक्तपूर्वपक्षनिरासार्थस्तुशब्दः । चक्षुरादिवदयमप्यस्वतन्त्रः । कुतः । तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः । तैः सह शिष्टं शासनं तदादिभ्यः । श्वेताश्वतरे 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य । ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि, सर्वाणि भयावहानि । प्राणान्प्रपीड्येह सयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोः श्वसीते-तीन्द्रियाणां हृदि सन्निवेशनेन शासनवत् प्राणानामायामेन पीडया तच्छासनस्यापि श्रावणात् । आदिपदाज्जडत्वजीवोपकरणत्वादिभ्यश्च चक्षुरादिवद्व्यवहारे जीवाधीनः । मुख्यविचारे तु प्रश्नोपनिषदि भगवदधीनोत्पत्त्यादिश्रावणाद्भगवदधीन इत्यर्थः ॥ १० ॥

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥ ११ ॥

न 'न्वेकादशामी मनसो हि वृत्तय आकूतयः पञ्चधियोभिमानः । मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां वदन्ति हैकादश वीरभू'रिति योगतन्त्रे एकादशानामेव वृत्तीनां जीवोपका-रकाणां सिद्धत्वात्प्राणस्य चैतद्वृत्तिराहित्येन जीवोपकरणताया एवाभावाज्जीवाधीनत्वं न युक्तमित्यत आह । अकरणेत्यादि । प्राणस्य उक्तवृत्तिराहित्यं न दोषः । न जीवोपक-रणत्वविघटकम् । कुतः । अकरणत्वात् । करणस्यैव हि व्यापारवत्त्वमुपकरणतासम्पादकम्, न त्वकरणस्यापि । अतस्तदभावो न दोषः । ननु किमत्र मानमित्यत आह । तथा हि दर्शयति । हि यतो हेतोः तथा । अकरणत्वेपि कार्यवत्त्वमात्रेणोपकरणत्वं श्रुतिरेव दर्शयति । 'तस्मिन्नुत्क्रामत्यथैते सर्व एवोत्क्रामन्ते, तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते, तद्यथा मक्षिकामधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ति, तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्त' इति । तस्मात्प्राणहेतुकैव शरीरस्थितिर्व्यापाराभावेपि स्वरूपस्थितिमात्रेण तस्य जीवोपकारित्वादुपकरणत्वं निर्बाधम्, अतस्तस्य जीवाधीनत्वं सुस्थिरमित्यर्थः ॥ ११ ॥

पञ्चवृत्तेर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥ १२ ॥

ननु व्यापाराभावे जीवोपकारित्वमेव दुर्घटमित्यत आह । पञ्चेत्यादि । पञ्चवृत्तेः 'अहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामी'त्युक्ता या पञ्चधा वृत्तिः सा

पञ्चवृत्तिः, ततो हेतोः मनोवत्, यथा मनो द्वारभेदेन स्वरूपत एकादशवृत्तिकम्, तथा व्यपदिश्यते, पञ्चधात्मविभागेन कार्यकरः प्राणश्रुत्योच्यते । अतो व्यपदेशप्रामाण्याद्व्यापाराभावेपि जीवोपकारित्वं सुघटमेवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

अणुश्च ॥ १३ ॥

ननु पञ्चधात्मविभागे सति कथमणुत्वमित्यत आह । अणुश्चेति । चकारादुत्क्रान्त्यादिश्रुत्युक्तधर्माणां समुच्चयः । तथा चाणुत्वसाधकानां धर्माणां भूयस्त्वात् पञ्चवृत्तित्वस्य सामर्थ्येनापि सम्भवाद्वृत्तिभिः सर्वशरीरव्याप्तेरपि सम्भवान्निवृत्करणोत्तरमद्भिः पोषणेन बहिःप्रत्ययस्यापि सम्भवात्पञ्चधाविभागेप्यणुत्वं निर्बाधमित्यणुरेवासन्यः प्राण इत्यर्थः । अतिदेशेनाणुत्वस्य पूर्वं प्राप्तत्वेपि वृत्तिविभागेन जायमानस्य सन्देहस्य निवारणायेदं सूत्रम् ॥ १३ ॥ इति पञ्चमं चक्षुरादिवच्चित्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ १४ ॥ (२-४-६)

अध्यात्मस्थितानां वागादीनां देवताधिष्ठानवतां प्रवृत्तिः स्वत एव वेति सन्देहे, अन्तर्यामिब्राह्मणोक्तस्य ब्रह्मप्रेरणस्याण्डसृष्टिरूपविशेषकार्यार्थतया तत्र देवताधिष्ठानस्यावश्यकत्वादाध्यात्मिकानामेतेषां विशेषकार्याभावाद्भोगमात्रस्य च जीवाधिष्ठानादेव सम्भवान्न देवताधिष्ठानापेक्षेति प्राप्तम्, तत्राह । ज्योतिरित्यादि । उक्तपक्षवारणार्थं तुशब्दः । आध्यात्मिकानामप्येषां ज्योतिरादि । अग्न्यादिकम् । अधितिष्ठतीत्यधिष्ठानम् । 'नन्द्यादित्वात्कर्तरि ल्युः' 'सामान्ये नपुंसकं' अधिष्ठातृ अवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । कुतः । तदामननात् । ऐतरेये सृष्ट्यादौ 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविश'दित्यादिभिर्देवताया इन्द्रियरूपेण गोलके प्रवेशकथनात् । तथा सृष्ट्यादौ या मर्यादा इश्वरेण कृता सर्वं तदनुसारेणैव तत्सृष्टिर्भवतीति इदानीमपि सर्वेन्द्रियाणां देवतासंवलितत्वम् । अन्यथा अणूनां इन्द्रियाणां एकस्मिन्नेव शरीर उपक्षीणत्वाच्छरीरान्तरे तच्छून्यता स्यात् । अतः पुराणानां श्रुत्युपबृंहणत्वेन द्वितीयस्कन्धे 'योध्यात्मिकोयं पुरुषः सोसावेवाधिदैविकः । यस्तत्रोभयविच्छेदः स स्मृतो ह्याधिभौतिक' इत्याध्यात्मिकाधिदैविकयोरैक्यकथनात्तदनुसरणीयम् । तथा सति इन्द्रियदेवता अग्न्यादिरूपानेकरूपभवनसमर्था सर्वशरीरेषु प्रविष्टेति सङ्गच्छते । अनेकेन्द्रियोत्पत्तिनाशकल्पनापेक्षया देवतासामर्थ्यमात्रकल्पने लाघवं च भूयो भवति । भुज्युब्राह्मणोक्तः प्राणस्य समष्टिव्यष्टिभावः सामान्यविशेषभावेन व्याप्तिरूपोपि सङ्गच्छते । तस्मात्सर्वदा देवताधिष्ठानमावश्यकमित्यर्थः ॥ १४ ॥ इति षष्ठं ज्योतिराद्यधिष्ठानं त्वित्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

प्राणवता शब्दात् ॥ १५ ॥ (२-४-७)

अधिष्ठानभूतं यदग्न्यादि, तत्किं मुख्यप्राणसहितं सत् वागादीनीन्द्रियाण्यधि-

तिष्ठति, किंवा स्वतः केवलमेवाधितिष्ठतीति सन्देहे, स्वत एवाधितिष्ठति । पूर्वस्मिन्नधिकरणेऽग्न्यादीनामेवाधिष्ठातृत्वसाधनात्तदधिष्ठानमात्रेणैव वागादीन्द्रियव्यापारस्य सर्वजीवसान्निध्यादेश्च सिद्ध्या इतरसाहित्यप्रयोजनाभावात् । तदङ्गीकारे चाग्न्यादीनामप्यधिष्ठात्रन्तरापेक्षासम्भावनेनाग्रे तस्यापीत्यव्यवस्थानाच्च । अधिष्ठातृत्वस्यैव देवतात्वेन तस्या अधिष्ठेयतायां देवतात्वव्याघाताच्च । अतः स्वत एवेति पूर्वपक्षः प्राप्तः, तत्राह । प्राणेत्यादि । प्राणवता प्राणसहितेनाधिष्ठात्राधिष्ठितं वागादि । कुतः । शब्दात् । 'सोयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यत' इत्यादिरूपादुद्गीथब्राह्मणस्थाद्वाक्यचयात् । तत्र हि 'द्वयाः प्राजापत्या' इत्यादिना इन्द्रियाधिष्ठातॄणां देवानामसुराणां चैषु लोकेषु स्पर्धामुक्त्वा, प्रतिबन्धकासुरातिक्रमेण तेषां स्वर्जिगमिषायां 'स्वर्गकामो यजेते'त्यादिभिर्यज्ञैनैव तत्प्राप्तिमवगत्य, तत्रासुरकृतप्रतिबन्धं चाकलय्य, आश्वलब्राह्मणे याज्ञवल्क्येन 'उद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेने'ति कथनादुद्गीथेनैवासुरातिक्रमेण स्वर्गाक्रमणं निश्चित्य, वागादीनामुद्गातृत्वेन वृतवन्तः, ततस्तेषां सर्वेषां पर्यायेणोद्गातॄणामसुरकृते पाप्मवेधे श्रमात्मकमृत्युव्याप्त्या अप्रतिरूपवदनादिरूपदोषसंसृष्टांस्तान्वीक्ष्यासन्यं प्राणमुद्गातारं चक्रुः, तस्य यदा वेधार्थमसुराः प्रवृत्ताः, तदा यथाऽश्मानं गत्वा लोष्ठविध्वंसो भवति, तथा असुरा एव नष्टाः, तदा तेन सर्वेषां देवानां पापसंबन्धवारणेन 'न ह वै देवान् पापं गच्छती'ति श्रुतिविप्रतिषेधोपि निवारितः । ततः 'सा वा एषा देवता एतासां देवतानां पापं मृत्युमपहत्याथैनां मृत्युमत्यवहत् । स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत् । सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत् सोयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यत' इत्यादिना मुख्यप्राणाश्रयवशाद्वागाद्यधिष्ठातृदेवानां मृत्युरूपश्रमात्मकपाप्मनिवृत्त्या प्रतिबन्धकासुरातिक्रमेण दीप्यमानत्वादिकमुक्तम् । अतो दीप्यमानस्यैवाधिष्ठातृत्वात्प्राणवतैवाग्न्यादिनाधिष्ठितं वागादीति सिद्धम् ॥ १५ ॥

तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥

ननु प्राणसंबन्धस्य जन्यत्वात्कादाचित्कत्वेन निवृत्तावधिष्ठातृत्वमप्यनियतं स्यादित्यत आह । तस्येत्यादि । प्राणस्य चकारात्तत्संबन्धस्य नित्यत्वादग्न्यादीनां सर्वदाधिष्ठातृत्वान्नानैयत्यमित्यर्थः । प्राणनित्यता तु श्रेष्ठश्चेत्यधिकरणे 'आनीदवात'मिति श्रुतिविचारेण निर्णीता । तत्संबन्धनित्यता तु छान्दोग्ये प्राणानां अहंश्रेयोविवादे अन्येषां प्राणानां मुख्यप्राणं विना स्थातुमशक्तिबोधकवाक्यैर्निर्णीयते । न चैवमेतत्साधनस्यासङ्गतत्वं शङ्कनीयम् । जीवपरिकरेषु मुख्यप्राणस्य मुख्यामात्यस्थानीयत्वेन तदधिष्ठानविचारस्याप्यावश्यकत्वात् । तदधिष्ठानेनैव जीवभोगस्य सुखेन सिद्धेरिति ॥ १६ ॥ इति सप्तमं प्राणवतेत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

तदिन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥ १७ ॥ (२-४-८)

ननु इन्द्रियाणां प्राणाधीनसर्वव्यापारत्वात्तन्नामव्यपदेशाच्च प्राणवृत्तिरूपाणीन्द्रियाणि, किं वा नानाकार्यकरणात्तत्त्वान्तराणीति सन्देहे, नानाकार्यकरणस्यापानादिवत्सम्भवात्प्राणवृत्तिरूपाणीन्द्रियाणीति प्राप्ते, आह । तदिन्द्रियाणीत्यादि । तदिति लुप्तविभक्तिकं पदम् । तानि इन्द्रियाणि तत्त्वान्तराणि । कुतः । तद्व्यपदेशात् । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे'ति श्रुताविन्द्रियशब्देन व्यपदेशात् । यदि हि प्राणवृत्तिरूपाणि स्युः, जननश्रुताविन्द्रियपदेन न व्यपदिष्टानि स्युः । प्राणाधीनव्यापारत्वं तु स्वामिभृत्यन्यायेनोपपद्यते । प्राणनामव्यपदेशस्तु द्रोणकर्णादिषु कुरुव्यपदेशवदुपपद्यते । अतो भिन्नशब्दवाच्यानां क्वचिदेकशब्दवाच्यत्वेपि नैकत्वम् । नन्वेवं सति प्राणापानादिशब्दवाच्यत्वादासन्येपि तर्हि भेदः स्यादित्यत आह । अन्यत्र श्रेष्ठादिति । प्राणस्य ते यौगिकाः शब्दाः पाचकपाठकादिवत् । अतो न ते भेदका इत्यर्थः ॥ १७ ॥

उक्तोपोद्बलनार्थं सूत्रद्वयेनान्यदपि हेतुद्वयमाह ।

भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥ वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥

यत्रापि प्राणशब्दप्रयोगः, तस्यामपि श्रुतौ 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती'ति भेदश्रवणात् । 'एवं ह वै परे देवे मनस्येकं भवती'ति सर्वेषामिन्द्रियाणां स्वापमुक्त्वा 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरुषे जाग्रती'ति प्रश्नोपनिषदि वैलक्षण्यबोधनात् पूर्वोक्तरीत्या स्वामिसेवकवत् स्थित्यापि वैलक्षण्याच्चेन्द्रियाणि प्राणाद्भिन्नान्येवेति सिद्धम् ॥ १८–१९ ॥ इत्यष्टममिन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादित्यधिकरणम् ॥८॥

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २० ॥ (२-४-९)

भूतानां वियदादीनां भौतिकानां लोकानां च सृष्टिः परमेश्वरादेवेति निर्णीय नामरूपव्याकरणमपि परमेश्वरादेवेति निर्णेतुमधिकरणान्तरमारभते । संज्ञेत्यादि । तत्र लोके नामरूपव्याकरणं कुलालादिजीवेषु प्रसिद्धम्, श्रुतौ च परमेश्वरादुक्तम्, अतः सन्देहे, जीव एव तत्कर्तेति युक्तम् । श्रुतौ 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी'ति तदर्थकप्रवेशे जीवस्यैव मुख्यत्वात् । न च करणत्वबोधकतृतीयाविरोधः । चारेण परबलं प्रविश्याकलयामीतिवत्तस्या अविरुद्धत्वात् । न च तेषामलौकिके तत्करणे असामर्थ्यं शङ्क्यम् । जीवसमष्टिरूपस्य हिरण्यगर्भस्य समर्थत्वादिति पूर्वपक्षनिराकरणार्थं तुशब्दः । संज्ञामूर्त्योर्नामरूपयोः क्लृप्तिः करणम्, सा तु त्रिवृत्कुर्वतः 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी'ति 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी'ति वीक्षणाकारकथनेन त्रिवृत्कर्ता परमेश्वरस्तस्मात्प्रत्येया । कुतः । उपदेशात् ।

उप समीपे एकस्मिन्नेव वाक्ये देशात् त्रिवृत्करणनामरूपव्याकरणयोः प्रतिज्ञानात् । यथा च तदानीं जीवस्य शरीरसंबन्धाभावान्न नामरूपव्याकर्तृत्वं संभावयितुं शक्यम् । शरीरमन्तरेण तत्कार्यस्य क्वाप्यदृष्टत्वात् । अतः 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्त' इति श्रुत्यन्तराद्भगवानेव नामरूपव्याकर्ता । न च जीवप्रवेशवैयर्थ्यं शङ्क्यम् । तद्भोगार्थमेवैतत्करणेन तत्प्रवेशस्यावश्यकत्वादिति । तस्माद्भगवानेव नामरूपप्रपञ्चकर्तेति सिद्धम् । सृष्टिप्रक्रिया तु द्वितीयस्कन्धसुबोधिनीतोवगन्तव्या ॥ २० ॥ इति नवमं संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्त्वित्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥ (२-४-१०)

इदानीं त्रिवृत्करणप्रसङ्गादिदं विचार्यते । 'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योणिष्ठस्तन्मनः । आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते, तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः । तेजोशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः सा मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् । अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वा'गिति मनआदीनां भौतिकत्वं श्रूयते । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे'त्यत्र स्वातन्त्र्यम् । एवं श्रुतिविप्रतिषेधात्संशये किं युक्तमित्यपेक्षायां पूर्वपक्षमाह । मांसादीति । मांसादि, पुरीषमांसे मूत्रलोहिते अस्थिमज्जा च । भौमं स्वस्वकारणजन्यं 'भूमिः स्थितौ स्थानमात्र' इति कोशात् भूमिरुत्पत्तिस्थानं तज्जन्यं यथायथं तेजोबन्नप्रकृतिकम् । तत्र हेतुः । यथाशब्दम् । अन्नमशितमित्यादिश्रुत्या निःसन्दिग्धप्रतिपादनात्तदनतिक्रम्य वर्तमानम् । एवं निःसन्दिग्धत्वे सति इतरयोर्मनःप्राणयोरपि यथाशब्दं भौतिकत्वं मन्तव्यम् । चकारेण छान्दोग्ये यथा तेजोमयीति । तथा ऐतरेये अग्निर्वाग्भूत्वेति वाचोपि निःसन्दिग्धत्वं सङ्गृह्यते । तथा च सर्वेषां तथात्वे एतयोरपि तथात्वमेव युक्तम् । उद्गमश्रुतिस्तु स्तुतिपरा, अतो भौतिकान्येव मनआदीनीति प्राप्तमित्यर्थः ॥ २१ ॥

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

अत्र समाधत्ते । तुः पूर्वपक्षनिरासे, वैशेष्यात् अन्नादिभिर्मनःप्रभृति विशेष्यते । छान्दोग्ये 'पञ्चदशाहानि माशी'रित्यारभ्य 'साग्नेनोपसमाहिता प्राज्वाली'दित्यन्ते मन्वे कार्यक्षमत्वेन व्यक्तीक्रियते । अतो विशेषणं विशेषस्तस्य भावो वैशेष्यं तस्मादेव हेतोस्तद्वादः अन्नमयत्वादिवादः । न च प्राणवाचोस्तथात्वानुपपादनात्सन्देहम् । काममपः पिबेत्यविच्छेदनिदर्शनेनोपपादितप्रायत्वात् । किञ्च । उद्गीथब्राह्मणे 'अथा-

त्मनेऽन्नाद्यमागायत्, यत् किञ्चान्नमद्यते, अनेनैव तदद्यत' इति प्राण एव सर्वस्याऽन्नस्यात्ता निर्दिष्टः । ऐतरेये वागादयोऽन्नार्थं मुखादिस्थानेषु प्रविष्टा उक्ताः, प्रथमसृष्टौ भिन्नतया च निर्दिष्टा इत्यत्तृत्वेनैवाभिप्रेताः । अतोपि नान्नादिकार्यभूताः । अन्नं चादनीयमात्रम्, न तु पृथिवी, तत्र तद्गमकस्याभावादिति । अतो मनआदीनि न भौतिकानि, किन्तु तत्त्वान्तराणीतिसिद्धम् । तद्वाद इति वीप्साऽध्यायसमाप्तिसूचिका ॥ २२ ॥ इति दशमं मांसादिभौममित्यधिकरणम् ॥ १० ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयं द्वितीयाध्यायः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भावप्रकाशिका ।

श्रीमद्गोस्वामिश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचिता ।

(ब्रह्मसूत्रवृत्तिः)

तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥ (३-१-१.)

प्रथमेध्याये वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयं, द्वितीयाध्याये च तेषामितरेतराविरोधं, तद्विरुद्धानां स्मृत्यादीनां चाप्रामाण्यं प्रतिपाद्योपनिषदामेव मुख्यतया ब्रह्मबोधकत्वम्, नेतरेषामिति दृढीकृतम् । अतः परं तृतीयेध्याये उपनिषदां ब्रह्मबोधनप्रकारश्चिन्त्यते, किं सर्वा उपनिषदः संहत्यैकां विद्यां जनयन्ति, उत तत्तच्छाखादिभेदेनानेकामिति । किञ्च । ताः सर्वत्र न जनयन्ति, किन्तु जन्मना कर्मणा शुद्धे पुंसि जनयन्ति मर्यादायाम् । पुष्टौ तु केवले शुद्धान्तःकरणेऽपि जनयन्ति । तस्मात्प्रथमपादे प्रकारशेषतया तदधिकारिणो जन्मप्रकारस्तत्प्रसङ्गागतं च निरूप्यते, द्वितीये तस्य ब्रह्मभावाप्तियोग्यताविचारपूर्वकं विषयावधारणप्रकारश्चिन्त्यते, तृतीये च बोधसौकर्यार्थं गुणोपसंहारः, चतुर्थे च तदङ्गभूतः क्रियोपसंहार इत्येतत्सर्वं विद्याजननोपयोगित्वेन निरूप्यते । तत्र प्रथमे पादेऽधिकारिणो जन्मोच्यते । तच्च बृहदारण्यके छान्दोग्ये च पञ्चाग्निविद्यायामुक्तम्, 'असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति, तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' इत्यादिभिः पञ्चभिर्वाक्यैः । तत्र द्वितीये वाक्ये पर्जन्यवाय्वभ्रविद्युदशनिह्रादनयो विस्फुलिङ्गान्ताः, सोमो राजा होम्यः, वर्षं फलम्, तृतीये पृथिवीसंवत्सराकाशरात्रिदिगवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गान्ताः, वर्षं होम्यम्, अन्नं फलम्, चतुर्थे पुरुषवाक्प्राणजिह्वाचक्षुःश्रोत्राणि विस्फुलिङ्गान्ताः, अन्नं होम्यम्, रेतः फलम्, पञ्चमे योषोपस्थोपमन्त्रणयोनितदन्तःकृत्यभिनन्दा विस्फुलिङ्गान्ताः, रेतो होम्यम्, गर्भः फलम्, तदग्रे च, 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते, स जातो यावदायुषं जीवति, तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति, यत एवेतो यतः संभूतो भवति' इत्यन्तेन ।

अर्थस्तु, एतेष्वग्निषु देवा लोकपालाः कर्मसचिवाः श्रद्धादीनि जुह्वतीति । तत्र श्रद्धापदेनाप उच्यन्ते, 'श्रद्धा वा आप' इति श्रुत्यन्तरात्, न च शुद्धिजनकत्वसाम्यादत्र

१—२

गौणीति शंक्यम्, वैदिके निघण्टौ श्रत्पदस्य सत्यनामसु गणिततया श्रत् सत्यं दधातीति श्रद्धा इत्येवं योगस्य शक्यवचनत्वात्, एवञ्च द्युलोकाग्नौ देवैर्हुतानां श्रद्धाख्यानामपां परिणामः सोमो राजा संभवति, एवं हुतास्ता आपो द्युलोकस्थमंगारत्वेनोक्तं चन्द्रमनुप्रविश्यापूर्यमाणपक्षे पञ्चदशकलाभिः पोषणात्तमारभन्ते, एवमग्रेऽपि, पर्जन्येऽग्नौ हुतः सोमो राजा वर्षं भवति, तच्च वर्षं पृथिव्यग्नौ हुतमन्नं भवति, तदन्नं पुरुषाग्नौ हुतं रेतो भवति, तद्रेतश्च योषाग्नौ हुतं गर्भो जायते, तदाह 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इति । ततो वैराग्यार्थमाह 'स उल्बावृतो गर्भ' इत्यादि । अत्र यद्यपि पञ्चाहुतीनां पुरुषमात्रसाधारण्यं प्रतीयते, तथापि चन्द्रगतेः साधारण्यस्याग्रे सूत्रेषु परिहरणीयत्वान्न सर्वसाधारण्यं तासाम्, अतः पूर्वजन्मनि ये निष्कामयज्ञादिकर्तारो ज्ञानरहितास्तेषां ज्ञानाभावेन यज्ञाभिव्यक्त्यभावान्न मोक्षः, कामाभावाच्च न स्वर्गादिर्मुख्यतया फलम्, साङ्गाद्वैदिककर्मणः फलावश्यंभावनियमाच्च न वैयर्थ्यम्, किन्तु 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' इति गीतावाक्यात्पावनता, अतस्तादृशयज्ञकर्तृणां हविर्गृहीत्वा कर्मसचिवा देवाः वाजिशाखीयषट्प्रश्नीयब्राह्मणोक्तरीत्या आहुतिभिः स्वर्गं आनीतं यजमानं प्रत्युपकर्तुं तस्याग्रे ज्ञानजननार्थं पञ्चाग्निप्रकारेण देहं संपादयन्तीति तत्पराः पञ्चाहुतयः ।

तत्रापामेव होम्यत्वश्रावणाज्जीवेन्द्रियाणां होमाभावेनाशुद्धिमाशंक्य तेषामपि होमं वक्तुमधिकरणमारभते । तत्रैते पञ्चाहुतयो धूममार्ग एव, अर्चिर्मार्गेऽपि वेति संदेहः । 'तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति' इति पञ्चाग्निज्ञानवतां यत्राचिरादिमार्गः, तत्र तथा देवहुतानां स कुतो न भवेदिति युक्तिः पुनरावृत्तिश्च संदेहबीजम् । किञ्च, योग्यदेहनिष्पत्त्यर्थं स्वयमेव भूतसहितो गच्छति, उत श्रद्धाहोमानन्तरं सोमभावे वा भूतसंबन्धः । 'तदेव तत्सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषिक्तमस्ये'ति देहान्तरप्राप्तिसाधकस्य मनःप्रधानस्य लिङ्गस्य 'एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत् षोडशविस्तृत'मिति पञ्चभूतसाहित्यस्मरणं श्रुतौ प्राणानामेवोत्क्रमणश्रावणाद्भूतोत्क्रमाश्रावणं च संदेहबीजम् । तत्र श्रौतेऽर्थे श्रौतन्यायेनैव निर्णयस्योचितत्वात्, भूतान्तरसाहित्ये होम्यानामपां गौणत्वापत्तेः संस्कृतभूतोपस्थापकस्याभावात्, तादृशस्योपकार्यस्य यजमानस्य शरीरवियोगोत्तरं देवानां तावद्विलंबे कारणाभावाच्च श्रद्धारूपाब्होमानन्तरं होमान्तरे भूतसंबन्धः, अतो न भूतैः परिष्वक्तो गच्छति, इति प्राप्तम् ।

तत्राभिधीयते । **तदन्तरप्रतिपत्तावित्यादि** । 'आपः पुरुषवचसो भवन्ति' इति प्रश्नवाक्ये पुरुषपदस्य जीवाधिष्ठितदेहपरत्वात्तस्य निष्कामयज्ञादिकर्तुर्जीवस्य अन्तरे मध्ये मोक्षलक्षणस्य मुख्यफलस्यार्वाक् प्रतिपत्तौ योग्यशरीररूपावान्तरफलप्राप्त्यर्थम्, तस्य मुख्यफलस्य वा, अन्तरे या प्रतिपत्तिरवान्तरफलं तदर्थं वा, शरीरकारणभूतैर्भूतैः संपरिष्वक्त एव जीवो रंहति । पूर्वशरीरान्निष्क्रम्य द्युलोके गच्छति । 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते, पूर्वप्रज्ञा च' इति श्रुतौ जीवदृशासंबन्धिज्ञानेन्द्रियजनितं ज्ञानं कर्मेन्द्रियजनितं कर्म, 'यं यं वापि स्मरन्भाव'मित्युक्ता मरणकालीना प्रज्ञा च भाविदेहारम्भकारणत्वेन श्राव्यते । अत्र च होमे कर्मणो रूपभूता आप उपलभ्यन्त इति जीवदृशासंबन्धिकर्मरूपभूतानि सूक्ष्मभूतान्तराण्यपि तं परिष्वजन्तीति तैः परिष्वक्तो दिवि गच्छति । तत्र हेतुः । प्रश्ननिरूपणाभ्याम् । 'वेत्थ, यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'ति प्रश्नः । 'असौ वाव लोको गौतमाग्नि'रित्यादिरूपं प्रतिवचनं निरूपणं ताभ्याम् । अयमर्थः । प्रश्ने पुरुषत्वं वक्ति । पुरुषश्च न देहमात्रम्, किन्तु जीवाधिष्ठितः । छान्दोग्ये 'प्राणो हि पिता प्राणो माता' इत्यत्र जीवविशिष्ट एव तत्तच्छब्दवाच्यतानिर्णयेन पुरुषपदेऽपि तन्न्यायस्य तुल्यत्वात्, अत्र च सिद्धवत्कारेण पुरुषतावचनात्, निरूपणेऽपि अङ्गाररूपेण पूर्वं सतश्चन्द्रस्य 'सोमो राजा भवति' इति राजत्वकथनतः प्रजात्मकचेतनान्तरसाहित्यसूचनेन, अन्याधिष्ठानादन्यदीयदेहासंभवेन सोमाधिष्ठानाद्यजमानदेहस्य वक्तुमशक्यतया च प्रथमाहुतौ जीवसाहित्यं प्राप्यते, तथा वर्षस्योषरे पातेऽन्नस्य मांसादिभावे रेतसो वृथापाते गर्भस्य स्रावादौ च पुरुषभावाभावादत्र फलोपहितैस्तैः सर्वैराहुत्यन्तरेऽपि तत्प्राप्यते । अतः कर्मानीतस्य सपरिकरस्य होम्यत्वेन लाभादित उत्क्रमणे संस्कृतैः सूक्ष्मभूतैः संपरिष्वक्त एव रंहति । एवं जीवसाहित्येऽप्यपामेव होम्यत्वोक्तिस्तु यथा वाजसनेयिनां षष्ठेऽग्नावग्नौ पुरुषस्य होम्यत्वेऽपि शरीरस्य मुख्यत्वम्, तद्वत्तन्मुख्यत्वाभिप्राया । अयं च देवकृतो होमस्तत्र तं ज्ञानार्थं तथा जनयतीति परिणामसुखदत्वादभिमानराहित्येनैव तत्र जीवस्थितेश्च न दुःखहेतुः । तस्मात्सर्वं सुष्ठु । अतो होमेऽपां गौणत्वस्य परिहृतत्वात्, तासां द्रव्यत्वेन कर्मरूपतया तद्धोमप्रयोजकानां पूर्वजन्मीनकर्मणामेव रूपभूतसंस्कृतभूतोपस्थापकत्वात्, अब्होमस्य दिव्युक्तत्वेन तावत्पर्यन्तागमनस्यैव देवविलम्बे कारणत्वाच्च संस्कृतभूतसंपरिष्वक्त एव रंहति, नतु श्रद्धाहोमोत्तरं भूतसंबन्ध इति सिद्धम् ॥ १ ॥

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

ननु सकलभूतसंस्कारकत्वमस्य होमस्य न युक्तम्, वाक्येऽपामेव होम्यत्वेनोक्त्या तन्मात्रसंस्कारकत्वस्यैव प्रतीतेः । न चापां भूतान्तरोपलक्षकत्वमिति वाच्यम् । उपलक्षणतायां नियामकानुपलंभात्, तैत्तिरीये द्विदैवत्यहविःस्तुतौ 'अस्थि चैव तेन माꣳसं च यजमानः सꣳस्कुरुत' इति श्रावणेनान्यसंस्कारस्य प्रागेव सिद्धतया तद्विरोधापत्तेश्चेत्याशङ्कायामाह **त्र्यात्मकत्वात्त्वित्यादि** । तुरुक्तशङ्कानिरासे । अपां ग्रहणे तेजोऽन्नानि ग्राह्याणि । कुतः । त्र्यात्मकत्वात् । होम्यानामपां सृष्टिनिर्माणोत्तरवर्तित्वेन त्रिवृत्कृततया भूतान्तरसाहित्यात् तेषामनुक्त्यापि प्राप्तेः । नन्वेवं सति तेज एवोक्तं स्यात्, प्राथम्यात्, न त्वाप इत्याकांक्षायामाह भूयस्त्वादिति । अब्ग्रहणे नियामकानां बहूनां सत्त्वात् । तानि च 'आपः स्वभावतो मेध्या' इति शुद्धत्वम्, श्रद्धाजनकतया सर्वत्राविशिष्टत्वम्,

मध्यमावात्तेजोऽन्नसंबद्धत्वम्, बृहदारण्यकोक्ते षष्ठे पर्याये भास्वरवर्णपुरुषतायां दीक्षिततुल्यतया वक्तव्यत्वम्, पयःसोमादिरूपबहुहेतुकत्वम्, वृष्ट्यन्नरेतःशोणितरूपेण बहुधापरिणामः, द्रव्यभूयोवरत्वं चेति बोध्यानि । न चोक्ततैत्तिरीयश्रुतिविरोधः । अस्थिमांसयोः पूर्वयोस्तद्देहनिवृत्तावेव निवृत्तत्वात् । अतोऽग्रिमदेहार्थं भूतमात्रसंस्कारस्यावश्यकत्वादपामेव ग्रहणं युक्तमित्यदोषः ॥ २ ॥

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

लौकिकीं युक्तिमपि दर्शयति । प्राणस्य गतिः प्राणगतिः, 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोनूत्क्रामति' इति श्राविता । अतः स निर्गच्छन् स्वाप्यायका आप आदायैव निर्गच्छति । लोके तथा दर्शनात् । अपां प्राणाप्यायकत्वं च 'काममपः पिबे' त्यत्र श्रावितम् । एतेनैव मनसान्नग्रहणं वाचा तेजोग्रहणं च बोधितं ज्ञेयम् ॥ ३ ॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

ननु 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राण' इत्यादिश्रुत्यन्तरे प्राणानामग्न्यादिगतिर्लयात्मिका श्रूयते, उक्तश्रुतौ चोत्क्रमणम्, अतः परस्परविरोधान्न विनिगमनेतिचेत्, न । कुतः । **भाक्तत्वात्** । अग्न्यादिगतिश्रुतिर्हि बृहदारण्यक आर्तभागब्राह्मणस्था, मरणावस्थां सिद्धवदनुवदति, सावस्था च मुक्तामुक्तयोस्तुल्या, तत्र मुक्तस्येन्द्रियाणि 'अत्रैव समवनीयन्त' इति श्रुतेर्ब्रह्मण्येव लीयन्त इत्येकः पक्षः । 'स वाचमेव प्रथमामत्यवह'दितिश्रुत्युक्तरीत्या देवभूतानि भवन्तीति द्वितीयः पक्षः । तयोर्मध्ये देवभावपक्षमादाय प्रवृत्तेयं श्रुतिः प्रकरणव्यतिरेकेणामुक्तविषये त्वया नीयमाना अप्ययमिव बोधयन्ती भाक्ता भवति । अतो भाक्तत्वान्न विरोधाधायिका, तस्मात्सिद्धे उत्क्रमणे भूतैः संपरिष्वक्तो गच्छतीति सिद्धम् ॥ ४ ॥

प्रथमेऽश्रवणादितिचेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

ननु पञ्चाग्निविद्यायां प्रथमाहुतौ श्रद्धा श्रुता, नापः । तास्तु 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'ति फलकथने श्रूयन्ते, उपक्रमस्त्वसंजातविरोधत्वाद्दुर्बलः । नच मनोधर्मस्य होमायोग्यत्वं शङ्क्यम्, मनसा सह होमोपपत्तेः । नच तस्याः गौणत्वापत्तिः । यथा 'ह्यरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या गवा सोमं क्रीणाती'त्यत्र क्रयेऽरुणगुणस्य मुख्यत्वं गोद्रव्यावच्छेदकतया, तथात्रापि मनोऽवच्छेदकतया तत्सिद्धेः । अतः प्रथमाहुतावपामश्रवणात् ताभिः परिष्वङ्गो न युक्त इति चेत् । न । **ता एव** आप एव श्रद्धापदेनोच्यन्ते । हि युक्तोयमर्थः । वैदिके निघण्टौ श्रदित्यस्य सत्यनामत्वात्, श्रत् सत्यं दधातीति श्रद्धेत्येवं योगेनाप्सु प्रवृत्तिसौकर्यात् । 'एतद्वा अपां नामधेयं गुह्यं यदाधावा' इतिवत् 'श्रद्धा वा आप' इति श्रुत्या योगरूढत्वस्यापि वक्तुं शक्यत्वाच्च । अत्र विनिगमकं हेतुमाह **उपपत्तेरि**ति । उपक्रमः प्रश्नवाक्यम्, तादृगेव चोपसंहारे वाक्यमप्पदघटितम्, श्रद्धाशब्दस्तु मध्ये श्रुत इति तेन तौ नान्यथा नेतुं शक्यौ । श्रद्धा-

पदप्रयोगस्तु कामनाकृतकर्मव्यावृत्त्यर्थः, कामुकानां फल एव श्रद्धावत्त्वात् । अतो निष्कामयष्टृसंबन्धित्वमाहुतीनां बोधयितुं प्रथमाहुतिहोम्ये श्रद्धापदप्रयोगः । तेन प्रथमाहुतावप्यस्त्यपां श्रवणम् ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

जीवः संस्कृतपरिष्वक्तो रंहतीति निर्णीतम् । तत्रेदं विचार्यते । किं सर्वे जीवाः संपरिष्वक्ता रंहन्ति, उत ज्ञानोपयोगिन एवेति संशयः । संशयबीजं तु श्रुतौ विशेषाश्रवणम्, देवानां तदुपकारार्थं प्रवृत्तिश्च । तत्र श्रौतेऽर्थे श्रुतानुसारिकल्पनाया एवौचित्यात् पञ्चाग्निब्राह्मणेऽधिकारिविशेषाश्रवणात् सर्वेषामेव पञ्चाहुतिप्रकार इति हृदिकृत्याह **अश्रुतत्वा**दित्यादि । पञ्चाग्निब्राह्मणेऽधिकारिविशेषस्याश्रुतत्वात् सर्वेषामेव होम इति सर्वेऽपि भूतसंपरिष्वक्ता गच्छन्तीति चेत् । **न** । न सर्वेषां होमादिः । कुतः । **इष्टादिकारिणां प्रतीतेः** । 'यो वै श्रद्धामनारभ्य यज्ञेन यजते, नास्येष्टाय श्रद्दधत' इत्यश्रद्धालुनिन्दया, 'उभयेस्य देवमनुष्या इष्टाय श्रद्दधत' इति श्रद्धालुस्तुत्या च श्रद्धावत एव यज्ञः फलमुख इति पूर्वकाण्डे लभ्यते । ते च निष्कामयष्टारोत्र श्रद्धापदोक्त्या प्रतीयन्ते, देवानां च तेषामेव प्रत्युपकार आवश्यक इति देवानां होतृत्वेन च ते प्रतीयन्ते । 'अथ ये ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासत' इत्यादिना धूममार्गव्युत्पादने 'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा' इत्यादिना इष्टादिकारिणां सोमभाव उक्तः । अत्रापि प्रथमाहुतिफलं सोमभाव इति सोमभावश्रुतिसाम्यादपीष्टादिकारिण एव प्रतीयन्ते इति त एव तथा रंहन्ति, न सर्व इति सिद्धम् ॥ ६ ॥

भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ७ ॥

ननु यदि सोमभावश्रुतिसाम्यादिष्टादिकारिणो रंहन्तीत्युच्यते, तदा सोमभावे तेषामनिष्टं श्रूयते । 'एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति' इति, समानश्रुतौ 'चाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति' इति । अतः किमेतयाहुत्या । किंच, चन्द्रवत्तेऽपि देवान्नभूता इति देवाः स्वान्नं कथं पर्जन्याग्नौ जुहुयुः । अतः पञ्चाहुत्यभाव इत्याशङ्कायामाह **भाक्तं वे**त्यादि । वाशब्दः शङ्कापरिहारे । तेषां सोमभावो भक्षणं च भाक्तम्, गौणम् । कुतः । **अनात्मवित्त्वात्** । सोमभावे मुख्ये हि मुख्यं भक्षणं संभवति, स हि मुख्यो ब्रह्मभावे सति भवति, 'स सर्वं भवति, तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे मनुरभवमहं सूर्यश्च' इत्यादिश्रुतेः । एतेषां तु स न, तथा सति मोक्ष एव भवेत् । अतोनात्मवित्त्वात् सोमभावे गौणेऽन्नभावस्य गौणतया भक्षणमपि गौणमेव । अत्रोपष्टंभकमाह **तथाहि दर्शयती**ति । तथा शब्दस्य गौणभावं हि यतो हेतोः 'यावत्संपातमुषित्वा' इति श्रुतिरेव दर्शयति । यावत्कर्मफलभोगं वासेन बोधयति । अतो यथा 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते, न स वेद यथा पशुरेवं हि देवानां पशुः' इत्यत्र यथा पशुशब्दो गौणः, एवमत्र

भक्षणमपि गौणम् । तथा च यथा 'स्त्रियं भुङ्क्ते' इत्यत्राभ्यवहारो भोग एव, न तु चर्वणादिकम्, तथा भक्षणमपि सहक्रीडादिकमेव । अतस्तेषामनिष्टाभावान्न कोपि दोषः । एवं प्रथमाहुतिः सफला विचारिता ॥ ७ ॥ इति प्रथमं रंहत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥ (३-१-२.)

द्वितीयामाहुतिं विचारयितुमधिकरणान्तरमारभते । तत्र हि सोमस्य पर्जन्ये होमे वृष्टित्वम् । तत्र रूपरसादीनां हीनतया प्रतीयमानत्वाद्यागस्यावान्तरफलं चन्द्रलोके भुङ्क्ते इति निश्चितम् । तत्र भोगे संशयः । किं सर्वमेवावान्तरफलं भुङ्क्ते, उत अनुशयवान् वृष्टिर्भवतीति । अनशयो नाम शेषः । अनु पश्चात् शेते भोगानन्तरं तिष्ठतीत्यनुशय इति व्युत्पत्तेः । एतद्विचारप्रयोजनं तु सद्वासनयाग्रिमजन्मनि सदाचारयुक्तस्य भवनम्, अन्यथा सर्वस्य स्वभावाधीनतयोभयविधं कर्म संभवतीति निरनुशयत्वे, पूर्वकृतदुष्कर्मभोगस्यानुक्तत्वात् तेन कपूययोनित्वमापद्येत, नच वेदैरधीतैस्तदभावः, 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इति बाधोपलब्धेः । तस्माद्विचार आवश्यकः ।

तत्र पूर्वः पक्षः । आहुतिभिर्द्युलोके नीतानां तदग्नौ देवहोमोत्तरं सोमभावे तत्र बहुकालावस्थानं धूममार्गिणामवस्थाबोधिकया 'तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्त' इति श्रुत्या कर्मभोगोत्तरं भवतीत्यवसीयते, सम्यक् पतत्युत्पतत्यस्माल्लोकात्स्वर्गं लोकमिति व्युत्पत्त्या संपातपदेन कर्मबोधनात् । एवं सति सकामानां धूममार्गिणां यथा सुकृतभोगोत्तरमावृत्तिः, तथैतेषामपि प्रारब्धभोगोत्तरमेव वृष्टिभाव इति न्यायसाम्यात्सिध्यति । स च भोगः सकामानां मुख्यं फलम्, निष्कामानामवान्तरफलम्, उभयथापि फलत्वस्याप्रच्यवात्सर्वस्य भोगः प्राप्नोति, शेषाङ्गीकारे 'यावत्संपातमुषित्वा' इति श्रुतिबाधप्रसङ्गात् । न चानुशयाभावे सद्वासनाशून्यतायामग्रिमजन्मनि सदाचाराभावप्रसक्तिः शङ्क्या । उक्तरूपदेवोपमेनैव ज्ञानोपयोगिशरीरभावादेव घटे छिद्रेतरत्ववदर्थबलादेव सदाचारसिद्धेः । अतो निरनुशय एव वृष्टिभावं प्राप्नोतीति ।

एवं प्राप्ते, अभिधीयते । **कृते**त्यादि । कृतस्य सोमभावस्यात्यये नाशे सति, न च कृतपदेन कर्मैव कुतो न गृह्यत इति वाच्यम्, तस्य मुख्यफलावधिकत्वेनावान्तरफलभोगनाश्यत्वाभावादत्ययपदविरोधापत्तेः । कर्मपदप्रयोगाभावाच्चेति । अतः सोमभावनाशेऽनुशयवानवान्तरफलसाधकलेशसहित एव वृष्टिभावं प्राप्नोति । कुतः । **दृष्टस्मृतिभ्याम्** । लौकिकप्रत्यक्षेण स्मृत्या च तथा निश्चयात् । दृष्टं तावल्लोके भोगसाधनभूतद्रव्यनाशेऽपि भोगसाधकतादृशदेहवस्त्रादिसहित एव तस्मात्स्थानादपगच्छति । यदि फलशेषो नाङ्गीक्रियेत, तदा देहादेरपि कर्मजन्यत्वेन कर्मनाश एव तन्नाशात्सद्य एव देहः पतेत् । अतो यथा लोके सानुशयो गच्छति, तथात्रापि बोध्यम् । स्मृतिश्च पञ्चमस्कन्धे देवगाथा, 'यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं स्विष्टस्य दत्तस्य कृतस्य शोभनम्, तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद्वर्षे

हरिर्यद्भजतां शं तनोति' इति । अस्यां स्मृतौ 'शेषितं स्विष्टं दत्तं कृत'मित्यनुक्त्वा, 'स्विष्टस्य दत्तस्य कृतस्य शोभन'मिति यदुक्तम्, तेन कर्मजन्यफलशेषरूपानुशयलाभः । अतो दृष्टस्मृतिभ्यां तथा सिद्धत्वात् ज्ञानौपयिकं जन्मानुशयवत एव भवति, तदभावे पूर्वजन्मस्मृत्यभावाद्विषयासक्तेरिति । नन्वेतादृशानुशयाङ्गीकारे पूर्वजन्मस्मारकं संस्कृतेन्द्रियादिकमेव वक्तव्यम्, तच्च देहमन्तरेण स्वकार्याक्षमं सत् देहमाक्षेप्स्यतीति तत एव योग्यदेहः सेत्स्यतीत्यप्परिष्वङ्गो व्यर्थ इत्यत आह **यथेत**मिति । धूममार्गे 'यथेत'मित्युक्तम् । अत्राप्यग्रे वृष्टिभावादिरुच्यते । अतोऽप्परिष्वङ्गे त्यक्ते तद्विरुध्येत । तस्मान्न तद्वैयर्थ्यम् । अत्र शास्त्रे निष्प्रमाणककल्पनाभावादिति । ननु यदि पूर्ववदेवाप्परिष्वक्तत्वम्, तदा पूर्ववद्भोगसाहित्यमप्यापद्येतेति । अत आह **अनेवं** चेति । न एवम्, अनेवम्, पूर्वप्रकारयुक्तागमनं नास्ति, भोगस्य जातत्वात् । चकारेण वैराग्यसाहित्यं सूच्यते । तस्मादनुशयवान् देवकृपायुक्तो वैराग्यसहितो वृष्टिर्भवतीति सिद्धम् ॥ ८ ॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ९ ॥

ननु नात्रोत्तमजन्मार्थमनुशयापेक्षा । कुतः । **चरणात्** । 'तद्य इह रमणीयचरणास्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्, कपूयचरणाः कपूया'मिति पूर्वजन्मविहिताचारेण तादृशतादृशयोनिश्रावणात्प्रकृते पूर्वजन्मीनसदाचारादेव समीचीनं जन्म भविष्यतीति, किमनुशयेनेति चेत् । न । कुतः । **उपलक्षणार्था**, चरणश्रुतौ या योनिरुक्ता, सा पूर्वजन्मकृतकर्मज्ञापिका, न तु तस्मिन् जन्मनि समीचीनकर्मनियामिका । अन्यथा ब्राह्मणानां निषिद्धकरणं न स्यात् । अतस्तदर्थमनुशयेऽवश्यमङ्गीकार्ये 'साधुकारी साधुर्भवती'ति श्रुत्यनुसारेणैतज्जन्मन्यपि कर्मानुशय एव नियामको मन्तव्यः । न च चरणश्रुतिविरोधः । 'आपद्येर'न्निति गत्यर्थस्य ज्ञानार्थतायां व्यवधारणकल्पनया पूर्वजन्मज्ञापनार्थतया विरोधाभावात् । तस्मादियं श्रुतिरुपलक्षणार्थेत्यनुशयो ज्ञानोपयोगार्थमपेक्ष्यत इति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते । नामग्रहणेन मतान्तरत्वं बोध्यते । तेन सिद्धान्ते पञ्चाग्निविद्यायां फलशेषरूपानुशयाङ्गीकारात् कर्मशेषरूपानुशयाभाव इति नाशङ्का, न चोत्तरम् । पञ्चाग्निविद्यायां पुरुषभावस्य नियतत्वेनान्यभावस्य वक्तुमशक्यत्वात् । न चैवं सति योन्यन्तरेपि मास्तु कर्मानुशय इति शङ्क्यम् । एतस्याः श्रुतेः प्रकरणगृहीतत्वेनान्यत्र न्यायसंपादकत्वाभावात् । अतोऽन्यार्थं कर्मानुशयस्यावश्यकत्वात् प्रसङ्गेनेदं मतान्तरलिखनं बोध्यम् ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥

ननु पूर्वजन्मीनसत्कर्मज्ञानेन नास्मिञ्जन्मनि कापि फलसिद्धिः । अतश्चरणश्रुतेरुपलक्षकत्वाङ्गीकारे **आनर्थक्यं** दुर्वारम् । तथा च तस्या जन्मविधायकत्वमवश्यमङ्गीकार्यम् । तथा सति निष्कामयज्ञकर्तुरपि चरणादेव देहोत्पत्तिर्भविष्यतीत्यनुशयसहभावो व्यर्थ इति

चेत् । न । कुतः । **तदपेक्षत्वात्** । अपेक्षत इत्यपेक्षः पचाद्यच् , तस्या अपेक्षस्तदपेक्षस्तस्मात् । धूममार्गमुपक्रम्य चरणश्रुतेः पठितत्वेन धूममार्गस्य चरणापेक्षत्वात् । द्विविधो हि धूममार्गो निष्कामसकामभेदेन । तत्र निष्कामस्य पञ्चाग्निविद्यायां प्रवेशान्न तत्र चरणापेक्षा । सकामे तु 'ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः' इति गीतोक्तरीत्या कर्मकर्तृवैचित्र्ये केषाञ्चिच्चरणादेव योनिरिति तस्या नानर्थक्यम् । तत्रापि रमणीयानां कपूयानां च नानायोनीनामुक्तत्वात्तन्नियामकतया कर्मानुशयस्त्वावश्यक एवेति तस्याः श्रुतेर्योनिद्वारा कर्मानुशयोपलक्षकत्वं तदाप्यक्षुण्णम् । तस्मात्सानुशय एव वृष्टिभावं प्राप्नोतीति सिद्धम् ॥ १० ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ११ ॥

अभुक्तफले विहितनिषिद्धे कर्मणी एवानुशय इति बादरिराचार्यो मन्यते । तथा चाभुक्तफले ते एवानुशय इति 'मोक्षपर्यन्तं सोऽनुवर्तिष्यते' इतिसूत्रेण बोध्यते । 'तु'शब्दो निरनुशयशङ्कानिवृत्त्यर्थः । अत्रायमाशयः । निष्कामकर्मणां पावनत्वात्तत्प्रकारबोधनाय पञ्चाग्निविद्यायाः प्रवृत्तत्वात्तानि द्युलोके यजमानमानीय तिरोदधति । तदनन्तरकार्यं तु तद्व्यापारभूता देवा एव कुर्वन्तीति न तत्र कर्मानुशयः, किन्तु फलानुशय एव, यः पुनः सकामकर्मात्मको धूममार्गस्तत्र तु कर्मानुशय एव । अत एवैकादशे 'आत्मा च कर्मानुशयं विधूय' इति भगवतोक्तम् । अतस्तन्मार्गीयानुशयं संग्रहीतुं मतान्तराणामुपन्यासः । तेन सोमाहुतिः फलानुशयवत एव वृष्टिभावजनिकेति विचारितमिति ॥ ११ ॥ इति द्वितीयं कृतात्ययाधिकरणम् २

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥ (३-१-३.)

ननु 'ये वैके चास्मात् लोकात्प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते गच्छन्ती'ति कौशीतकिनः समामनन्ति । तत्र 'ये वैके चे'ति सामान्यवचनात्सर्वपदाच्च सर्वेषां सोमभवनं श्रुतम् । तेनेष्टादिकारिव्यतिरिक्ता अपि संग्रहीतुं शक्यन्ते । अत्रापि धूममार्गीयस्य पुनरावृत्त्युपसंहारे कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्यन्त इति श्रावणादपि तथा । तेन सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्तीति द्वितीयाहुतिधूममार्गौ सर्वसाधारणौ । किञ्च । कर्माकर्मविकर्माण्यपि सर्वसाधारणानीति विहितकर्तुरपि कालकर्मस्वभाववशात् त्रयं संभवति । तत्र ज्ञानाभावे फलभोगनैयत्यात्तद्भोगः सोमभावानन्तरं वृष्ट्यन्नरेतःक्रमेण यदा जन्म, तदा वक्तव्यः । अतः सोमभावानन्तरमेव सर्वेषां जन्मप्राप्तिरिति यत् पूर्वाधिकरण इष्टादिकारिणामेव सोमभावाधिकारित्वं पञ्चाग्निसिद्धदेहानां फलानुशय एवेति प्रतिपादितम्, तदयुक्तमिति पूर्वपक्षः ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥

अत्र समाधत्ते । **संयमने**त्यादि । 'तु' उक्तपूर्वपक्षनिरासे । संयमने यमसान्निधाने **अनुभूय** पुण्यपापफलं भुक्त्वा **इतरेषा**मिष्टादिकारिव्यतिरिक्ताना**मारोहावरोहौ** लोकान्तरीयसुखभोगार्थमारोहः, ततस्तत्तदनुभूयावरोहश्च भवति, नतु सोमगतिः पूर्वम् । कुतः । **तद्गतिदर्शनात्** । तेषामिष्टादिकारिणां तद्व्यतिरिक्तानां च परस्परविलक्षणगतेः श्रुतावुक्तत्वात् । वेदे हि सकामनिष्कामभेदेन द्विधा गतिः । तत्र सकामा कामभेदेनानन्तविधा । निष्कामा ज्ञानरहिता तु वैदिकगृह्यस्मार्तभेदेन वा चित्तशुद्धितदभावाभ्यां वा द्विविधा । तत्र गृह्यस्मार्ते यमाधीना । 'वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः, ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिन' इति तैत्तिरीयश्रुतेः । श्रौते तु सोमभाव इति तू क्तमेव । तथा चैवं विसदृशगतिदर्शनान्न सर्वेषां सोमगतिरिति पूर्वाधिकरणद्वयसाधितेऽर्थे कोऽपि न दोष इत्यर्थः ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

एतमर्थं व्यासादयः स्मरन्ति च । 'यमेन पृष्टस्तत्राहं देवदेव जगत्पते । पूर्वं त्वमशुभं भुंक्ष्व उताहो नृपते शुभम्' इत्यादि । चात् लोकप्रसिद्धिः ॥ १४ ॥

अपि सप्त ॥ १५ ॥

पापोपभोगार्थं यमालयगमनङ्गीकार्यम् , यतस्तत्र रौरवादयः सप्त नरकाः सन्ति ॥ १५ ॥

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥

ननु यमगतिरधिकारिभेदादङ्गीकृता, नरकेषु च चित्रगुप्तादयो भिन्ना एवाधिकारिणः सन्तीति सापि गतिरतिरिक्ता स्यात् । तथा सति श्रुतिविरोधः । तत्र धूमार्चिरादिभेदेन गतिद्वयस्यैवोक्तत्वादिति । अत आह **तत्रापी**त्यादि । नरकादिषु येऽधिकारिणस्ते यमाधीना इति । तत्रापि यमस्यैव व्यापारान्न श्रुतिविरोधः । नहि गतिद्वयमेव श्रौतम्, मन्त्रलिङ्गेन यमगतेरपि सिद्धत्वात् । यदि सा नाङ्गीक्रियेत, तदा धूमादिमार्गद्वयस्याप्यनङ्गीकारापत्तिः । अर्चिरादौ 'आदित्याच्चन्द्रमस'मिति, धूमादौ 'आकाशाच्चन्द्रमस'मिति, 'पञ्चाग्नौ सोमो राजा भवति' इति श्रावितायाश्चन्द्रप्राप्ते'र्ये के चे'ति कौशीतकिश्रुत्यनुरोधेन सर्वपरतायां चन्द्रगतिरेकैव श्रौती स्यात्, तथा च मन्त्रलिङ्गविरोधः । अङ्गीकृते तु तत्र यमव्यापारे मन्त्रलिङ्गपोषाच्चन्द्रयमगती द्वे अपि स्याताम्, कौशीतकिवाक्यस्यार्चिरादिवाक्यैरुपसंहारेऽर्चिरादिधूमादिमार्गावपि सुखेन स्यातामिति सर्वाविरोधाद्यमगतिरस्तीति सिद्धम् ॥ १६ ॥ इति तृतीयमनिष्टादिकारिणामित्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥ (३-१-४.)

ननूपसंहाराङ्गीकारे कौशीतकिस्थसर्वपदसंकोचस्तु स्यात् । किंच, यदि यमगतिरप्यभिप्रेता स्यात्, तदा पञ्चाग्निविद्याप्रस्तावे साप्युच्येत । अतः संकोचाभावायानुक्तिनिर्वाहाय च सा नाङ्गीकार्येति शङ्कायामाह **विद्ये**त्यादि । उक्ताशङ्कानिरासार्थं तुशब्दः । नहि तृतीयमार्गाभावार्थं पञ्चाग्निविद्याप्रस्तावे विद्याकर्मणोरुक्तिः, किन्तु देवयानपितृयाणयोः प्रकृतत्वात्प्रश्नस्य तावतैव पूर्तेस्तदुक्तिः । अतस्तदनुक्तावपि न यममार्गासिद्धिः । संकोचोपि यमगतिबोधकवाक्यान्तरमूलक इति न दुष्टः । तस्मान्न यमगतेर्बाध इत्यर्थः ॥ १७ ॥

न तृतीयेऽतथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

ननु यदि यममार्गः पृथगङ्गीक्रियते, तदा पञ्चाग्निविद्याप्रस्तावे यस्तृतीयत्वेनाङ्गीकृतः, 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति, जायस्व म्रियस्वेति तृतीयं स्थानम्, तेनासौ लोको न पूर्यते, तस्माज्जुगुप्सेते'ति निन्दया द्वयोः स्तुत्यर्थः। स एव तृतीयोऽस्तु। तत्र यममार्गान्तर्भावस्य शक्यवचनत्वादित्यत आह **न तृतीय** इत्यादि। यममार्गस्य तस्मिन्निवेशो न। कुतः। **तृतीये** 'जायस्वे'तिमार्गे **अतथोपलब्धेः** यममार्गविलक्षणभोगोपलब्धेः। समानब्राह्मणे 'कीटाः पतङ्गा यदि दन्दशूकम्' इति छान्दोग्योक्तक्षुद्रभूतनिष्कर्षात्तेषां च रौरवाद्यभावादिति ॥ १८ ॥

स्मर्यतेपि च लोके ॥ १९ ॥

साधकान्तरमाह। **अपि**चान्यदपि यमगतिसाधकमस्ति, यतो लोके मूर्च्छादिषु यमलोकगमनसंभाषणपुनरागमनानि स्मर्यन्ते, तस्मात्सास्तीति ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

यमपुरुषा दृश्यन्ते कैश्चिदजामिलप्रभृतिभिः। चकारात्तद्वाक्यान्यपि श्रूयन्ते। तस्माद्यमगतिरस्तीति तस्यामेव 'जायस्वे'तिमार्गस्य निवेशः। तस्मिन्नपि योनिबाहुल्येन विवेचकस्यावश्यमपेक्षणादिति ॥ २० ॥ इति चतुर्थं विद्याकर्मणोरित्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥ (३–१–५.)

एवमधिकरणद्वयेन प्रासङ्गिकं विचार्येदानीं 'वृष्टेरन्नं भवती'ति सफलां तृतीयाहुतिं विचारयति। श्रुतौ हि 'वृष्टेरन्नम्' इत्युक्तम्, तत्प्रत्यक्षविरुद्धम्, बीजादन्नोत्पत्तिदर्शनात्। अतः संदेहः, किं वृष्टेर्निमित्तत्वम्, उत समवायित्वमिति। तत्र बीजावापं विनान्नोत्पत्त्यदर्शनात् वृष्टेर्निमित्तत्वमेव। अतोऽन्नस्यासंस्कृतबीजादेव भवनाद्योग्यदेहोत्पत्त्यर्थं यद्वृष्टेरन्नमित्युच्यते, तदसंगतमिति प्राप्ते, अभिधीयते **तृतीये**त्यादि। **तृतीये** वृष्टिहोमे **शब्दाविरोधः**, अन्नफलजनकहोम्यद्रव्यवाचकस्य वर्षशब्दस्य जलमात्रसंग्राहकतया कारणभूते निमित्तभूते च जले साधारणत्वात्समानेन वर्षशब्देनावरोधः कारणभूतस्यैव ग्रहणम्। कुतः। **संशोकजस्य**। 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दित्यादिके सन्दर्भे 'तत्तेज ऐक्षत, ता आप ऐक्षन्त' इतिकारणभूतं जलं प्रकृत्य, 'तस्माद्यत्र क्वचन शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेज एव तदध्यापो जायन्ते' इति भौतिकत्रिवृत्कृतदशायां कारणकार्यवैजात्यं बोधयित्वाग्रे 'तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवति' इति कारणत्वेन श्रावणात्। अतः पञ्चाग्निविद्यायां देवहोमात्कारणभूतजलस्यैव वृष्टिरिति न तत्र बीजान्तरापेक्षा। तस्मात्सूपपन्नं वृष्टेरन्नमिति संस्कृतान्नमेव योग्यदेहोत्पादकम्। संशोकजपदोक्तिस्तु 'यदश्रवशीयत तद्रजतꣳ हिरण्यमभव'दितिश्रुत्यन्तरसंमतिसूचनार्थम् ॥ २१ ॥

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥

ननु कारणजलरूपवृष्टिरत्र न वक्तुं शक्यते, यतः समाने धूममार्गेऽस्य तदैक्ये वा वृष्टेरन्नभावोक्तौ, 'यावत्संपातमुषित्वा, अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते, यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह व्रीहियवा औषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्त' इति श्रूयते। अत्र च 'यथेत'मित्यनेनाकाशमवरोहतीत्युच्यते। आरोहे 'आकाशाच्चन्द्रमस'मित्युक्तत्वात्। ततो वायुमागतस्याग्रे वायुर्भूत्वेत्यादिना क्रमेण वायुधूमाभ्रमेघव्रीह्यादिभाव उच्यते, ते च वाय्वादयस्तत्तदनन्तरभावित्वाज्जन्याः, अतस्तन्मध्यपातिता प्रवर्षतिशब्दोक्ता वृष्टिरपि कार्यजलात्मिकैव, न कारणजलात्मिका, ततश्च बीजान्तरस्यावश्यकत्वान्न वृष्टेर्ज्ञानयोग्यदेहकारणत्वमित्याशङ्कायामाह **से**त्यादि। **सा** वाय्वादिरूपापत्तिः, **आभाव्यापत्तिः**, वाय्वादिवदाभानरूपा विपत्तिः, सोमतेजोभावापन्नस्य वाय्वादिक्रमेण जलभावापत्तौ कान्तिनाशात्। तत्र वृष्टिभावार्थमागच्छन्त्याहुतिर्मध्ये वायुसादृश्या'द्वायुर्भूत्वे'त्युच्यते, एवमग्रेपि। कुतः। **उपपत्तेः**। अन्यस्यान्यत्वेन कथने आकृतेरेव नियामकत्वस्य चित्रतुरगादौ दर्शनात्। 'आदित्यो यूपः' इत्यादौ च तथासिद्धत्वाच्च। न च भूत्वाश्रुतेर्विरोधः। भवनेन अन्यस्यान्यभावं वदन्त्याः श्रुतेर्गौणत्व एव तात्पर्यादिति। तस्मादाकृतिमात्रेण न स्वरूपान्यथाभाव इति सोमाहुतेरेव तत्तदाकृत्या वृष्टिरूपतायामपि कारणरूपत्वानपायात् तत एव ज्ञानयोग्यदेहनिष्पादकमन्नं भवतीति सिद्धम् ॥ २२ ॥

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

स्वरूपान्यथाभावाभावे उपपत्त्यन्तरमाह **ने**त्यादि। साभेति पूर्वस्मादनुवर्तते। तथा च तद्रूपता **नातिचिरेण**, न बहुकालम्, तृतीयाप्रतिरूपकमिदमव्ययम्, न तु तृतीयार्थकम्। कुतः। **विशेषात्**। 'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतर'मित्यनेनान्नाभावापन्नस्यैव बहुकालश्रवणात्। दुर्निष्प्रपतरमिति दुष्प्रापतरम्, वर्णलोपश्छान्दसः। अतस्तृतीयाहुतौ शीघ्रमायाति। न चावरोहक्लेशस्यात्र सिद्धौ धूममार्गात् को विशेष इति शङ्क्यम्। एतस्य क्लेशस्य धूममार्गं प्रस्तुत्योक्तत्वात्पञ्चाग्निमार्गस्य ततो भिन्नत्वे अत्र वैराग्यादिमतो निरभिमानस्यैव ताद्रूप्यान्न क्लेशदोषः। ऐक्यपक्षे तु ज्ञानिनो गृहस्थस्य दुर्लभत्वाज्जघन्य एव क्लेशो न मध्यमाधिकार्यादाविति विशेषसत्त्वात् ॥ २३ ॥ इति पञ्चमं तृतीयशब्दावरोधाधिकरणम् ॥ ५ ॥

अन्याधिष्ठितेऽपूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥ (३–१–६.)

चतुर्थ्याहुतिर्विचार्यते। अन्नभूतस्य होम्यत्वमुपपद्यते, न वा, अन्नभूतस्य रेतोभावोऽप्युपपद्यते न वेति। तत्र 'संसर्गजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नर' इतिस्मृत्यान्नस्य पापजन्यत्वे सिद्धे, पूर्वाहुतिशुद्धस्य जीवस्यान्ने प्रवेशासंभवात्। अन्नस्य संस्कृताहुतिजन्यतया तद्भिन्न-

त्वाङ्गीकारेपि कण्डनपाकादिदुःखेन जीवापगमसंभवाच्च न रेतोभाव इति प्राप्ते, प्रथमं रेतोभावानुपपत्तिं परिहरति **अन्ये**त्यादि । अत्रापि साभेति पूर्ववदनुवर्तते **अन्याधिष्ठिते,** वृष्टेरन्नभावसमय एवान्यैर्जीवैरधिष्ठिते व्रीह्यादौ । **अपूर्ववत्,** न पूर्वः, अपूर्वः अतिथिः तद्वत्, न पूर्ववत् अपूर्ववत् । पूर्ववैलक्षण्येन वा साभा, तद्भावापत्तिः । न पापजन्यान्नवदस्यान्नभावापत्तिः, किन्तु तद्विलक्षणतया, यथा ह्यन्यगृहेऽतीथिस्तिष्ठत्यनभिमानितया, तथास्थितिः । यथा वा पूर्वं वाय्वादिसारूप्यम्, तथा नान्नसारूप्यम्, किन्तु तद्वैलक्षण्येन । कुतः । **अभिलापात्** । अत्र हि पूर्ववत्तत्द्भावमात्रं न वदति, किन्तु 'व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्त' इति जगति स्थितव्रीह्यादिप्रकारेण जननमेवाभिलपति । तथा सति यथान्येषु व्रीह्यादिषु तदधिष्ठातृदेवतया नियुक्ता जीवास्तानात्मत्वेनाभिमन्यन्ते, एवमत्राप्यन्येऽभिमन्यन्ते । अयं त्वनभिमानस्तत्र तिष्ठति । तथा सति नास्य कण्डनादिक्लेशः, नापि जडभावः । न च कण्डनादिभिर्जीवापगमः । तादृशस्यापि बहुकालस्थितौ कृमिकीटादिभावदर्शनात् । अतोऽनभिमानस्याभिमानिनां च रेतोभावो नायुक्त इति सिद्धम् ॥ २५ ॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

नन्वन्याधिष्ठानेऽङ्गीक्रियमाणे यातनाजीवानामशुद्धत्वात्तदधिष्ठितमन्न**मशुद्धं** स्यात्, तथा च कथं योग्यदेहसंभव इति **चेत्, न** । कुतः । **शब्दात्** । 'देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवती'ति देवैराहुतिरूपेण होमवचनाच्छुद्धत्वम् । अन्यस्यापि होम्यस्यान्नस्य संस्कारेणैव शुद्धिरितीहापि होमाख्यसंस्कारशब्दाच्छुद्धमेवान्नमिति सिद्धम् ॥२५॥ इति षष्ठमन्याधिष्ठित इत्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

रेतः सिग्योगोथ ॥ २६ ॥ (३-१-७.)

पुरुषेऽन्नहोमेऽन्नस्य रेतोभावे सति रेतसो होम्यत्वम् । तदुपपद्यते नवेति संदेहे पञ्चमाहुतिं विचारयति । तत्र पुरुषेऽन्नहोमेऽपि बाल्यकौमारवार्धकेषु रेतोभावव्यभिचारात्तारुण्येऽपि सर्वस्य रेतोभावाभावात्, रेतोभावेऽपि नियमेन योनौ सेकाभावात्, पुरुषप्रयत्नस्य सत्त्वेन देवापेक्षाभावाच्च होम्यत्वं नोपपद्यत इति प्राप्ते । उच्यते । **रेत** इत्यादि । सूत्रे **रेतःसिक्**पदेन पुरुषपदस्य विवरणं क्रियते । तेन पौरुषधर्मवानुच्यते । पौरुषं च देशकालसंविधानेन मन्त्रवद्रेतःसेकसामर्थ्यम् । तादृग्धर्मवति योऽन्नहोमः, स प्राणाग्निहोत्रोपनिषदाद्युक्तप्रकारेणेति तत्र देवापेक्षा । न हीन्द्रियाधिष्ठातृदेवप्रसादं विना तथा भोक्तुं शक्यते । ईश्वरेच्छया भवनेऽपि तेषामेव द्वारत्वात् । अत एव तस्यान्नस्य रेतोभावो योनौ नियमेन सेकश्च पुत्रमन्थब्राह्मणोक्तरीत्या भवतीति सुखेन होम्यत्वं संगच्छत इति पूर्वोक्तदोषनिरासः । ननु कथमेतदवगम्यते, यत्पुरुषपदेनैतावल्लभ्यत इति । तत्राह **अथे**ति । आनन्तर्यात्, शरीरार्थमेव देवानामुद्यम इति स कथं पञ्चमाहुतावेव व्यभिचरेत् । अतः पुरुषे आहुतिर्नान्नादनमात्रा रेतोमात्रफला, किन्तु रेतःसिग्योगपर्यन्तेत्यर्थः । योगपदेनात्र नान्याधिष्ठानम्, किन्तु एकस्यैव संबन्ध एकस्यैवोत्पत्तेः प्रायोदर्शनादिति सूच्यते ॥ २६ ॥ इति सप्तमं रेतःसिग्योगाधिकरणम् ॥ ७ ॥

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥ (३-१-८.)

हूयमानं निरूप्य फलं निरूपयति । तत्र हि 'तस्या आहुतेर्गर्भः संभवती'त्युच्यते । तत्र संदेहः । योनावन्तःस्थितमेव फलम्, उत बहिर्निर्गतमिति । तत्र गर्भशब्देनान्तःस्थित एव, शरीरपरत्वे गर्भश्रुतिबाधप्रसङ्गात् । न च पञ्चम्यामाहुता'वापः पुरुषवचस' इत्युपसंहारविरोधः । अग्रे कर्तव्याभावेन तथोक्तिरित्यविरोधात् । तथा च षण्मासानन्तरं गर्भे ज्ञानसंभवात् तत एव पुरुषार्थसिद्धेर्गुरूपसत्त्यादिकं तेन न कर्तव्यमिति प्राप्ते, अभिधीयते । **योने**रित्यादि । योनेर्निर्गतं शरीरमेव गर्भशब्देनोच्यते । अरण्यादेरुत्थितस्याग्नेः फलरूपत्वदर्शनेन अत्रापि सिद्धस्यैव फलताया युक्तत्वात् । न च गार्भिकं फलोपधायकम्, बहिर्निर्गतस्य वैष्णव्या मायया तत्तिरोधानात् । न च गर्भपदविरोधः । मातृपरिपाल्यत्वाय तथा वचनात् । शरीरपदेन वैराग्यवत्ता सूच्यते । तस्माच्छरीरमेव फलमिति सिद्धम् । तस्माद्योग्यदेहसाधनसहितो ब्रह्मज्ञानार्थं निरूपितः ॥ २७ ॥ इत्यष्टमं योनेः शरीरमित्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ श्रीः ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥ (३-२-१.)

पूर्वस्मिन् पादे जीवस्याधिकारिणो ज्ञानोपदेशयोग्यदेहप्राप्तिर्निरूपिता । सा तदार्थवती स्यात्, यदि जीवस्य मुक्तौ स्वरूपयोग्यता स्यात् । अत एककार्यकारित्वेन तन्निरूपणायायं पाद आरभ्यते । दैहिकी योग्यता बाह्या, जैवी त्वान्तरी, इत्यन्तरङ्गत्वात् ततः पश्चात्साधननिरूपणाच्च पूर्वं निरूप्यते । तत्र स्वप्नस्य सत्यत्वे तत्कृतगुणदोषसंबन्धः प्राप्तयोग्यदेहस्यापि जीवस्य भवेत्, ततश्च पूर्वनिरूपिता शुद्धिर्वृथा स्यादिति स्वप्नस्य मिथ्यात्वं दर्शयितुमधिकरणमारभते । तत्र स्वप्नसृष्टिः सत्या मिथ्या वा इति संशये, सूत्रद्वयेन पूर्वपक्षमाह । **संध्ये** जाग्रत्सुषुप्त्योः सन्धौ भवे स्वप्नाख्ये स्थाने सृष्टिर्जायते । तत्र प्रमाणं वदति **आहेति** । 'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः इदं च परलोकस्थानं च, सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थान'मित्युपक्रम्य, बृहदारण्यके श्रुतिराह 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इत्यादिना । **हि** युक्तोऽयमर्थः । दर्शनसंवादित्वात् । देवादिवाक्यानां प्रबोधोत्तरमपि बाधाभावाच्च । तस्मात् स्वप्ने सृष्ट्यन्तरमस्ति ॥ १ ॥

सा सृष्टिर्जीवकृता, परमेश्वरकृता वेति संदेहे पठति ।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

काठके चतुर्थवल्ल्यां 'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः, तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते' इत्येके शाखिनो **निर्मातारमाहुरिति** पूर्वसूत्रोक्ता आहेतिक्रिया वचनविपरिणामेन संबध्यते । 'शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्वे'त्यत्रोक्ताः पुत्रादयश्च तथाहुः । तेषां कामविषयाणां वक्तृत्वं तु 'तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ती'तिवद्बोधकत्वाद्बोध्यम् । 'ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके' इति पूर्वश्रुतौ कामशब्दस्य कामविषयेषु प्रयुक्तत्वात् 'कामं काम'मित्यत्रापि कामविषयाः पुत्रादयो निर्मिता ग्राह्या इति बोधनाय तद्ग्रहणम् । तथा च 'स्वयं निर्माये'ति श्रुतावनन्तरं 'प्रस्वपिती'तिकथनात् स्वापेन लिङ्गेन प्रकरणं ब्राह्मं बाधित्वा, जीवकर्तृकत्वमपि संदिह्येतेति तदभावायैतत्सूत्रप्रणयनम् । एतद्विषयवाक्ये 'सुप्तेषु जागर्ती'ति जागरणलिङ्गात्प्रकरणात् 'तदेव शुक्र'मितिवाक्यशेषाच्च भगवानेव कर्तेत्यवसीयते । ब्रह्मकर्तृका च सृष्टिः सत्यैवेति प्राप्तज्ञानयोग्यदेहस्यापि जीवस्य स्वाप्नगुणदोषसंबन्धस्यावर्जनीयत्वात् व्यर्थो योग्यदेहारम्भ इति प्राप्तेऽभिधीयते २

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

स्वप्नसृष्टिर्मायामात्रम् । माया नाम परव्यामोहकः शक्तिविशेषः । 'नटवन्मूढ मायाभिर्मायेशान्नो जिगीषसी'ति बलिं प्रतीन्द्रवाक्ये तथा दर्शनात् । तन्मात्रं तदुपादायकं

मिथ्या चैन्द्रजालिकसृष्टिवन्मायिकी मिथ्या । कुतः । **कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।** देशः कालो विषयसन्निधिरिन्द्रियव्यापारो बाधकाभावश्चेत्यपेक्षिता सामग्री कार्त्स्न्यम् । तेन अनभिव्यक्तं अप्रकटीकृतं स्वरूपं यस्याः । तादृशत्वात् । तथा च तद्विरुद्धतयोद्भूतत्वात्सा मिथ्येति जीवस्य तत्कृतगुणदोषसंबन्धाभावान्न साधनसंपादितयोग्यदेहवैयर्थ्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥

ननु यदि स्वक्रीडार्थं सृजति, तदा तत्तज्जीवसाक्षिकमेव कुतः सृजतीत्यत आह । स्वप्नः शुभाशुभफलसूचको भवति । तथा च प्रतिनियततच्छुभाशुभसूचनार्थं तथा सृजतीत्यर्थः । इदं च प्राप्तयोग्यदेहस्याप्यावश्यकम् । तेन अविरुद्धार्थनिवर्तकोपायस्य कर्तव्यत्वादिति । चकारात्क्वचिदाज्ञादानादेरप्यनुकूलः । प्रत्यक्ष आज्ञादानादौ कलिकालादेर्बाधकत्वादिति । **हि** युक्तश्चायं सूचकत्वादिरूपोर्थः । प्रातर्जाग्रति सूचितफलस्यैव दर्शनादिति । सूचकत्वे प्रमाणमाह **श्रुतेरिति** । सा च 'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति, समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने' इति । तथा 'पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ती'तिरूपा । किंच, **आचक्षते च तद्विदः** । स्वप्नाध्यायविद ऋषयश्च 'आरोहणं गोवृषकुञ्जराणा'मित्यादिकं शुभादिसूचकतयाचक्षत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

ननु जीवार्थं भगवांस्तादृशीं सृष्टिं करोतु, प्रदर्शयतु च, परन्तु जीवस्य ब्रह्मांशत्वाद्दुःखित्वमेव कुत इत्याशङ्कायामाह ।

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ५ ॥

उक्ताशङ्कां वारयितुं तुशब्दः । जीवस्यैश्वर्यादिकं तिरोहितम् । तत्र हेतुः **पराभिध्यानात्** । परस्य भगवतोऽभितो ध्यानं परकर्तृकं जीवकर्मकं सर्वप्रकारेण भोगस्यालोचनं तस्मात् । ततो भगवद्धर्मतिरोधानात् **अस्य** जीवस्य **बन्धविपर्ययौ** संसारासक्तिरूपो **बन्धो** भगवद्धर्मविपरीतधर्मवत्त्वं च । तत्रायं विभागः । ऐश्वर्यतिरोभावाद्दीनत्वं पराधीनत्वम् । वीर्यतिरोभावात्सर्वदुःखसोढृत्वम् । यशस्तिरोभावात्सर्वहीनत्वम् । श्रीतिरोभावाज्जन्मादिसर्वापद्विषयत्वम् । ज्ञानतिरोभावाद्देहाद्यहंबुद्धिः सर्वविपरीतज्ञानम् । वैराग्यतिरोभावाद्विषयासक्तिः । भगवद्धर्मतिरोधानकार्यं च बन्धादीति । तथा च ब्रह्मांशत्वेपि **ब्रह्मधर्मतिरोधानात्** दुःखित्वमित्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं स्वमतेनेश्वरेच्छयैश्वर्यादितिरोभावं निरूप्य मतान्तरेण तन्निरूपयति ।

देहयोगात्सोऽपि ॥ ६ ॥

वाशब्दोऽनादरे । **सः** सर्वतिरोभावो विपर्ययो वा । **अपि**शब्दादहन्ताममतारूपो बन्धश्च **देहयोगात्** सूक्ष्मदेहसंबन्धात् । तथा च देहसंबन्धात् दुःखित्वं तद्वियोगे पुनरै-

श्वर्यादिप्राप्तिरित्यर्थः । पूर्वमते तु विद्यमानेऽपि देहे तदाप्तिरिति विशेषः । तेन कदाचिदीश्वरेच्छया, कदाचित् देहयोगेन विकल्प इति बोधितम् ॥६॥ इति प्रथमं सन्ध्याधिकरणम् ॥१॥

एवं स्वप्नस्य मिथ्यात्वप्रसङ्गेन जीवस्य विपरीतज्ञानजनकमज्ञानं निरूप्य केवलमज्ञानं निरूपयितुं अज्ञानस्थानं स्वप्नाभावं च निरूपयति ।

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥

कौशीतकिब्राह्मणे श्रूयते, नाडीरनुक्रम्य 'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यति अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवतीति' । तथा बृहदारण्यके 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तर'मिति । तत्र स्वप्नवन्मायिकप्रपञ्चसृष्टिं भगवान्करोति, न वेति संशयः । काठके सुप्तौ सृष्टिनिर्माणश्रावणात् विषयवाक्ये च दर्शनाभावमात्रश्रावणात् संदेहः । तत्र 'य एष सुप्तेषु जागर्ती'ति काठके जीवस्वापमात्रे भगवत्कृतसृष्टेरुक्तत्वात् कौशीतकिवाक्ये च स्वप्नदर्शनमात्रनिषेधात् बृहदारण्यके जाग्रत्स्वप्नप्रपञ्चयोरविशेषेणादर्शनस्यैव कथनात् सृष्टेरनिषेधे सुषुप्तावपि प्रपञ्चसृष्टिरस्तीति प्राप्तम् । तत्रोच्यते । **तदभाव** इत्यादि । तस्य स्वप्नसृष्टिनिर्माणस्याभावो **नाडीषु**,तथा**त्मन्यपि तदभावः**। कुतः।**तच्छ्रुतेः**। सुषुप्तावस्थायां प्रपञ्चाभावहेतुबोधकाकामरूपत्वश्रुतेः । काठके हि 'कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण' इति कामविषयाणां निर्माणश्रावणात् पुरुषकामनया स्वाप्नः प्रपञ्चो बोधितः । बृहदारण्यके तु 'तद्वा अस्यैतदात्मकाममाप्तकाममकामं रूप'मिति सुषुप्तावस्थायामकामं रूपं जीवस्य श्राव्यते । अतः सुषुप्तावस्थाया अकामरूपत्वबोधिकाया श्रुतिः, सैव हेत्वभावद्वारा स्वाप्नप्रपञ्चाभावबोधिका । तत इत्यर्थः । अत्र नाडीष्वात्मनि चेति द्वयोः स्थानयोर्ग्रहणात्सुषुप्तिर्द्विधेति सूच्यते । हिताख्या हि स्वप्ननाड्यः पुरीतत्यन्ताः हृदयदेशाद्बाह्यदेशवर्तिन्यः । पुरीतत्तु हृदयवेष्टनम् । हृदये तु जीवस्येन्द्रियाणां च स्थितिः । तत आभ्यन्तरः परमात्मा । तत्र निद्रया यदा हितासु पात्यते, तदा स्वप्नं पश्यति । यदा ततः प्रत्यवसृप्य पुरीततो निकटे नाडीप्रान्तभागे गाढसुषुप्तिः । यदा पुरीतदन्तर्हृदयाकाशे सत्संपत्तिरिति । तत्र कामनाभावः स्थानद्वयेऽपि तुल्यः । ज्योतिर्ब्राह्मणे 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्य' इति । 'अथ यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तद्वा अस्यैतदात्मकाममाप्तकाममकामं रूपम्, तद्यथा प्रियया स्त्रिया परिष्वक्त' इति नाडीपरमात्मभेदेन अथशब्दात्प्रकृतच्छेदेन च श्रुतस्य 'यत्र सुप्त'वाक्यस्याभ्यासतस्तथा निश्चयादिति । तस्मात् द्विविधायामपि सुषुप्तौ न प्रपञ्चसृष्टिरिति सिद्धम् ॥ ७ ॥ इति द्वितीयं तदभावो नाडीष्वित्यधिकरणम् ॥ २ ॥

अतः प्रबोधोस्मात् ॥ ८ ॥ (३–२–३.)

एवं स्वप्नसुषुप्ती सहेतुके विचारिते । अथ जाग्रदवस्थाहेतुं विचारयति **अतः प्रबोधोस्मात्** ।

बृहदारण्यके ज्योतिर्ब्राह्मणे श्रूयते । 'स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैवे'ति । अर्थस्तु स वा एषः प्रकृतः स्वयंज्योतिर्जीवात्मैतस्मिन्संप्रसादे सुषुप्तिस्थाने रत्वा प्राज्ञेन सह संपरिष्वज्य चरित्वा तदानन्दमनुभूय स्वशे पुण्यं पापं तत्तत्फलं च दृष्ट्वैव प्रतिन्यायं गमनप्रातिकूल्यं यथा स्यात्तथा प्रतियोनि स्वस्थितिस्थानं योनिः तल्लक्षीकृत्य आद्रवत्यागच्छति बुद्धान्ताय जागरणायेति । तत्र प्रबोधे संशयः । नाडीभ्यो भगवतो वा सकाशात्पुनर्हृदयदेशं समागत्य जागर्ति, उत यत्र सुप्तः तत एव जागर्तीति । तत्र श्रुतौ 'चरित्वे'ति गत्यर्थकधातूत्थक्त्वाप्रत्ययेनाद्रवणात् पूर्वमपि गमनस्य श्रावितत्वात् स्वस्थानं हृदयदेशं गत्वैव जागर्तीति प्राप्ते, उच्यते । अतो नाडीभ्य एव प्रबोधः । न हि गर्तपतितस्य प्रबोधं विनान्यत्र गमनं संभवति । न च चरित्वेत्यस्य विरोधः । तत्र भक्षणार्थस्यापि ग्रहीतुं शक्यत्वात् । 'आनन्दभु'गिति श्रुत्या तत्रानन्दभोगस्योक्तत्वादिति । किंच । प्रबोधोऽस्मादात्मन एव सकाशात् । प्रिययेव प्राज्ञेन संपरिष्वक्तस्य बोधाभावे आगमनासंभवात् । अतो यत्र स्वपिति, तत एव प्रबुध्यते, नतु हृदयदेशमागत्येति सिद्धम् ॥ ८ ॥

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

ननु प्रिययेव प्राज्ञेन परिष्वक्तस्य ब्रह्मलोकं गतस्य तत्र प्रबोधेन ज्ञानसंभवे मुक्त एव भवेत्, न तु पुनरागच्छेत्, अतस्तत्र प्रबोधो न युक्त इत्याशङ्कायामाह **स एवे**त्यादि । उक्ताशङ्कां परिहरति तुशब्दः । अस्मादपि प्रबोधे **स एव** जीवः । कुतः । **कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः** । लौकिके कर्मणि स्वापात्पूर्वं सामिकृते पुनरुत्थाय तत्समापनात्, पूर्वदृष्टस्योत्थानोत्तरं स्मरणात् । तथा 'क्वैष तदाभूत्, कुत एतदागादि'त्यत्रैष इत्यनेन स्वापोत्थानकालवर्ती एक एव परामृश्यत इत्येतदादिशब्दात् । 'श्वोभूते ब्रह्माणं वृणीते' इत्यत्र पूर्वापरादिनवर्ती एक एव वरणकर्तृत्वेन परामृश्यत इत्येतदादिविधेश्चेत्यर्थः । न च मुक्त्यापत्तिः । बोधसमये भगवता मर्यादारक्षार्थं ज्ञाननिवारणात् । 'सति संपद्य न विदुः, सति संपद्यामह' इत्यनेन तथा निश्चयात् । तस्य ज्ञानस्य परावरत्वादिप्रकारकदर्शनरूपत्वाभावाच्चेति ॥ ९ ॥

मुग्धेर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

ननु यत्र कर्मानुस्मृतयो न सन्ति, तत्रान्यो भविष्यति, क्वचिन्मूर्च्छादिविशेषे सर्वस्मृतिनाशेन मुग्धभावदर्शनात्, यथामरुनामके राजनि, तादृशस्थले यथान्येनैव लौकिकवैदिकव्यवहाराः, तथान्यत्रापि भविष्यन्ति, किंच, अनुस्मरणादयो बुद्धिवृत्तयः, बुद्धिश्चोपाधिः तत्र यो जीवः प्रवेक्ष्यति, स एव जीवो गङ्गाप्रवाहस्य जलान्तरवदन्योपि तद्व्यपदेशं लब्ध्वा तत्कार्यं करिष्यतीति किं स एवेति निर्बन्धेनेत्याशङ्कायामाह **मुग्ध**

इत्यादि । **मुग्धे** मुग्धभावे सति, **अर्धसंपत्तिरेव** तत्तदितरानिश्चायिका साधारण्येव बुद्धिः । अतः सा अर्धज्ञानरूपैव । तस्या अर्धत्वं तु मुग्धस्य यज्ञाधिकाराभावेन तत्र विध्यप्रवृत्त्या कर्मानुस्मृत्योश्च प्रत्यक्षत एव बाधेन, पूर्वप्रवृत्तानां च जीवनाधिकारेण क्रियमाणतया लौकिकव्यवहारस्यापि अपूर्वस्याभावेन तत्र स एवायमिति निश्चयस्य विलक्षणव्यवहाराभावेन चान्योऽयमिति निश्चयस्य चाभावात् । न चामरुन्यायेनान्यत्वं निश्चेतुं शक्यम् । ब्रह्मवैवर्तब्रह्मखण्डे मूर्च्छितोपवर्हणजीवने पूर्वजीवसत्तायाः स्मरणात् । नन्वेवमनिश्चये सार्धापि कुत इत्याशङ्कायां तत्र हेतुमाह **परिशेषात्** । प्रसक्तप्रतिषेधे यस्तदप्रतियोगी स परिशेषः । प्रकृते च स एव वा, न वेति संदेहे, एकतरनिश्चायकप्रमाणाभावान्निषेधाप्रतियोगित्वेन संदेह एवावशिष्यत इति संदेहादेवार्धा, न तु निश्चयात् । अतो मुग्धदृष्टान्तेन सौषुप्तिकसिद्धान्तभङ्गाभावात् सुप्तप्रबुद्धः स एवेति निश्चयः । एतदेवैकादशस्कन्धेऽप्युक्तम् । 'यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान्, स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः स्मृत्यन्वयात् त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेश' इति । तस्मात्सर्वावस्थास्वेक एव जीवः स्वप्नादिदोषसंबन्धरहित उत्तमदेहयुक्तो भगवज्ज्ञानरहितो ज्ञानाधिकारीति सिद्धम् ॥ १० ॥ इति तृतीयमतःप्रबोध इत्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

न स्थानतोपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥ (३-२-४.)

ज्ञानाधिकारिविचारोत्तरं ज्ञानविषयनिर्धारो युक्त इत्यवसरसंगत्या विवक्षितज्ञानविषयस्य ब्रह्मणः स्वरूपं विचारणीयम् । तदर्थं प्रथमं विरुद्धवाक्यानां निर्णयः क्रियते । यद्यपि प्रथमाध्याये ब्रह्मैकमेव सर्वेषु वेदान्तेषु कारणत्वेन प्रतिपाद्यत इति सिद्धम्, द्वितीये च कारणवाक्यगतविरोधपरिहारेण तदेव दृढीकृतम्, परन्तु कारणभूतब्रह्मस्वरूपं किं सधर्मकं निर्धर्मकं वा, जीववत्सदोषं वा यावद्दोषरहितं वेति न निर्णीतम् । अतस्तादृशवाक्यान्यत्र चिन्त्यन्ते । एतदविचारे स्वरूपसंदेहानपायात् वाक्यानामबोधकताप्रसक्तौ सर्वमपार्थमेव स्यात् । तत्र स्वरूपाविरोधेऽपीतरेतरविरुद्धानां स्वगतधर्माणां विचारोऽग्रिमे पादे कार्यः । जडजीवधर्मत्वेन प्रतीतानां धर्माणामत्र विचारः क्रियते । 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्पः आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' इत्यादि छान्दोग्ये शाण्डिल्यविद्यायां श्रूयते । अन्यत्र तु 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इति, 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्' इति, 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इति, 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यदस्थूलमनणु' इत्यादि च । तत्र संदेहः । किमुभयलिङ्गं ब्रह्म, आहोस्विदन्यतरलिङ्गमिति । न च मनोमयादिवाक्योक्ता धर्मा जैवा एवेति युक्तम् । ब्रह्मप्रकरणपठितत्वात्, लोकप्रतीतेः श्रुत्यपेक्षया दुर्बलत्वात्, अस्थूलादिवाक्ये च निषिध्यन्त इत्युभयविधवाक्यदर्शनं संदेहबीजम् । तत्र धर्मश्रुतेरुपासनार्थतयोपचारादपि नेतुं शक्यत्वात्, निषेधश्रुतेस्तु प्रयोजनान्तरशून्यतया स्वरूपबोधनमात्रैकफलत्वात् निर्विशेषलिङ्गमेव प्रतिपत्तव्यमिति पूर्वः पक्षः । अथवा । सूत्रे निषेध्यमेव पक्षद्वयमत्र पूर्वपक्षत्वेन ग्राह्यम्, तेनैवाधिकरणावयवपूर्तिरिति । तत्राग्रे नानाप्रकारैर्विरोधं परिहरिष्यन् अत्र मतान्तरनिषेधपूर्वकं प्रथमतो विरोधं स्थापयति **न स्थानत** इत्यादि । अत्र केचिद्ब्रह्मवादैकदेशिन ऋषय एवं श्रुत्याविरोधमाहुः । 'यतो वा इमानि' 'सदेव सौम्य' इत्यादिभिर्भगवत उपादानकारणत्वस्य सिद्धत्वात् कारणं भगवान् सर्वत्रैवोपादेये कार्येऽस्तीत्यविवादम् । ततश्च यथा कारणभूता पृथिवी घटपटस्तम्भादिषु वर्तमाना तत्तद्रूपतां धत्ते, एवं भगवानप्यस्थूलादिषु द्रव्येषु, रसादिषु गुणेषु, तत्तद्रूपतां दधानस्तत्तद्व्यवहारभाग् भवतीति स्थानत उभयलिङ्गमुपपद्यत इत्येकं मतम् । अथवा । कारण एव तत्तत्प्रदेशावच्छेदेन रूपतदभावौ वर्तेते, अचिन्त्यसामर्थ्यवत्त्वात्, स्वतस्तस्याभावे सति स्थानतस्तदङ्गीकारेऽपि न युज्यते, स्थाने तथात्वं कुत इति विमर्शे असतः सत्ताप्रसङ्गादित्यपरं मतम् । तदुभयं स्थानतोऽपीति पदद्वयेनानूद्य निषेधति **न स्थानतोपी**ति । **स्थान**मुपाधिः, तस्माद**पी**ति प्रदेशभेदाच्च परस्योभयलिङ्गं न संभवति । कुतः । **सर्वत्र**, सर्वेषु वाक्येषूभयलिङ्गस्य रूपस्योपदिश्यमानत्वात् । एवं चात्रैवं प्रयोगोऽपि सिध्यति । परस्योभयलिङ्गमुपाधिभेदात्प्रदेशभेदाच्च न, सर्वत्रोपदिश्यमानत्वात् । यदेवम्, तदेवम् । यन्नैवम्, तन्नैवम्, लोकवदिति । सर्वत्रोभयलिङ्गमेव रूपमुपदिश्यत इत्यत्र किं मानमित्याकाङ्क्षायामाह **ही**ति । सर्वत्रैतादृशरूपस्योपदिश्यमानत्वं युक्तम् । सर्वकामादिवाक्यानामशब्दादिवाक्यवत् ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादकत्वात् ब्रह्मणश्चैकत्वात् । यथा दीर्घदन्तो गज इत्युक्ते शुण्डादण्डाकमनुक्तमपि अविनाभूतत्वाल्लभ्यते, तद्वदत्रानुक्तानामपि लाभात् । स्थानप्रयुक्ततत्तद्धर्मवाचकतायां तु तस्य धर्मस्याब्राह्मत्वे तेषामनुवादकत्वात् वैयर्थ्यापत्तेः । न चाचिन्त्यसामर्थ्यात् तत्तत्प्रादेशिकत्वं युक्तम् । सामर्थ्यस्याचिन्त्यत्वे तद्वतो ब्रह्मणोऽप्यचिन्त्यतायां तज्ज्ञानानुदयेन 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति' इत्यादिश्रुत्युक्तमुक्तेरपि बाधापत्तेः । अतो मतान्तरानुसारेण ब्रह्मणि जडजीवधर्माणां सत्त्वासत्त्वयोर्वक्तुमशक्यत्वात् सिद्धः श्रुतिविरोधः ॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥

प्रकारान्तरेणोभयलिङ्गविरोधसमाधिमाशङ्क्य परिहरति **न भेदा**दित्यादि । नोभयलिङ्गोक्त्या विरोधः संभवति । कुतः । **भेदात्**, लोके तत्तत्कार्यकारणेषु सर्वत्र भेदाङ्गीकारात् । तथा च प्रपञ्चविलक्षणं ब्रह्म भिन्नम्, प्रपञ्चसलक्षणं च भिन्नम् । तथा ज्ञातं ब्रह्म भिन्नम्, अज्ञातं च भिन्नमित्येकस्य भेदस्याङ्गीकारे सर्वमुपपद्यत इति चेत् । न । कुतः । **प्रत्येकमतद्वचनात्** । मधुब्राह्मणे 'इयं पृथिवी सर्वेषां मध्वि'त्यादिषु पृथिव्यबग्न्याकाशवाय्वादित्यचन्द्रदिग्विद्युत्स्तनयित्नुधर्मसत्यमानुषात्मवाक्येषु 'यश्चायं तेजोमयोऽमृतमयः

पुरुषः, यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, अयमेव स योऽयमात्मा, इदममृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्व'मित्येवं प्रत्येकमभेदवचनात्, कार्यकारणरूपप्रकाराणां भेदनिषेधनात् । तथा च तत्तद्वाक्येषु तत्तद्धर्मश्रावणेऽपि प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणः सर्वत्रैकत्वात् सर्वत्र सर्वं कार्यं सर्वं कारणं सर्वाणि रूपाणि सर्वे प्रकाराश्च सन्तीति विरोधतादवस्थ्यान्न भेदाङ्गीकारेण श्रुतयो योजयितुं शक्या इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अपि चैवमेके ॥ १३ ॥

एवं प्रत्यक्षश्रुत्या भेदं निराकृत्य कदाचित्स्मार्ततया भेदस्य नित्यानुमेयवेदमूलत्वं शङ्केत कश्चिदिति, तन्निवारणार्थमाह **अपीत्यादि** । अपिच भेदाभावे प्रमाणान्तरं च । तदाह **एवमेके** । एवं भेदनिषेधेनाभेदम्, एके कण्वमध्यंदिनशाखिनो वदन्ति । 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति । अत्र पूर्वं 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादिना प्राणाद्याधिदैविकं तन्नियामकं ये विदुः, ते ब्रह्म विदुरित्युक्त्वा तस्यैव प्राप्यत्वं वदंस्तस्य स्वरूपमाह 'नेह नानास्ति किञ्चने'ति । अर्थस्तु, इह मनसैवाप्तव्ये ब्रह्मणि न नानास्ति, यत्किञ्चन नियम्यत्वेनावयत्वेन वातिरिक्ततया वेदनविषयं भवति, तत्सर्वं ब्रह्मैव, न तु तदतिरिक्तम् । ननु विलक्षणप्रतीतिविषयस्य कथमपृथक्त्वमित्याशङ्कायां भेदाङ्गीकारे बाधकमाह 'मृत्योः स' इत्यादि । अत्रेवशब्दं विनापि भेददर्शनसिद्धेरिवपदेन 'बहु स्या'मिति इच्छाप्राप्तं नैमित्तिकनानात्वं व्यावर्त्यते, तेनेच्छया विलक्षणप्रतीतिः, अपृथक्त्वं तु स्वाभाविकम् । अतो वास्तविकं सजातीयविजातीयस्वगतभेदं यः पश्यति, तस्यैव दोष इति बोध्यते । तेन स्मार्तो भेदः प्रमाणशून्य इति सिध्यति । तथा च श्रुतौ ब्रह्मण उभयलिङ्गस्य सिद्धत्वात् तेन विरोधे श्रुतीनामबोधकत्वमेवेति सिद्धम् । एवमाक्षेपसङ्गत्यानेनाधिकरणेन विरोधः साधितः ॥ १३ ॥

इति चतुर्थमुभयलिङ्गाधिकरणम् ॥ ४ ॥

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥ (३-२-९.)

एवमुभयलिङ्गश्रुत्योर्विरोधे सिद्धे, सर्वकर्मत्वादयो धर्मा ब्रह्मणि सन्ति वा, न वेतिसंदेहः । उक्तविधवाक्यश्रवणं संदेहबीजम् । तत्र तुल्यबलविरोधसमाधानायोगाद्वाक्यद्वयमप्यबोधकमिति पूर्वपक्षः । तत्रैकदेशिमतस्याप्यग्रे किञ्चिदंशेनादरणीयत्वात् प्रथमं तन्मतेन समाधानमाह **अरूपेत्यादि** । एवं विरोध आपतिते, **अरूपवदेव**, रूप्यते व्यवह्रियत इति रूपं सर्वव्यवहारविषयत्वम्, तद्युक्तं रूपवद्विश्वम्, तद्विलक्षणमरूपवत्तादृशमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् । कुतः । **हिर्हेतौ** । कार्यकारणयोरंशांशिनोश्च वैलक्षण्यस्य युक्तत्वाद्धेतोः । ननु कारणस्यांशिनः कार्यादंशाच्चावैलक्षण्यस्यापि सत्त्वात् कथं वैलक्षण्यस्यैव युक्तत्वम्, अत आह **तत्प्रधानत्वात्** । तस्य ब्रह्मणः प्रधानत्वात् मुख्यत्वात् । यत्र हि यत्प्रतिपाद्यते, तदेव

मुख्यमिति, ब्रह्मप्रतिपादने तद्धर्माणां मुख्यत्वम्, नान्यधर्माणाम्, तस्मात् । तथा च यथा अस्थूलादिवाक्ये 'एतद्वैतदक्षरम्' इति केवलं ब्रह्म प्रकृत्य प्रमाणान्तरानधिगताः प्रशासनादय उच्यन्ते, तथा चेदुच्येरन्, तदा सर्वकर्मत्वादीनां मुख्यत्वं भवेत्, उच्यन्ते तु (लौकिकधर्मतुल्या लोकप्रसिद्धाश्च) । 'मनोमयः प्राणशरीर' इति शरीरविशिष्टं ब्रह्म प्रकृत्य, धर्मांश्च प्रसिद्धत्वेनानूद्य, सर्वेषां कर्मैव कर्म यस्येति समासात्, सर्वं कर्म यस्येत्यादिसमासान्तरेऽपि, किं सर्वमित्याकाङ्क्षायां सर्वपदेन लोकप्रसिद्धस्यैवानुवादात् । अतः शरीरधर्मा एव सर्वकर्मत्वादयः, अमुख्यत्वात्, ते भगवत्युपचर्यन्त इत्येव युक्तमित्यर्थः । तेन कार्यधर्माणां कार्यवदेव ब्रह्मत्वम्, न तु ब्रह्मधर्मत्वमिति सिद्धम् ॥ १४ ॥

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

नन्वेवं सर्वकर्मत्वादीनामौपचारिकत्वे केवलस्य ब्रह्मणः सर्वव्यवहारातीतत्वापत्तिः, न च प्रशासितृत्वादिभिर्व्यवहारसिद्धिः, तेषामलौकिकत्वेन सम्यग् बुद्ध्यावनारोहात्, अतः शास्त्रवैफल्यम्, तादृशस्य मनोगोचरत्वाभावात् 'मनसैवैतदाप्तव्यम्' इति श्रुतिविरोधः, 'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्' 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुतिविरोधश्चेत्याशङ्क्य परिहरति **प्रकाशेत्यादि** । यथा सौरः प्रकाशः, अव्यवहार्यो व्यवहार्यश्च न स्वयं कर्तुं शक्यते, न वा निरुध्य स्थापयितुम् । आगते तु सूर्ये मेघाद्यभावे सांनिध्यमात्रेण व्यवहर्तुं शक्यते, तथा लौकिकवाङ्मनोभिर्न व्यवहर्तुं शक्यते, ईश्वरसन्निधाने तु शक्यते इति न श्रुतिद्वयविरोधः । ननु कुत एतदवधारितम्, तत्राह **अवैयर्थ्यादिति** । अन्यथान्यतरश्रुतिवैयर्थ्यमेव स्यात् । तथाच श्रुतार्थापत्त्यैतदवधारितमित्यर्थः । चकारात् 'आसीनो दूरं व्रजति' इत्यादिबलाद्भगवद्धर्माणां लोकविरोधः परिह्रियते । तस्मात् ते धर्मा अकारणकार्यत्वान्नित्या अलौकिकाश्चेति न कश्चिद्दोषः ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् ॥ १६

ननु धर्माणामेतादृशत्वकल्पनापेक्षया अलौकिकेन्द्रियकल्पनैव लघीयसीत्याशङ्कायाम्, तथा कल्पने बाधकमाह **आहेत्यादि** । चोऽवधारणे, श्रुतिः स्वयमेव तन्मात्रं कृत्स्नं ज्ञानैकस्वरूपं ब्रह्माह । 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघनः, एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञान एव' इति । तथा च स्वरूपातिरिक्तानामिन्द्रियाणामभावात् तथा कल्पना न युक्तेत्यर्थः । न चेन्द्रियाभावात्क्रियाभावः शङ्क्यः । 'एतस्यैव महतो भूतस्य निःश्वसितं यदृग्वेदः,' 'स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनम्, एवमेतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाये'त्यादिभिस्तत्रैव क्रियाणामुक्तत्वात् । अतो नेन्द्रियाणि, किन्तु सर्वाकारस्वरूपं वस्त्वेव तादृशमिति मन्तव्यम् । श्रुतौ कृत्स्नपदेन विशेषणात्, तस्य चाकृत्स्नत्व-

बुद्धयुत्पादकप्रकारसत्त्वे एव तन्निवारकतया सार्थक्यात्। चकारेण 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' इति श्रुतिसमुच्चयः। तस्मान्नेन्द्रियकल्पनया अविरोध इत्यर्थः ॥ १६ ॥

दर्शयति चाथोऽपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

ननु ब्रह्म जगत उपादानं निमित्तं चेति पूर्वं सिद्धम्, कारणधर्मा एव च कार्ये भवन्तीति लोके सिद्धम्, अतो लौकिकाः कार्यगताः कामादयोऽपि ब्रह्मणि स्वसमानधर्मानुमापकाः, अत्र श्रुतौ च विहिता इति प्रमाणद्वयप्रमितत्वात् ते तत्र मन्तव्याः, अकामाप्तकामादिश्रुतिभिस्ते निषिध्यन्तेऽपि, वेदवादिनां त्वणुमात्रमप्यन्यथाकल्पनं नोचितम्, अतो विरोधो दुर्वार इत्याशङ्क्य परिहरति **दर्शयतीत्यादि**। न हि वयं किमपि कल्पयामः, अपि तु श्रुतिरेव जडजीवधर्माणां भगवत्यभावं मूर्तामूर्तब्राह्मणे दर्शयति। 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चे'त्यादिना, अधिदैवताध्यात्मिकभेदेन द्वेधा पञ्चभूतान्युक्त्वा, 'अथात आदेशो नेति नेती'ति निषेधमाह। तत्र किं द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत इति द्वयोः स्थापनं क्रियते, किं वा पूर्वोक्तं सर्वं वीप्सया निषेधति, उत रूपद्वयं निषेधति, ब्रह्म परिशिनष्टि, अथवा पूर्वो नञ् भूतराशिं निषेधति, द्वितीयो वासनाराशिम्, इत्यादि संदेहे, श्रुतिः स्वयमेव निषेधवाक्यं विवृणोति, 'न ह्येतस्मादिति, नेत्यन्यत् परमस्ती'ति। अत्र व्याख्येये वाक्येऽथशब्दः प्रक्रमभेदकः, अत इति च हेतौ, उक्ताभ्यां रूपाभ्यां कार्याभ्यां हेतुभ्यां ज्ञाप्यस्य ब्रह्मण आदेश उपदेशः 'नेति नेतीति'। अत्र पूर्व इतिशब्दः प्रकारं द्वितीयश्चैतावत्त्वं वक्ति, तत्र पूर्वं नेतीति वाक्यं व्याचष्टे 'नह्येतस्मादिती'ति। हि यतो हेतोः पञ्चभूतान्येतस्मादुपादानभूताद्ब्रह्मणो जातानि, अतः कार्यकारणयोः प्रकारैक्याभावादित्येवं कार्यप्रकारकं ब्रह्म नेति। द्वितीयं व्याचष्टे 'अन्यत्परमस्ती'ति। तथा च इति एतावद्भिन्नप्रकारकत्वेऽपि समवायिमात्रं न, अपि त्वन्यदितोऽतिरिक्तं परमस्तीति, अतोऽत्र न सर्वनिषेधः, नापि रूपद्वयनिषेधः, नापि भूतवासनाराश्योर्निषेधः, न वा तत्स्थापनमात्रमित्यर्थः। तेन माहारजनादितुल्यरूपनिरूपणमरूपत्ववारणायेति बोधयन्ती अनामत्ववारणाय नाम निरूपयति 'सत्यस्य सत्य'मिति। नाम निरूप्य पूर्वोक्तव्याख्यानवाक्यस्याप्यर्थान्तरवारणाय तन्निर्वक्ति 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमिति'। प्राणन्तीति प्राणाः, पूर्वोक्ताः, ब्रह्मकार्यभूताः, वै निश्चयेन सत्यम्, नाविद्यका ब्रह्मविवर्तरूपाः। तत्र हेतुः। तेषां प्राणानां एष परमात्मैव सत्यं स्वरूपभूत इति। यद्वा, सद्रूपत्वात्स्वरूपत्वाच्च सत्यं प्राणास्तेषामेष स्वरूपभूत इति। तथा च न ह्यस्मादिति व्याख्यानवाक्यमपि निषेधस्य न प्रपञ्चे पर्यवसानं गमयति, न वा ब्रह्मणः सर्वविशेषशून्यत्वे, किन्तु ब्रह्मणः प्रपञ्चप्रकारकत्वे उपादानमात्रत्वे च पर्यवसानं गमयतीति, एतदर्थं नामरूपवत्त्वार्थं च नामनिर्वचनमित्यर्थः। अतः प्रपञ्चातिरिक्तस्य ब्रह्मणो विद्यमानत्वात् तस्मिन्प्रपञ्चधर्मवचनमौपचारिकमेव युक्तम्।

श्रुत्यैव तथा प्रतिपादनादिति। चकारः सर्वयुक्त्यनुसंधानार्थः। किं च, **अथोपि**। अथेति पदोक्तः प्रक्रमभेदोऽपि ब्रह्मणो भिन्नप्रकारतां ज्ञापयति। तेनापि तेषामौपचारिकत्वमेव युक्तम्। श्रुतेरन्यार्थतानिराकरणायाह **अपि स्मर्यत** इति। गीतायाम् 'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' इति। 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' इति ज्ञेयं ब्रह्म प्रस्तुत्य, तन्निरूपणे क्षेत्रभूतं सदसच्च निषेधतीत्ययं निषेधोऽपि प्रापञ्चिकधर्माणां ब्रह्मण्यौपचारिकत्वं ज्ञापयति। अतः श्रुतिस्मृतिभ्यामेव तथा निर्णय इत्यर्थः ॥ १७ ॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

प्रपञ्चधर्मा भगवत्युपचारादुच्यन्त इत्यत्र गमकान्तरमाह **अत एवे**त्यादि। अत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी। अत एव प्रपञ्चधर्माणां भगवत्यौपचारिकत्वमाश्रित्यैवोपमा 'समः प्लुषिणा, समो मशकेन, समो नागेन, सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः, समोऽनेन सर्वेण' इति वाक्य उच्यते, अन्यथा 'न तत्समश्चाभ्याधिकश्च दृश्यते' इति श्रुतिर्विरुध्येत। अतस्तत्तद्धर्मसंबन्धेनोपचारादेवोपमेत्यर्थः। ननु 'समो न' 'तत्सम' इति वाक्यद्वयं परस्परविरुद्धम्, अतो नोपमावाक्येनौपिचारिकत्वनिर्णय इत्याशङ्क्य, उपमाया निर्णायकत्वे दृष्टान्तमाह **सूर्यकादिव**दिति। सूर्येण सहितं कं सूर्यकम्, आदिपदेन चन्द्रकम्, तद्वत्। 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्' 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रव'दिति वाक्ये जलसंश्लिष्टस्य सूर्यादेर्यथा ब्रह्मोपमानत्वम्, एवं प्लुष्यादिसंश्लिष्टस्य तत्समत्वमपीत्युपमाप्यौपचारिकत्वगामिकेत्यर्थः। चकारस्तु अग्रे वक्तव्यस्य विरोधाभावस्य समुच्चायकः। एकदेशिमतीयाधिकरणपूर्तिद्योतकश्च। तस्माज्जडजीवधर्माणां भगवत्युपचारः, निषेधस्तु मुख्य इति स्थानत औपचारिकं सर्वकामादिजडजीवधर्मवत्त्वम्, स्वतस्तु तद्रहितत्वमित्येकदेशिमतेन सिद्धम् ॥ १८ ॥ इति पञ्चममरूपवदेव हीत्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥ (३–२–६.)

मुख्यमविरोधप्रकारं वक्तुमेकदेशिनं दूषयति **अम्बुवदि**त्यादि। एवञ्चात्र पूर्वोक्तान्येव विषयसंशयतद्बीजानि। एकदेशिसिद्धान्त एव पूर्वः पक्षः। तुशब्दस्तं पक्षं वारयति। **तथात्व**मुक्तरीत्या जलयुक्तसूर्यकम्पादिदृष्टान्तेनौपचारिकं सर्वकामादिधर्मवत्त्वं **ब्रह्मणो न**, उपाधिसंबन्धेनौपचारिकं न संभवति। कुतः। **अम्बुवदग्रहणात्**। स्वच्छमम्बु दूरस्थितं सूर्यमंशैः किरणैः संबद्धं गृह्णाति, नतु त्रिवृत्करणे समवायितया प्रविष्टं ज्योतिर्गृह्णाति, इह तूपाधिभूतं मनःप्राणादिकमस्वच्छम्, ब्रह्म च समवायिव्यतिरिक्तं व्यापकतया संबद्धम्, अतो गृहीतुं न शक्नोतीत्यम्बुवदग्रहणादित्यर्थः ॥ १९ ॥

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥

ननु यद्येकदेशिमतीयोऽविरोधप्रकारो न संभवी, तदा विरोध एव स्थिर इत्याकाङ्क्षायामुपाधिसंबन्धोपगमेपि सिद्धान्तरीत्या समाधत्ते **वृद्धी**त्यादि । यथा व्यापकस्याप्याकाशस्य करकाद्यन्तर्भावाद्वृद्धिह्रासभाक्त्वम्, एवं ब्रह्मणेऽपि व्यापकस्यैव मनःप्राणाद्युपाध्यन्तर्भावात् सर्वकामादिधर्मवत्त्वम् । न चैवं सति सर्वकामत्वादीनामौपचारिकत्वानपायात् किमेकदेशिदूषणेनेति शङ्क्यम् । करकाद्यन्तःप्रविष्टाकाशवृद्धिह्रासयोः करकादिप्रवेशव्यङ्ग्याकाशधर्मत्वेनैव लोके भूयानवकाशः, अल्पोऽवकाश इति प्रत्ययात्, वेदेऽपि यथावकाशं ग्रहान् यथावकाशं प्रतिग्रहानिति चयने ग्रहप्रतिग्रहसंज्ञाकानामिष्टकानाम्, पूर्वोपहितेष्टकामध्ये योऽवकाशः, तत्रोपधानविधान आकाशस्यैव यावन्मितत्वबोधनाच्च तत्तदुपाधिव्यङ्ग्याकाशधर्मत्वमेव निश्चीयते, एवं श्रुत्युक्तानां सर्वकामत्वादीनां तत्तदुपाधिव्यङ्ग्यब्रह्मधर्मतयैव निश्चयेनैकदेशिदूषणस्य सार्थक्यात् । नन्वेवं निर्बन्धेन सर्वकामत्वादीनां ब्रह्मधर्मसाधने कावश्यकतेत्यत आह **उभयसामञ्जस्या**दिति । निर्धर्मकसधर्मकबोधकवाक्यद्वयसामञ्जस्यात् एवं निर्बन्धेन साध्यते, अन्यथा एकतरवाक्यमबोधकत्वादसमञ्जसमेव स्यात्, अतस्तथेत्यर्थः ॥ २० ॥

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

एवं सर्वकामादीनामुपाधिसंबन्धेनाभिव्यज्यमानत्वे तेषां नैमित्तिकत्वेनागन्तुकत्वमेव, न तु नैसर्गिकत्वम्, तथा सति सृष्टिप्राक्काले तद्धर्मरहितमेव सेत्स्यतीत्याशङ्कायां तन्निवर्तनाय हेत्वन्तरमाह **दर्शना**दिति । चोऽनुक्तसमुच्चायकः । 'उभयसामञ्जस्यादेव'मिति पदद्वयं पूर्वसूत्रादनुवर्तते । तथा च वैश्वानरविद्यायां प्रादेशमात्रस्याभिविमानत्वपुरुषत्वपुरुषविधत्वपुरुषान्तःप्रतिष्ठितत्वानाम्, काठके च 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' 'आसीनो दूरं व्रजति' इत्यादिविरुद्धधर्माणां केवलं ब्रह्मैव प्रकृत्य दर्शनात् । अग्रे च 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थित'मिति निगमनदर्शनात् । अवतारदशायामुलूखलबन्धनादिषु तत्कालीनानां तथा प्रत्यक्षात् । इदानीं पौराणेन वाक्येन तत्र तथा निश्चयाच्च । एवं यादृक् श्रुतौ प्रत्यक्षादिना च प्रतीयते, तादृशमेव ब्रह्म । तत्र हेतुः **उभयसामञ्जस्या**दिति । अन्यथा एकस्मिन्नेव वाक्य उपदिष्टानां धर्माणां मध्य एकतरबाध एव स्यात् । अत एवं श्रौतात् प्रत्यक्षाच्च दर्शनात् वस्तुस्वभावत एवाविरोधसिद्धौ तेषां धर्माणां नैसर्गिकत्वमेवेति विरुद्धधर्माश्रयत्वेन ब्रह्मप्रतीतौ न कश्चिद्विरोध इत्यर्थः ॥ २१ ॥

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥ २२ ॥

एवं सर्वप्रकारैः परिहृतेपि विरोधे यः शंकाढ्यमानी वस्तुनस्तादृक्स्वभावमन्वानोऽस्थूलादिवाक्यैः सर्वविशेषनिषेधादविरोधं न मन्यते, तदर्थं युक्त्या विरोधं परिहरति **प्रकृते**त्यादि । **प्रकृते** गार्ग्युपक्रान्ते प्रपञ्चे गार्गीप्रश्ने वा य एतावन्तः परिदृश्यमाना यावन्तो लौकिकाः पदार्थास्तेषां धर्म **एतावत्त्वम्**, तद्धि यतः प्रतिषेधति, ब्रह्मण्यस्थूलादिवाक्येन निषेधति, अतो ब्रह्मणि जगद्वैलक्षण्यमेवास्थूलादिवाक्यैः प्रतिपाद्यते, अतो वेदोक्ता धर्मा न तेन निवारयितुं शक्यन्ते । ननु कुत एतदवगम्यते, तत्राह **ततो ब्रवीति च भूयः** । ततो निषेधानन्तरं तस्मिन्नेव वाक्ये तमेव धर्मं भूयो बाहुल्येन पुनर्वा ब्रवीति, यथा अस्थूलादिवाक्ये 'अवागमनः अमुख'मित्यनेन प्रशासनकारणं निषिध्य, तदनन्तरं 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठत' इति वक्ति, तथा सर्वधर्मनिषेधमुखेन वेदनं निषिध्य, 'एतद्विदित्वा' इत्यादिना तद्वक्ति, एवं 'न तदश्नोति किञ्चन' इति व्याप्तिं निषिध्य, 'आकाश ओतश्च प्रोतश्चे'त्यनेन तां वदति । एवमेव तैत्तिरीयेपि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति पूर्वार्धे निषिध्य, 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इति तदुत्तरार्धे वदति । चकारात् क्वचिदेकोपाख्याने वक्ति, क्वचिद्विभागे साकाङ्क्ष एकवाक्ये वक्तीति संगृह्यते । अतः साध्ये कर्मणि षोडशिग्रहणाग्रहणवत् नित्ये ब्रह्मणि प्रशासितृत्वाप्रशासितृत्वयोर्ज्ञेयत्वाज्ञेयत्वयोर्विकल्पस्य वक्तुमशक्यतया वाक्यस्याबोधकताप्रसक्तौ तन्निवृत्त्यर्थं लौकिकं निषेधति, अलौकिकं ब्रूत इति व्यवस्था मन्तव्या । स्थूलत्वादीनां लौकिकानामेव निषेधदर्शनात् । ईदृशप्रशासितृत्वादीनामलौकिकानामेव विधानदर्शनात् । अतो ये वस्तुस्वभावतो विरुद्धधर्माश्रयत्वं न मन्वते, त एवं श्रुत्यक्षराण्यनुसन्धाय लौकिकालौकिकविभागरूपया युक्त्या विरोधपरिहारमवगच्छन्त्वित्यर्थः ॥२२॥ इति षष्ठमम्बुवदग्रहणादित्यधिकरणम् ॥६॥

तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥ (३-२-७.)

अत्र यद्यपि शब्दबलेन विरोधः परिहृतः, तथापि शब्दस्यार्थाधीनत्वादर्थबलेन विचारो ज्यायान्, अर्थस्तु ब्रह्म न केनापि दृष्टम्, शब्दस्तूभयथापि वक्ति, 'न चक्षुषा गृह्यते' 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्', 'नापि वाचा' 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति', 'अप्राप्य मनसा सह' 'मनसैव तदाप्तव्यम्', 'अरूपमव्ययम्' 'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासः', 'अकाममाप्तकामम्' 'सर्वकामः', 'अगन्धमरसम्' 'सर्वगन्धः सर्वरसः', 'अपाणिपादः' 'विश्वतश्चक्षु'रित्यादि । 'निर्गुणश्च' 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि । अतः शब्देन न कश्चिन्निश्चय इति तानि सर्वाण्येवात्र विषयः । तद्दर्शनादर्थस्य द्वैरूप्यं प्राप्तम्, तद्युज्यते न वेति संशयः । तत्र पूर्वपक्षमाह तदित्यादि । **तत्** ब्रह्म **अव्यक्त**मेव भवितुमर्हति । कुतः । **आह हि** । 'स एष नेति नेत्यात्मा' 'अगृह्यो नहि गृह्यते' इति । 'न हि गृह्यते' इत्यनुभवसाक्षिकं प्रमाणं श्रुतिराह । न हि केनचिच्चक्षुषा मनसा वा ब्रह्म दृष्टमस्ति । सर्वरूपत्वे तु सर्वैरेव द्रष्टुं शक्येत । अतो धर्ममुखेन निरूपकाणामनुभवविरुद्धत्वादुपचरितार्थत्वमेव युक्तम्, श्रुत्यनुभवाभ्यामव्यक्तत्वेनैव ब्रह्मणः सिद्धत्वादिति प्राप्ते ॥२४॥

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥

समादधानः सिद्धान्तमाह **अपीत्यादि** । **अपिः** पूर्वपक्षिगर्हायाम्, मूर्खः पूर्वपक्षी, अबुद्ध्वा लौकिकप्रत्यक्षेण श्रुत्यर्थव्यवस्थापनात् । **संराधने** सम्यक् सेवायां तोषे जाते ब्रह्म दृश्यते । कुतः । **प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्** । कैवल्योपनिषदि 'श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगादवेही'ति शिवाकारस्य भगवतो मनसा ज्ञानं संपादयेति आश्वलायनं प्रति ब्रह्मणोक्तम् । तथा काठके मुण्डके च 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' इत्यङ्गीकारहेतुकं तनुविवरणमुक्तम् । तच्च तद्विषयं चाक्षुषं गमयति । तथा मुण्डक एव 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्' इति, 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इति च श्रुतिः प्रत्यक्षा । गीतायां 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन, ज्ञातु द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप' इति स्मृतिरनुमानम्, ताभ्याम् । यद्वा । 'अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि' इति संराधकस्य प्रत्यक्षम्, ध्रुवादिभ्यश्चानुमानम्, ताभ्यां वार्थः । तथा च श्रुतिस्मृतिभ्यां स्मृत्युक्तप्रत्यक्षानुमानाभ्यां वा साधनसंपादितसम्यक्प्रत्यक्षादर्थस्वभावेऽवधारिते तद्बलादेव द्विविधवाक्याविरोधनिर्णय इत्यर्थः ॥ २४ ॥ इति सप्तमं तद्व्यक्तमाह हीत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥ २५ ॥ (३-२ ८.)

अत्र संराधकप्रत्यक्षानुरोधेन ब्रह्मस्वभावो निर्धारयितुं शक्यो न वेति संशये, पूर्वपक्षमाह **प्रकाशादीत्यादि** । श्रुत्या संराधकप्रत्यक्षेण च ब्रह्मस्वभावो न निर्णेतुं शक्यः । उभयोरपि नानाविधत्वबोधकत्वात्, एकस्य च वस्तुनोऽनेकविधत्वासंभवात् । अतो वस्तुशक्त्यैव निर्णयो युक्तः, **प्रकाशादिवत्**, प्रकाशजलसुवर्णवत् । यथा प्रकाशः सूर्यचन्द्रमणिषूष्णशीतानुष्णाशीतस्पर्शभाक्, जलं च हिमतप्तकुण्डादिषु, सुवर्णं च नानावर्णं तत्तदाकरेषु, तथापि न तत्र नानाविधाः स्पर्शा नानाविधं रूपं वाङ्गीक्रियते, तेजस्त्वादिस्वभावहानिप्रसङ्गात्, किन्तु एकं वास्तवम्, अन्यदौपाधिकम्, तद्वत्, **अवैशेष्यम्**, ब्रह्मणोऽपि निर्विशेषत्वमङ्गीकार्यम् । उष्णं तेजः, शीतं जलमितिवत्, निर्विशेषं ब्रह्मेति लोकप्रसिद्धेः । चकारात् 'अगृह्यो नहि गृह्यते' इति श्रुतेः । ननु संराधकप्रत्यक्षस्य तादृशश्रुतेश्च तर्हि का गतिरित्यत आह **प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्** । तपःप्रणिधानादिकर्मणि प्रकाशः प्रत्यक्षम्, चकारादप्रत्यक्षमन्यथाप्रत्यक्षं च, **अभ्यासा**दनेकवारम् । तथा च, यद्येकवारमेकधैव च प्रकटः स्यात्, तदा तद्रूपं तथेत्यङ्गीक्रियेतापि, नतु प्रतिभक्तं प्रतिकर्म चान्यान्यरीत्या प्राकट्ये । अतः प्रकाशोपि कृत्रिम एव, दीपप्रकाशवत् । यदि नित्यः स्यात्, सर्वदा स्यात् । अतो न भक्तप्रत्यक्षेण निर्णय इत्यर्थः ॥ २५ ॥

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

तत्र श्रुत्यापि न निर्णय इति वक्तुं फलितमाह **अत इत्यादि** । **अतोऽनन्तेन तथा**, अभ्यासादनेकरूपेणाविर्भावः । स च निमित्तव्यतिरेकेण नोपपद्यते, अतो 'यद्यद्धिया त उरगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाये'ति तृतीयेस्कन्धे स्मरणात् भक्तभावनैव तत्र निमित्तम् । **हि** नैमित्तिकत्वाद्धेतोर्न तद्ब्रह्म, किन्तु **लिङ्गं** विग्रह एव भवितुमर्हतीति न भक्तप्रत्यक्षेण निर्णयः । सविशेषश्रुतिश्च तदनुवादिकेति न तयापि निर्णय इत्यर्थः । तस्मात् सर्वागोचरमेव ब्रह्मेति प्राप्तम् ॥ २६ ॥

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

तत्राह **उभयेत्यादि** । तुशब्दः पूर्वोक्तं लौकिकयुक्त्यनुसारेण श्रुत्यर्थनिर्णयपक्षं व्यावर्तयति । ब्रह्म उभयरूपं नानाकारमनाकारं सविशेषं निर्विशेषं चेत्यादि । कुतः । **उभयव्यपदेशात्** । निर्गुणत्वेनानन्तगुणत्वेन चेत्याद्युभयरूपेण व्यपदेश उभयव्यपदेशस्तस्मात् । तथा च जन्माद्यधिकरणे 'शास्त्रयोनित्वा'दित्यनेन शास्त्रगम्यत्वमेव निर्णीतम्, अविरोधे च शास्त्राविरुद्धा एव युक्तय आदर्तव्या इति, एवं च निर्विशेषस्वभावत्वं यथा 'अगृह्या'दिश्रुतिमूलकम्, एवमनन्तरूपत्वं 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दित्यादिश्रुतिमूलकम् । किञ्च, अस्थूलादिवाक्ये धर्मान्निषिध्य, अग्रे 'आकाश ओतश्च प्रोतश्चे'ति कार्यगुणजनकानन्तगुणवत्तां बोधयति । 'अगृह्यो न हि गृह्यते' इत्यत्रापि 'स वायमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इति प्रागुच्यते, 'स वा एष महानज आत्मा अन्नादो वसुदान' इति चानन्तरम्, एवमन्यत्रापि यत्र यत्र निषेधति, तत्र तत्र तद्वत इति प्रागेव दर्शितम् । अतः श्रुत्यैव ब्रह्मणस्तादृशस्वभावनिश्चयादुभयरूपमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमित्यर्थः । ननु यद्युभयलिङ्गं ब्रह्म, तदा सर्वेषां संराधकानां तथैव प्रकाशेत, नतु कस्यचित्कथञ्चिदन्यस्यान्यथेत्यत आह **अहिकुण्डलव**दिति । यथा सर्प ऋजुरनेकाकारः कुण्डलश्च स्वेच्छया भवति, तथा ब्रह्मापि तं तं प्रति तत्तत्फलदित्सया तथाविर्भवतीति न दोष इत्यर्थः । तस्मात् श्रुत्या तादृक्स्वभावं विरुद्धधर्माश्रयं ब्रह्मेति न कापि श्रुतिरुपचरितार्थेति सिद्धम् ॥ २७ ॥ इत्यष्टमं प्रकाशवच्चेत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥ (३-२-९.)

ननु ब्रह्मस्वरूपविचारेणोपचाराभावाद्विरुद्धधर्माश्रयत्वाद्विरोधाभावः साधितः, तथापि धर्मस्वरूपविचारेण न सिध्यति, धर्माः किं ब्रह्मणो भिन्नास्तत्कार्यरूपाः, आहोस्वित् ब्रह्मैवेति संशयस्यानपेतत्वात्, तत्र लोके पटीयानां रूपादीनां धर्माणां पटसमवेततया तत्कार्यत्वदर्शनेन धर्मनित्यतायां प्रमाणाभावात् स्वाभाविकत्वमात्रेणाकाशत्वादिवन्नित्यत्वकल्पने गौरवापत्तेरद्वितीयश्रुतिविरोधापत्तेश्च ब्रह्मधर्माः प्रपञ्चवत् कार्याः, ततश्च कारणभूतं ब्रह्म सर्वकल्पनारहितमेव सेत्स्यतीति प्राप्ते । उच्यते । **प्रकाशाश्रयेत्यादि** ।

वाशब्दो धर्मीणां कार्यत्वपक्षं व्यावर्तयति । **प्रकाशाश्रयवत्**, प्रकाशस्याश्रयाः प्रकाशाश्रयाः सूर्यादयस्तद्वत् । ते यथा प्रकाशेन विनाभूताः कदापि न सन्ति, प्रकाशस्य ततः पृथक् स्थित्यभावात्, तत्स्वाभाविकधर्मत्वात्, तदविभक्तरूपेण तदाधारतया स्थितत्वाच्च । नापि स सूर्य एव, भिन्नप्रतीतेर्विद्यमानत्वाच्च । अतः प्रकाशरूपं वस्तु स्वाश्रयाद्भिन्नाभिन्नमेव निसर्गसिद्धम् । एवं ब्रह्मधर्मा अपि ब्रह्मणः सकाशाद्भिन्नाभिन्ना इति मन्तव्यम् । तथा च यथा, अमित्रो न मित्रम्, न मित्राभावः, किन्तु मित्रविरुद्धसंपत्, एवमत्राप्येतयोरभेदो न भेदः, न भेदाभावः, किन्तु भेदविरुद्धसंपदिति धर्माणां न कार्यत्वम्, नापि ब्रह्मत्वम्, किन्त्वेवं ब्रह्माभिन्नत्वमित्यर्थः । अस्मिन्नभेदे भेदविरुद्धा संपत्तु भावरूपत्वे सत्याश्रयाविनाभूतत्वं तद्विहायावर्तमानत्वमिति यावत्, तादृशी बोध्या । एतादृशदृष्टान्ताङ्गीकृतौ हेतुमाह **तेजस्त्वादिति** । 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' 'भारूप' इत्यादिषु ब्रह्मणः 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाती'त्यादौ धर्मस्य तेजोवाचकशब्दवाच्यत्वात् । तथा च प्रकाशकस्वभावत्वात् सूर्यतत्प्रकाशयोर्यथा भेदविरुद्धसंपदभेदः, तथा ब्रह्मतद्धर्मयोरपीत्यर्थः । अतोऽपूर्ववदेव भक्तैर्दृष्टत्वात् श्रुतावपि तथैव श्रुतत्वात् नात्र युक्त्यन्तरापेक्षेति विरुद्धधर्माश्रयमेव ब्रह्म, न तु निर्धर्मकमेवेति ॥ २८ ॥

पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥

एकदेशिमतेनापि सर्वसमाधानमाह **पूर्ववद्वेति**। **वाशब्दः** पक्षान्तरे । 'अरूपवदेव ही'ति पञ्चसूत्र्यां यादृशमेकदेशिना सिद्धान्तितम्, प्रपञ्चविलक्षणत्वाद्ब्रह्म पूर्वं निर्धर्मकं समवायित्वेपि न तावन्मात्रम्, किन्तु ततोप्यतिरिक्तं सर्वं चिन्मात्रम्, यदाविर्भवति, तदा व्यवहारविषयं भवति, न चेदव्यवहार्यमेवेति, तादृशं वा ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् । ततस्तदेव स्वधर्मरूपेण भवति, तदनु क्रियादिरूपेण प्रपञ्चरूपेण च भवतीति । एतावताप्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः सर्ववेदार्थस्य च सिद्धेः । तादृशस्य कथं सर्वभावेन प्राकट्यमित्यत्र लौकिकयुक्तिस्तु नापेक्ष्या । ब्रह्मणो वेदैकसमधिगम्यत्वात्, 'नैषा तर्केण मतिरापनेये'ति निषेधाच्च । अत एव पूर्वमतेपि न दोषलेशशङ्का । एवमस्मिन्नधिकरणे उपपत्त्योत्पत्त्या च विचारद्वयम् । तत्र पूर्व आचार्यसंमतः । तत्र 'अनुच्छित्तिधर्मे'ति धर्मानुच्छित्तिबोधकस्य पदस्याञ्जस्यात् । द्वितीयस्त्वेकदेशिसंमतः । तेनानुच्छित्तिधर्मपदस्याविनाशिपदव्याख्यानत्वाङ्गीकारात्, परं सोङ्गीकारो विशेषप्रतिपत्तिराहित्यादगतिकगतिरिति शिथिलः । तथा चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः तत्राप्याञ्जस्यान्मध्यमाधिकार्यर्थं सोपि व्यासपादैः संगृहीत इति बोध्यम् ॥ २९ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

एकदेशिमते उपपत्त्यन्तरमाह **प्रतिषेधादिति** । 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मे'ति प्रतिषेधात् । अत्रैकमेवेत्यवधारणादेवेतरनिषेधे सिद्धे पुन'रद्वितीय' इतिपदं धर्मनिषेधस्यैव सूचकम् । अन्यथा तद्वैयर्थ्यापत्तेरिति । इयमपि युक्तिः शिथिलैव । 'एके मुख्यान्यकेवला' इत्येकपदस्य नानार्थतया मुख्यार्थग्रहणे एवकारस्य मुख्यान्तरव्यावर्तकत्वशङ्का स्यादिति तन्निवर्तकतयाप्यद्वितीयपदवैयर्थ्यपरिहारादिति । तस्मादिदमेकदेशिमतमेवेति निश्चयः । चकारः सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासमुच्चायकः । तस्मान्न ब्रह्मणि कश्चिद्विरोध इति सिद्धम् ॥ ३० ॥

इति नवमं प्रकाशाश्रयवद्वेत्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३१ ॥ (३-२-१०.)

पूर्वाधिकरणेषु धर्मविरोधं परिहृत्येदानीं धर्म्यन्तरविरोधः प्रसङ्गादाशङ्क्य परिहर्तव्यः । तत्र यथा ज्ञेयाद्ब्रह्मणः फलरूपमुत्कृष्टम्, एवं पूर्वप्रतिपादितात्फलरूपादप्यन्यदुत्कृष्टमस्ति न वेति सेत्वादिवाक्यैस्तद्विरुद्धैः 'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः' इत्यादिवाक्यैश्च संदेहे, पूर्वपक्षमाह **परमित्यादि** । अतोपि ब्रह्मणः परमुत्कृष्टमन्यत्फलमस्ति । कुतः । **सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः** । 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृति'रिति दहराधिकरणे ब्रह्मत्वेन साधितस्याप्यात्मनः सेतुत्वव्यपदेशात्, सेतुर्हि फलप्राप्तौ साधनम्, न तु फलम् । एतेन देशपरिच्छेदसिद्ध्या अपरिच्छिन्नता निवर्तते । तथा 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश' इत्युन्मानव्यपदेशात्, कालपरिच्छेदासिद्ध्या । तथा, दहरविद्यायामेव 'उभेऽस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' इत्यनेनाधाराधेयभावसंबन्धव्यपदेशात् वस्तुपरिच्छेदसिद्ध्या । तथा, 'य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' 'य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इतिस्थानभेदेन स्थितयोः 'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूप'मित्यादिना धर्मातिदेशमुखेन भेदव्यपदेशात् स्वरूपपरिच्छेदसिद्ध्या । अतो देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमन्यत् किञ्चिदस्तीति प्राप्तम् ॥ ३१ ॥

सामान्यात्तु ॥ ३२ ॥

तत्रोत्तरमाह । तुशब्दः सेत्वादिहेतुभिः परत्वनिराकरणपक्षं व्यावर्तयति । **समानस्य** भावः सामान्यं तस्मात् । संसारसागरोत्तारणाय सेतुत्वम्, निर्लेपत्वायाकाशत्वम्, कामाभिदोहाय च चतुष्पात्त्वम्, अमृतत्वाय षोडशकलत्वम्, अदुर्लभत्वाय संबन्धः, दिव्यत्वायातिदेशः । गुणार्थमेव एवं वचनम्, न दोषार्थम् । अतो न 'ततोऽन्यत्पर'मिति शङ्कोत्पादनीया । तस्मान्न पूर्वोक्ता दोषाः ॥ ३२ ॥

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥

नन्वन्यसामान्येन कथनस्य किं प्रयोजनम्, अत आह **बुद्ध्यर्थ** इत्यादि । तथा व्यपदेशो बुद्ध्यर्थः, बुद्धिरुपासना, सैवार्थः प्रयोजनं यस्य तादृशः । यथा भूतादीनां पादत्वज्ञानमुपासनार्थम्, एवं तत्तद्गुणवत्त्वज्ञानार्थमेवं कथनमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥

ननु यदि स्वरूपभेदो नास्ति, तदा स एवायमित्यतिदेशेपि हिरण्मयत्वादिबुद्धिः संपत्स्यत इति धर्मातिदेशस्य किं प्रयोजनं अतः स्वरूपभेदार्थमेव धर्मातिदेश इति शङ्कायां स एवेत्युक्तसमानधर्मवत्त्वज्ञानं न भवतीति बोधनाय हेतुं दृष्टान्तं चाह **स्थानेत्यादि** । धर्म्यैक्येपि स्थानविशेषप्राप्त्या न समानधर्मवत्वं दृश्यतेऽन्यत्रेत्यत्रापि तथात्वं भविष्यतीति शङ्कावारणाय धर्मातिदेशः कृत इत्यर्थः । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह **प्रकाशादिवदिति** । 'यदादित्यगतं तेज' इति वाक्यात् यथैकमेव तेजः सूर्यचन्द्राग्निषु न समानप्रकाशम्, यथा चैकोपि काल उत्तरायणदक्षिणायनयोर्न समानधर्मेति, तथात्र न ज्ञेयमित्येतदर्थमतिदेशः । अतो नानेन स्वरूपभेदापादनं कर्तुं शक्यमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

इत आरभ्य प्रभूणां लेख इति प्रतिभाति ।

उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

इतोऽन्यस्य परत्वाभावे हेत्वन्तरं सूत्राभ्यामाह । सत्यज्ञानादिधर्मवैशिष्ट्येनाद्वैतश्रुत्या चैतस्यैव सर्वोत्कृष्टत्वमुपपद्यते । ततोऽयमेव परः, नेतोऽन्यः पर इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

यथा सेत्वादयः श्रुत्योच्यन्ते, तथा 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इति समाभ्यधिकौ प्रतिषिध्येते । तस्मादपि तथेति सेत्वादीनां नेतरपरत्वबोधकतेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

अविरोधप्रकरणमुपसंहरन् फलितमर्थमाह **अनेनेत्यादि** । **अनेन** ब्रह्मणोऽन्यस्य परत्वनिरासेन । **आयामशब्दादिभ्यः।** **आयामो** दैर्घ्यं व्यापकत्वमितियावत्, तद्बोधकाः शब्दा आयामशब्दाः, व्यापकत्वबोधकानि श्रुतिवाक्यानि, तान्यादीनि येषां तद्गुणसंविज्ञानः । तेभ्यः । 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' 'ज्यायान् दिवो ज्यानाकाशात्', 'सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्, सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यो ब्रह्मणः सर्वगतत्वं सिध्यति, अन्यस्य परत्वानिरासे तु न सिध्येदित्यर्थः ॥ ३३ ॥ इति दशमं परमतः सेतून्मानेत्यधिकरणम् ॥ १० ॥

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥ (३-२-११.)

एवमविरोधात् सर्वोत्तमत्वनिरूपणेनोत्तमाधिकारिणां भजनीयत्वप्रयोजकं रूपमुक्त्वा अधुना तदितराधिकारिणां तदाह **फलमित्यादि** । अत्र ऐहिकामुष्मिकं फलं कर्मसचिवेदेवेभ्यो वा भगवतो वेति संशयः । तत्रैतेषां कर्मण्युद्देश्यत्वात्तेभ्य इति पूर्वपक्षः । तत्रेदमाह । **फलमै**हिकमामुष्मिकं वा यत्, तत्सर्वं**मतः** परमेश्वरादेव । कुतः । **उपपत्तेः** । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान'इतिश्रुतिर्हि निरङ्कुशं सर्वेशितृत्वं ब्रह्मण्याह । अतः सर्वं भगवत एवेति भगवानेव सर्वफलदाता, न ह्यन्यस्य वस्त्वन्यो दातुं समर्थ इति ॥ ३८ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

किञ्च, 'स वा एष महानज आत्मा अन्नादो वसुदान' इति साक्षादपि फलदातृत्वस्य श्रुतत्वादपि तथेत्यर्थः । पूर्वसूत्रे ईशितृत्वं फलदान उपपत्तित्वेन गृहीतः, इह तु श्रुतत्वं साक्षादेव हेतुरुक्त इति विशेषः ॥ ३९ ॥

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥

अत्र फलदाने मतान्तरमाह **धर्ममित्यादि** । कामनावतो 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिभिः फलं श्रूयते । किञ्च, ईश्वरो न स्वतन्त्रः फलदाने । यदि स्वतन्त्रः स्यात्, तर्हि विधिनिषेधानर्थक्यमेव स्यादिति कर्मणः फलभवन उपपत्तिः । अतः श्रुत्युपपत्तिभ्यां हेतुभ्यां धर्मं फलकारणं जैमिनिराचार्यो मन्यत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

अत्र सिद्धान्तमाह **पूर्वमित्यादि** । तुशब्दोऽस्वातन्त्र्यवैषम्यनैर्घृण्यशङ्काव्युदासार्थः । **पूर्वम्** ईश्वरं फलहेतुं बादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः । **हेतुव्यपदेशात्** । 'एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति' 'एव उ एवासाधु कारयति तं यमधो निनीषति' इति श्रुतौ तत्तत्फलदित्सया तत्तत्कर्मकारयितृत्वश्रावणेन कर्म प्रत्यपीश्वरस्यैव हेतुत्वकथनात् । तथा च विधिनिषेधकामनादीनां व्यापारत्वमेवेति न विध्याद्यानर्थक्यम्, आत्मसृष्टेश्च न वैषम्यादिति स एव फलदातेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ इत्येकादशं फलमत इत्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥ (३–३–१.)

पूर्वपादे जडजीवधर्मतुल्यतया प्रतीयमानानां सर्वकामत्वादीनां धर्माणां जडजीवधर्मत्वनिराकरणेन ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वस्थापनेन प्रपञ्चविलक्षणशुद्धसच्चिदान्दविग्रहाभिन्नत्वं ब्रह्मणो निरूप्य, अस्मिन् पादे उपासनार्थं तत्तदुपासनाप्रकरणे पठिताः परस्परविरुद्धा ब्रह्मगता एव धर्मा उपसंहारार्थं विचार्यन्ते । तदर्थं विद्यैक्यं विचार्यम् । तच्च वेद्यैकाधीनमिति प्रथमं वेद्यैक्यं विचार्यते । तत्र अथर्वणोपनिषत्सु कचिद्गोपालस्वरूपम्, कचिद्रामस्वरूपम्, कचिन्नृसिंहस्वरूपं च, ब्रह्मोच्यते । तदत्र ब्रह्म विषयः । रूपभेदेन भिद्यते न वा, उपासनाविषयाणामब्रह्मत्वमेव वेति संशयः । तत्र यद्युपासनाविषयाणामौपाधिकत्वादविद्याकल्पितत्वं चेदङ्गीक्रियते, तदा सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'ति प्रकृत्य, 'अणोरणीयान्महतो महीया'नित्यादिमन्त्रैर्विरुद्धधर्माश्रयेऽशरीरेऽप्राकृततनौ ब्रह्मणि प्रतिपादितस्य सर्वश्रुतिसमन्वयस्य विरोधप्रसङ्गात् तदन्यथाज्ञाने 'योऽन्यथा सन्तमात्मनमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा' इति श्रुत्युक्तापराधप्रसङ्गाच्चोपासनाविषयाणामब्रह्मत्वं तु न शङ्क्यवचनम् । अतो यथा आमिक्षाधिकरण आमिक्षा वाजिनात्मकधनविरलद्रव्ययोर्विश्वेदेववाजिनोर्देवतयोश्च भेदेन द्रव्यदेवतात्मकयागरूपभेदाद्यागभेदः पूर्वतन्त्रे सिद्धः, तथात्रोपासनासु वेद्यस्यैकरूपत्वाद्वेद्यानां च धर्माकारादिभेदात् तत्र तत्र ' तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ' इति रामपदेन 'असौ परं ब्रह्माभिधीयत' इत्यादिश्रावणाद्ब्रह्मभेद एव युक्तः । यदि चैवमभ्युपगमे ब्रह्मानेकत्वप्रसङ्गात् ' एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ' इति श्रुतिविरोधो विभाव्यते, तदा तु धर्मविरोधेन ब्रह्मैक्यस्योपगन्तुमशक्यत्वादुक्तपक्षद्वयेपि दोषाच्चोभयतः पाशारज्जुरिति प्राप्तम् । तत्राभिधीयते । **सर्ववेदान्तप्रत्ययमित्यादि** । सर्वैरनेकरूपनिरूपकै वेदान्तैः प्रत्ययः ज्ञानं यस्य, तादृशमेकमेव ब्रह्म, न तु प्रतिवाक्यं भिन्नम् । कुतः । **चोदनाद्यविशेषात्** । चोद्यतेऽनेन इति चोदना विधिवाक्यम् । आदिपदेन फलसंयोगरूपाख्याः । तथा च चोदना च आदी च तत्समाहारश्च चोदनादि । चोदना आदिः यस्य तदपि चोदनादि । चोदनादि च चोदनादि च चोदनादी, तयोरविशेषश्चोदनाद्यविशेषः तस्मात् । पूर्वतन्त्रे शाखान्तराधिकरणे केवलानां रूपादीनां व्यभिचारित्वं हृदिकृत्य, ' एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषा'दिति सिद्धान्तसूत्रे फलसंयोगरूपचोदनाख्यात्महेतुचतुष्टयसाधारण्येन सर्वशाखोक्तकर्मण एक्यं साधितम्, तथात्रापि तद्दृष्टान्तेन ब्रह्म तद्विधयोरैक्यं साध्यते । यथैकस्मिन्नग्निष्टोमे शाखाभेदेपि 'सर्वत्र अग्निष्टोमेन

यजेत ' इत्येव चोदना, फलमपि तदेव द्रव्यदेवतात्मकम्, रूपमपि तदेव, सैवाग्निष्टोम इत्याख्यापीति सर्वशाखासूक्तोप्यग्निष्टोमो न भिद्यते, एवमत्रापि सर्वेषु वेदान्तेषु ब्रह्मत्वेनैव उपासना विधीयते, साक्षात् परंपरया च मोक्ष एव फलमुच्यत इति रूपचोदनाख्यानां फलसंयोगस्य च साधारण्यात्, ब्रह्म तदुपासना च न भिद्यते इत्यर्थः । यद्यपि ब्रह्मणस्तत्साक्षात्कारस्य च न साक्षात्पुरुषव्यापारविषयत्वम्, तथापि साक्षात्कारसाधनभूतप्रमाणसंपादनद्वारा तादृशवृत्तिसंपादनद्वारा च चोदनासंबन्धसत्त्वात्, तथा पुरुषव्यापारस्यापि संभवात् न हेतोः स्वरूपासिद्धत्वमितिज्ञेयम् । न च विज्ञानद्वारा ब्रह्मणि हेतुसंसर्गसाधनापेक्षया साक्षाद्धेतुसंसर्गवतो विज्ञानादिशब्दवाच्यस्योपासनस्यैव पक्षत्वमङ्गीकृत्य सूत्रव्याख्यानमुचितमिति वाच्यम् । पक्षवाचकविज्ञानादिपदाध्याहारापेक्षया पूर्वपादान्तिमसूत्रे ' पूर्वं तु बादरायण ' इति पूर्वपदेन परामृष्टस्य ब्रह्मणः सन्निहिततया तत्परामर्शस्य लघुत्वेन ज्यायस्त्वात् । विद्याविचारस्य वेद्यविचारायत्तत्वाच्चेति ॥ १ ॥

भेदान्नेतिचेदेकस्यामपि ॥ २ ॥

ननु घनविरलत्वधर्मभेदेन द्रव्यस्य भेदः, आकारादिभेदेन देवतायाश्च भेदे यागभेदवदुपास्यानां तत्तद्धर्मभेदेन मिथोभेदात्, न, हेतुतावच्छेदकाभावे चोदनाद्यविशेषरूपो हेतुः पक्षे ब्रह्मणि, तदुपासने च न, तथा च हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात् न तेन विद्यैक्यस्य वेद्याभेदस्य वा सिद्धिरितिचेदित्याशङ्क्य समाधत्ते **एकस्यामपीति** सूत्रावयवेन । एकस्यामतिरात्रव्यक्तौ गृहीतषोडशिकायामगृहीतषोडशिकायाः सकाशाद्गुणाधिक्येन भेदेपि यथा नातिरात्राभिन्नयागत्वम्, ग्रहणाग्रहणयोरुभयोरपि तदेव कर्माधिकृत्य विधानात्, तथेहापि ब्रह्मैवाधिकृत्य तत्तद्धर्मवैशिष्ट्यावैशिष्ट्ययोरुक्तत्वान्न ब्रह्मणो भिन्नत्वम् । अतो ब्रह्मोपासनाभिन्नत्वं तत्तदुपासनासु । तथा च षोडशिग्रहणाग्रहणयोरतिरात्रधर्मत्ववदत्र तत्तद्धर्मवैशिष्ट्यावैशिष्ट्ययोरपि ब्रह्मधर्मत्वेन वेद्याभेदस्य विवक्षितत्वात् त्वदुक्तस्य भेदरूपस्य हेतोरेव व्याप्यत्वासिद्धत्वम्, रूपभेदो धर्मभेदात्, आमिक्षादियागवदिति साधने, न तद्भेदो धर्मभेदादतिरात्रवदिति दृष्टान्तेन हेतोः साधारणत्वात् । अतः सिद्धान्तहेतुर्निर्दुष्ट इत्यर्थः । एवं सूत्रद्वयेन वेद्यैक्यात् विद्यैक्यसाधन इदं सिद्धम् । यद्विद्यैक्ये सत्येकस्यां विद्यायामनुक्तानामपि गुणानामुपसंहारः कर्तुं युक्त इति । तत्रोपसंहारो नाम सामान्यतः प्राप्तस्य विषयविशेषे नियमनम्, तदत्र तत्तद्वाक्येऽनुक्तानां गुणानां तेन तेन हेतुना तत्तद्वाक्योक्ते विषये सत्तामनुसंधाय विशिष्टबुद्धौ विषयीकरणमिति बोध्यम् ॥ २ ॥

स्वाध्यायस्य तथात्वेन समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

ननु यागदृष्टान्तेन रूपाद्यभेदाद्विद्यैक्ये विद्यान्तरोक्तगुणोपसंहारो युक्त इति यदुक्तम्, तन्न युक्तम्, सर्वासु शाखासु ज्योतिष्टोमैक्येपि वाजसनेयक उक्ते तस्मिन्नेव यागे तैत्ति-

रीयोक्तधर्मोपसंहारस्य शिष्टैरकरणात्, एवमत्राप्यथर्वणोपनिषदुक्तोपासनासु वेद्यैक्येपि रूपान्तरे रूपान्तरधर्मोपसंहारो न कार्य इत्येव प्राप्यत इति व्यर्थं तदैक्यसाधनमित्याकाङ्क्षायां तदभावायात्र बाधकाभावविशिष्टस्यैव पूर्वोक्तहेतोरुपसंहारसाधकत्वमिति बोधयितुमुपसंहारबाधकान्याह **स्वाध्यायस्ये**त्यादि । **स्वाध्यायो** वेदः तस्य **तथात्वेन** एकस्मिन्नेव कर्मणि शाखाभेदेषु भिन्नभिन्नप्रकारताबोधकत्वेन **समाचारे तन्नियमः**, सम्यग्भूते ज्योतिष्टोमादिलक्षण आचारे तत्तदङ्गाचारनियमः, तावद्भिरेवाङ्गैर्यागसंपत्तावधिककरणस्य निष्प्रयोजनकत्वात् तावतामेवाङ्गानां करणम् । हेत्वन्तरमाह **अधिकाराच्चे**ति । सर्वेषां शाखिनां स्वस्वशाखोक्तप्रकारक एव कर्मण्यधिकारः, न परशाखोक्तप्रकारके । चकारेण 'यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिच'मित्याद्युक्तप्रायश्चित्तश्रवणं समुच्चीयते । अतोऽधिकारभेदात्प्रायश्चित्तश्रवणाच्च तत्तदङ्गाचारनियमः । अथवा शाखाभेदो न प्रसिद्धः, तदापि नियामकमाह **सववच्चे**ति । यथा सवा होमाः सप्तसूर्यादयः शतौदनपर्यन्ताः वेदान्तरोदितत्रेताग्न्यनभिसंबन्धात् आथर्वणोक्तैकाग्निसंबन्धाच्च आथर्वणिकानामेव कार्यत्वेन नियम्यन्ते, तथा विभागाभावदशायामपि तत्तद्वेदे विद्यमानायास्तस्यास्तस्याः शाखाया एव नियामकत्वात् तत्तच्छाखोक्तादन्यूनानतिरिक्तकरणनियमः । तथा च निरूपणप्रकारभेदाधिकारभेदप्रायश्चित्तश्रवणानि यथा कर्मणि तत्तदङ्गाचरणनियामकानि, तथा विद्यायामपि तानि नियामकानि । प्रायश्चित्तश्रवणस्थाने त्वत्र 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा'इति वाक्यम् । अतो बाधकाभावविशिष्टमेव वेद्यैक्यमुपसंहारप्रयोजकमिति पूर्वोक्तं नायुक्तमित्यर्थः ॥ ३ ॥

दर्शयति च ॥ ३ ॥

उक्तोष्टम्भार्थं प्रत्यक्षां श्रुतिं प्रमाणत्वेनाह **दर्शयती**ति । वेद्यैकत्वेन विद्यानामेकत्वं श्रुतिरेव दर्शयति, 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ती'ति । उपासनाप्रकारभेदेनोपास्यभेददर्शने दोषं च दर्शयति । 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवती'ति । उदित्यव्ययमप्यर्थकम् । अरमित्यल्पार्थकम् । तथा च यदा ब्रह्मण्यल्पमपि भेदं कुरुते, तदनन्तरं तस्य भेदकर्तुर्भयं भवतीत्यर्थः । अतो गुणभेदस्य स्वरूपभेदाप्रयोजकत्वादतीतपादे ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य सिद्धत्वेन 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मितिश्रुत्यानन्तरूपत्वस्य सिद्धत्वेन, 'अजायमानो बहुधा विजायते'इतिश्रुत्या बहुधा प्राकट्यस्य च सिद्धत्वेन यत्राधिष्ठानमनपेक्ष्य विरुद्धधर्माश्रयं ब्रह्म भक्तार्थमाविर्भवति, तत्र पूर्णो भगवान्, यत्र पुनः 'सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रय'इत्यत्र भगवद्गुणत्वेनोक्तं 'सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्ति'रित्यादौ प्रियमूर्तित्वेनोक्तं यत्सत्त्वं तस्य स्वचिकीर्षितकार्योपयोगिनीं मत्स्यकूर्मादिरूपां मूर्तिं विधाय अत्रायःपिण्डे वह्निवदव्यक्तरूपेणाविर्भवति, सोंऽशावतारः, यत्र पुनः प्राकृत एव शरीरे जीवे वाविशत्यव्यक्तरूपेण, स तु विभूतिरित्युच्यते । यद्यपि 'तन्मायाफलरूपेणे'त्येकादशस्क-

न्धोक्तरीत्या ब्रह्मकार्यरूपत्वात् प्रकृतेरपि ब्रह्मात्मकत्वम्, तथापि तत्र तत्कार्ये वा यत्र नालौकिकरूपेणावेशः, तत्र केवललौकिकरूपत्वमित्येवं भेदेपि ब्रह्मणः सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वमप्रत्यूहम् । एवं विद्यासु । मुण्डके ब्रह्मविद्यां प्रक्रम्य ततस्तस्यामेव परापरविभागमुक्त्वा, ऋग्वेदादिरूपा अपरा, 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यत'इति कथनात्परापरविभागे सत्यपि सर्वासां ब्रह्मविद्यात्वमप्रत्यूहम् ॥ ३ ॥

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत् समाने च ॥ ४ ॥

ननु वेद्यैक्यात्प्राप्ते सर्वत्र गुणोपसंहारे, समाचारसूत्रोक्तैर्निरूपणप्रकारभेदादिभिस्तन्निवारणं कृतमिति तद्विचारे यस्यकस्यचिद्बाधकस्य सत्ता यत्र काप्यायात्येवेति गुणोपसंहारो न क्वचिदपि प्राप्नोति, स चायुक्तः, श्रीरामोपनिषत्सु 'यो वै रामचन्द्रः स भगवान्, ये च मत्स्यकूर्माद्यवतारास्तस्मै वै नमो नमः' इत्यनेनोक्तावताररूपत्वस्य श्रीरामे, किञ्चाक्रूरस्तुतौ 'नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च' इति रघुवर्यत्वादेः श्रीव्रजनाथे उपसंहारदर्शनात्, एतद्दृष्टान्तेन मत्स्ये शरचापादीनां पुरुषरूपे लक्षयोजनामशृङ्गादीनां विरुद्धधर्माणामप्युपसंहारस्यापत्तेरित्याशङ्कायां उपसंहारप्रयोजकं वदन् समाधत्ते **उपसंहार** इत्यादि । उक्तस्थलादिषु य उपसंहारः, स त्वर्थस्य भगवल्लक्षणस्य वस्तुनः **अभेदा**दैक्यात् । तथा च येन तदनुधीयते, तेन कार्य इत्येतदर्थं तदनुसंदधता स्वोपास्ये तदवतारवत्त्वे तेन रूपेण तत्कार्यकर्तृत्वमुपसंहार्यम्, न त्वनेन रूपेण तद्रूपस्तत्कार्यकर्ता वेति, अन्येन तु तदपि न कार्यम् । तत्र दृष्टान्तः । **विधिशेषवत्समाने** चेति । विधिः शेषो येषामग्निहोत्रादीनाम्, ते विधिशेषाः, तद्वत् समाने तुल्ये, **चो**प्यर्थे । तथा च तेषामग्निहोत्रत्वादिलक्षणे धर्मे तुल्येपि यथा स्वस्वशाखोक्तस्यैव करणम्, नान्यधर्मोपसंहारः, तथात्रापि 'इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते' 'तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत' इति श्रावणाद्यो ब्रह्मस्वरूपप्राधान्येनोपास्ते, तेन कार्यः । यः पुनरवतारस्वरूपप्राधान्येनोपास्ते, तेन न कार्यः, यथा तत्तच्छाखिनाग्निहोत्रादिषु परशाखोक्तान्यङ्गानीत्यधिकारभेदादुभयसामञ्जस्यमित्यर्थः । यद्वा । पूर्वसूत्रेषु वेद्यैकेन विद्यैक्य उपसंहारबोधके चोक्ते, तदनुसंधानतो जातायामुक्ताशङ्कायाम्, 'उपसंहारोऽर्थाभेदा'दित्यनेन यथाधिकारमुपसंहारानुपसंहारौ कर्तव्यत्वेन बोधयित्वा, 'विधिशेषवत्समाने चे'त्यनेनोपसंहारप्रयोजनमाह । विधेः शेषो विधिशेषः, सोऽस्यास्तीति विधिशेषवत्, मतुबन्तम्, तादृशं सत् यत्समानमेकं तस्मिंश्चोपसंहारः । अ[illegible] इदं भिन्नं वाक्यम् । तथा च यथा तैत्तिरीयब्राह्मणप्रथमकाण्डे चातुर्मास्यप्रथमपर्वणो वैश्वदेवयागस्य 'यद्वैश्वदेवेन यजते प्रजा एव तद्यजमानः सृजते' इत्येकं फलमुक्त्वा, पुनरपि 'यद्वैश्वदेवेन यजते अग्निमेव तत्संवत्सरमाप्नोति, तस्माद्वैश्वदेवेन यजमानः संवत्सरीणां स्वस्तिमाशास्त' इत्याशासीते द्वितीयं फलमाह । तत्र यथैकस्य कर्मणोऽर्थवादे फलद्वयश्रावणात् फलद्वयसाधकत्वोपसंहारः,

तथा यत्र फलद्वयमुपासनायां श्रूयते 'यो मां स्मृत्वा निष्कामः सकामो भवति, 'अगाधा गाधा भवती'त्यादि, 'यो ध्यायति सोऽमृतो भवती'तिगोपालतापनीयादौ, तत्र 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति तद्धैतान् भूत्वावति' इति वाजसनेयिश्रुतेः तत्तत्फलसाधकत्वस्योपसंहार इत्युपसंहारबीजमनेन सूत्रभागेनोक्तम् । तस्मान्न कोपि दोष इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ५ ॥

गुणोपसंहार एव बाधकान्तरमाशङ्क्य परिहरति **अन्यथात्वमित्यादि** । ननूपसंहारो गुणानां तदा भवति, यदोपास्यानां ब्रह्मत्वेनैक्यं भवति । **ब्रह्म तु शब्दात्** 'कृत्स्नः प्रज्ञानघनः' इत्यादिश्रुतेः प्रज्ञानमात्रमेकरसम् । तत्र **चेन्मिथो विरुद्धाः** शान्तत्वक्रूरत्वतपोभोगादय उपसंह्रियन्ते, तदैकरसत्वहान्या तेषामुपास्यानां रूपाणाम**न्यथात्वम**ब्रह्मत्वं स्यादितिचेत्, एवं सूत्रांशेनाशङ्क्य, अंशान्तरेण समाधत्ते **नाविशेषादिति** । एकरसत्वं यथा श्रुतिबलान्निर्णीयते, तथा विरुद्धधर्माश्रयत्वमपि तत एव निर्णीयते । अत उभयोरपि श्रौतत्वाविशेषात् तद्वस्त्वेव तादृशम् । अतो न विरुद्धगुणोपसंहारेण ब्रह्मत्वहानिरित्यर्थः ॥ ६ ॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

पूर्वसूत्रे 'अन्यथात्वं शब्दात्' इत्यनेन यदाशङ्कितम्, तस्यैव परिहारं प्रकारान्तरेणास्मिन् सूत्र आह **नवेत्यादि** । अन्यथात्वं **प्रकरणभेदाद्वा** न, तत्र दृष्टान्तः **परोवरीयस्त्वादिति** । अयमर्थः । श्रुतिप्रामाण्यात् यावदुक्तधर्मवद्ब्रह्मेति सिद्धावपि यत्प्रकरणभेदेन तद्धर्मनिरूपणम्, तत् तस्य तस्याधिकारिणस्तत्तद्धर्मवत्त्वेनोपासने तत्तदभीष्टफलसिद्ध्यर्थम् । अतो ये ज्ञानाधिकारिणस्तेषामक्षरप्राप्त्यर्थं 'अदृश्यमग्राह्य'मित्यादिश्रुतिरदृश्यादिगुणकं निरूपयति, ये पुनर्भक्त्यधिकारिणस्तेषां भक्तेर्बहुविधत्वात्तदुक्तफलसिद्ध्यर्थं तादृशतादृशभक्तानुभवयोग्यमाथर्वणश्रुतिर्निरूपयति । यथा तैत्तिरीयसंहिताषष्ठकाण्डद्वितीयाध्याये अहीनाख्यसोमयागे अहीनसत्रे च उपसद्दिनसंख्यां पूर्वं विधाय तेषु दिनेषु आराग्रावान्तरदीक्षां 'अस्मिन्मे लोकेर्धुकꣳस्यात्' इति कामवत उक्त्वा, तदग्रे 'परोवरीयसीमवान्तरदीक्षामुपेयाद्यः कामयेतामुष्मिन्मे लोकेर्धुकꣳस्यादिति चतुरोऽग्रेऽथ त्रीनथ द्वावथैकमेष वै परोवरीयस्यवान्तरदीक्षा' इति पठितं यत् परोवरीयस्त्वं तद्वत् । अर्थस्तु, सोमक्रयदिने सायमेकं स्तनं पिबेत्, अपरेद्युः प्रातर्द्वौ स्तनौ, सायं त्रीन् स्तनान्, परेद्युः प्रातश्चतुरः स्तनानेवमाराग्रावान्तरदीक्षाङ्गव्रते स्तनपानसंख्या विहिता । आरं बलीवर्दप्रतोदनलोहम्, तद्वत्सूक्ष्ममग्रं मुखं यस्याः सा आराग्रा इति । द्वितीयस्यास्तु तद्विपरीता संख्या । 'सोमक्रयदिने सायं चतुरः स्तनात्, द्वितीयदिने प्रातस्त्रीन्, सायं द्वौ, तृतीयदिने प्रातरेकम्' इति । एतस्य व्रतस्य दीक्षाप्रकरणे पठितत्वात् दीक्षां विना तथा व्रतकरणे तु न परोवरी-

यस्त्वम्, एवं भक्तिप्रकरणीयानामथर्वणोपनिषदुक्तानां रूपाणां न भक्तिरहितोपास्यत्वम् । तथा च तत्तद्भक्तिमतां तथातथोपासनापरिपाके तत्र तत्र ब्रह्मत्वस्यानुभव इति नाब्रह्मत्वशङ्कोदयः । अभक्तशङ्कामात्रेण तु न तद्बाध इति तेषां ब्रह्मत्वं निर्विघ्नमित्यर्थः ।

यद्वा । पूर्वसूत्रेणान्यथात्वशङ्कामपाकृत्य यः सर्वेषु रूपेषूपसंहारसूत्रेण मिथः सर्वधर्माणामुपसंहारः प्राप्तः, सत्वैकान्तिभक्तानुभवविरुद्ध इति तदर्थमुपसंहारव्यवस्थामस्मिन्सूत्र आह **नवेत्यादि** । सर्वेष्ववतारेषु यस्य भगवदवतारत्वेन साधारणी भक्तिः, तेन सर्वगुणोपसंहारः सर्वत्र कार्यः । यस्त्वेकान्ती तस्यान्तःकरणं स्नेहोत्कर्षेणैकत्रैव पर्यवसितमिति तस्य रूपान्तरेऽन्तःकरणाभावात्तेन तद्गुणोपसंहारो न कार्यः । तत्र हेतुः **प्रकरणभेदादिति** । श्रुत्यादौ तत्तदधिकारिणमुद्दिश्य तत्तत्प्रकरणमुक्तमिति प्रकरणपदेनात्राधिकारो बोध्यते । तथा चोपासकादिभ्य उत्कृष्टाधिकारादित्यर्थः संपद्यते । तदेतदधिकारोत्कर्षादिकं दृष्टान्ते प्रकटयति **परोवरीयस्त्वादिवदिति** । छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके उद्गीथविद्यासमासावुक्तं 'आकाशो ह्येवैभ्यो लोकेभ्यो ज्यायानाकाशः परायणं स एष परोवरीयानुद्गीथः, स एषोऽनन्त' इति । तस्यामेव विद्यायामक्ष्यादित्यादिप्रतीकोपासने हिरण्यश्मश्रुत्वादयोपि गुणा उक्ताः । तथापि सामगतिपरंपराविश्रान्तिस्थानभूतः परस्मात्परो वराच्च वरीयानेतादृग्गुणविशिष्टो य उद्गीथः, तदुपासकस्य स एवोद्गीथ उत्कृष्टो भासत इति । तत्र यथा न हिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणोपसंहारः, एवमत्रापि साधारणाधिकारादेकान्त्यधिकार उत्कृष्ट इति, तस्मात्तथेत्यर्थः ७

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तदपि ॥ ८ ॥

नन्वेकान्तिनो भवतूत्कृष्टोऽधिकारः, तथापि 'रामोपासक' इति संज्ञा त्वविशिष्टेत्युपसंहारे किं बाधकमित्येवं सूत्रांशेनाशङ्क्य, अंशान्तरेण परिहरति **संज्ञात इत्यादि** । एवं **संज्ञातो** या शङ्का, तदुत्तरं तु पूर्वसूत्रे एव अधिकारप्राबल्यादुक्तम् । संज्ञाया व्यवहर्तृभिः कृतत्वेन लौकिकत्वात्, अधिकारस्यान्तरत्वात्, शास्त्रीयत्वाच्च । नन्वधिकारस्यान्तरत्वेपि न प्रमाणेषु गणना, संज्ञा तु प्रमाणान्तर्गणितेति कथं न तस्या बलवत्त्वमित्याशङ्क्य, संज्ञैकत्वस्य हेतोरन्वयव्यभिचारमाह **अस्ति तु तदपीति** । तुः शंकानिरासे, संज्ञैक्यमात्रेण गुणोपसंहारो न शङ्क्यः । यतः छान्दोग्ये 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इत्युद्गीथावयवस्य प्रणवस्योपासनमुक्तम्, तथा आदित्याक्षिपुरुषप्रतीककं चोक्तम्, तथा आकाशमुपक्रम्य परोवरीयस्त्वगुणकम् । वाजसनेयके च कृत्स्नोद्गीथविषयभासन्योपासनम् । एतेषु प्रकरणभेदविषयभेदाभ्यां प्रमितभेदेष्वपि उद्गीथोपासनेति संज्ञैकत्वमस्ति । तथा च व्यभिचरितत्वेन तस्याभेदसाधने सामर्थ्याभावात् फलभेदरूपभेदाभ्यां सिद्धे भेदे, उपसंहारप्रयोजकस्यैक्यस्याभाव एव तद्बाधक इत्यर्थः ॥ ८ ॥

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

ननूपास्येषु रूपेषु बाल्यपौगण्डाद्यवस्थादर्शनादवस्थाभिश्च विग्रहे न्यूनाधिकपरिमाणादिदर्शनात्तेषूक्तं सच्चिदानन्दरूपत्वमनुपपन्नम्, सच्चिदानन्दरूपस्य ब्रह्मणः सदैकरू-

पत्वात्, अतस्तेषु प्राकृतत्वमेवाभ्युपेयम्, तथा सति पूर्वसाधितं तेषां ब्रह्मत्वं विरुद्धधर्माश्रयत्वं गुणोपसंहारादिकं च सर्वमसमञ्जसं स्यादित्याशङ्क्याह **व्याप्ते**रित्यादि । 'सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति' इत्यादिश्रुत्या तादृशस्यैव सर्वत्र व्याप्तेः । चकारात्तादृशस्यैव 'सर्वरसः' इति श्रुत्या रसरूपत्वेन, **समञ्जसम्** । यादृशेन रूपेण भक्तानां लीलारसानुभवो भवति, तादृशं रूपं क्रमेण योगमायापसारणात्प्रकटयति, पूर्वं च स्वस्मिन्नेवान्तर्भावयतीति बाल्यादिभावोपपत्तेः पूर्वोक्तं सर्वमुपपन्नम् । तथा च न्यूनाधिकपरिमाणादिदर्शनस्य मायापसारणहेतुकत्वाद्विग्रहस्य सदैकरूपताया अबाधे पूर्वसाधितं ब्रह्मत्वादिकं युक्तमेव यावदुक्तधर्मवद्ब्रह्मेत्यदोष इत्यर्थः ॥९॥

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

ननु 'अनुच्छित्तिधर्मे'ति श्रुत्या ब्रह्मधर्माणामनुच्छेदश्रावणात् ब्रह्मधर्मत्वेन बाल्यादयः सर्वेपि नित्या वाच्याः, ते च तत्तद्भक्तानां स्वलीलानुभावनार्थं प्रकटाः क्रियन्त इति तत्तद्भक्तविशिष्टास्तथा भक्तानामपि नित्यत्वं प्रापयन्ति, कृष्णोपनिषदि त्वेकस्यैव भक्तस्य पौर्वापर्येणानेकलीलासंबन्धित्वं बोध्यते । 'यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी' इत्यादिना, 'सोवतीर्णो महीतले, वने वृन्दावने क्रीडन् गोपगोपीसुरैः सहे'त्यन्तेन । तत्रैकस्यैव तत्तल्लीलासंबन्धित्वे विरुद्धकालीनानां लीलानां युगपदनुभवासंभवात्क्रमेऽङ्गीकार्ये लीलानामनित्यत्वापत्तिः । नित्यत्वे च तत्तल्लीलासंबन्धिनो भक्तस्य भिन्नत्वापत्तिरनुभवविरोध उक्तश्रुतिविरोधश्चेत्युभयतः पाशारज्जुरित्याशङ्कायामाह **सर्वे**त्यादि । सर्वेषां लीलामध्यपातिनां पदार्थानां ब्रह्मणा **सहाभेदात्** । 'तस्मान्न भिन्ना एतास्तु आभिर्भिन्नो न वै प्रभुः । भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनम्' इति कृष्णोपनिषन्मन्त्रे तेषां ब्रह्माभेदश्रावणेन तदविनाभावात्, भेदविलक्षणाभेदाद्वा, **अन्यत्र** उत्तरोत्तरलीलायामपि **इमे** पूर्वलीलासंबन्धिन एव ते भक्ता इत्यर्थः । न चैवं सति लीलानुभवस्य क्रमिकत्वाल्लीलानामनित्यत्वं शङ्क्यम् । अनुभवापेक्षया श्रुतेर्बलिष्ठत्वात् । 'अङ्गसङ्गं करिष्यामि'इति श्रुतावङ्गसङ्गलीलाया भावित्वस्योक्तत्वाच्च । तथा च 'यतो वाचः' इति 'अनिरुक्तः' इति श्रुत्या च ब्रह्मणो वाङ्मनसागोचरत्वस्योक्तत्वात् तदिच्छातत्सामर्थ्ययोर्महिम्ना अघटितघटनापटीयस्त्वं युक्त्यगोचरत्वं चानुसन्धाय सर्वाः शङ्का वारणीया इति भावः । एतत्सूत्रे **अन्यत्रे**ति पदेन लीलान्तरवद्देशान्तरस्यापि संग्रहाद्विरुद्धदिक्कयोर्भक्तयोर्भक्त्यतिशयेन यत्र युगपदुभयदेशे भगवद्दर्शनम्, यथा श्रुतदेवजनकयोर्गेहे, तत्र तत्तद्दर्षिवत् तत्तद्भक्तानामपि साहित्यात् तेषामपि व्यापकत्वं जातिन्यायेन बोधितं ज्ञेयम् ॥ १० ॥

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥

ननु तेषां ब्रह्मणा सहाभेदे व्यापकत्ववत् पूर्णानन्दैश्वर्यादयोपि धर्मास्तेषु प्रतीयेरन्, न चैतदस्ति, दुःखसंभावनायां प्रभुप्रार्थनाकरणदर्शनात्, तथा पूर्णानन्दत्वाद्यभावे निश्चिते

तेषां व्यापकत्वमपि न वक्तुं शक्यम्, तुल्यत्वादित्याशङ्कायामाह **आनन्दे**त्यादि । आनन्दैश्वर्यवीर्यादयो धर्माः **प्रधानस्य** धर्मिणो ब्रह्मण एव, न तु गुणभूतानां लीलापदार्थानां ते संभवन्ति । सर्वथा तौल्ये ब्रह्मणः प्राधान्यव्याहतेरित्यर्थः । न चैवं सति व्यापकस्याप्यभावः शङ्क्यः । आकाशपरिमाणवत् साहजिकधर्मत्वात् तदुपपत्तेरिति ॥ ११ ॥

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥

पूर्वसूत्रे पूर्णानन्दत्वादयो ब्रह्मासाधारणाधर्मा इति ते विभूतिषु नोपसंहर्तव्या इति विचारिते, प्रियशिरस्त्वादिस्मरणाद्विचार्यन्ते, तेषामुपसंहारः पुरुषरूपोपासने प्राप्नोति, स च विरुद्ध इति कथं कार्यः ; किञ्च, मोदप्रमोदावुपचितानुपचितानन्दरूपौ प्रदेशभेदेनोक्तौ, ब्रह्म तु नित्यानन्दैकरसम्, अतस्तत्र तत्कथनमनुपपन्नमिति द्वयमाशङ्क्य तत्तदधिकारिणं प्रत्यनुपसंहारोपसंहारौ श्लेषेण वदन् तां शङ्कां परिहरति **प्रिये**त्यादि । पूर्वसूत्रादत्र 'प्रधानस्ये'तिपदमनुवर्तते । **हि**र्हेतौ । प्रधानस्य **प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः** प्रियशिरस्त्वाद्यसंभवः । **हि** यतो हेतोः **उपचयापचयौ** मोदप्रमोदरूपौ, **भेदे**, चित्तशुद्धितारतम्येन भाते भेदे, भासेते । यदा भेद एव न भातः, तस्य तयोरप्यभानात् प्रियशिरस्त्वादेरनुपसंहार इत्यर्थः । यद्वा । **हि** यतो हेतोर्भेदे भाते चित्तशुद्धितारतम्येन तौ तदप्राप्तिश्च । यदा भेद एव न भातः, तदा नोपचयापचयौ, नापि प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः, किन्तु उपचयापचयाभावः प्रियशिरस्त्वाद्युपसंहारश्च भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥

पूर्वसूत्र उभयविधाधिकार्यर्थं श्लेषेण पक्षद्वयमुक्तमिति द्वयोर्हेतुर्व्यक्तव्यः । तत्र पूर्वमुपसंहारे हेतुमाह **इतरे**त्यादि । **इतरे** पुरुषरूपविरुद्धत्वेन भासमाना अक्षपुच्छादयोपि धर्माः पुरुषरूप उपसंहार्याः । तत्र हेतुः । **अर्थसामान्यात्** । **अर्थः** पदार्थ आनन्दमयत्वलक्षणः । तस्य समानत्वादेकत्वात् । तुर्विरोधव्यवच्छेदाय । तथा च यथा संकर्षणस्वरूपोपवर्णने 'किरीटसाहस्रमणिप्रवेकप्रोद्योतितोद्दामफणासहस्र'मित्युक्तम्, तथात्रानन्दमयमेकमेव रूपं प्रकृत्योभयथाप्युक्तत्वाद्भेदमपाकृत्यानन्दमयोपासकेनोभयथाप्युपास्य इत्यर्थः ॥ १३ ॥

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

अनुपसंहारे हेतुमाह **आध्याने**त्यादि । आनन्दस्वरूपस्यासमन्तात् ध्यानं तदर्थं यावन्त उपयुज्यन्ते प्रियत्वप्राधान्यादयः, त एवोपसंहर्तव्याः, नेतरे शिरस्त्वादयः । तत्र हेतुः **प्रयोजनाभावात्** । ध्यानपदार्थस्य तावतैव सिद्धेरधिकोपसंहारे प्रयोजनाभावादित्यर्थः ॥ १४ ॥

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

अत्रैव हेत्वन्तरमाह । 'आनन्द आत्मे'त्यनेन पूर्वोक्तानां प्रियप्राधान्यादीनामात्मा स्वरूपमानन्द एवेत्य**आत्मशब्दा**दपि नेतरे उपसंहार्याः । आनन्दमयविवरणे 'तदात्मानं

स्वयमकुरुत ' इत्यादिना आत्मरूपप्राकट्ये ' रसो वै स' इति रसरूपताया वक्ष्यमाणत्वात्, रसस्य च निरुपधिप्रियात्मरूपस्थायिभावात्मकत्वात्, तस्यैव परस्यात्मनो विवरणाय प्रपाठकस्य प्रवृत्त्या, तस्यैवानन्दमयत्वाच्चोपक्रमादिभिस्तात्पर्यलिङ्गैरवयवप्रायपाठपठितस्याप्यात्मशब्दस्यावयवे तात्पर्यराहित्यात्, तत्समभिव्याहृतस्याप्यानन्दपदस्य स्वरूप एव तात्पर्यात्तथेत्यर्थः ॥ १५ ॥ इति प्रथमं सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥ १ ॥

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥ (३-३-२)

तैत्तिरीयेऽन्नमयादिनिरूपणे तेषां पुरुषविधत्वं निरूप्य, ' तस्यैष एव शारीर आत्मा ' इति सर्वत्रोच्यते । तत्रानन्दमयपर्यन्तं शरीरात्मत्वकथनात्संशयः । किं सर्वत्र शरीराभिमानी जीव एव, उत ब्रह्मेति । पूर्वपक्षस्तु, सर्वत्र शारीरपदाज्जीवस्य प्राप्तेः, भार्गव्यां विद्यायामन्नमारभ्यानन्दपर्यन्तं ब्रह्मत्वकथनात् ब्रह्मणोपि प्राप्तेः, उभयत्रापि श्रौतत्वाविशेषादनिर्णय एव पर्यवस्यतीति प्राप्तः । एवं प्राप्त आह **आत्मगृहीति**रित्यादि । **इतरव**ज्जीववत् या आत्मगृहीतिः 'शारीर आत्मा ' इत्यनेनात्मग्रहणम्, तत्, **उत्तरात्** सर्वेभ्य उत्तरो य आनन्दमयस्तस्मात् । अन्नमयातिरिक्तेषु सर्वेषु वाक्येषु ' यः पूर्वस्ये'तिकथनात् सर्वेभ्यः पूर्वो योऽन्नमयस्तस्य पूर्वमाकाशादिजनकस्य परस्यैव ब्रह्मण उक्तत्वात्, तत्स्वरूपबोधनार्थमेवानन्दमयस्योक्तत्वादुपक्रमादिलिङ्गैः तत्रैवात्मत्वस्य पर्यवसानाद्ब्रह्मैवात्रोच्यत इति सुखेन निर्णय इत्यर्थः ॥ १६ ॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥

नन्वेतदग्रे सर्वत्र ' अन्योऽन्तर आत्मे'ति पठ्यते, तत्रान्य इति श्रुत्या अन्नमयाद्यात्मनां भिन्नत्वनिरूपणाच्छारीरपदाच्च सर्वत्र भिन्नो जीव उच्यत इत्येव युक्तम्, आनन्दमये या शारीरत्वोक्तिः, सा तु तस्य ब्रह्मत्वेन सर्वत्रान्वयादिति न तद्विरोध इत्याशङ्क्य परिहरति **स्यादवधारणा**दिति । आनन्दमय एव सर्वशरीराभिमानी स्यात् । तत्र हेतुः । **अवधारणात्** । ' एष एव ' इत्येवकारेणेतरनिषेधपूर्वकमानन्दमयस्यैवात्मत्वनिर्धारणात् । तथा च पुरुषविधब्राह्मणे उपक्रान्तस्यात्मनो ' ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् ' इति ब्रह्मत्वं निगमयित्वा ' तदात्मानमेवावैदहं ब्रह्मास्मी'तिवत् स्वस्य सर्वात्मकत्वे ' सर्वत्राहम् ' इति ज्ञानं न दोषः, तथात्र सर्वशरीराभिमानित्वेन ज्ञानमप्यदुष्टम् । अत आनन्दमय एव सर्वशरीराभिमानीत्यर्थः ॥ १७ ॥ इति द्वितीयमात्मगृहीत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥ (३-३-३)

अन्नमयादीनां कोशातिरिक्तत्वं निरूपयितुमनुप्रसङ्गेनेदमाह **कार्ये**त्यादि । तैत्तिरीयाणां ब्रह्मवित्प्रपाठके, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्युपक्रम्य महाभूतसृष्टिमुक्त्वा, आम्नायते, 'पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नात्पुरुष स वा एष पुरुषोन्नर-

समयः' इति, एतदग्रे चान्नस्योत्पत्तिलयहेतुत्वमुक्त्वा 'येऽन्नं ब्रह्मोपासत' इत्युच्यते, भृगुप्रपाठके च 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजाना'दित्युच्यते । तत्र संशयः । 'स वा एष पुरुषः' इत्यनेन किं पूर्वोक्त एव पुरुषः परामृश्यते, उत तद्भिन्न इति । तत्र 'स वा' इति तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वात्पूर्वं च 'अन्नात्पुरुष' इत्यन्नजन्यस्यैव पुरुषस्योक्तत्वात् 'स एव' इत्युक्तम् । न च ब्रह्मत्वेन कथनस्यासङ्गतिः । तस्य तथोपासनार्थत्वेन स्तुतिरूपतया सङ्गतेरिति प्राप्ते, आह । **कार्याख्यानादपूर्वम्** । **कार्यस्य**, 'अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठ'मित्यादिना भूतजनकत्वतद्वर्धकत्वादिरूपस्य, **आख्यानात्** अन्नस्य ब्रह्मत्वेनोपासनार्थं 'अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' इत्यादिना पूर्वं तस्मिन् ब्रह्मधर्मेषूक्तेषु तावतैवोपासनायां सिद्धायां पुनः कथनप्रयोजनाभावेऽप्यासमन्तात्कथनात्, तत्रोच्यमानमन्नम्, अपूर्वम्, पूर्वजन्यत्वेनोक्तादन्नादतिरिक्तम् । तथा चैवमन्नयोर्भेदे सिद्धे, 'अन्नात्पुरुषः' इत्युक्ताद्भौतिकात्पुरुषाद्भिन्न एव 'स वा एषः' इत्यनेनोक्तोऽन्नसारमय आध्यात्मिकः । न च प्रत्यभिज्ञाबोधकयोः 'स एष' इत्यनयोर्विरोधः शङ्क्यः । स इत्यस्य 'स राजा तोयनीव्या भूमेः,' कला च 'सा कान्तिमती कलावत' इत्यादाविव प्रसिद्धार्थकतया 'एष' इत्यस्य वक्ष्यमाणार्थकतया चोपपत्तावनयोः प्रत्यभिज्ञापकत्वस्य निश्चेतुमशक्यत्वात् । अतः कार्याख्यानादन्य एवायमित्यर्थः । एतस्मादन्यो यः स तु सर्वत्र विद्यमान आनन्दमय इति न काप्यनुपपत्तिः । तेनानन्दमयविद्यायामन्नमयादयो विभूतित्वेनोपास्याः, आनन्दमयस्तु विभूतिमत्त्वेन पुरुषोत्तमतयेति बोधितम् ।

यद्वा । वाजिनां बृहदारण्यके पुरुषविधब्राह्मणे ' आत्मेत्येवोपासीत' इत्युपक्रम्य, ' तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' इत्युक्त्वा, तदग्रेऽन्यस्य प्रियत्वं निराकृत्य, ' ईश्वरो हि तथा स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत' इति पठ्यते । तत्र सर्वेषु प्रियत्वस्यात्मोपाधिकत्वादात्मपदेन जीवात्मन एव प्रियत्वेनोपासना विधीयते, उतेश्वरपदात्परमात्मन इति भवति संशयः । तत्र यथा पत्यादेरात्मोपाधिकप्रियत्वोक्त्या जीवात्मन एव प्रियत्वं मैत्रेयीब्राह्मण उच्यते, एवमत्रापि 'प्रेयः पुत्रा'दित्यादिकथनाज्जीवात्मन एवेति युक्तम् । 'ईश्वरो हि तथा स्या'दिति तूपासनाफलकथनमिति न तद्विरोध इति प्राप्ते, आह **कार्ये**त्यादि । कार्यैराख्यानं कार्याख्यानं कर्मनामकथनं तस्मात्, प्रेयस्त्वकथनतः पूर्वं 'प्राणन्नेव प्राणो भवति, वदन् वाक्, पश्यंश्चक्षुः, श्रुण्वन् श्रोत्रं, मन्वानो मनः, तान्येतान्यस्य कर्मनामान्येव' इतिवाक्ये प्राणादिभिः कर्मनामभिरात्मन एकस्यैव कथनात्, **अपूर्वम्**, पतिपुत्रवित्ताद्यभिमानदशायामन्यापेक्षया यत्पूर्वं निरुपधिप्रीतिविषयत्वेन भातं तस्मादतिरिक्तमत्रात्मशब्दवाच्यम् । लोके हि प्राणादिशब्दैः कौष्ठ्यवाय्विन्द्रियाण्येवोच्यन्ते, न तु आत्मा । अतो न जीवस्यैतानि नामानि । ईश्वरे तु सर्वरूपत्वात्सर्वकर्तृत्वात्संभवतीति वाचनायैव 'ईश्वरो हि तथा स्या'दित्युक्तम् । तथा ' प्रेयोऽन्यस्माच्च सर्वस्मा-

दन्तरतरं यदयमात्मा' इत्यनेनान्यस्मादन्तराज्जीवादप्यतिशयेनान्तरत्वं बोधितम्, तेन पुरुषोत्तमस्वरूपमेव तथा भवितुमर्हतीत्यर्थः । अतो विग्रहस्यैवात्मस्वरूपत्वात्तत्राविकृतत्व-परमानन्दत्वादयो धर्मा उपसंहर्तव्या इति बोधितम् ॥ १८ ॥

समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥

ननु विग्रहे चक्षुःश्रोत्रादीनां नानाकारत्वेन वैलक्षण्यप्रतीतेरात्मनश्चैकरसत्वादुक्त-कर्मनामवत्त्वं ब्रह्मण्यनुपपन्नमित्याशङ्क्याह **समान** इत्यादि । चोऽप्यर्थे, एवं चैवमपि चक्षुःश्रोत्रादीनां नामकर्मणोर्वैलक्षण्येपि, **समानः** एकरूप एव, न तु विषमः । कुतः । **अभेदात्** । न हि कटककुण्डलाद्याकारभेदे तत्तत्कार्यभेदे वा सुवर्णमन्यद्भवति । ग्राहकैः सुवर्णत्वेन ग्रहणात् । किंच, ब्रह्म ह्युपनिषद्वेद्यम्, ताश्च 'प्राणन्नेव प्राणो भवती'त्यादिरूपाः प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यानर्थान् स्वरूपेणैव गृह्णद्ब्रह्म तत्तच्छब्दवाच्यं भवतीतिवदन्ति, तद्वाच्यता च व्यवहार्यत्वे, व्यवहारश्च 'तदेतत्प्रेयः पुत्रा'दित्यादिवाक्यैकवाक्यतया निरुपधिप्रेमव-तामाविर्भूतेऽवताररूप एव संभवतीति तादृशैर्भगवद्विग्रहे तत्तदवयवेषु यथा यथा व्यव-ह्रियते, तथा तथा व्यवह्रियमाणं तदेकमखण्डसच्चिदानन्दरूपं ब्रह्मैवेति न काचिदनुपपत्ति-रित्यर्थः । तेनानाविर्भूतरूप इवाविर्भूतरूपेऽपि ब्रह्मणि व्यापकत्वैकरसत्वाखण्डसच्चिदा-नन्दत्वादयः स्वरूपधर्मा उपसंहार्याः । ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य प्रागेव साधितत्वादिति स्थितम् ॥ १९ ॥

संबन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

साक्षादाविर्भूते पूर्णधर्माणामुपसंहारमुक्त्वा, किञ्चित्कार्यचिकीर्षया यथेन्द्र आविष्टः, तथा क्वचिज्जीवे स्वयमाविशति, तत्र केषांचिद्धर्माणां भाने, तत्रोपासकेनाखिलब्रह्मधर्मोप-संहारः कार्यो न वेतिशङ्कायां विकल्पेन समाधानं सूत्राभ्यां वदन्नादौ विधिपक्षमाह **संबन्धादि**त्यादि । **अन्यत्रापि**, भगवदाविष्टे जीवेपि, **एवम्**, भगवतीव सर्वधर्मानु-पसंहार्योपासना कार्या । तत्र हेतुः **संबन्धा**दिति, अयोगोलके वह्नेरिव तस्मिन्ब्रह्मण आवे-शलक्षणात्संबन्धात् । तथा च यो जीवोऽत्राविष्टं भगवन्तमहमुपास इति जानाति, यश्च तं ब्रह्मत्वेनोपास्ते, तस्योपासना न जीवगामिनीति तत्रोपसंहारः कार्यः । 'तद्धैतान् भूत्वावती'ति श्रुतेर्गुर्वादौ जीवबुद्धिनिषेधाच्च तत्फलदानार्थं तत्र तेन रूपेण भगवत आवेशादिति । अय-मेव न्यायः प्रतिमायामपि वाच्यः ॥ २० ॥

न वाविशेषात् ॥ २१ ॥

यस्त्वन्तरङ्गं हृद्याविर्भूतभगवत्कं ज्ञात्वा, एतद्भजनेनाहं भगवन्तं प्राप्स्यामीति ज्ञात्वा तमेव भजते, स प्रेमविश्वासयोरुत्कर्षात् भक्तिमार्गीय इति भक्तहृद्याविर्भूतेऽपि रूपे तेनोपसं-हारो धर्माणां न कार्य इति निषेधपक्षमाह **नवे**त्यादि । न कार्यस्तेनोपसंहारः । तत्र हेतुः **अविशेषा**दिति, भक्तभक्तस्य तद्भजने रसास्वादनेन विस्मृततदाविष्टभगवत्कतया तदाविष्टे भगवद्रूपे गुणानामुपसंहारेऽनुपसंहारे वा विशेषाभावादित्यर्थः । **विशेषादिति पदच्छेदे तु**, नीरसोपासनापेक्षया भक्तिमार्गीयोपासनायां रसास्वादविशेषादित्यर्थः ॥ २१ ॥

दर्शयति च ॥ २२ ॥

अनुपसंहार एव हेत्वन्तरमाह **दर्शयती**ति । दृढविश्वासवते भक्तभक्ताय तु तद्भजनीये भक्त एवालौकिकाननुभावान् भगवान् दर्शयतीति तत्र सन्निधाननिश्चये जाते तत्साधन-भूतोपसंहारापेक्षैव नास्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ २३ ॥

ननु भक्तभक्तः स्वसेव्येऽत्यलौकिकं वीर्यं दृष्ट्वा तदाविष्टे भगवति वीर्यसंभारक-त्वादेरुपसंहारं करिष्यतीत्याह **संभृती**त्यादि । राणायनीयानां खिलेषु पठ्यते । '**ब्रह्मज्येष्ठा** वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान, ब्रह्म भूतानां प्रथमं तु जज्ञे तेनार्हति **ब्रह्मणा** स्पर्द्धितुं क' इति । ज्येष्ठा वीर्या इत्यत्र बहुवचनस्य डादेशः । तथा च, **ब्रह्म** ज्येष्ठं मुख्यं येषां तादृशानि वीर्याणि **ब्रह्मणा** संभृतानि, सम्यगन्यनैरपेक्ष्येण स्वत एव धृतानि । **किंच**, ज्येष्ठं ब्रह्माग्रे देवादिजननात्पूर्वमेव, दिवमाततान, द्युलोकं व्याप्तवत् । किंच, भूतानामा-काशादीनामुत्पत्तेः प्रथममेव तु ब्रह्म जज्ञे आविर्बभूव । तेनैतादृशमहिमवत्त्वेन, **ब्रह्मणा** साकं स्पर्द्धितुं कोऽर्हतीत्यर्थः । अनेन पादेनाविर्भूतस्वरूपमेवात्रोच्यत इति ज्ञाप्यते । सूत्रा-र्थस्तु, संभृतिश्च द्युव्याप्तिश्च तयोः समाहारः संभृतिद्युव्याप्ति, एतदपि, अतः पूर्वसूत्रो-क्ताद्विशेषाद्धेतोः नोपसंहार इत्यनुवर्तते । चकारेण दर्शनस्य समुच्चयः । तथा चोक्तवि-धाय भक्तभक्तायानुभावान् दर्शयति, भजनरसं चानुभावयतीति, तस्यैहिकपारलौकिकापे-क्षाभावान्नैतदुपसंहारोपि तस्यावश्यक इत्यर्थः ॥ २३ ॥ इति तृतीयं कार्याख्यानादित्य-धिकरणम् ॥ ३ ॥

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २४ ॥ (३-३-४.)

तैत्तिरीयारण्यके पुरुषसूक्ते, सहस्रशीर्षपुरुषविद्योच्यते । तत्रैव ब्रह्मवित्प्रपाठके 'स वा एष पुरुषोऽन्नमय' इत्यारभ्य, प्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयात्मकं ब्रह्मस्वरूपं निरू-प्यते, 'स वा एष पुरुषविध एवे'ति च पठ्यते । तत्र पुरुषसूक्तेऽन्नमयादिषु च पुरुषपदश्रवणा-द्भवति संशयः । किमन्नमयादिषु सहस्रशीर्षत्वाद्युपसंहारो भवति नवेति । तत्र सर्वत्र ब्रह्मण एवोपास्यत्वादत्राप्युपासनोक्तेर्ब्रह्मत्वपुरुषत्वयोरविशेषेण वेद्यैक्ये विद्यैक्यात्कर्तव्य उपसंहार इति प्राप्ते, आह **पुरुषविद्याया**मित्यादि । अन्नमयादिषु चतुर्षु सहस्रशीर्षत्वादिकं नोपसं-हार्यम्, कुतः । पुरुषविद्यायां पुरुषस्वरूपं निरूप्यते तथा, **इतरेषामन्नमयादीनां चतुर्णां** स्वरूपस्यान्नमयादिप्रकरणेऽनाम्नानादकथनात् । पुरुषविद्यायां पुरुष इत्युच्यते, मुक्तिदातृत्वं

महामहिमत्वेन ज्यायस्त्वं च । तत्प्रकरणे तु न तथोच्यते, पुरुषविधमेवोच्यते । अतस्तेषां विभूतिस्वरूपत्वान्न सहस्रशीर्षत्वादीनां मूलगुणानामुपसंहार इत्यर्थः ॥ २४ ॥ इति चतुर्थं पुरुषविद्यायामित्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥ (३-३-५.)

निर्दोषत्वज्ञानपूर्वकं भजनं कर्तव्यमित्येतदर्थमधिकरणान्तरमाह वेधेत्यादि । बृहदारण्यके उद्गीथब्राह्मणे 'द्वया ह प्राजापत्या' इत्युपक्रम्य, देवासुराणां मिथः स्पर्द्धामुक्त्वा, 'ते ह देवा ऊचुर्हन्तसुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामे'त्यादिना वागादीनामुद्गातृत्वेन वरणे तेषामसुरकृतपाप्मवेधमुक्त्वोच्यते । अथैनमासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति, तथेति, तेभ्य एष प्राण उदगायत्, ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति, तमभिद्रुत्य, पाप्मना अविध्यन्, स यथाश्मानमृत्वा लोष्ठो विध्वंसेतैवऽह वै विध्वंसमाना विष्वञ्चो विनेशु'रिति । छान्दोग्येऽप्येवम् । एतावान्परं विशेषो यद्वाजिनामासन्यस्योद्गातृत्वम्, छन्दोगानामुद्गीथत्वेनोपास्यत्वमिति । तत्र देहसंबन्धित्वोद्गातृत्वोपास्यत्वानां सर्वत्र तौल्येऽपि वागादिषु पाप्मवेधः, आसन्ये प्राणे कुतो नेति भवति संशयः । तत्रासन्योपासनाया अत्र विधेयत्वात् तदुत्कर्षबोधनाय वागादिषु पाप्मवेधोक्तिः, वस्तुतस्तु सर्वे तुल्याः, यथा 'गोऽश्वा एव पशवोऽन्ये त्वपशव' इत्यत्र, यदि चैवमसदर्थबोधने वेदस्य प्रतारकत्वापत्तिराशङ्क्यते, तदा तु पाप्मवेध हेतोरशक्यवचनत्वात्संशय एव पर्यवस्यतीति प्राप्ते, आह वेधादीत्यादि । वाक्प्राणादिषु यः पाप्मवेधो दुष्टविषयसंबन्धश्च, वेधादि, तत्, अर्थभेदात्, अर्थो वस्तु ब्रह्म, ततो भेदात् । सर्ववेदान्तप्रत्ययन्यायेन सर्वत्र ब्रह्मण एवोपास्यत्वादत्रासन्यस्तदभिन्नत्वादेव छान्दोग्य उपास्यत्वेनोच्यते, अत एवापहतपाप्मत्वं छन्दोगैरुच्यते । अपहतपाप्मत्वं च ब्रह्मण एवासाधारणो धर्मः अन्तस्तद्धर्माधिकरणे सिद्धः, स भगवद्दत्तो मुख्यविभूतिरूपे तस्मिन्नपि तिष्ठतीति, न तस्य पाप्मवेधः, न वा दुष्टविषयसंबन्ध इति सुखेन तद्धेतुनिर्णय इत्यर्थः । एतेन यद्विभूतिरूपस्यासन्यस्य निर्दोषत्वज्ञाने ज्ञातुस्तथात्वं भवति, तत्र भगवतस्तथात्वज्ञाने निर्दोषो भवतीत्यत्र किं वाच्यम्, तथा, भगवति ये दोषत्वेन मोहव्रणपलायनाद्याः, तेपि गुणत्वेनैव ज्ञेयाः । 'अज्ञत्वं पारवश्यं च विधिभेदादिकं तथा । तथा प्राकृतदेहत्वं देहत्यागादिकं तथा । असुराणां विमोहार्थं दोषा विष्णोर्नहि क्वचि'दिति ब्रह्माण्डवाक्यादिति । तेन निर्दोषत्वं ज्ञात्वा भजनीयमिति सिद्धम् ॥ २५ ॥

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥

एवं भगवत्संबन्धाभावे दोषसंबन्धमुक्त्वा, गुणहानिमपि वदन् भगवत्संबन्धे गुणप्राप्तिरूपं विशेषमाह **हानावि**त्यादि । 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति मुण्डके पठ्यते । अर्थस्तु, पश्यः

द्रष्टा जीवः एतादृशमीशं पश्यते, तदा विद्वान् ब्रह्मज्ञानवान् सन्, पुण्यपापेऽविद्याकार्ये विधूय, ज्ञानेन निवार्य निरञ्जनः अविद्यारहितः सन्, परमं ब्रह्म उपैति प्राप्नोति । तदनन्तरं साम्यं ब्रह्मतौल्यमुपैतीति । तत्र 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति श्रुत्यन्तरे ब्रह्मसाम्यस्य निषेधात् परमं साम्यं तु न भवत्येवेति ज्ञापनाय सूत्रे तुरुक्तः । किन्तु 'समो मशकेन समो नागेने'ति यत्किञ्चित् साम्यं श्राव्यते, तदस्य द्रष्टुर्ब्रह्मप्राप्त्यनन्तरं कैर्धर्मैर्भवतीत्याकाङ्क्षायामाह **हानावि**त्यादि । **हानौ**, ओहाक्त्यागे, ब्रह्मणः सकाशाज्जीवस्य विभागो हानिर्विभागस्य पूर्वस्थितित्यागरूपत्वात्, तस्यां हानौ सत्याम्, ये धर्मा जीवनिष्ठा आनन्दैश्वर्यादयो भगवदिच्छया जीवात्तिरोहिताः, ते भगवत्संबन्धे सति पुनराविर्भवन्ति, तैरेव साम्यम्, न तु स्वारसिकम् । तत्र हेतुः । **उपायनशब्दशेषत्वा**दिति, श्रुतौ, उपैतीति य उपायनशब्दस्तच्छेषत्वात्साम्यस्य, कारकाणां क्रियाशेषत्वादिति । ननु आनन्दादीनां ब्रह्मधर्मत्वात्तैस्तत्साम्यकथनं तदभेदमेवावगमयिष्यतीत्याशङ्क्य तद्धर्ममात्रसाम्यस्य न तदभेदसाधकत्वमित्येतदाह दृष्टान्तमुखेन । **कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानव**दिति । कुशा औदुंबर्यः समिधः तत्संबन्धि यत् छन्दःस्तुत्युपगानम्, उपगीयतेऽनेनेत्युपगानं तत्साधनं तद्वत्, ज्योतिष्टोमादियागेषु कुशाः प्रस्तोत्रा स्थाप्यन्ते, त'त्राभि त्वा शूर नो नुमो दुग्धा इव धेनव' इत्यस्यामृचि ये वर्णास्तेषामच एवोपसंहृत्य भकारेण गानं क्रियत इति, तदार्चिकवर्णधर्माणामचामुपसंहारो भकारे कृत इति किं भकारस्य तदृगात्मकत्वं संभवति, अपि तु न भवति, तथा प्रकृतेऽपि न धर्ममात्रप्राकट्येन जीवस्य तदात्मकत्वं संभवति । ननु तत्त्वमस्यादिवाक्ये जीवब्रह्माभेदबोधनादस्त्यभेद इत्याशङ्कायामाह **तदुक्त**मिति । जीवे ब्रह्माभेदबोधनस्य तात्पर्यं तु तद्गुणसारसूत्रेणैवोक्तम् । तथा च भगवत्संबन्धाभावे गुणानामपि हानिरित्यर्थः । न चोपसंहारप्रकरण एतस्य कुतः स्मरणमिति शङ्क्यम् । यथा पञ्चाग्न्यादिविद्यासु शाखान्तरीया अग्न्यादय उपसंह्रियन्ते, एवं ब्रह्मधर्मा अनया श्रुत्या जीवे बोध्यन्त इत्यभेदोऽप्युपसंहार्य इत्याशङ्कानिरासाय स्मरणादिति ॥ २६ ॥ इति पञ्चमं वेधाद्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

संपराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ २७ ॥ (३-३-६.)

पूर्वाधिकरणे जीवस्य भगवत्संबन्धे विशेषमुक्त्वा, भगवत्संबन्धसाधनयोर्ज्ञानभक्त्योर्मध्ये किं ज्याय इति विचारायाधिकरणं प्रणयति **संपराये**त्यादि । बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणे 'मनसैवानुद्रष्टव्य'मिति दर्शनसाधनमुक्त्वा, 'विरजः पर आकाशा'दित्यादिना विरजत्वादीन् धर्मानुक्त्वा, 'स एष नेति नेती'त्युपक्रम्य 'न सज्जते न व्यथत' इत्यन्तेन ब्रह्मस्वरूपमुक्त्वा, यत एतादृग्ब्रह्म, अतस्तद्विदपि साध्वसाधुकर्मरहित इति तन्माहात्म्यमुक्त्वा, अन्ते पठ्यते 'सर्वपाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तरति य एवं वेदे'ति । तेन ज्ञानस्य संसारमुक्तिहेतुत्वात्पापतारकत्वरूपं माहात्म्यमुक्तं भवति । गोपालतापनीये च 'परं ब्रह्मैतद्यो धारयती'त्युपक्रम्य 'भजति सोऽमृतो भवती'ति मुक्तिहेतुत्वमुच्यते । एवं ज्ञानभक्त्योर्मु-

क्तिहेतुत्वे समानेऽपि ज्ञाने 'पाप्मानं तरती'ति वचनात् ज्ञानदशायां पापसत्ता प्राप्यते, तथा भक्तिदशायामपि, अस्ति न वेति संशयः । तत्र पूर्वप्रारब्धस्य ज्ञानेन नाशे मुक्तिरिति शास्त्रार्थे सिद्धे, भक्त्यापि प्रारब्धनाशादेव मुक्तिरिति प्राप्तम्, तत्राह **संपराय** इत्यादि । **संपरायः** परलोकस्तास्मिन्प्राप्तव्ये सति, **तर्तव्याभावात्**, 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः, नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते' इत्यादिवाक्यैर्मुक्तोपसृप्यव्यपदेशादितिसूत्राच्च पापनाशानन्तरमेव भक्तिसंभवेन भक्तौ तर्तव्यस्य पापस्याभावात् तथा पुरुषोत्तमज्ञानद्वारा साक्षादेव मुक्तिरिति ज्ञातव्यम् । ननु तर्तव्यालिङ्गकायां श्रुतौ 'य एवं वेद' इति सामान्यवचनात् तत्रापि पापं संभाव्यत इति चेत्, तत्राह **तथा ह्यन्ये** इति । **तथा** ज्ञानानन्तरमपि पापवन्तो**ऽन्ये,** भक्तिमार्गीयेभ्यो भिन्नाः । ननु अत्र किं गमकम्, अत आह **ही**ति, यतो हेतोः उक्तवाक्यैर्भक्तेः प्रागेव पापनिवृत्तिर्बोध्यते । अतस्तथेत्यर्थः ॥२७॥

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥

ननु भक्तिमार्गीयाणामपि गोपस्त्रीणां 'दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः, ध्यानाप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः' इति वचनेन सुकृतदुष्कृतयोर्हानिरपि कथ्यते इति पूर्वोक्तवचनैर्विरोध इति नैकतरनिर्णय इति शङ्कायामाह **छन्दत** इत्यादि । छन्द इच्छा, भगवदिच्छातः उभयाविरोधात्, भक्तेः पूर्वं पापनाशनिरूपकं भक्त्यनन्तरं तन्निरूपकं च यद्वाक्यं तयोरविरोधात्, भगवता तद्विजातीयभाववतीनामन्यासामुत्कर्षज्ञापनाय तासु पापादेः स्थापनाददोष इत्यर्थः । तेन भक्तेः पूर्वं तन्नाश औत्सर्गिकः, स क्वचिद्विशेषेच्छयापनोद्यत इति ज्ञापितम् ॥ २८ ॥ इति षष्ठं सम्परायाधिकरणम् ॥ ६ ॥

गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः ॥ ॥ २९ ॥ (३-३-७.)

ननु 'ब्रह्मविदोप्नोति परम्' 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादौ ब्रह्मज्ञाने सत्येव मोक्षः श्राव्यते, 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इत्यत्र तु वरणे सति आत्मलाभरूपो मोक्षः श्राव्यते, वरणं च स्वीयत्वेनाङ्गीकारात्मकं भक्तिमार्गे भवतीति भक्तौ सत्यां तत्सिध्यतीति भक्तेः समुच्चयो विकल्पो वेतिसंशये, एकादशस्कन्धीये 'मत्कामा रमणं जारं मत्स्वरूपाविदोऽबलाः, ब्रह्म मां परमं प्रापुः संगाच्छतसहस्रश' इति भगवद्वाक्येऽविहितासक्त्या बोध्यत इति श्रुत्योः परस्य च विरोधात् भगवद्वाक्यस्य तदुभयविरुद्धत्वात् नैकतरनिर्णय इति प्राप्ते, आह **गते**रित्यादि । **गते**र्ज्ञानस्य, **अर्थवत्त्वं** प्रयोजनवत्त्व**मुभयथा,** मर्यादापुष्टयाख्यमार्गद्वयेन । 'एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषती'त्यादिश्रुतिभ्यो भगवान् सृष्टिपूर्वकाल एव, एतेनैतत् कारयित्वैतत्फलं दास्यामीति विचारितवान्, अतस्तथैव तेषां मुक्तिः, तत्र पूर्ववाक्योक्तरीत्या मुक्तिसाधनाननुगमेऽप्यनुगमहेतुरवश्यं वाच्यः । अन्यथा संदेहानपायान्मुमुक्षुप्रवृत्तिव्याघातापत्तेः । अतस्त-

दभावाय पुष्टिमर्यादारूपमार्गद्वयं हेतुत्वेन [illegible]यम्, तत्र शास्त्रविहितज्ञानभक्तिसाधनेन मुक्तिर्मर्यादा, तद्रहितानानपि कृपया तद्दानं पुष्टिः । इदं च 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति न्यायात् सिद्धम् । अतो यं जीवं यस्मिन्मार्गेऽङ्गीकरोति, तं तत्र प्रवर्तयित्वा तद्रीत्या तस्मै तत्फलं प्रयच्छतीनां नानुगमदोषः, न वा मुमुक्षुप्रवृत्तिव्याघातः । अधिकारभेदादेव व्यवस्थितिसौकर्यात् । अत्रार्थापत्तिं प्रमाणयति **अन्यथा हि विरोध** इति । हि यतो हेतोः अन्यथा मर्यादापुष्टिमार्गभेदेन व्यवस्थाया अकथने विरोधः पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतीनामापतेत् । अतस्तदभावान्यथानुपपत्त्या एवमङ्गीकार्यमित्यर्थः ॥ २९ ॥ इति सप्तमं गतेरर्थवत्त्वमित्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३० ॥ (३-३-८.)

ननु 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' 'भजति सोऽमृतो भवति' इति च सर्वत्र मुक्तेरेव फलत्वमुच्यते, तथा, 'भक्तिरहस्यभजनं तादिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्यात्मनः कल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्य'मित्युच्यते तापनीये । अत्र भक्तिशब्दाच्छान्दसः सोर्लुक्, रहस्यभजनमित्यस्य विवरणं तादिहेत्यादि । अर्थस्तु, तत् भजनम्, **अमुष्य** एतदीयस्य जीवस्य, इहामुत्रोपाधिनैराश्येनैव, ऐहिकामुष्मिकयावत्फलेप्साराहित्येन कल्पनम्, तदीयत्वसमर्थनम्, अन्तर्बहिः सेवया तदीयत्वदृढीकरणमेव, एतदेव च नैष्कर्म्यं सन्यास इति । अन्ये तु 'भक्तिरस्य भजनम्, तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन्मनःकल्पन'मिति पठन्ति । अमुष्मिन् कृष्णाख्ये ब्रह्मणि मनसः संकलनं प्रेरणा तन्मयत्वमिति चार्थं वदन्ति । एवं पाठद्वये यावत्फलनैराश्यस्य प्रविष्टत्वादामुत्रिकमध्ये मुक्तेरपि प्रवेशात्तदनपेक्षत्वं समानम् । एतदत्र विचार्यते । भजनमात्रस्य मुक्तिरेव फलं ज्ञानवत्, उत निरपेक्षभजने भजनीयत्वेन भगवत्स्वरूपलाभः फलम्, मुक्त्यपेक्षायां तु मुक्तिः फलमिति विभागः । यदि च विभागः, तदापि किं मुमुक्षुभक्तो ज्यायान्, अनपेक्षो वा, द्वावपि समौ वेति । एवं संशये, मुक्तेः सर्वोत्कृष्टत्वस्य प्रसिद्धत्वात्, अत्रापि भजनेन मोक्षस्यैव फलत्वेनोक्तत्वात्, निरपेक्षभजनेऽपि स एव फलमिति युक्तम् । यदि च भगवत्स्वरूपस्य स्वतंत्रपुरुषार्थत्वमनुभूय भजत'स्तं यथा यथोपासते तथैव भवति तद्धैतान् भूत्वावती'ति श्रुतेः 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इति भगवद्वाक्याच्च तदेव स्वरूपं भजनीयत्वेन फलमिति विभागो विभाव्यते, तदापि द्वयोर्भक्तयोः श्रौतत्वस्य भगवत्संबन्धित्वस्य चाविशिष्टत्वादुभयोः समत्वमेवायाति । अथानपेक्षया कश्चित् विशेषो विभाव्यते, तदा तु कतमो गरीयानिति निर्णयाभावात्संशय एव पर्यवस्यतीति प्राप्ते, अभिधीयते **उपपन्न** इत्यादि । मुमुक्षुभक्ताद्रहस्यभजनकर्ता अनपेक्ष एवोपपन्न आधिक्योपपत्तियुक्तः । तत्र हेतुः । **तल्लक्षणार्थो-**

पलब्धेः। भगवल्लक्षणो योऽर्थः स्वतंत्रपुरुषार्थरूपः, तस्योप समीपे लब्धेः स्वाधीनतया तस्य प्राप्तेरित्यर्थः । यद्यपि पुरुषोतमप्रवेशरूपायां मुक्तौ तदानन्दानुभवो भवति, तथापि भक्तौ यथा भवति, तथा न। इदं च 'भगवान्मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति पञ्चमस्कन्धीयशुकवाक्यात्, 'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः' इति तृतीये कपिलवाक्यात्, 'नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति, स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इति षष्ठे शिववाक्याच्चावसीयते । अत्र दृष्टान्तमाह **लोकवदिति** । यथा स्वाधीनपतिका नायिका, तदवस्थाननुगुणं गृहवित्तादिकं दीयमानमपि नाङ्गीकरोति, तद्वदित्यर्थः । तस्मान्मुमुक्षुभक्तापेक्षया निरुपधिभक्त एव गरीयानिति सिद्धम् ॥ ३० ॥ इत्यष्टममुपपन्नाधिकरणम् ॥ ८ ॥

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥ (३-३-९.)

एवं पुष्टिभक्तेः स्वरूपं तादृशभक्तस्य स्वरूपं च निरूप्य मर्यादाभक्तिसाध्यायां मुक्तौ सर्वा भक्तयः संनिपतन्ति, किंवा प्रत्येकमेवेतरनिरपेक्षा मुक्तिं साधयन्तीति विचारयितुमाह **अनियम** इत्यादि । अथर्वणोपनिषत्सु गोपालतापनीये पठ्यते 'परं ब्रह्मैतद्यो धारयति रसति भजति ध्यायते प्रेमति शृणोति श्रावयत्युपदिशत्याचरति सोऽमृतो भवती'ति, प्रसिद्धपाठे तु 'ध्यायति रसति भजती'ति त्रयमुच्यते, तदाप्युपलक्षणविधया अन्या अन्यत्रोक्ता अपि समायान्ति। तत्र पूर्वोक्तरीतिके संशये, अत्र धारणादिध्यानादिसाधनकलापमुक्त्वा मुक्तिरूपफलकथनात्समुदितानामेव मुक्तिसाधकत्वम्, एवं पुराणोक्तासु नवधाभक्तिष्वपि द्रष्टव्यमिति प्राप्ते, आह **अनियम** इत्यादि। अनियमः सर्वासां समुदितानामेव फलसाधकत्वमिति नियमो नास्ति । अत्रोपपत्तिमाह **सर्वासामविरोध** इति । 'चिन्तयन् चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृते'रिति चिन्तनस्य तथात्वमुच्यते, 'पञ्चपदीं जपन्' इत्याद्युक्त्वा 'ब्रह्म संपद्यत' इत्यनेन च कीर्तनमात्रस्य तथात्वम् । अतः प्रत्येकपक्ष एव श्रुतीनां सर्वासामविरोधः स्यात् । अतः 'परं ब्रह्मैतद्यो धारयती'त्यादिके वाक्येऽपि 'सोऽमृतो भवती'ति प्रत्येकमभिसंबन्धं काङ्क्षतीति ज्ञेयम् । ननु यथा दण्डादीनां कारणत्वेऽपि समुदितानामेव कारणत्वं तथात्राङ्गीकारे किं मानम्, अत आह **शब्दानुमानाभ्या**मिति। श्रुती तु प्रागेवोक्ते, 'केवलेन हि भावेने'त्युपक्रम्य 'सिद्धा मामीयुरंजसे'ति, 'एतावान् सांख्ययोगाभ्या'मित्युपक्रम्य 'अन्ते नारायणस्मृति'रिति स्मृती च, एताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यां तथा, लौकिकप्रमाणापेक्षया अलौकिकस्य बलिष्ठत्वादित्यर्थः ॥ ३१ ॥ इति नवममनियमाधिकरणम् ॥ ९ ॥

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥ (३-३-१०.)

पूर्वं मुमुक्षुभिः क्रियमाणानां भगवद्धर्माणां मुक्तिसाधनत्वप्रकारो विचारितः । इदानीं यान् धर्मानैश्वर्यादीन् स्वविचारितकार्यकरणार्थं दत्त्वा तत्कार्यं येन जीवेन कारयति, स

जीवस्तैरेव धर्मैर्मुक्तिमपि प्राप्नोति, न वेति संशये, जीवकृतभगवद्विषयकधर्माणां यत्र मुक्तिसाधकत्वम्, तत्र तेषां सुतरां तत्साधकत्वमिति कैमुतिकादायाति, मुक्तिसाधकत्वेनाविहितत्वान्न तथात्वमित्यप्यायातीति संदेह एव पर्यवसानमित्यत आह **यावदित्यादि** । यस्मिञ्जीवे यत्कार्यसाधनार्थं योऽधिकारो यथा भगवता दत्तः, तत्कार्यसाधनक्षमा ये भगवद्दत्ता धर्माः, यथा 'यदादित्यगतं तेज' इत्यादि, यथा च प्रतर्दनाख्यायिकायामिन्द्रे त्वाष्ट्रहन्तृत्वादयः, तेऽधिकारसंबन्धित्वादाधिकारिका इत्युच्यन्ते । तेषां तत्कार्यसंपत्तिरेव प्रयोजनमिति यावदधिकारं तेषां तस्मिन्नवस्थितिः । तथा च तत्कार्यसंपत्तावधिकारनिवृत्त्या तेषामपि निवृत्तेर्न तेषां मुक्तिपर्यन्तो व्यापारः । ये पुनः सप्तर्षिप्रभृतयः, तेषां कल्पान्तपर्यन्तोऽधिकार इति, 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे, परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पद'मिति वाक्यं तद्विषयम्, तेषामपि 'कृतात्मान' इति विशेषणाद्भगवति कृतचित्तत्वादेव मुक्तिः, नत्वाधिकारिकगुणैरित्यर्थः ॥३२॥ इति दशममाधिकारिकाधिकरणम् ॥१०॥

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥

(३-३-११.)

अथर्वोपनिषत्सु 'भजति सोऽमृतो भवती'ति भक्तेर्मुक्तिसाधनत्वं श्राव्यते, श्रुत्यन्तरे तु 'तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादौ तु ज्ञानस्य । तत्र कस्य गुणभावः, कस्य मुख्यतेति संशये, श्रुतित्वाविशेषादुभयोः कारणत्वे हेत्वनुबद्धस्य कार्यवैजात्यस्यापातान्मुक्तौ च तदसंभवा'द्भक्त्या मामभिजानाती'ति भगवद्वाक्ये भक्त्या ज्ञानसंभवकथनेन भक्तेर्ज्ञानं जनयित्वोपक्षयाज्ज्ञानेनैव मुक्तिरितिप्राप्तम् । तत्राह **अक्षरेत्यादि** । तुः पूर्वपक्षनिरासे, **अक्षरधियाम्**, 'एतद्वैतदक्षरं गार्गि अस्थूलमनणु', 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' इत्याद्युक्तानामक्षरविषयकज्ञानानाम्, **अवरोधो** मुक्तिसाधने प्रवेशः गणनं सः **सामान्यतद्भावाभ्याम्**, पुरुषोत्तमसंबन्धिसंबन्धे मुक्तिरिति पुरुषोत्तमसंबन्धिसंबन्धित्वं सामान्यम्, तद्भावो ब्रह्मभावः, ताभ्यां हेतुभ्याम्। अयमर्थः । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्राक्षरविदः परप्राप्तिः फलत्वेनोच्यते। परश्च पुरुषोत्तम एव, 'अक्षरात्परतः पर' इत्यस्याः श्रुतेः 'अक्षरादपि चोत्तमः' इति गीतावाक्येनोपबृंहणात् भगवानेव पर इति तत्प्राप्तिरेव परममुक्तिः । 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्, यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' इति गीतावाक्यादक्षरं तद्धामत्वात्तत्संबन्धि, तद्विषयकं ज्ञानं च पुरुषोत्तमसंबन्धिसंबन्धि । किंच, भक्तिस्तावद्ब्रह्मभावोत्तरं भवतीति गीतायामुक्तम् । 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति, समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्' इति । ब्रह्मभावश्चाक्षरज्ञानेनाविद्यानाशे सति भवति । तथा च पुरुषोत्तमज्ञानव्यापारकभगवत्प्राप्तिरूपमुक्तिकरणभूतायां स्वरूपयोग्यतामक्षरज्ञानानि संपादयन्तीति मुक्तिप्र-

कक्षाविश्रान्तत्वान्मुक्तिसाधनेषु तदवरोधा'द्भक्त्या मामभिजानाती'ति पुरुषोत्तमज्ञानमादाय पूर्वपक्षोऽसंगत इति । नन्वक्षरस्याविशिष्टत्वात्तदुपासकानां मध्ये केषांचिदक्षर एव लयः, केषांचित् गीतोक्तरीत्या भक्तिलाभ इति फलवैजात्यं कथमुपपद्यत इत्याशङ्क्य तत्र हेतुं दृष्टान्तेनाह **औपसदवदिति** । उपसद इदमौपसदं तद्वत्, उपसदाख्ये कर्मणि ध्रौवाज्यात्सुचि चतुरवत्तं चमसे वा पंचावत्तं यदाज्यं तत्तानूनप्त्रमित्युच्यते, 'अनाधृष्टमस्यनाधृष्य'मिति मन्त्रेण 'षोडशर्त्विजोऽनु मे दीक्षा'मिति मन्त्रेण यजमानश्च समवस्पृशन्ति तत् तानूनप्त्रस्पर्शाख्यं कर्मौपसदम्, तत्र विशेषः श्रुतौ कल्पे चोच्यते। 'तत्समवमृशन् यमृत्विजं कामयेतायं यज्ञयशसमृच्छेदिति तं प्रथममवमर्शये'दिति। अत्र सर्वेषामृत्विजां तानूनप्त्रित्वे समानेऽपि यस्मिन् यजमानस्य स्नेहातिशयेन यज्ञयशोदानेच्छा, तत्रैव तथाकृतिः,न सर्वेषु, तद्वत् । तथा च तत्र यथर्त्विजामविशिष्टत्वेऽपि यजमानेच्छा फलवैजात्यनियामिका, तथात्र भगवदिच्छेति तया तथेत्यर्थः । ननु श्रवणादीनां यथा पुरुषोत्तमसंबन्धित्वे तत्प्राप्तिहेतुत्वम्, तथाक्षरस्याप्यस्त्विति शङ्कायां सा न कार्येत्येतदर्थं संमतिमाह **तदुक्तमिति** । भगवद्गीतासूक्तम् । तत्र हि 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' इत्यादिना 'स याति परमां गतिम्' इत्यन्तेनाक्षरप्राप्त्युपायमुक्त्वा, 'अनन्यचेताः सततम्' इत्यादिना स्वप्राप्त्युपायं स्वस्य तद्वैलक्षण्यं चोक्त्वा, स्वस्य भक्त्येकलभ्यत्वं स्वस्वरूपं च वक्तुं पूर्वं क्षराक्षरयोः स्वरूपं कथयन् 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' इत्यनेनाक्षरस्य ज्ञानिमुक्तिस्थानत्वं स्वधामत्वं चोक्त्वा, 'पुरुष स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया, यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्' इति भक्त्येकलभ्यत्वं परत्वं सर्वभूताधारत्वं सर्वविस्तारकत्वं च स्वस्योक्तवान् । अतः पुरुषोत्तमसंबन्धित्वमात्रं न तत्प्राप्तिहेतुतावच्छेदकम्, किन्तु तत्संबन्धिभक्तित्वम्, तच्चाक्षरे नास्तीत्यतस्तथा नेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

इयदामननात् ॥ ३४ ॥

ननु संसारनिवृत्त्यानन्दाविर्भावयोरविशेषादक्षरब्रह्मणि लये पुरुषोत्तमप्रवेशान्न्यूनतोक्तौ को हेतुरित्यत आह **इयदित्यादि** । इयदित्यस्य परिमाणवचनस्य तैत्तिरीयोक्तायामानन्दमीमांसायां मानुषानन्दमारभ्य शतानन्दिगणने 'स एको ब्रह्मण आनन्द' इति प्रजापत्यानन्दादधिकतया **आमननात्** कथनात् । तथा च पुरुषोत्तमस्यानन्दमयत्वेन तदानन्दस्य च 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यनेन वाङ्मनसागोचरत्वश्रावणादक्षरानन्दस्य न्यूनत्वं तत उच्यत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ इत्येकादशमक्षरधियामित्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३५ ॥ (३-३-१२.)

ननु ज्ञानमार्गे यथा स्वात्मत्वेन ब्रह्मणो ज्ञानम्, तथा भक्तिमार्गेऽपि भक्त्या पुरुषोत्तमज्ञाने स्वात्मत्वेन पुरुषोत्तमज्ञानं भवति, नवेत्यक्षरस्मरणेनाभेदज्ञानस्मृत्या संशये, बृहदारण्यके कहोडप्रश्ने, उषस्तप्रश्ने च यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म 'य आत्मा सर्वान्तर' इति, एतदुत्तरवाक्ये च याज्ञवल्क्येन 'एष त आत्मा सर्वान्तर' इति कथनादन्तर्यामिब्राह्मणे च सर्वान्तरस्याप्यन्तरशब्दान्तरेणान्तःस्थापकत्वबोधनाज्जीवात्मान्तःस्थस्यापि जीवं व्याप्य वर्तमानत्वाद्येनकेनापि श्रौतेन साधनेन पुरुषोत्तमेऽभिज्ञायमाने स्वात्मनस्तद्व्याप्तत्वेन भेदास्फुरणात् स्वात्मत्वेन ज्ञानमदण्डवारितम् । अतस्तद्भवतीति प्राप्तम् । एवं प्राप्ते, आह **अन्तरेत्यादि** । अन्तरेति मध्यवाचकमव्ययम् । भूतग्रामः संघातः शरीरात्मकः । तथा च स्वात्मनो भक्तस्य पुरुषोत्तमे यत्स्वात्मत्वेन ज्ञानं तत् संघातवद्भजनानन्दान्तरायभूतम्, अतो भक्ताय भजनं देदित्सिते भगवांस्तस्य तन्न करोतीति 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इत्यादिज्ञानमेव तस्य भवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अन्यथा अभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

ननु स्वात्मत्वेन पुरुषोत्तमज्ञानस्य भजनानन्दानुभवविरोधित्वेन जघन्यत्वे भक्तेपूद्धवादिषु भगवांस्तन्नोपदिशेत्, दृश्यते चोपदेश इत्यभेदज्ञानमेव मुख्यमिति भक्त्यपेक्षया ज्ञानमार्गस्योत्कर्ष इति सूत्रांशेनाशङ्क्य, अंशान्तरेण परिहरति **अन्यथेत्यादि** । **अन्यथा** भक्तिमार्गस्य ज्ञानमार्गादुत्कृष्टत्वे स्वात्मत्वेन भगवज्ज्ञानस्य च जघन्यत्वे भगवदुपदिश्यमानात्माभेदानुपपत्तिरिति चेत्, न, न तदनुपपत्तिः, **उपदेशान्तरवत्** । यथा हि स्वर्गापवर्गादिफलकालौकिककर्माधिकारसंपत्त्यर्थं गायत्र्युपदेशः क्रियते कर्ममार्गे प्रतिबन्धनिवारकः, यथा वा अज्ञस्य देहवतस्तद्भिन्नात्मोपदेशो ज्ञानमार्गे शरीरादौ प्रियत्वादिबुद्धिनिवृत्त्यर्थम्, तद्वदत्र भक्तिमार्गेऽपि सर्वेषामात्मनो ह्यात्मा 'य आत्मनि तिष्ठ'न्नित्यादिश्रुतिसिद्धस्यास्यात्मत्वेनोपदेशो जीवात्मनः स्वात्मन्यपि निरुपधिप्रियत्वबुद्धिनिवृत्त्यर्थं क्रियते । अतो न भक्तिनिकर्षः, नवा अभेदोपदेशानुपपत्तिरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

नन्वैतरेयके आदित्यमण्डलान्तःस्थं पुरुषमुपक्रम्य 'तद्योहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्' इति, तैत्तिरीयके वाघमर्षणेप्सु विद्यमानं ब्रह्मज्योतिरुपक्रम्य, 'अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि' इति ब्रह्मपदमुभयत्र संबध्यमानं स्वात्मब्रह्मणोरभेदं प्रकटयति, तथा लीलास्था अपि 'कृष्णोऽहमहं कृष्ण' इत्येवं वदन्तीति तेषां ज्ञानं श्रीभागवत उच्यते, अतः पूर्वोक्ताभेदज्ञानं भक्तावपि फलत्वेन मन्तव्यम्, अतः पूर्वोक्तमयुक्तमित्याशङ्कायां भक्तौ तत्स्वरूपबोधनायाह **व्यतिहार इत्यादि** । **व्यतिहारः** 'कृष्णोऽहम्' इत्याद्युक्तो विशेषणविशेष्यभावव्यत्ययः, **इतरवत्**, भक्ते रसात्मकत्वेन संयोगविप्रयोगात्मतया द्विविधत्वात्तत्र द्वितीयभावोत्कर्षे यथेतरे अश्रुप्रलापादयो व्यभिचारिभावा उत्पद्यन्ते, तद्वत् अतिविगाढभावेन तदभेदस्फूर्ति-

रप्युत्पद्यते, न तु सर्वदा सा तिष्ठति येन फलत्वं स्यात् । **ननु कथमेतदवगम्यते**, तत्राह **विशिंषन्ति हीति** । हि यतो हेतोः द्रष्टृत्वेनाश्वप्त्वादीषात्मानं भगवत्त्वेन कदाचिदेव विशिंषन्ति, न सर्वदा । अतस्तथेति न पूर्वोक्तमयुक्तमित्यर्थः ॥ इति द्वादशमन्तराभूतग्रामवदित्याधिकरणम् ॥ १२ ॥

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥ (३-३-१३.)

पूर्वाधिकरणे ज्ञानापेक्षया फलतो भक्त्युत्कर्षः साधितः । अत्र साधनतस्तत्साधयति । तत्र प्राप्तभक्तेः पुरुषस्य सत्यशमदमादयः कार्यत्वेन विधेया न वेति संशये, सत्यादीनां फलोपकार्यन्तरङ्गसाधनत्वाच्छुद्धौ सत्यामेव चित्ते भगवत्प्रादुर्भावः संभवति, आवश्यकत्वाद्विधीयन्त इति प्राप्तम् । तत्र सिद्धान्तस्तु, तादृशस्य न ते विधीयन्ते । तत्र हेत्वपेक्षायामाह **सैवे**त्यादि । **हि** यतो हेतोः **सैव** भक्तिरेव सर्वसाधनरूपा, तस्यां सत्यां भक्तहृदि भगवदाविर्भावात्सत्यादयः स्वत एव भवन्ति, न विधिमपेक्षन्त इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥

पूर्वसूत्रे शास्त्रोक्ताखिलसाधनरूपत्वं भक्तेरुक्तम्, तद्दार्ढ्यार्थमधुना मुक्तिप्रतिबन्धकत्वेन हेयत्वेन चोक्तानां कामादीनामपि भगवत्संबन्धान्मुक्तिसाधनत्वमाह **कामादी**त्यादि । **इतरत्र**, माहात्म्यज्ञानयुताया ईश्वरत्वेन प्रभौ निरुपधिस्नेहरूपायाः शास्त्रप्राप्तत्वेन विहिताया भक्तेः सकाशाद्भिन्नायामविहितायां भक्तौ भगवद्विषयकं कामाद्येव मुक्तिसाधनम्, भगवति चित्तप्रवेशहेतुत्वात् । आदिपदात्पुत्रत्वसंबन्धित्वद्वेषादीनां संग्रहः । तेन भगवत्संबन्धमात्रस्य मुक्तिसाधकत्वमुक्तं भवति । **तत्र च** विहितभक्तावपि कामादिकं साधकम्, ईश्वरत्वेन ज्ञानेऽपि भर्तृत्वेन ज्ञाने कामस्य पुत्रत्वादिज्ञाने स्नेहस्यापि विलक्षणस्य संभवात् । अतो मुक्तिबाधकानामपि भक्तिमार्गे साधकत्वात् ज्ञानमार्गापेक्षया साधनविचारेऽपि भक्तिमार्ग उत्कृष्ट इति सिद्धमित्यर्थः ॥ ३९ ॥ इति त्रयोदशं सैव हीत्यधिकरणम् ॥ १३ ॥

आदरादलोपः ॥ ४० ॥ (३ ३-१४.)

पूर्वं सात्त्विकानां वृतानामर्थे ज्ञानापेक्षया भक्तेरुत्कर्षः साधितः । इदानीं राजसानां वृतानामर्थे कर्मापेक्षया भक्तेरुत्कर्षः साधनीयः । तत्र नित्यानां वर्णाश्रमधर्माणां भगवद्धर्माणां च परिचर्यादीनामेककाले प्राप्तौ युगपदुभयोः करणासंभवादन्यतरबाधे प्राप्ते, स कस्य स्यात्, कस्य नेति संशये, कर्मणां स्वस्वकाले विहितानामकरणे प्रत्यवायश्रवणादितरत्र तदश्रवणादन्यदापि तत्कृतिसंभवेन सावकाशत्वाच्च परिचर्यादीनामेव बाधो युक्तः, नतु नित्यानां वर्णाश्रमधर्माणामिति प्राप्तम्, तत्र सिद्धान्तमाह **आदरादलोप** इति । तैत्तिरीयाणामारण्यके स्वाध्यायब्राह्मणे, 'ओमिति प्रतिपद्यत एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रति

एषा वागेतत्परममक्षरम्, तदेतदृचाभ्युक्तम्, ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत्तद्विदुस्त इमे समासत' इति पठ्यते । अत्र, ऋक्संबन्धित्वेन वर्णात्मके वस्तुतस्तु परमव्योमात्मकं यदक्षरं ब्रह्म यस्मिन् देवाः प्राप्तफला अधिनिषेदुरिति सकलदेवनिषदनस्थानत्वाल्लोकात्मकम्, तदात्मके ॐकारे प्रतिपाद्यत्वेन स्वरूपेण च वर्तमानं 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योम'न्निति श्रुत्यन्तरात् तल्लोकवेदप्रसिद्धं परं ब्रह्म यो न वेद स किमृचा करिष्यतीति तदज्ञाने वेदाध्ययनस्य निष्फलत्वमुच्यते । एवं सति भगवज्ज्ञानस्याभावे वेदोक्तकर्मणापि मुख्यफलाभावाद्वैयर्थ्यं तेषामप्यर्थादायाति । परब्रह्मज्ञानं च 'भक्त्या मामभिजानाति' इति वाक्यात् भक्त्यैवेति भक्ताः सन्तो ये पुरुषं विदुः, इदित्यवधारणे, त इमे गोकुलवैकुण्ठादिषु भगवन्निकटे समासते । सम्यक् सेवां कुर्वाणास्तिष्ठन्तीत्यर्थः । तथा चात्राविदो निन्दया विदां च सम्यगासनोक्त्या ज्ञानजनिकायां भक्तावेवादरः सिध्यतीति तदादराद्भगवद्धर्माणामेवालोपः अबाध इत्यर्थः । न च तदकरणे प्रत्यवायश्रवणस्य का गतिरिति शंक्यम्, भगवत्सेवातोऽवकाशं प्राप्य गौणकालेऽप्यकरणे तस्य सार्थक्यात् । 'मत्कर्म कुर्वतां पुंसां काललोपो भवेद्यदि, तत्कर्म तस्य कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षय' इति स्मृतेरिति ॥ ४० ॥

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

ननु यद्येवं श्रुतेस्तात्पर्यं तदोपनयनादिवत् भक्तेस्तज्जन्यज्ञानस्य चावश्यकत्वात् कर्मोपयोगित्वं स्यात्, न तु तथेति कर्मण एव प्राधान्यं युक्तम्, न तु भक्तेस्तज्जन्यज्ञानस्य चेत्याशङ्कायां तदादरबोधकश्रुतेस्तात्पर्यमाह **उपस्थिते** इत्यादि । भक्तिकर्मणोर्युगपत् करण **उपस्थिते** बलाबलविचारणायां **अत** आदराद्धेतोस्**तद्वचना**द्भगवद्धर्माणां बलवत्त्वेनालोपवचनात् मुमुक्षूणां भगवद्धर्मा एवावश्यकाः । कर्माणि तु 'तमेतं वेदानुवचनेने'तिश्रुत्या विविदिषायामेवोपक्षीणानि, ज्ञानपर्यन्तत्वपक्षेऽप्यारादुपकारकाणीति दूरापास्तं तत्प्राधान्यमित्यर्थः ॥ ४१ ॥ इति चतुर्दशमादरादलोप इत्यधिकरणम् ॥ १४ ॥

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४२ ॥ (३-३-१५.)

ननु यदि कर्मणां न मुख्यता, तदा अप्रयोजकत्वात् परमहंसेष्विव भक्तेष्वपि तत्प्राप्तेरसंभवाद्व्यर्थः पूर्वो विचार इत्याशङ्कायामत्र पाक्षिकप्राप्तिं हृदि कृत्य सिद्धान्तमाह **तन्निर्धार**णेत्यादि । भक्तिमार्गे वरणं मूलकारणम्, तच्च मर्यादापुष्टिभेदेन द्विधेति भक्तिमार्गो द्विविधः । 'एष उ एवे'ति श्रुतेर्भगवदिच्छैव कर्मकरणे हेतुः, सा तु स्वरूपविद्भिर्ज्ञायते भगवज्ज्ञापनेन, अन्येषां फलबलकल्प्या, श्रुतिस्तु तैत्तिरीये 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' इति विद्वांसमुपक्रम्य, 'एतꣳ ह वा न तपति, किमहꣳ साधु नाकरवं किमहं पाप-

मकरवम्' इत्यकर्मणि विकर्मणि च तापाभावमाह । तथा गोपालतापनीये गान्धर्वीप्रभृतीनां व्रजस्त्रीणां कस्मै ब्राह्मणाय भैक्षं दातव्यं भवतीत्यादिना धर्माचरणमाह । पूर्वकाण्डेऽपि 'प्रह्लादो ह वै कायाधव' इत्यादिना प्रह्लादस्याह । पुराणे च शुकजडादीनामकरणम्, उद्धवाम्बरीषादीनां कर्मकरणमुच्यते । अतो भक्तानां द्विविधाचारदर्शनादाधुनिकानां तन्निर्धारणानियमः, भगवदिच्छानिर्धारणस्यानियमः । तथा चायं कर्म करोतु इतीच्छानिश्चयवता तत्संदेहवता च कर्म कर्तव्यम् । ननु भक्ततत्करणे किं फलमिति शङ्कायां विभज्योभयोः फलं वदन् प्रथममिच्छाज्ञानवतस्तदाह **तद्दृष्टेः पृथगिति** । तस्या भगवदिच्छाया दृष्टिर्ज्ञानं यस्य स तद्दृष्टिः, तस्य, पृथक् साधारणजीवकृतकर्मणो यत्फलम्, ततोऽतिरिक्तं वेदमार्गरक्षा लोकसंग्रहश्च फलम् । तदुक्तं गीतायां 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इत्यादिवाक्यैः । तदत्र सूत्रे हिशब्देन सूच्यते । अतःपरमिच्छाज्ञानरहितस्याह **अप्रतिबन्धः फल**मिति । तस्य मध्यमाधिकारात् कालसङ्गादिजनितचित्तमालिन्येन भगवत्सांनिध्ये प्रतिबन्धः स्यात् । अतस्तन्निवृत्तिरज्ञकृतकर्मणः फलमित्यर्थः । तेन कर्मकरणेच्छाज्ञानवता तत्संदेहवता च कर्म कर्तव्यमिति सिद्धम् । प्रासङ्गिकमेतत्सूत्रम् ॥४२॥ इति पञ्चदशं तन्निर्धारणाधिकरणम् ॥१५॥

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥ (३-३-१६.)

एवं राजसानां कर्मासङ्गवारणायाधिकरणद्वयमुक्त्वा, मुख्यभक्त्युत्कर्षज्ञापनेन तदभिलाषोपजननाय तत्फलं चात्र दर्शितम् । अतः परमन्यत्र वैराग्यार्थं मुख्यभक्तिः सर्वात्मभावरूपा किं विहितकर्मज्ञानभक्तिभिर्भवति न वेति विचार्यते । तत्रैकादशस्कन्धे, 'तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदनाम्, प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च, मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्, याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोभयम्' इति भगवद्वाक्ये मुक्त्यात्मकाकुतोभयसाधनरूपे शरणगमने प्रकारत्वेन सर्वात्मभावस्य कथनात्स्वप्रयत्नसाध्यत्वं गम्यते । तत्र विहितस्यैव कारणता संभवति, 'दानव्रततपोहोमे'ति 'भक्त्या संजातया भक्त्ये'त्यादिवाक्यात् । अतस्तत्साध्यत्वं गम्यत इति प्राप्ते, आह **प्रदानव**दित्यादि । **तदुक्तं** भगवदुक्तम्, प्रदानवदेव, प्रकृष्टं दानं प्रदानं वरदानमिति यावत् तद्वदेव, भगवद्वाक्ये हि 'अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन, सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखे'ति तदधिकारमनूद्य तदपृष्टमपि भावस्वरूपादिकं स्वत एवोक्त्वा, ततः 'तस्मात्त्व'मित्यादिश्लोकद्वयेन सर्वात्मभावेन मां शरणं याहीत्यवदत् । अतस्तदुपदेशनं वरदानवदेवेति सर्वात्मभावरूपा भक्तिकाष्ठापि तथेति न विहितसाधनसाध्येत्यर्थः ॥ ४३ ॥ इति षोडशं प्रदानवदित्यधिकरणम् ॥ १६ ॥

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥ (३ ३-१७.)

पूर्वाधिकरणे सर्वात्मभावरूपपरमकाष्ठावत्या मुख्यभक्तेर्वरणैकलभ्यत्वं स्थापितम् । वरणश्रुतौ तु परमात्मनो वरणलभ्यत्वमुच्यते, न तु सर्वात्मभावस्य तत्काष्ठाकाया भक्तेर्वेति

कथमस्य विचारस्य तत्प्रपञ्चत्वमिति शङ्कायां तस्य वरणैकलभ्यत्वं दृढीकर्तव्यम्, तत्स्वरूपं च श्रुत्या विवेक्तव्यम्, तदर्थमिदमत्र विचार्यते । किं कालादृष्टादिरूपप्रतिबन्धकसद्भावेऽपि वरणकार्यं स्यात्, किं वा तन्निवृत्ताविति, तत्र प्रतिबन्धकाभावस्य हेतुतायाः सर्वत्र दृष्टत्वात्, पूर्वाधिकरणे वरदानदृष्टान्तस्योक्तत्वेऽपि वरदानस्य तपःप्रभृतिभिस्तोष एव दर्शनात्, तत्र कारणान्तरे मृग्ये प्रतिबन्धकाभावस्याप्यदण्डवारितत्वात् तन्निवृत्तावेवेति प्राप्तम्, तत्राह लिङ्गेत्यादि । हि यतो हेतोः, **तत्** वरणं **बलीयः** बलवत्तरम्, अतः प्रतिबन्धकसद्भावेऽपि तदुपमर्देन वरणकार्यं स्यात् । बलीयस्त्वे हेतुमाह **लिङ्गभूयस्त्वा**दिति, वरणस्य लिङ्गं सर्वात्मभावस्तस्य सर्वतोऽधिकत्वात् । तथा हि, छान्दोग्ये नवमे प्रपाठके, 'अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारद' इति सनत्कुमारनारदसंवादमुपक्षिप्य, नारदेनाध्यापनार्थमुक्तेऽधिकारमनिर्धार्य प्रथमत एव मुख्या ब्रह्मविद्या नोपदेष्टुं युक्तेत्यतो नारदाधिकारज्ञानाय 'यद्वेत्थ तेन मोपसीद, तत ऊर्ध्वं वक्ष्यामी'ति सनत्कुमारेणोक्ते, नारद 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमी'त्यादिना स्वविदितं सर्वमुक्त्वा, 'सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मि, नात्मवित्, श्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवांछोकस्य पारं तारयत्वि'ति स्वाभिप्रायं निवेदयामास, तदा सनत्कुमारस्त्वदुक्तं सर्वं नामेत्युक्त्वा नाम्नो ब्रह्मत्वेनोपासने यावन्नाम्नो गतम्, तत्रास्य यथा कामचारो भवतीति तत्फलमुक्त्वा, ततस्तस्माद्भूयसः प्रश्ने कृते, ततो वाचं तादृशीमुक्त्वा, पुनस्तथा प्रश्ने मनःसंकल्पचित्तध्यानविज्ञानबलान्नाप्तेजआकाशस्मराशास्तथोक्त्वा, तेषां ब्रह्मत्वेनोपासने तत्फलं चोक्त्वा, ततः प्राणस्याधिक्यं तदुपासकस्य सत्येनातिवादित्वं तदधिकारपरीक्षार्थमाह, यद्यस्याधिकजिज्ञासोत्पत्स्यते, तदोपदेशयोग्यो, नो चेदयोग्य इति । तत 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदती'ति सनत्कुमारेणोक्ते, 'सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानी'ति स्वाकाङ्क्षां नारदोऽब्रवीत्, तदा सनत्कुमारस्तस्य सत्यादिजिज्ञासामुत्पाद्य सत्यविज्ञानमतिनिष्ठाकृतिसुखानि पूर्वपूर्वकारणत्वेनावदत्, तत्र सत्यविज्ञानमतिनिष्ठाकृतीनां लौकिकसजातीयमेव रूपमुक्त्वा सुखविशेषं वक्तुं तस्य सुखस्वरूपजिज्ञासायामाह 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इति, तदा नारदस्तेन प्राणस्य सत्यवदनादीनां स एव कारणं तत्त्वं च, अतस्तमेव कृत्यादिप्रणाड्या ज्ञात्वा सत्यवदनेऽतिवादित्वम्, नान्यथेत्यवगत्य, 'भूमानं भगवो विजिज्ञास' इति विज्ञापयामास, तदा सनत्कुमारः सर्वत आधिक्यरूपं भूयस्त्वं भूम्नि सिद्धमिति नारदेनावगतं ज्ञात्वा, 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमे'ति भूमस्वरूपमाह 'यस्मिन् दृष्टे श्रुते विज्ञाते' तदेकतानतयान्यत्सुखत्वेन सुखसाधनत्वेन च न भासते, किन्त्वल्पत्वेनाप्रयोजकमिति भासते, स भूमेति तत्र फलति, तत्र श्रुतेऽपि भूम्नि स्वस्य तादृशभावाभावात्समुदितैर्दर्शनादिभिः दशाभावं निश्चित्य पप्रच्छ 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित' इति, स भूमा कस्मिन्प्रकर्षेण तिष्ठ-

तीति, तत्रोत्तरमाह 'स्वे महिम्नी'ति, ततः को महिमेत्ययं प्रक्ष्यसीति विचार्य गो अश्वादीनां विभूतीनां महिमत्वमिह न विवक्षितम्, किन्तु ततोऽन्य इत्याशयेनाह 'अन्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित' इति, गो अश्वादिभ्योऽन्यो यो महिमा तस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यर्थः। ततस्तस्य महिम्नः स्वरूपं कीदृशमित्याकाङ्क्षायाम्, 'स एवाधस्तात्, स उपरिष्टात्, स पश्चात्, स पुरस्तात्, स दक्षिणतः, स उत्तरतः, स एवेदं सर्व'मित्यारभ्य, अग्रेऽहंकारादेशमात्मादेशं च पूर्ववदाह । तथा च यस्य पूर्वं 'स एवाधस्ता'दित्याद्युक्तरीत्या सर्वदिक्षु भूमभानं सर्वं भूमेति च भानं तदनन्तरं पूर्ववदेवाहंकारादेशेन भूमाभिन्नस्वभानं तदुत्तरं च पूर्ववदात्मादेशेन भूमात्माभिन्नस्वभानम्, एवंप्रकारकभानवान् यः पुरुषः स महिमा तस्मिन् भूमा प्रतिष्ठित इत्यर्थः फलति । तत्र भूमप्रतिष्ठायां गमकमाह 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'ति । तथा चोक्तप्रकारकदर्शनादिमानुक्तरत्यादिमान् भवतीत्येते धर्मास्तत्र भूमप्रतिष्ठागमका इत्येतैर्लक्षणैर्भूममहिमरूपः पुमान् ज्ञातव्य इत्यर्थः । इदं च महिमस्वरूपमग्रेऽनुबन्धादिसूत्रे स्फुटीभविष्यति । एवं तत्स्वरूपं निष्कृष्य तादृशस्य शोकतीर्णत्वं पूर्वपृष्टोत्तरत्वेनाह 'स स्वराड् भवती'ति। स भूमात्मरत्यादिमान् स्वस्मिन् राजमानः स्वस्मिन् भूम्नो रञ्जयिता वा भवति, तस्य नामाद्याशाप्राणपर्यन्तलोकेषु कामचारो भवति सर्वप्राप्त्या शोकपारतीर्णो भवतीत्यर्थः । इदमत्र बोध्यम् । व्याख्यातरीत्या भूममहिमरूपः पुमान् यः परिचायितः, तस्य या स्फूर्तिः, सा नाखण्डब्रह्मज्ञानरूपा, 'तत्केन कं पश्ये'दित्यादिवदाकाराभावात्, किन्तु सखण्डतद्रूपा, षण्णां दिशां परिदृश्यमानस्य सर्वस्य चानुवादपूर्वकमात्मस्फूर्तिकथनात्, सापि न वामदेवादेरिव सर्वदा सर्वत्राहंग्रहरूपा, अहंकारादेशोत्तरमात्मादेशकथनेन तस्य व्यभिचारबोधनात् । अतः सा द्विविधाया अपि ज्ञानिस्फूर्तेर्विलक्षणेति तद्वानपि ज्ञानिभ्यो विलक्षणः । 'स यदि पितृलोककामो भवती'त्यादिवदस्य कामानामकथनात् दहराद्युपासकेभ्योऽपि विलक्षणः । मर्त्यसुखानभीप्सुत्वाल्लोकतोऽपि विलक्षणः । किन्तु सत्यवदनादिकारणभूतकृत्यादिजनकभूमात्मकसुखलाभवत्त्वस्योक्तत्वात्पूर्वं भूमलाभवान्, अतो दृष्टश्रुतविज्ञातभगवत्कः परमभक्तः । ततोऽन्यदर्शनादिराहित्यस्योक्तत्वाद्विरहभावे प्रपञ्चविस्मारकपरमासक्तिरूपातिविगाढभावेन सर्वत्र स्वासक्तिविषयभगवत्स्वरूपस्फूर्तिमान्, ततस्तद्रत्यादिमानिति तत्स्वरूपं फलतीति भूममहिमरूपस्य तादृशस्य या स्फूर्तिः, सा तु रसरूपं भगवन्तं भजतो य उक्तरीतिकविगाढभावात्मकसर्वात्मभावव्यभिचारिभावरूपैव, नान्यविधेति, वरणादेव च भूमा प्रतिष्ठित इति तादृशस्फूर्त्यनुमेयस्य वरणलिङ्गभूतस्य सर्वात्मभावस्यैव सर्वस्मादाधिक्यमित्यर्थः । नन्वहंकारादेशस्यात्रोक्तत्वात्तस्य च ज्ञानमार्गीयस्फूर्तितुल्यत्वात्तेन प्रतिबन्धोऽस्य संभाव्यत इत्यतः सूत्रांशेन समाधत्ते तदपीति, 'अन्तरा भूतग्रामव'दितिसूत्र उक्तमिति शेषः । तथा चैतादृशे मुख्यभक्ते

भगवता तादृग्ज्ञानमेतच्छेषतयैव संपाद्यते, न मुख्यतयेति न तादृशस्फूर्त्यास्य प्रतिबन्ध इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत् ॥ ४४ ॥

अत्र सूत्रद्वयेनाशंकते **पूर्वे**त्यादि । नात्र वरणलिङ्गभूयस्त्वमुच्यते, किन्त्वयं **पूर्वविकल्पः** पूर्वप्रपाठके श्वेतकेतूपाख्यान आत्मना सह सर्वस्याभेदो यो विनिरूपित 'ऐतदात्म्यमिदं सर्व'मित्यादिना नवकृत्वस्तस्य विकल्पः प्रकारान्तरं स्यात् । कुतः । **प्रकरणात्** । इदं ह्यात्मप्रकरणम्, अत एव नारदस्यात्मजिज्ञासैवोक्ता, 'सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मि, नात्मवि'दिति । अतः सनत्कुमारोक्तं तदुत्तरमपि तद्विषयकमेव भवितुमर्हति । अत उभयोः प्रपाठकयोरात्मप्रकरणत्वात् पूर्वत्र यदभेदः सर्वस्योक्तः, तस्यैवात्मनः स्वरूपमत्र 'आत्मन एवेदं सर्व'मित्यन्तेनोच्यत इति । अत्र सिद्धान्तिसंमतमेव दृष्टान्तमाह **क्रियामानसव**दिति । यथा पूजाप्रकरणे क्रियारूपं बाह्यं पूजनमुच्यते, आन्तरं च ध्यानात्मकमनोव्यापाररूपम्, नह्येतावता अन्यतरस्य पूजाभिन्नत्वम्, प्रकरणान्नियमात्, तद्वदिहापीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

हेत्वन्तरमाह । नामरूपात्मकं हि जगत् पूर्वप्रपाठके सर्वपदेनानूद्य तत्र ब्रह्माभेद 'ऐतदात्म्य'मित्यनेन निरूपितः । एवमस्मिन्नपि प्रपाठके नारदोक्ता ऋगादिविद्या अनूद्य नामात्मकब्रह्मत्वं तत्रातिदिश्यते । तथैव वाङ्मनःप्रभृतिरूपात्मकं जगत् तत्तच्छब्देनानूद्य तत्र तत्तदात्मकब्रह्मत्वमतिदिश्यते । अतो यथा कौण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुहोती'त्यग्निहोत्रनाम्ना प्राकृताग्निहोत्रधर्मास्तत्रातिदिश्यन्ते, तथात्र नामादिषु नामाद्यात्मकब्रह्मत्वमतिदिश्यत इत्यतोऽपि हेतोर्ज्ञानप्रकारभेद एवात्रोच्यत इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

उक्तामाशङ्कां निराचष्टे **विद्ये**त्यादि । तुः शङ्कानिरासे । सनत्कुमारनारदसंवादे आत्मज्ञानप्रकार एवोच्यते इति यदाशङ्क्यते, तन्न, किं तर्हि, विद्यैवात्र सर्वात्मभावरूपा निरूप्यते, कुतः । **निर्धारणात्** । 'सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्य'मित्युक्त्वा, 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः' इति सुखस्वरूपकथनेऽक्षरपर्यन्तं गणितानन्दत्वेनाल्पतया, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति निरवध्यानन्दमयस्य पुरुषोत्तमस्यैव विजिज्ञास्यत्वेनात्र निर्धारणात् । अयमर्थः । मुण्डके उक्तायां वरणश्रुतौ 'नायमात्मा' इति पूर्वार्धे जीवकृतसाधनालभ्यत्वमुक्त्वा उत्तरार्धे वृतलभ्यत्वमात्मनो वदन्ती 'यं वृणुते तस्यैष आत्मा सन् तं स्वां तनुं वृणुते' इति तस्य स्वभोग्यत्वाय तनुत्वमाह । एतदग्रे च, 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्' 'एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान् तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम' इति मन्त्रः पठ्यते । तत्र बलशब्देन भक्तिरेवाभिप्रेयते,

'न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव, न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिते' त्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्येन, 'अहं भक्तपराधीनः' 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या' इत्यादिनवमस्कन्धीयभगवद्वाक्यैश्च भक्तेर्भगवद्वशीकारकत्वबोधनाद्वशीकारस्य बलकार्यत्वादत्र बलपदेन भगवद्वशीकारकसामर्थ्यविशेषरूपा भक्तिरेवोच्यते, अतो भक्तिहीनेन न लभ्यः । किंच, प्रमादाल्लिङ्गतपोभ्यामलभ्यत्वकथनेन भगवदिच्छानुरूपसेवादिकरणरूपो योऽप्रमादः, यश्च सर्वात्मभावात्मकलिङ्गसहितविरहभावरूपं तपस्ताभ्यां लभ्य इति बोध्यते । उत्तरार्धे च, एतैरुपायैर्यतमानो यो विद्वांस्तस्य फलमुच्यते । तस्यैवं यतमानस्यैष पूर्वोक्त आत्मनोऽप्यात्मा पुरुषोत्तमः, ब्रह्माक्षरात्मकमेतदाधिदैविकं धाम विशते प्रविशति, तद्धृदयेऽक्षरं प्रकाश्य स्वयं तत्र प्रविष्टत्वेन प्रकाशत इत्यर्थः । तैत्तिरीये च, 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्युक्त्वा 'सत्यं ज्ञान'मिति तद्विवरणर्चा हृदयाकाशे निहितं यत्परमं व्योमाक्षरं तत्र ब्रह्मणा सह सर्वकामभोगरूपं फलं परप्राप्तिपदार्थत्वेन विव्रीयते । एवं सत्येतच्छ्रुतिस्वारस्येन वरणजन्यभक्तिपरमकाष्ठाभूतं भगवत्प्रापकं यत्सर्वात्मभावरूपं ज्ञानं सैव मुख्या ब्रह्मविद्यात्र भूमात्मनः पुरुषोत्तमस्य विजिज्ञास्यत्वेनावधारणादवसीयत इति फलति । तथा च श्वेतकेतूपाख्याने सर्वस्य जगतो जीवस्य च ब्रह्माभेदो यो बोध्यते, स परोक्षवादेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वयोग्यताबोधनाय, सनत्कुमारनारदसंवादे तु, योग्यतामात्रेण न पुरुषोत्तमाधिष्ठानरूपं फलम् । तथा सति ज्ञानिमात्रस्य स्यात्, किन्तु भगवदनुग्रहेण भक्तसङ्गेन च भक्तौ सत्यां तत्फलमिति ज्ञापयितुं भक्तस्य नारदस्य, भगवदावेशयुक्तस्य सनत्कुमारस्य च संवादमुक्त्वा भूमपदेन निरवधिसुखात्मकं पुरुषोत्तमं परामृश्य तस्यैव सर्वशोकतारकात्मत्वं तदधिष्ठितस्यात्मनश्च पुरुषोत्तममहिमरूपत्वं बोध्यते । अतः प्रकरणविचारेऽपि पूर्वोक्तमेतच्छेष इति सर्वात्मभावस्यैव मुख्यं विद्यात्वमित्यर्थः । न च वरणश्रुतेः वाक्यत्वेन प्रकरणात् प्राबल्येऽप्यान्यत्रिकत्वान्नैतन्निर्णायकत्वमितिशङ्क्यम् । 'हानौ तूपायने'ति सूत्रे कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानेषु परशाखोक्तवाक्यस्यैव सर्वैर्भाष्यकारैरादरणात्, जैमिनिनापि बाधलक्षणे 'अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशत्वादि'तिसूत्रे, 'नानुयाजेष्वि'ति 'वाक्यस्य, 'आश्रावयास्तु श्रौषड्यजये यजामह' इति दूरस्थवाक्यशेषत्वादरणाच्च । अत्राप्युपसंहारे 'तस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशा' इत्यादिभिर्वाक्यैर्भगवतः सकाशादेव प्राणादिकथनेन भक्त एव परिचाय्यते, अतो न शङ्कालेशः ॥ ४७ ॥

दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

दृश्यते च सर्वात्मभाववतां व्रजसीमन्तिनीप्रभृतीनां पूर्वमितरविस्मृतिर्व्यतिहारश्च, पश्चाद्भगवत्स्पर्शादिना सर्वसामर्थ्यमिति व्यासः स्वानुभवमेव प्रमाणत्वेनाह दर्शनादिति । यागेन समाधौ दर्शनादित्यर्थः ॥ ४८ ॥

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥

ननु सनत्कुमारनारदसंवादात्मकमान्तमेकं वाक्यम्, तत्रोपक्रमे 'मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्, श्रुतꣳ ह्येवं मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविद्' इति श्रावणादुपसंहारोऽपि तदनुरोधेनैव व्याख्येयः, उपक्रमस्यासंजातविरोधत्वेन प्रबलत्वात्, अग्रे चेदात्मपदानामीश्वरपरत्वमङ्गीक्रियते, तदा वाक्यभेद उपक्रमविरोधश्च स्यात्, अतो वाक्यानुरोधात् पूर्वोक्तज्ञानप्रकारविशेष एवात्रोच्यत इत्यङ्गीकार्यमित्याशङ्क्योत्तरं पठति **श्रुत्यादी**त्यादि । एवमुपक्रमगतात्मवाक्यानुरोधाद्वरणजसर्वात्मभावलिङ्गभूयस्त्वस्य **न बाधः** । कुतः । **श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्** । वाक्यापेक्षया श्रुतिलिङ्गयोः प्रबलत्वात्, तदुक्तं पूर्वतन्त्रे, 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षा'दिति चात्र भूमपदेन लभत इति पदेन चोक्ते बोध्ये । निरपेक्षः शब्दो हि श्रुतिः । भूमपदं श्रुतमात्रमितरानिरपेक्षमेव निरवध्यमृतसुखप्रमितिं जनयतीति श्रुतिरूपम्, 'यदा वै सुखं लभतेऽथ करोती'ति सुखलाभश्रुतिः स्वसामर्थ्येन तस्य सुखस्य वरणलभ्यत्वभक्त्यात्मकबललभ्यत्वप्रमितिं जनयतीति पुरुषोत्तमलिङ्गरूपेति ताभ्यां तथेति । न चैवं सत्युपक्रमगतस्यात्मपदस्य पुरुषोत्तमपरत्वनिश्चायनात् तस्याबाधः, नतु वरणालिङ्गस्य सर्वात्मभावस्येति शङ्क्यम् । 'नात्मवित्तरति शोकमात्मविदि'ति नारदवाक्ये 'अथात आत्मादेश' इत्यादिरूपे तदुत्तरवाक्ये च यदात्मपदं तदपि भूयोभूय इत्युत्कृष्टप्रश्नतदुत्तरपर्यवसानाभ्यां सर्वोत्कृष्टे पुरुषोत्तमे पर्यवस्यत्तस्यैव लिङ्गम् । अत एव भूमश्रवणानन्तर 'मस्ति ततोऽपि भूय' इति नापृच्छत्, किन्तु तत्प्राप्त्यर्थमत्यार्त्या 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित' इत्यपृच्छत्, तदा सर्वात्मभाववत्स्वेव प्रतिष्ठित इत्याशयेन सर्वात्मभावलिङ्गात्मकं भावं 'स एवाधस्ता'दित्यारभ्यान्तमुक्तवान् । अतस्तस्यैव द्वितीयप्रश्नस्य तदुत्तरस्य च सर्वात्मभावलिङ्गत्वमिति ॥ ४९ ॥

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥ ५०

नन्वत्रात्मपदस्य पुरुषोत्तमपरत्वेऽपि द्वितीयप्रश्नोत्तराभ्यां सर्वात्मभावसमर्थनमयुक्तम्, तदुत्तरे पुरुषोत्तमस्य स्वप्रतिष्ठताया एव सिद्ध्या सर्वात्मभाववद्भक्तस्य तदधिकरणताया असिद्धौ विवक्षितसर्वात्मभावस्य तेन प्रतिपत्तुमशक्यत्वादित्याशङ्कायामाह **अनुबन्धे**त्यादि । अत्रोत्तरे सर्वात्मलिङ्गात्मको भाव उच्यते इति ज्ञातव्यम् । कुतः । **अनुबन्धादिभ्यः**, अनु पश्चाल्लक्षीकृत्य वा बध्नाति पूर्वोक्तं नियमयतीत्यनुबन्धः । पचाद्यच् । 'स एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजान'न्निति महिमप्रतिष्ठानिगमनवाक्यानन्तरवाक्यस्थः 'स एष' इति पूर्वपरामर्शः, स च तदा यः 'स एवाधस्ता'दित्यारभ्यात्मादेशान्तवाक्योक्तास्त्रिविधा भावाश्चेति द्वन्द्वः । तेभ्योऽनुबन्धादिभ्यश्चतुर्भ्यो हेतुभ्यः । तथा च यदि स्वमहिम्नीति वाक्ये पुरुषोत्तमस्यान्यत्राप्रतिष्ठितत्वं चेदभिप्रेयात्, तदा 'स एष' इत्यनेन भूमद्रष्टारं

नानुबध्नीयात्, अहङ्कारादेशादिकं च न कुर्यात्, किन्तु 'कस्मिन्प्रतिष्ठित' इति प्रश्ने, न क्वापीत्येवोत्तरं वदेत्, वदति त्वेवम्, तस्मात्सर्वात्मभावलिङ्गात्मको भाव एवात्रोच्यत इति तस्य न बाध इत्यर्थः । न बाध इति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । नन्वनुबन्धस्य तदबाधसाधकत्वेऽपि तदादीनां 'स एवाधस्ता'दित्यादिनोक्तानां भावानां कथं तदबाधसाधकत्वमिति चेत्, इत्थम् । पूर्वं ये भावा उक्ताः, तेषां स्वरूप 'मेवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजान'न्नित्यनेन क्रमादुच्यते । तत्र हि पूर्वमतिविगाढभावेन तदितरास्फूर्त्या तमेव सर्वत्र पश्यतीत्येतद्दर्शनं 'एवं पश्य'न्नित्यनेनोच्यते । ततः किंचिद्बाह्यानुसंधानेऽहङ्कारादेशो भवति पूर्ववत् सर्वत्र सर्वरूपतया च स्वस्यैव भानात्, तदा स्वबले स्फुरितेऽहमेव सर्वैः प्रकारैः स्वसामर्थ्येन तं प्रकटीकरिष्य इति युक्तिभिरनुचिन्तयतीत्येत 'देवं मन्वान' इत्यनेन बोध्यते । तेन रासस्थानामिव विचयनगुणगानादिकरणावस्था ज्ञापिता भवति । ततो निरुपधिस्नेहविषयः परमात्मा पुरुषोत्तम एवेति तन्निर्देशो भवति । ततः पूर्ववत् तस्यैव सर्वात्मकत्वे भाते स्वकृतसाधनवैफल्यज्ञानेनातिदैन्ययुक्तस्वाभाविकस्नेहजविविधभाववान् भवतीत्येतदेव 'विजान'न्नित्यनेन बोध्यते । ततोऽतिदैन्यतो जाते भगवदाविर्भावे या अवस्थास्ता 'आत्मरतिरात्मक्रीड' इत्यादिनोच्यन्त इति । अतस्तज्जानीहि । ननु भवत्वेवमत्र सर्वात्मभावलाभः, तथापि तस्य मुक्तावेव पर्यवसानं वाच्यम्, अतो वृथेयं चिन्तेत्याशङ्कानिरासाय दृष्टान्तमाह **प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववदि**ति । अन्यप्रज्ञा प्रज्ञान्तरम्, तत्कृतपृथक्त्वं प्रज्ञान्तरपृथक्त्वम्, तेन तुल्यं षष्ठ्यर्थे वति, सर्वात्मभाववद्भक्तप्रज्ञातोन्या विलक्षणा या मुमुक्षुभक्तप्रज्ञा, मोक्षदातृत्वेन भगवद्विषयिणी बुद्धिः सा प्रज्ञान्तरम् । तद्यथा कर्मज्ञानवदितरभक्तप्रज्ञाभ्यः पृथगेव फलं साधयति, तथा सर्वात्मभाववतो भक्तस्य यादृशी प्रज्ञा भगवद्विषयिणी सापि तादृशं फलं तत्क्रतुन्यायात्साधयिष्यति । अतः सर्वात्मभावस्य न मुक्तौ पर्यवसानमिति फलतोऽपि न बाध इत्यर्थः । अत्र स्वानुभवं प्रमाणत्वेनाह **दृष्टश्चे**ति, उक्तभाववतो भक्तस्य स्वरूपदर्शनाद्यतिरिक्तफलाभावोऽस्माभिरेव दृष्ट इत्यर्थः । शब्दमपि प्रमाणयति दर्शनोपष्टंभाय **तदुक्त**मिति, 'अहं भक्तपराधीन' इत्यादिना भगवतैव दुर्वाससं प्रति नवमस्कन्ध उक्तम् । तथा च यो यदधीनः, स तदिच्छानुरूपमेव करोतीति लोके दृष्टम्, अतो भक्तवश्यस्तेषां भजनानन्दमेव ददातीत्यर्थः । भक्तानां मुक्त्यनिच्छुत्वं तु 'मत्सेवया प्रतीतं चे'त्यादिवाक्येषु स्फुटम्, अतो न सन्देह इत्यर्थः ॥ ५० ॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥

ननु 'यत्र नान्यत्पश्यती'त्यारभ्य अस्य प्रपाठकस्य सर्वात्मभावनिरूपकत्वोक्तिस्तत्रत्यात्मपदानां पुरुषोत्तमपरत्वोक्तिश्चानुपपन्ना, यतो 'मत्सेवया प्रतीतं चे'त्यादिषु पुराणवाक्येषु सर्वात्मभाववतो भक्तस्य मुक्तावपि कामाभावः प्रतिपाद्यते । श्रौते सनत्कुमारवाक्ये 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'ति तत्तल्लोककामनैव सूच्यते । अतः साधकस्वभाववैलक्षण्यादत्र न

सर्वात्मभावनिरूपणं शक्यवचनमित्याशङ्कायामाह **नेत्यादि** । न, सर्वात्मभावानिरूपणमत्रेति यदाशङ्कितम्, तन्न । कुतः । **सामान्यादप्युपलब्धेः** । समानधर्मयोगादपि तच्छब्दप्रयोगस्य 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' 'सृष्टीरुपदधाती'त्यादिश्रुतिषूपलभ्यमानत्वात् । तथा च यथा प्रकृतौ सृष्टयसृष्टिसंघे चाजासृष्टिपदप्रयोगः, तथा प्रकृते कामचारवाक्येऽपि यो लोकपदप्रयोगः, स लोकानां सुखप्रधानत्वात्तेन साधर्म्येण भगवत्संबन्धिषु रतिक्रीडादिषु प्रयुक्तः, ते च मुक्त्यन्तसर्वव्यतिरिक्ताः सर्वात्मभाववद्भक्तकामिता एवेति न तत्प्रयोगेण अत्र न सर्वात्मभावप्रतिपादनाभावः शक्यशङ्क इत्यर्थः । ननु यथाश्रुत एवार्थः कुतो नाद्रियत इत्यत आह **नहि लोकापत्तिः** । सर्वात्मभाववत आत्मनो 'नान्यत्पश्यती'त्यादिधर्मविशिष्टत्वात् हेतोर्न लोकापत्तिर्युक्तिसहा, तादृशस्य स्वराट्त्वेन पूर्वमुक्तत्वात्कामाभाव एव च स्वराट्त्वादिति । किंच, एतदग्रे 'आत्मन एवेदं सर्व'मित्युक्त्वा तेनेतरव्यवच्छेदं कृत्वा ततो 'न पश्यो मृत्युं पश्यती'ति मृत्युदर्शननिषेधः क्रियत इति बोधयितुं दृष्टान्तमाह **मृत्युवदि**ति । तेन तादृशस्य मृत्योरिव लोकानामपि नापत्तिः । तथा चातो यथाश्रुतं न गृह्यत इत्यर्थः ॥५१॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

लोकापत्तिरूपार्थस्याग्रहणे हेत्वन्तरमाह **परेणेत्यादि** । **परेण** 'सर्वमाप्नोति सर्वश' इत्येतेनैतच्छ्लोकतुरीयपादेनापि शब्दस्य 'सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति वाक्यस्य **ताद्विध्यम्**, 'आत्मन एवेदं सर्व'मित्येतद्वाक्यसमानप्रकारकत्वम्, 'तदेष श्लोको भवती'ति वाक्येन, पश्यश्लोकस्य पूर्वोक्तार्थसंग्राहकताया उक्तत्वात्, पूर्वं 'चात्मन एव सर्व'मिति निगमनात्, सर्वैः प्रकारैरात्मन एव पूर्वोक्तसर्वप्राप्तिरित्यस्यार्थस्य सिद्धेः कामचारवाक्यस्य लौकिककामपरत्वं न वक्तुं शक्यमित्यर्थः । नन्वयमर्थः 'आत्मन एवेदं सर्व'मित्यनेनैव सिद्ध इति पुनस्तत्कथनस्य किं प्रयोजनम्, अत आह **भूयस्त्वात्त्वनुबन्ध** इति । तुः शङ्कानिरासे, भूयस्त्वात्, उक्तेऽर्थे हेतूनां भूयस्त्वं बाहुल्यमनुसंधाय, स्वकृतसाधनसाध्यफलापेक्षया स्वयमुद्यम्य भगवता दत्तस्य फलस्य भूयस्त्वमाधिक्यं वानुसंधाय, पुनः श्लोकेनानुबन्धः, तल्लक्षीकृत्य संबन्धः कृत आदरेण बोधित इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥

उक्तेऽर्थे श्रुत्यन्तरसंमतिमाह **एक** इत्यादि । एके शाखिनस्तैत्तिरीयाः शरीरे भक्तानां हृदयाकाशे आत्मनो भगवतो भावादाविर्भावात् तेन सह सर्वकामभोगबोधिकां श्रुतिं पठन्ति । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति । अत्र ब्रह्मणा सह सर्वकामोपभोग उक्त इत्येतदेकवाक्यतायै कामचारश्रुतावप्येवमेवार्थो ज्ञातव्य इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ इति सप्तदशं लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥ १७ ॥

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥ (३-३-१८).

ननु 'ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्' इति श्रुतौ अक्षरब्रह्मविदः परप्राप्तिरुच्यते। सा किमितरसाधननिरपेक्षादक्षरज्ञानात्, किं वेतरसापेक्षादिति संशयः। तत्र श्रुतौ साधनान्तरस्यानुक्तत्वेनान्यनिरपेक्षादेवेतिपूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह **व्यतिरेक** इत्यादि। उक्तश्रुतौ हि गुहायां परमव्योम्नि यन्निहितं तद्वेदनेन परप्राप्तिरुच्यते, तत्र परमव्योमाविर्भावस्तु ज्ञानिगुहायां दुर्घटः। अतस्तत्र परमव्योम्नो व्यतिरेकोऽभावः। कुतो दुर्घट इत्याकाङ्क्षायां तत्र हेतुमाह **तद्भावभावित्वात्**, वरणश्रुतौ यमेवेति यच्छब्दोपबन्धात् कस्यचिदेव वरणमिति निश्चीयते। अतो यत्र वरणाभावः, तत्र भगवद्भावस्यासंभवाज्ज्ञानिनां तथा वरणाभावात् भगवद्विषयको भावो न भावी, तेन भगवद्विषयकभावाभावाद् दुर्घट इत्यर्थः। ननु परमव्योम्नोऽक्षरस्य ज्ञानिज्ञानविषयत्वं यथा जायते, तथाविर्भावोऽप्यस्तु। किंच, व्यापकस्याक्षरस्य विस्मृतकण्ठमणेः स्मरणादिविषयत्ववत् ज्ञानविषयत्वमेवाविर्भाव इति तस्य च जातत्वात् कथं नेत्युच्यत इत्याशङ्कायामाह **न तूपलब्धवदिति**। तुः शङ्कानिरासे। उपलब्धिर्ज्ञानमक्षरविषयकम्, तद्यथा ज्ञानिगुहायां जायते, तद्वत् अक्षराविर्भावो न भवति, स हि वरणहेतुकः, वरणं तु भक्तानामेव, न ज्ञानिनामतो नेत्यर्थः। न च ज्ञानविषयत्वमात्रमाविर्भावः, किन्तु चाक्षुषविषयत्वम्, तच्च तेषां न भवति। अथ साक्षात्कारविषयत्वमेव सः। साक्षात्कारश्च मानसः तेषामस्त्येवेति नोक्तं साधीय इति विभाव्यते। तदापि यस्मै यत्फलं प्रभुर्दित्सति, तं प्रति स्वधामभूतं तत् तथा प्रादुर्भावयति, नान्यथा, ज्ञानिनां त्वव्यक्तासक्तत्वात् तान् प्रति तत्क्रतुन्यायेनाव्यक्ततयैव तत्प्रादुर्भावयति। भक्तानां तु तत्तल्लीलाविशिष्टस्वस्वरूपासक्तत्वात् तान्प्रति तत्क्रतुन्यायेन व्यापिवैकुण्ठात्मकस्वलोकविशिष्टं प्रादुर्भावयतीति साक्षात्कारविषयत्वेऽपि तेन रूपेण न तस्य तथात्वम्, अतो न केवलादक्षरज्ञानात् तत्प्राप्तिरित्यर्थः ॥५४॥

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥

अस्मिन्नर्थे कैमुतिकन्यायकथनार्थं निदर्शनत्वेनाह **अङ्गे**त्यादि। तुः शङ्कानिरासे। उक्तेऽर्थे कथंभावशङ्का न कापि, हि यतो हेतोरङ्गावबद्धाः अङ्गेषु अन्वाधानादिषु अवबद्धाः, 'अध्वर्युं त्वां वृणे, होतारं त्वां वृण' इत्यादिरूपवरणेन नियमिता ऋत्विजः न शाखासु, ते सर्वशाखाविदोऽपि न सर्वासु शाखासूक्तान्यङ्गानि कर्तुं शक्ताः, किन्तु प्रतिवेदम्, 'हौत्रमृचा, आध्वर्यवं यजुषा, औद्गात्रं साम्ना' इति तत्तद्वेदनियतमेव कल्पोक्तप्रकारतः कुर्वन्ति, तत्र सर्वशाखोक्तसर्ववेदोक्तकर्मकुशलानां यत्तावन्मात्रककरणम्, तत्रावबन्धनहेतुभूतयजमानेच्छैव नियामिका, लौकिकेऽपि स्वामिन इच्छा, यत्र वैदिकलौकिककार्यम्, एवं तत्रानन्तकोटिब्रह्माण्डनियामकस्येच्छैव नियामिकेति किं वाच्यम्। अत उक्तेऽर्थे कथंभावशङ्का न कार्येत्यर्थः ॥ ५५ ॥

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥

ननु पूर्वं कर्मज्ञाननिष्ठानामपि पुरुषाणामग्रे भक्तिमार्गीयत्वं भवति, तत्र तथैव भगवद्वरणमिति सिद्धान्तः कृतः, इह तु ऋत्विज एकस्मिन्कार्ये वृतस्य न कार्यान्तरे वरणमिति विरुद्धो दृष्टान्त इत्यरुच्या निदर्शनान्तरमाह **मन्त्रे**त्यादि। मन्त्र आदि यस्य तन्मन्त्रादि, तद्गुणसंविज्ञानः। मन्त्राः कर्म च, तद्वत्, यथा देवस्य त्वे त्यनुषङ्गमन्त्रो बहुषु कर्मसु संबध्यते, यथा वा गायत्रीमन्त्रः सूर्योपस्थाने मन्देहादिनिवारणे च, यथा च, 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्यादिकाम्याग्निहोत्रं कामितार्थसाधकत्वे प्रत्यवायपरिहारे चैकमेव विनियुज्यते, तथात्राप्येकमेव वरणं तत्र तत्र चोपयुज्यते, तेन तत्तन्निष्ठानन्तरं भक्तिनिष्ठेति दृष्टान्तस्याविरोध इत्यर्थः ॥ ५६ ॥ इत्यष्टादशं व्यतिरेकाधिकरणम् ॥ १८ ॥

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥ ५७ ॥ (३-३-१९).

ननु सुखस्वरूपजिज्ञासायां 'यो वै भूमा तत्सुख'मित्युक्तम्, भूमस्वरूपजिज्ञासायां 'यत्र नान्यत्पश्यती'त्यादिना यद्ब्रह्मस्वरूपं निरूपितं तत्सर्वात्मभावस्वरूपमित्युक्तम्, तन्नोपपद्यते, सर्वात्मभावे दुःसहदुःखानुभववतो विरहभावस्य पुराणे कथनात्, 'यो वै भूमा तदमृत'मिति कथनाच्च। किंच, 'स वा एष एवं पश्य'न्नित्याद्युक्त्वाग्रे तस्य 'सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति फलमुच्यते। तच्च मोक्षानन्तरमसंभावितमिति सर्वात्मभावो वा मोक्षो वा प्रतिपाद्य इति भवति संशयः। तत्र कामचारोक्तेर्मुक्तिपूर्वदशायां तन्माहात्म्यबोधनार्थत्वादमृतशब्दाच्च मुक्तिरेव भूमपदेनोच्यत इति प्राप्ते, आह **भूम्न** इत्यादि। **भूमशब्देन** सर्वात्मभाव एवोच्यते। कुतः। हि यतो हेतोर्भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वम्, दर्शपूर्णमासवत्सर्वाधिक्यम्, तस्मात्। तैत्तिरीयसंहितायां प्रथमाष्टकषष्ठप्रपाठकनवमानुवाके 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत्, तेन स परमां काष्ठामगच्छत्' इत्युपक्रम्य, 'य एवं विद्वान् दर्शपूर्णमासौ यजते, परमामेव काष्ठां गच्छति' इति श्रूयते, तत्र यथा व्रतादिदुःखात्मकत्वेऽपि परमकाष्ठालक्षणफलगमकत्वेन दर्शपूर्णमासयोः सर्वक्रतुभ्यो ज्यायस्त्वम्, तथा दुःखात्मकविरहभावसंमिश्रत्वेऽपि अनन्यलभ्यसाक्षात्पुरुषोत्तमानन्दप्राप्तिहेतुत्वेन सुखरूपत्वमुच्यत इत्यन्येभ्योऽस्य ज्यायस्त्वम्, तस्मात् स एवात्रोच्यते, न तु मोक्ष इत्यर्थः। अत्रोपपत्तिमाह **तथा हि दर्शयतीति**। हि यतो हेतोः श्रुतिरेव तथा दर्शयति। 'स एवाधस्ता'दित्याद्युक्त्वा, ततोऽहङ्कारादेशमात्मादेशं च क्रमेणोक्त्वा तत एवं पश्यत पुरुषस्य 'आत्मतः प्राणः' इत्यादिना प्राणाशास्मरादीन् सर्वानात्मत एव दर्शयति। एतच्च सर्वात्मभाववत एवोपपद्यते, न मुक्तस्य, वृत्तिभेदाभावात् प्राणाद्यभावाच्च, नापि जीवन्मुक्तस्य तस्य प्राचीनानामेव प्राणादीनां सत्त्वेन 'आत्मत एव प्राणा'इत्यादिसावधारणोक्तिबाधापत्तेः। तस्मात् सर्वात्मभाव एवात्रोच्यत इति निश्चयः ॥ ५७ ॥ इत्येकोनविंशं भूम्न इत्यधिकरणम् ॥ १९ ॥

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥ (३-३-२०.)

पूर्वाधिकरणत्रयेण सर्वात्मभावस्वरूप तदुत्कर्षतत्फलतदधिकारिणां निर्णयं कृत्वा, इदानीममुख्याधिकारिणामर्थं मत्स्यादिरूपाणां भगवदवतारत्वमविशिष्टं यथा सुतेजःप्रभृतीनां वैश्वानरावयवत्वम्, अतस्तेषामिवैषामपि समस्योपासना कर्तव्या, किंवा पार्थक्येनेति शङ्कायाम्, उपास्यब्रह्मणोऽभेदेऽपि रूपभेदस्य सत्त्वादेकरूपोपासकस्य रूपान्तरानुपासनेऽनुपासनलक्षणस्यावज्ञादोषस्य संभवेन, क्रियमाणाया अप्युपासनायाः सिद्ध्यसंभवात्समस्यैव कार्येति प्राप्ते, आह **नाने**त्यादि । सर्वेष्ववतारेषु **नाना**, पार्थक्येनैवोपासना कार्या । कुतः । **शब्दादिभेदात्** । तत्तद्रूपवाचकानां पदरूपाणां तद्बोधकवाक्यरूपाणां च शब्दानामादिपदादाकारकर्मणां च भेदात्, वैश्वानरावयवव्यस्तोपासन इवात्र दोषाकथनाच्चेत्यर्थः । तेन मिथो विरुद्धानामाकारकर्मणामेकत्र भावनाभावेनाशक्यताऽयुक्तता न भवतीति गुणोऽपि बोध्यः ॥ ५८ ॥ इति विंशं नानाशब्दादिभेदादित्यधिकरणम् ॥ २० ॥

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥ (३-३-२१.)

पृथगुपासनानि कार्याणीति स्थिते चिन्त्यते, किमग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिवत् समुच्चय उत विकल्प इति । तत्र विधिफलयोः समानत्वात्समुच्चय इति प्राप्ते, आह **विकल्प** इत्यादि । उक्त विधानामुपासनानां विकल्प एव । कुतः । **अविशिष्टफलत्वात्** । सर्वेषां तेषां मुक्तिफलकत्वेन तथात्वात् । तथा च मुक्तौ विशेषाभावेनैकस्मादेव तत्सिद्धावन्यस्य प्रयोजनाभावेन अग्निहोत्रादीनामिव तेषां नित्यताबोधकस्य प्रमाणस्याभावेन च तेषां विकल्प एव युक्त इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६० ॥

पूर्वोक्तप्रत्युदाहरणतया आह **काम्यास्त्वि**त्यादि । यासूपासनासु भिन्नानि भिन्नानि फलान्युच्यन्ते, तत्र त्वनेकफलार्थिनस्तत्तत्काममनतिक्रम्य तत्तत्फलकोपासनाः समुच्चीयेरन्, समुच्चयेन कार्याः । कुतः । **पूर्वहेत्वभावात्** । अविशिष्टफलत्वरूपस्य हेतोरभावात् । **नवा** अत्र वाशब्दो विकल्पार्थोऽपि अप्यर्थकत्वेन फलति, तथा च यत्र त्वेकस्यैवोपासनस्य स्वकामितानेकफलकत्वम्, तत्र चेत् तत्सर्वफलाकाङ्क्षया तामेवोपासनां कुर्यात्, तदा तयैव सर्वेषां कामितानां फलानां सिद्ध्या अन्यास्तत्फलका उपासना न समुच्चीयेरन्नपि । अत्रापि स एव हेतुः । अत्र स्वकामितफलेषु तदितरवैशिष्ट्येन अविशिष्टत्वरूपाविशेषणाभावेऽविशिष्टफलत्वस्याभावेन हेत्वभावो बोध्यः । तेन नानार्थत्वाच्छ्लिष्टोऽयं प्रयोग इत्यर्थः ॥ ६० ॥ इत्येकविंशं विकल्प इत्यधिकरणम् ॥ २१ ॥

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥ (३-३-२२.)

कर्मादिशेषत्वाभावेन स्वतः फलजनकतया प्रधानभूतासूपासनासु निर्णयमुक्त्वा, अन्यशेषासु निर्णयं वक्तुमेकफलसाधकानामनेकेषामुपासनां रूपभेदाङ्गभेदाभ्यां भेदेऽपि

तेष्वेकतरोपासने क्रियमाणे तत्फलकोपासनान्तरोक्तान्यङ्गानि समुच्चीयेरन्, न वेतिसंशये, फलैक्यात्समुच्चीयेरन्निति प्राप्तम्, तत्र निर्णयमाह **अङ्गेष्वि**त्यादि । **अङ्गेषु**, तत्तदुपासनाङ्गेषु । **यथाश्रयभावः** । आश्रयमनतिक्रम्य यथाश्रयं स्वाश्रयभूतोपासनामनतिक्रम्य भावः वर्तमानत्वम् । नान्यत्र तत्प्राप्तिरित्यर्थः ॥ ६१ ॥

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

उक्ते नियमे हेतुमाह **शिष्टेश्चे**ति, तत्तदुपासनस्य श्रुतौ तत्तत्प्रतिनियताङ्गवैशिष्ट्येनैवानुशासनात् । चकारेणातिरिक्तकरणे प्रायश्चित्तोक्तिरपि बाधिकेति सापि संगृह्यते । तथाचातथानुशासनादतिरिक्तकरणे प्रसक्तेश्च तत्रैव तान्यङ्गानि कार्याणि, न त्वन्यत्र समुच्चेयानीत्यर्थः । एतदुदाहरणं तु, छान्दोग्ये 'मनो हिंकारो वाक्प्रस्ताव' इत्यादिभिर्दशभिर्वाक्यैर्गायत्रादिनामग्रहणपूर्वकं विहितेषु दशसूपासनेषु 'सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति' इत्याद्युक्तानां सर्वायुर्भोगादीनां फलानामैक्यात्, तत्तदुपासनाङ्गभूतानां क्रमेण तत्र तत्रोक्तानाम्, 'महामनाः स्यात्तद्व्रतम्' 'न प्रत्यङ्ङग्निम[illegible] निष्ठीवेत्तद्व्रतम्' इत्यादीनां भिन्नानां श्रावणात् तानि ज्ञेयानि । एवमन्यान्यपि द्रष्टव्यानि ॥ ६२ ॥ इति द्वाविंशमङ्गेष्वित्यधिकरणम् ॥ २२ ॥

समाहारात् ॥ ६३ ॥ (३-३-२३.)

कर्माङ्गभूततया कर्ममार्गीयेषूपासनेषु निर्णयमुक्त्वा, ज्ञानमार्गीयेषूपासनेष्वङ्गनिर्णयमाह सूत्राभ्याम् । अत्र 'अङ्गेषु यथाश्रयभाव' इति पूर्वस्मादनुवर्तते । अथर्वोपनिषदुक्तेषु श्रीरामाद्युपासनेषु तत्रतत्रोक्ता धर्माः किं तत्र तत्रैव नियम्येरन्, उत समुच्चीयेरन्निति संशये, पूर्वोक्तन्यायेन तत्रैव नियम्येरन्निति प्राप्तम् । तत्राह **समाहारा**दिति । तत्र हि यथा ते ते धर्मा उच्यन्ते, तथा 'यो वै रामचन्द्रः स भगवान् ये वै मत्स्यकूर्माद्यवतारास्तस्मै वै नमो नमः । यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः । नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च' इति रूपान्तरत्वेनापि स्तुतिः श्रूयते । सा च स्तुतिर्भगवत्त्वेनेति भगवत्पदादवगम्यते । पुराणे च प्रकरणात् । एवं सति भगवत्त्वप्राधान्येन तदुपासने समाहारस्य दर्शनादेकस्मिन्नपि रूपे तानि सर्वाण्युपसंहृत्य सर्वरूपत्वेनोपासना कार्येति युक्तमित्यर्थः ॥६३॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥

ऐश्वर्यवीर्यादिगुणानां तेषु साधारण्यश्रवणाच्च तथेत्यर्थः । एवं हेतुद्वयेनोपसंहार उक्तः । रूपभेदप्राधान्ये त्वनुपसंहारपक्षः पूर्वं 'नाना शब्दादिभेदा'दित्यत्रोक्त इति न विरोधः ॥ ॥ ६४ ॥ इति त्रयोविंशं समाहाराधिकरणम् ॥ २३ ॥

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥ (३-३-२४.)

ननु एवमुपासनमग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिवन्नित्यं समुच्चेयम्, उत यावज्जीवमेकमेव कार्यमित्येवं वैकल्पिकमिति संशये, सर्वेषां सर्वरूपत्वादिना तौल्यान्नित्यमिति प्राप्ते, समु-

च्चयनिषेधमाह **नेत्यादि** । **न,** समुच्चयो न कार्यः, किन्तु **वा,** ऐच्छिको विकल्प एव युक्तः । **तत्सहभावाश्रुतेः** । नियमतस्तेषां रूपाणां सहभावश्रवणं चेत्स्यात्, तथोपासनस्य नित्यता स्यात्, न त्वेवम् । अत ऐच्छिक एव विकल्प इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

योऽपि रूपान्तरसमाहारपूर्वकमुपास्ते, सोऽप्येकं रूपमुपास्यत्वेन मत्वा तथोपास्ते, तस्य फलं चैकरूपस्यैव दर्शनं भवति, न तु सर्वेषाम्, इतो हेतोः विकल्प एवेत्यर्थः । अत्रोपासननिर्णयान्ते दर्शनाच्चेति सूत्रयता भगवता व्यासेनोपासनानामुपास्यदर्शनं फलमिति सूच्यत इति बोध्यम् ॥ ६६ ॥ इति चतुर्विंशं न वा तत्सहभावाश्रुतेरित्यधिकरणम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥ श्रीः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥ (३–४–१.)

पूर्वस्मिन्पादे परप्राप्तेरन्तरङ्गसाधनभूतानां विद्यानां मर्यादापुष्टिभेदेन वरणवैविध्यादनेकविधेष्वधिकारिषूपयुक्तानां विचारेण तत्र तत्र तदुचितगुणोपसंहारो विचारितः । इह तु पुष्टिमार्गीयविद्यानां बहिरङ्गसाधनानपेक्षत्वेऽपि पुष्टिमर्यादामार्गीयाणां केवलमर्यादामार्गीयाणां च बहिरङ्गसाधनभूताश्रमादिसापेक्षत्वात् तद्विचारेण कर्मणामुपसंहारो हीनमध्यमाधिकार्यर्थं विचार्यते । ‘क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा’ इति वाक्यान्मन्दमध्यमयोः प्रायशस्तत्रैवासक्तेः । तस्य च हेतुः पूर्वमुपसंहारसूत्रे ‘अर्थाभेदात्’ इत्यनेनोक्तः । तत्रार्थशब्दो वस्तुवाची प्रयोजनवाची चेति यथा वस्तुवाचित्वमादायोपास्याभेदादुपासनासु शाखान्तरोक्तगुणोपसंहारो भवतीत्युक्तम्, तथात्र प्रयोजनवाचित्वमादाय कर्मणामप्युपसंहारो भवति न वेति विचारयन्, कर्मणां शीघ्रं फलसाधकत्वाद्भवतीति प्राप्ते, सिद्धान्तमाह **पुरुषार्थ** इत्यादि । **पुरुषार्थः** फलं भगवत्प्राप्तिरूपः । **अतः** सर्वात्मभावरूपविद्यात एव । कुतः । **शब्दात्** । ‘नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः’ इत्यत्र प्रवचनादीनां कर्मणामेतदात्मलाभहेतुतानिवारणपूर्वकं वरणमात्रकारणताबोधकाद्वाक्यरूपाच्छब्दात् । एवं ‘ब्रह्मविदाप्नोति परम्’ इति ‘तमेव विद्वानमृत इह भवति’ इतिजातीयकाः केवलविद्याकारणत्वबोधका अपि शब्दाः हेतुत्वेन बोध्याः । श्रुतिपदमनुक्त्वा शब्दपदप्रयोगात् ‘केवलेन हि भावेने’त्यादयः साधनान्तराप्राप्यस्य भावमात्रप्राप्यत्वबोधकाः स्मृतिरूपा अपि शब्दाः संगृहीता बोध्याः । स्वनामग्रहणात्स्वस्यात्रैव भरो बोधितः ॥ १ ॥

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

सिद्धान्तं दृढीकर्तुं षड्भिः सूत्रैर्जैमिनिमतेन पूर्वपक्षमुत्थापयति **शेषत्वादित्यादि** । वेदान्ते हि द्विविधानि विद्यावाक्यानि, जीवस्वरूपबोधकानि ब्रह्मस्वरूपबोधकानि च, तत्र जीवः कर्तृत्वात्कर्मार्थः । विष्णुर्भगवानपीज्यत्वात् कर्मशेषः । शेषलक्षणे ‘पुरुषः कर्मार्थत्वा’दिति प्रयुक्तिलक्षणे ‘यजतिचोदनाद्रव्यदेवताक्रियासमुदाये कृतार्थत्वात्’ इति सूत्रात् । अतः कर्मशेषत्वात् वेदान्तवाक्येषु विद्यायां तद्वेद्ये च पुरुषार्थवादः पुरुषार्थरूपत्वमुच्यते । तत्र दृष्टान्तः । **यथान्येषु** द्रव्यसंस्कारकर्मसु, ‘यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न पापꣳश्लोकꣳशृणोति, ‘यदाङ्क्ते, चक्षुरेव तद्भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते, यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा

एतद्यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्यै ' इत्यादिफलश्रुतिरर्थवादः, तथा विद्यावेद्ययोरपि पुरुषार्थोक्तिरर्थवादः । ' द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्या'दिति प्रयुक्तिलक्षणे सूत्रादित्यर्थः ॥ २ ॥

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

स्वोक्तोपोद्बलनाय हेत्वन्तराण्याह आचारेत्यादि । ब्रह्मविदामपि वशिष्ठादीनामग्निहोत्राद्याचारस्य दर्शनात् ॥ ३ ॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

' जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे ' इति ब्रह्मविदोऽपि जनकस्य यज्ञकरणश्रुतेः ॥ ४ ॥

समन्वारंभणात् ॥ ५ ॥

' तं विद्याकर्मणी समन्वारमेत ' इति श्रुत्युक्ताद्विद्याकर्मणोः साहित्येनैव फलस्य सम्यग् लक्षीकृत्यारंभणादुत्पादनात् ॥ ५ ॥

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥

'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा दर्शपूर्णमासयोस्तं वृणीत' इति कल्पश्रुत्या ब्रह्मविदो ब्रह्मत्वेनार्त्विज्ये वरणविधानात् ॥ ६ ॥

नियमाच्च ॥ ७ ॥

' आश्विनं धूम्रललाममालभेत यो दुर्ब्राह्मणः सोमं पिपासेत्, यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात् ' इत्यादि श्रुत्युक्तकर्मकरणनियमात् । चकारेण ' नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते, मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तित ' इति स्मृतिः संगृह्यते । तथा च यदि केवलया विद्ययैव पुरुषार्थः सिध्येत्, तदा ब्रह्मविदो वशिष्ठाद्या यज्ञादिकं नाचरेयुः, श्रुतिश्च जनकादिज्ञानिनां यज्ञकरणं नानुवदेत्, फलसमारंभणे विद्याकर्मणोः साहित्यं च न वदेत्, ब्रह्मिष्ठस्यर्त्विक्त्वेन वरणं च न विदध्यात्, असोमपस्य दुर्ब्राह्मणत्वं अग्निहोत्रे यावज्जीवाधिकारं च वदन्ती सर्वदा कर्मनियमं च न कुर्यात् । गीतास्मृतिश्च नियतकर्मत्यागस्य तामसत्वेन निन्दां न कुर्यात्, अत एतेभ्यो बाधकहेतुभ्यो विद्यायाः फलसाधकत्वे वारिते तस्याः कर्मशेषभूतकर्तृस्वरूपबोधकतया इज्यस्वरूपमाहात्म्यबोधकतया च कर्मशेषत्वमेवादरणीयमित्यर्थः ॥ ७ ॥

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

एवं षड्भिः पूर्वपक्षमुत्थाप्य परिहरति **अधिके**त्यादि । ' तु ' शब्दः पूर्वपक्षं निवारयति । यदुक्तम्, द्रव्यदेवतासंबन्धरूपे यागे द्रव्यवद्देवताया अपि तादर्थ्यादिज्यत्वे

कर्मशेषत्वं ब्रह्मणः इति । तदयुक्तम् । कुतः । **अधिकोपदेशात्** । अधिकस्योपदेशोऽधिकोपदेशः 'स वा अयमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यादिदं किं च स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एव एवासाधुना कनीया'नित्याद्युक्त्वा, अग्रे 'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति, एतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्ति' इति बृहदारण्यकश्रुतौ कर्मापेक्षया अधिकतयोपदेशस्तस्मात् । तथा च यज्ञादेर्यज्ज्ञानसाधकता श्रुत्योच्यते, तस्य यज्ञादिकं विना दुर्ज्ञेयत्वादिज्यत्वेन यज्ञशेषत्वापादनमयुक्तम् । न च वेदानुवचनेनेत्यादिभिस्तृतीयाश्रुतिभिर्ब्रह्मण इज्यत्वेन ज्ञानस्य यागपूर्वाङ्गत्वादस्त्येव तज्ज्ञानमिति तस्य कथं न यज्ञशेषत्वमिति शङ्क्यम् । स्वर्गे फलत्वेन ज्ञानस्य तथात्वेऽपि स्वर्गस्य तच्छेषत्वाभावेनाप्रयोजकत्वात्, इज्येन देवतारूपेण यज्ञार्थत्वेऽपि मूलरूपेण तथात्वाभावात्, न च विष्ण्वादिनाम्ना भ्रमितव्यम्, विभूतिरूपस्य तस्य तद्भिन्नत्वात्, अधिकोपदेशपदेन ततोऽप्याधिक्यबोधनाच्च । न च 'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ती'तिवत् 'यदेव विद्यया करोति तत्तदेवास्य वीर्यवत्तरं भवती'त्यपि श्रूयते, तथा सति पूर्वया यथा यज्ञशेषित्वं प्रतिपाद्यते, तथोत्तरया कर्मशेषत्वमप्यायातीति न पूर्वयैकतरानिश्चय इति शङ्क्यम् । 'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' इत्यादिके तदुत्तरवाक्ये यज्ञेन ब्रह्मवेदनोत्तरं संन्यासश्रावणेन गार्हस्थ्यबाधनात्, तथा सति ब्रह्मवेदनोत्तरं यज्ञाभावेन ब्रह्मणस्तच्छेषताया बाधितत्वात्, 'यदेवे'ति श्रुतेरुद्गीथविद्यायां पठितत्वेन तन्मात्रविषयतया इतरविद्यासंग्रहस्य तथा कर्तुमशक्यत्वात् । न च ब्रह्मणः कर्तृत्वश्रावणाद्विश्वसृजामिव ब्रह्मणोऽपि कर्तृत्वात्कर्मशेषत्वं शङ्क्यम्, 'स न साधुने'त्यादिना कर्मकृतगुणदोषसंसर्गराहित्यश्रावणस्य विरोधात् । अतः कर्मभ्य इज्येभ्यः कर्तृभ्योऽप्यधिकस्योपदेशान्न ब्रह्मणः कर्मशेषत्वम्, नापि विद्यायाः । 'नायमात्मे'ति, 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशु'रित्यादिषु तस्या अप्याधिक्यबोधनादिति स्वमतमपि जैमिनिमतादुत्कृष्टमित्याह **बादरायणस्यैव**मिति । बादरायणस्य मतमेवम्, सूक्ष्मदृष्ट्या विचारात् स्थूलदृष्ट्या विचारकमतादधिकमित्यर्थः । एवं श्रुत्या पूर्वपक्षिमतं निरस्य शिष्यविश्वासार्थं प्रमाणत्वेन स्वानुभवमाह **तद्दर्शना**दिति । तस्य भगवतो भक्तिमार्गस्य च दर्शनात्, इतरस्मादाधिक्येनानुभवादित्यर्थः ॥ ८ ॥

तुल्यं दर्शनम् ॥ ९ ॥

एवं मुख्यतया ब्रह्मणस्तत्प्रसङ्गेन विद्यायाश्च कर्मशेषत्वं परिहृत्य, विद्यायाः कर्मशेषत्वं मुख्यतया परिहर्तुं जैमिनीयान् कर्मावश्यकत्वबोधकत्वायोक्तान् हेतूनाभासीकरोति । **तुल्यं दर्शन**मित्यादिभिः । यदुक्तमाचारदर्शनादिति, तन्न, यतो दर्शनमाचारवदावयोस्तुल्यम्, शुकभरतसनकादीनां कर्मत्यागदर्शनात् । तथा चाचारदर्शनान्यथानुपपत्त्या

विद्यायाः कर्मशेषत्वं न कल्पयितुं शक्यम्, तदभावदर्शनान्यथानुपपत्त्या शेषत्वाभावस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वादित्यर्थः ॥ ९ ॥

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

ननु 'जनको हवैदेह' इति श्रुतिसाहाय्यादाचारदर्शनं त्यागदर्शनात्प्रबलमित्यतः श्रुतिमपि साधारणीकरोति **असार्वत्रिकी**ति । ब्रह्मविदः करणबोधकश्रुतिर्न सर्वब्रह्मविद्विषया, 'एतद्धस्म वै तद्विद्वांस आहु ऋषयः कावषेयाः, किमर्था वयमध्येषामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे, एतद्धस्म वैतत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रिरे, एतं वैतमात्मानं विदित्वा पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय, अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इत्यादि तद्विरुद्धश्रुतीनां विद्यमानत्वात् । अतस्तया श्रुत्यापि न विद्यायाः कर्मशेषत्वसिद्धिरित्यर्थः १०

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

ननु मास्तु श्रुत्याचाराभ्यां शेषत्वनिर्णयः, तथापि ब्रह्मवित्त्वाविशेषे कथमेकेषां कर्मकरणमेकेषां तत्त्याग इति विभागः इत्यत्र हेतुर्वक्तव्यः, नो चेत् कर्मत्यागिनां कर्मानधिकारित्वमेवाङ्गीकार्यम्, तथा पूर्वोक्ताचारश्रुतिभ्यां विद्याया वेद्यस्य च कर्मशेषत्वं दुरपोहमित्यत आह **त्रिभाग** इति । अयं यो विभागः सः शतवत्, शतानन्दिनां यथानन्द एकस्मादुत्तरोत्तरः शताधिकः, तद्वत्, तथा च तत्र यथा श्रोत्रियत्वाकामहतरूपाधिकाराधिक्यादानन्दाधिक्यम्, तथात्र प्रकृतेऽप्यन्यभावराहित्याधिक्येन भगवद्भावाधिक्यम्, अतोऽधिकारतारतम्यं विभागहेतुरित्यसाधारण्यान्न प्रत्यवस्थानावकाश इत्यर्थः । न चैतत्सूत्रस्यैवं व्याख्याने समन्वारंभणसूत्रस्यानुत्तरणात् तेन प्रत्यवस्थानं शङ्क्यम्, तद्विषयवाक्योपसंहारे 'इति तु कामयमान' इति कथनात्कर्माङ्गभूतविद्याया एव तत्र विवक्षितत्वावगमेनाशङ्काया एवानुदयेन भ्रान्तिमूलत्वादिति ॥ ११ ॥

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

यदुक्तं 'तद्वतो विधाना'दित्यनेनार्त्विज्यशेषत्वं विद्याया इति, तदसङ्गतम् । तत्र ब्रह्मशब्देन वेद एव बोध्यते, न चेष्ठनप्रत्ययविरोधः । ब्रह्मत्वेनाविकृतत्वं ज्ञात्वा सततं योऽधीते, नतु वेदात्फलं कामयते, सोऽतिशयेन ब्रह्मवानिति तत्र विवक्षणात् तादृशस्याध्ययनमात्रवतो ब्रह्मत्वात् आर्त्विज्येऽधिकारात् तद्वरणं कल्पे विधीयते, नतु ब्रह्मज्ञानवतः । न च साङ्गसरहस्यवेदाध्ययने वेदान्तार्थरूपब्रह्मज्ञानं तस्यानुक्तसिद्धमिति वाच्यम् । विद्यापदेनापरोक्षब्रह्मज्ञानस्य विवक्षिततया शाब्दस्याङ्गताथामपि प्रकृते दोषाभावात्, अपरोक्षज्ञानस्य विवक्षितत्वं तु छान्दोग्यस्य सनत्कुमारनारदसंवादादेव स्फुटतीति नात्र शङ्कालेशः ॥ १२ ॥

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

यदुक्तम्, 'आश्विनं धूम्रललाममालभेत' इत्यादिषु कर्मकरणनियमात्त्यागपक्षापेक्षया करणपक्ष एव ज्यायान् । अतो विद्यायाः कर्माङ्गत्वं दुरपोहमिति । तन्न । कुतः ।

अविशेषात् । 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' इति श्रुत्या कर्मादिभिर्मोक्षाप्राप्तिमुक्त्वा, त्यागेन सा बोध्यते, तेन मुमुक्षोः कर्मत्यागावश्यकत्वात्तन्नियमः सिध्यतीति विशेषाभावात् । तथा च मुमुक्षोः कर्मत्यागोऽमुमुक्षोस्तत्करणमिति व्यवस्था सिध्यति । तेन कर्म कुर्वतां जनकादीनामप्यन्ते मोक्षप्रश्नात् त्याग एव तात्पर्यमित्यर्थः । ननु तुरीयाश्रमे कर्मत्यागो द्वितीयाश्रमे तु तत्कर्तव्यम्, कर्मणि कर्ता शेषस्तादर्थ्यात्, तस्य नित्यताज्ञानमावश्यकम्, अन्यथा स्वर्गादिभोगस्तस्य नोपपद्येत, तच्च ज्ञानं यद्यप्यनुमानादिनापि भवति, तथापि यथान्यतः क्रतुज्ञानसंभवेऽप्यध्ययनोपात्तवेदवाक्यावगतकर्मस्वरूपाणामेव पुंसां कर्मस्वधिकारः, तथैवाध्ययनोपात्तोपनिषद्वाक्यावगतात्मतत्त्वानामेव कर्माधिकार इत्यध्ययनविधिबलादवगम्यते । अतो वेदान्तजन्यमात्मज्ञानं तु कर्तृद्वारा कर्मशेषमेवेति शङ्काप्येतेनैव निरस्ता बोध्या । नियमेऽविशेषवदाश्रमेऽप्यविशेषात्कर्तृत्वस्य त्यागकर्मणोः साधारण्येन तद्द्वारा ज्ञानस्य तन्निरूपकवेदान्तभागस्य च कर्ममात्रशेषताया नियन्तुमशक्यत्वात्, तत्रात्मनो देहादिभ्यो विविक्तस्य मोक्षोपयोगिन एव सिद्ध्या तादृशस्य ज्ञाने त्यागस्यैव सिद्ध्या तेन कर्मासिद्धेश्चेति । तस्मात्तदुक्ताः सर्वे हेतव आभासा एवेत्यर्थः ॥ १३ ॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

एवं षड्भिः सूत्रैर्जैमिन्युक्तान् हेतूनाभासीकृत्य ब्रह्मिष्ठशब्देन ब्रह्मज्ञ एवोच्यत इति तदीयग्रहिलवादमाशङ्क्य निराचष्टे **स्तुतय** इत्यादि । दर्शपूर्णमासावेतादृशौ यत्र ब्रह्मविदार्त्विज्याधिकारीत्येवं दर्शपूर्णमासस्तुत्यर्थम्, ब्रह्मिष्ठवाक्येनार्त्विज्यानुज्ञा क्रियत इति ब्रह्मिष्ठपदादवगम्यते, अतिशयेन ब्रह्मवान् हि ब्रह्मिष्ठः, तत्र निष्ठावान्, स यदा कृताकृतावेक्षको भवति, तदा तत्कर्म साङ्गं भवति, 'यत् तत्कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवे'दिति दर्शनमात्रेण व्यङ्गतानिवृत्तिस्मरणादिति । अतः कर्मानुग्रहार्थं तथानुज्ञा, न तु ब्रह्मविदोऽधिकारबोधनार्थम्, पूर्वोक्तानुपपत्तिभिरेव पराहतत्वादित्यर्थः ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

ननु 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' इति श्रुत्या, ब्रह्मविदः कर्मकृतगुणदोषौ निषिध्येते । निषेधश्च प्राप्तिपूर्वक इति ब्रह्मविदः करणमावश्यकमिति लिङ्गदर्शनात्प्राप्यत इति चेत्, तत्राह **कामकारेणे**त्यादि । कामेनेच्छया करणं कामकारः । चकारेणेश्वरेच्छया करणं एके शाखिनः पठन्ति, 'एष नित्यः' इत्यादिना, 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' इत्यादिना च । तथा च परानुग्रहेच्छया करणेऽपि तत्कृतगुणदोषासंसर्गान्न तेन पुरुषस्य कर्मशेषत्वमिति, तत्र तादृशसामर्थ्यजनिकाया विद्यायाः कर्मशेषत्वं शङ्कितुमप्यशक्यमित्यर्थः ॥ १५ ॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥

उक्तोपष्टंभाय सूत्रान्तरं पठति उपेत्यादि । एके शाखिन अखण्डाद्वैतभाने कर्मतदधिकारयोरुपमर्दमभावमपि पठन्ति । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत् केन कं पश्येत्'दित्यादिना । अखण्डब्रह्मभानं च ब्रह्मेति भानम्, न तु 'इदं सर्वं ब्रह्म' इति, उद्देश्यत्वेन पुरोवर्तिभानात्, तथा च तादृशस्य कर्मकृत्यसंभवात् क्व ज्ञानस्य कर्मशेषत्वसंभावनापीत्यर्थः॥१६॥

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

एवं त्रिभिः सूत्रैर्ग्रहिलवादं निराकृत्य, श्रुतौ ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यावेवाभिप्रेतौ, चातुराश्रम्यपक्षस्तु स्मार्तत्वान्निर्बल इति, तदादाय कर्मत्यागादरो न युक्त इत्येवं ग्रहिलवादान्तरं परिहरति ऊर्ध्व इत्यादि । च पुनः ऊर्ध्वरेतस्स्वाश्रमेषु कर्माभावमेके जाबालाः शाखिनः पठन्ति । 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृहीभवेत्, गृहाद्वनीभूत्वा प्रव्रजेत्' इति क्रमेण चातुराश्रम्यपक्षमुक्त्वा, 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा, अथ व्रती वा, अव्रती वा स्नातकोऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' इति । तथा चाश्रमचतुष्कस्यापि श्रौतत्वान्न तस्य नैर्बल्यम् । तस्यायुर्भागक्रमेणादरे चतुर्थाश्रमस्थस्यांध्यादिकमपि कचित्संभाव्यत इति तद्वारणाय 'यदि वे'त्यादिना पक्षान्तरं तत्र वैराग्यस्यैव हेतुत्वं चाह । तेन त्यागे वैराग्यस्यैव हेतुत्वम्, न कर्माधिकाराभावस्येति बोधयति । ब्रह्मचर्यानन्तरं केषांचिद् गार्हस्थ्यस्य, केषांचित्संन्यासस्य च कथनेन वैराग्यस्य दुर्लभत्वं च सूचयति । अतो भगवदनुग्रहसाध्यमेव वैराग्यम्, अतो न नैर्बल्यसंभावनापीत्यर्थः । ननु संन्यासेऽपि तदाश्रमीणं कर्म योगाभ्यासादिरूपं वर्तते । अतो वैराग्यसहकृतं ज्ञानं तच्छेषभूतम्, वैराग्यरहितं त्वग्निहोत्रादेशेषभूतमिति शङ्कायामाह **शब्दे** **हीति** । **हि**, यतो हेतोर्ज्ञानस्वरूपं तत्फलं च न युक्तिगम्यम्, किन्तु **शब्दे**, वेदे, अतस्तन्मात्रगम्यम्, तत्र तु, 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति,' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्,' 'एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति' इत्यादिवाक्यैर्मोक्ष एव फलं श्रूयते । सर्वेषां यागादिसाधनानां च तत्रैव पर्यवसानमिति 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादिश्रुत्यावसीयते । अत उक्तश्रुतिविरोधात् संन्यासाश्रमीणकर्माङ्गत्वमपि न विद्यायाः शक्यवचनमित्यर्थः । तेन 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वा' इति तैत्तिरीयश्रुत्या संन्यासस्य सत्त्वशोधनद्वारा ज्ञानोपकारकत्वं वेदान्तविज्ञानस्य चार्थनिश्चायकत्वात्फलसाधकत्वम्, फलं च ब्रह्मप्राप्तिरेव, यावद्दुःखाभावपूर्वकपरमानन्दरूपत्वात्, अतः कर्मविधिनापि परंपरया मोक्ष एव फलत्वेन परामृश्यत इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

परामर्शं जैमिनिश्चोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥

तं **परामर्शं** पूर्वोक्तं श्रुतितात्पर्यनिश्चयं **जैमिनिः** कर्मस्वातंत्र्यवादी **अपवदति**, बाधते, स हि मोहकशास्त्रवादी, 'द्विजन्मना जैमिनिना पूर्ववेदमायार्थतः । निरीश्वरेण वादेन

कृतं शास्त्रं महत्तर'मिति पाद्मवाक्यात् । अतः कर्मानधिकारे आयुस्तुरीये भागे आंध्यादिना संपन्ने संन्यासस्तादृशैः कार्यः । अन्यथा 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते' इति निन्दा न श्राव्येत । अतः कर्मण्येव श्रुतेस्तात्पर्यम् । अपि च, अचोदना, ज्ञानकर्मणोरलौकिकफलसाधकत्वे तत्त्वेन विहितत्वमेव प्रयोजकम् । अपरोक्षज्ञानवाक्ये च विधायको लिङ्गादिप्रत्ययो न श्रूयते, अतो न मुक्तिसाधकत्वं शक्यवचनम्, च 'य एनं विदुः' इत्यादिस्तु यागेज्यविष्णुस्तुतिपरा । तस्माज्ज्ञानस्वातंत्र्यं न युक्तमिति ॥ १८ ॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

एवं तन्मतमनूद्य दूषयति । **अनुष्ठेयं** कर्म **बादरायण** आचार्योऽपवदतीति पूर्वोक्तस्यानुषङ्गः । तत्र हेतुः । **साम्यश्रुतेः** । निन्दासाम्यश्रवणात् । 'यथा वीरहा वे'त्यादौ कर्मत्यागनिन्दा, तथा 'असुर्या नाम ते लोका [illegible] तमसावृताः, तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति अविद्वांसोऽबुधा जनाः' । एतदग्रे च, 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । अथेतरे दुःखमेवापयन्ती'ति च भगवज्ज्ञानरहितस्यापि निन्दा श्रूयते । अतः श्रुतितौल्यादुभयमप्यावश्यकम् । अतो नानया प्रत्यवस्थातुं युक्तमित्यर्थः । न च रागिविरागिभेदेनाधिकारभेदादुभयसाम्यमितिवाच्यम् । वीरहत्वदोषस्य ज्ञानिन्यसंसर्गात्, 'नैनं कृताकृते तपत' इति, 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' इति श्रुत्या तथावसायात् । नैवमविद्वत्त्वकृतस्य दोषस्य कर्तर्यसंसर्गबोधिका श्रुतिरुपलभ्यत इति साम्याभावात् । एताभ्यामेव श्रुतिभ्यां ज्ञानस्य कर्माङ्गत्वमप्यपास्तम् । न च ज्ञाने चोदनाभावः शङ्क्यः । 'तस्मादेवंवित् शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धाचित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्' इति तस्या अपि सत्त्वात् । इतः पूर्वम्, 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य' इति मन्त्रेण, तत् पूर्वग्रन्थेन चात्मरूपस्य फलस्योक्तत्वात् । अतो ज्ञान एव प्रयतनीयम्, न कर्मणीत्यर्थः ॥ १९ ॥

विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥

ननु यदि ज्ञान एव श्रुतेस्तात्पर्यम्, न कर्मणि, तदा तत्प्रधानकपूर्वकाण्डवैयर्थ्यापत्तिरित्याशङ्क्य समाधत्ते **विधिरित्यादि** । पूर्वकाण्डोक्तः कर्मविधिः **धारणवत्**, **वा** शब्दोऽवधारणे । पुष्टिमार्गे तदनपेक्षणात्, मर्यादामार्ग एव तदपेक्षणादिति । तथा च यथा योगशास्त्रे मानस्या मूर्तेर्धारणं समाध्यङ्गत्वेन विधीयते, न तु स्वतंत्रफलसाधकत्वेन, तद्वत् कर्मापि ज्ञानभक्त्योरङ्गत्वेन विधीयते । अतो न पूर्वकाण्डवैयर्थ्यमित्यर्थः । न च तत्र समाधिमधिकृत्य तदङ्गविधाने यमादिवद्धारणस्य विधानाद् युक्तं धारणस्य तदङ्गत्वम्, इह तु ज्ञानभक्त्योरप्रकृतत्वात् तदङ्गत्वं न वक्तुं शक्यम्, दृष्टान्तवैषम्यादिति वाच्यम् । प्रकरणाभावेऽप्यन्यथानुपपत्तिरूपया आवश्यकोपपत्त्या कर्मणा ज्ञानाङ्गत्वे श्रुतेस्तात्पर्यनिश्चयात् । अन्यथा-

नुपपत्तिस्त्वेवं बोध्या । श्रुतिर्हि पूर्वकाण्डे ऐहिकामुष्मिकतत्तत्फलजनकानि काम्यानि कर्माणि विधाय तेषां यन्मुख्यं फलं तन्नित्यकर्माङ्गेषु बोधयति । यथा 'चमसेनापः प्रणयेद्गोदोहनेन पशुकामस्य' इत्यादि, तत्राङ्गे फलश्रुतेरर्थवादत्वेऽप्यसदर्थबोधकत्वं न वक्तुं युक्तम् । श्रुतेः प्रतारकत्वप्रसङ्गात् । अतो यजमानकामनायां तस्यामावृत्तौ प्रधानयागादेव तादृशं फलं भवति, तदकामनायां तु प्रधानवाक्योक्तमेव । अतः काम्यादाधिक्ये नित्यस्य सिद्धे तत्र तात्पर्यं श्रुतेः सिध्यति । ततः पुनरधिकविचारे स्वर्गस्यापि लोकात्मसुखभेदेन द्वैविध्ये लोकस्य दुःखसंभिन्नत्वादात्मसुखे च तदभावात् तत्र तात्पर्यं पर्यवस्यति, पुरुषार्थसिद्ध्यर्थमेव श्रुतेः प्रवृत्तत्वात् । पुनस्ततोऽप्यधिकविचारे तु 'न कर्मणा न प्रजये'ति, 'नैनं कृताकृते तपत' इति, 'एष नित्यो महिमा' इत्यादिवाक्येषु कर्मणां तत्फलानां च जघन्यत्वबोधनात् त्यागस्यावश्यकत्वात् यावज्जीवाधिकारादिवाक्ये कर्मनित्यतायाश्च बोधनान्मुख्याधिकाराभावे फलापेक्षां कर्मासक्तिं च विहाय नित्यं कार्यमिति सिध्यति । अन्यथा द्विविधवाक्यविरोधापरिहारात् दुःखासंभिन्नसुखस्य केवलकर्मणाङ्गीकारे ज्ञानवाक्यवैयर्थ्यस्यापातात् । अधिकारभेदानङ्गीकारे ज्ञानकर्मणोरव्यवस्थितविकल्पःप्रसक्तेश्चेति । तस्मात् स्वानिन्धमेवमेव कर्म श्रुतिर्विदधातीति ज्ञानं स्वतंत्रमेव फलसाधकम् । एवं भक्तावपि बोध्यम् । 'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इति भक्तौ कर्मफलत्वस्य, 'शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभिक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः, त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्' इति साक्षाद्दर्शनसाधनत्वस्य चोक्तत्वात् । तेन ज्ञानाङ्गतया भक्त्यङ्गतया वा मन्दमध्यमाधिकारिभिः कर्म कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥ २० ॥

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेत्, न, अपूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति **स्तुती**त्यादि । 'एष नित्यः' इति श्रुतौ ज्ञानवति विहितनिषिद्धकर्मणोः फलाजनकत्वेन साम्यं यदुच्यते, तज्ज्ञानस्तुतिमात्रम् । कुतः । **उपादानात्** । तयैव हि श्रुत्या कर्मकृतिस्वीकारात्, न हि कर्मकृत्यभावे तत्कृतगुणदोषौ निषेद्धुं शक्येते, प्रसक्तेरेवाभावात्, न च निषेधवैयर्थ्यं शङ्कनीयम् । ज्ञानिनीतरसाधारण्यपरिजिहीर्षया तत्सार्थक्यात् । अतस्तया श्रुतितात्पर्यनिश्चायनस्य कर्तुमशक्यत्वात् कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य निःप्रत्यूह**मिति चेत्** । **न** । कुतः । **अपूर्वत्वात्** । ज्ञाने कर्मफलसंबन्धराहित्यफलकत्वकथनस्य अन्यत्रानुक्तत्वेनापूर्वत्वात् । न हि कर्मणो वा ज्ञानस्य वा यत्फलं यत्रोच्यते, तदुक्तिरपि स्तुतिरिति वक्तुं युक्तम्, तयोरुच्छेदापत्तेः । अतः 'प्रतितिष्ठन्ती ह वै य एता रात्रीरुपयन्ति' इत्यत्रेवात्रापि तत्फलकत्वं विधेयत्वेनैवाङ्गीकार्यम्, न स्तुतिमात्रत्वमित्यर्थः । एतदग्रे च **भावशब्दाच्चे**ति सूत्रं पठ्यते । तत्र च विधिशब्दादित्यर्थः । तथा चापूर्वत्वादेव न तथात्वम्, अपि तु तत्फलकतया विधीयते, 'अपि पदवित्स्या-

दिति, 'कुर्यात् क्रियेत कर्तव्यं भवेत् स्यादिति पञ्चमे । एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षण'मिति न्यायविदां स्मरणादिति । तच्च **विधिर्वे**ति सूत्रे· एतच्छ्रुतिव्याख्याने विध्यंकारादेव सिद्धमित्यत उपेक्षितमिति प्रतिभाति ॥ २१ ॥

पारिप्लवार्था इति चेत् न विशेषितत्वात् ॥ २२ ॥

पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति त्रिभिः । **पारी**त्यादि । 'भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार' इति, 'अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः' इति, 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम' इत्याद्युपाख्यानैर्हि ब्रह्मविद्या प्रतिपाद्यते । उपाख्यानानि तु कर्माङ्गानि । सर्वाण्युपाख्यानानि पारिप्लवे शंसन्तीति तेषां शंसनशेषत्वश्रवणात् । शंसने च शब्दमात्रप्राधान्येनार्थस्याप्राधान्यात् । अतः उपदेशाः पारिप्लवार्थाः, तथा सति उपदेशान्ताख्यानप्रतिपाद्यं ज्ञानं मन्त्रार्थवादवदप्रयोजकमिति तत्प्राधान्यं दूरापेतमिति चेत् । न । एवं ज्ञानस्याप्राधान्यं न शक्यवचनम् । कुतः । **विशेषितत्वात्** । यत्राश्वमेधप्रकरणे 'मनुर्वैवस्वतो राजे'त्यादीन्युपाख्यानानि पठितानि, तत्रानेन वाक्येन तेषां सामान्यतो विनियोगमुक्त्वा, पारिप्लवाख्यकर्मप्रस्तावे पुनर्विशेषतो विनियोगस्तेषामुक्तः 'पारिप्लवमाचक्षीते'ति, तत्र च प्रथमेऽहनि, 'मनुर्वैवस्वतो राजा इति,' द्वितीये 'इन्द्रो वैवस्वतः' इति, तृतीये 'यमो वैवस्वतः इति । एवं विनियुज्यन्ते । अत आख्यानानां विशेषितत्वात्सर्वपदं विनियोगकृतसंकोचात् तन्मात्रपरं सन्नेतराणि संग्रहीतुं शक्तम् । अतो नानेन ज्ञानप्राधान्यप्रतिक्षेपसिद्धिरित्यर्थः ॥ २२ ॥

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २३ ॥

हेत्वन्तरमनेनाह । यथा केवले श्रुतौ विद्याप्राधान्यं श्रुतम्, तथोपाख्यानवत्यामपि श्रुतौ, अत उभयोरर्थैक्यम् । च पुनरुपाख्यानेषु प्रश्नोत्तराभ्याम्, महतां प्रवृत्तिबोधनेन च विद्यामाहात्म्यज्ञापनं प्ररोचनं चाभिः तच्च निरुपाख्यानवाक्यापेक्षितम् । एतदुक्तविद्यापेक्षा च सोपाख्यानवाक्यापेक्षितेत्युभयोरेकवाक्यता, सा चोपबन्धात् समीपे कथनादवगम्यते । अत उपाख्यानवाक्यानामनुपाख्यानवाक्यैकवाक्यतयापि ज्ञानस्य प्राधान्यमनिवार्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २४ ॥

उपपत्त्यन्तरमाह **अत एवे**त्यादि । यतो ज्ञानी ज्ञानेन स्वयमेव यज्ञात्मको भवतीति श्रूयते । 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी, शरीरमिध्मम्' इत्यादिना । अत एव हेतोर्ज्ञानिनो जरामर्याग्निहोत्रेऽग्नीन्धनाद्यनपेक्षा । अग्निहोत्रादिसाधनभूतबाह्यसामग्रीं विनापि तत्सिद्धिर्विदुषो ज्ञानमात्रेण बोध्यते । तथा च यदन्यस्य यज्ञतासंपादकं तस्य स्वकार्यसाधने कथं यज्ञापेक्षा भवेदिति सूचितम् । तस्मात् उपक्रमे यदुक्तं

'पुरुषार्थोऽतः शब्दा'दिति ज्ञानस्य स्वातंत्र्येण पुरुषार्थसाधकं तन्निःप्रत्यूहं सिद्धम् ॥ २४ ॥
इति प्रथमं पुरुषार्थोऽत इत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २५ ॥ (३-४-२-)

अतः परमिदं चिन्त्यते । ज्ञाने कर्मणां फलोपकारित्वाभावेऽपि स्वरूपोपकारित्वमस्ति न वेति । तत्र 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इति श्रुतौ गुरूपसत्तितदुपदेशाभ्यामेव ज्ञानस्य सिद्धौ बह्वायाससाध्यस्य कर्मणः किमर्थं साधनताङ्गीकार्या । तस्मान्नेति प्राप्तम् । तत्र सिद्धान्तमाह **सर्वे**त्यादि । सर्वेषामपेक्षा सर्वापेक्षा । पुरुषोत्तमसाक्षात्काररूपायां विद्यायां सर्वेषां वेदान्तार्थज्ञानकर्मभक्तीनां साधनानामस्त्याकाङ्क्षा । कुतः । **यज्ञादिश्रुतेः** । पूर्वस्मिन्काण्डे यज्ञानाम्, उत्तरस्मिंश्च ज्ञानभक्त्योरादिपदसंगृहीतयोः श्रावणात् । नन्वेवं सति ज्ञानद्वारा कर्मण एव कारणत्वं कुतो नोच्यत इत्यत आह **अश्ववदि**ति । यथा स्वेष्टदेशप्राप्तावेवाश्वापेक्षा, व्यवधानभूतदेशान्तरातिक्रमस्य तत्साध्यत्वात्, न तु प्राप्ते स्वेष्टदेशे । तथाधिभौतिकादित्रिविधप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं क्रमेण कर्मज्ञानभक्तीनामपेक्षा, न तु ज्ञानोत्तरमपि । पूर्वाधिकरण एवानुपपत्तीनामुक्तत्वात् । चकारेण केवलपुष्टिमार्गीयस्य तदनपेक्षापि समुच्चीयते । वरणश्रुत्यनुरोधात् । तेन हीनमध्यमयोरधिकारिणोर्ज्ञानस्य स्वरूपोत्पत्तौ कर्मादीनामस्त्यपेक्षेति सिद्धम् ॥ २५ ॥

शमदमाद्युपेतः स्यात्, तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २६ ॥

ननु यज्ञादिश्रुतेरित्यनेन यज्ञादीनां विद्यास्वरूपोपकारितत्वं साधितम्, तन्न युक्तम् । यज्ञादीनां साधनताबोधिकायां 'तमेतं वेदानुवचनेन' इति श्रुतौ लिङ्गादिप्रत्ययाभावेन विधेः कल्पनं तृतीयाश्रुतिमात्रेण कर्तव्यम्, तदशक्यम् । विद्यास्तुत्यर्थं यज्ञादिषु तत्कारणतानुवादस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वात् । 'तस्मादेवंवित् शान्तो दान्तः' इति श्रुत्या विद्यार्थं साधनान्तरविधानस्यापि दर्शनात् । भक्तिमार्गे तु तदपि न, 'ॐकारेणान्तरितं कृत्वा यो जपति गोविन्दस्य पञ्चपदं मनु तस्यैवासौ दर्शयेदात्मरूप'मित्यादिसाधनान्तरश्रावणाच्च । अतो न पूर्वोक्तं साधीय इत्यत आह **शमे**त्यादि । **शमदमाद्युपेतो** ज्ञानमार्ग इव भक्तिमार्गे स्यादेव । इहामुत्रफलनैराश्येन भगवति मनोयोजने स्वभावादेव तत्सिद्धेः । तुः पूर्वपक्षनिरासे । यद्यप्येवं तथापि **तद्विधेः** शमादिविधे**स्तदङ्गतया** 'आत्मन्येवात्मानं पश्येत्' इति ज्ञानमार्गीयज्ञानाङ्गतया **तेषां** शमादीनां ज्ञानमार्गे**ऽवश्यानुष्ठेयत्वात्**, बुद्धिपूर्वकमनुष्ठेयत्वात्तद्विधानम् । तथा चानया श्रुत्या ज्ञानमार्गीयस्य साधनान्तरमधिकं बोध्यते । तन्मार्गे तेषां सन्निपत्त्योपकारकत्वादवश्यानुष्ठेयत्वम्, भक्तिमार्गे च स्वाभाविकत्वम् । तावतापि यज्ञादीनामारादुपकारकाणामनिषेधान्न निवृत्तिरिति तेऽप्यनुष्ठेया एव, न च लिङ्गाद्यभावो बाधकः । 'विविदिषन्ती'ति फलसंयोगस्यापूर्वस्य तत्र सत्त्वेन

रात्रिसत्रवत् दिष्टाग्निहोत्रे 'उपरि हि देवेभ्यो धारयन्ति' इति समिद्धारणवच्च अपूर्वत्वेनैव विधेः कल्पयितुं शक्यत्वात् । अतो यज्ञादीनां हेतुत्वमदण्डवारितमितिपूर्वोक्तहेतोर्न बाधितत्वमित्यर्थः ॥ २६ ॥

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २७ ॥

ननु यज्ञादेर्यदुपकारकत्वं तत् सत्त्वशोधनद्वारा वाच्यम् । तदयुक्तम् । 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' इति सत्त्वशोधनश्रुतिविरुद्धयोः 'न ह वा एवंविदि किञ्चनान्नं भवति' इति, 'न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति' इति छान्दोग्यवाजसनीयश्रुत्योः सर्वान्नभक्षणानुमतिदर्शनेन सत्त्वशोधनस्यानावश्यकत्वेऽवगते तदर्थं शमादीनां यज्ञादीनां च विधानाङ्गीकारस्याप्रयोजकत्वात् । अतः 'शान्तो दान्तः' इति शमादिवाक्यं 'तमेतं वेदानुवचनेन' इति यज्ञादिवाक्यं ज्ञानिस्तावकमेव, न तु विधायकमित्यत आह **सर्वे**त्यादि । उक्तश्रुतौ या सर्वान्नानुमतिः, सा **प्राणात्यये** प्राणनाशे उपस्थिते, प्राणधारणस्य ज्ञानान्तरङ्गसाधनत्वेनावश्यकतया तदर्थस्य प्राणपोषकस्याहारस्य बहिरङ्गत्वाद‌नुमतिः क्रियते । तत्र प्रमाणमाह **तद्दर्शना**दिति । 'चाक्रायणः किलर्षिरिभ्येन सामिखादितान् कुल्माषांश्चखाद' इति छान्दोग्ये श्रावणात् । तथा चापद्येवानुमतिः, न सर्वदा, अतः सत्त्वशोधनस्यावश्यकत्वं न हन्यते, तेषामारादुपकारकाणामाहारशुद्धिं यज्ञादीनां सन्निपत्त्योपकारकाणां शमादीनां विधेयत्वमेनावश्यकत्वादिति न तेषां वाक्यानां ज्ञानिस्तावकत्वमित्यर्थः ॥ २७ ॥

अबाधाच्च ॥ २८ ॥

ननु भवत्वेवम्, तथापि अशुद्धाहाराच्चित्ताशुद्धिस्तु स्यादेव, द्रव्यस्याशुद्धत्वादित्यत आह **अबाधा**दिति । आपदि तथान्नभक्षणे तज्जनितप्रतिबन्धाभावान्न चित्ताशुद्धिरित्यर्थः ॥ २८ ॥

अपि स्मर्यते ॥ २९ ॥

अत्रापि बीजमाह **अपी**ति । 'जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः, लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' इति स्मर्यते । तथा च यत्राविदुषोऽप्यदोषः, तत्र विदुषः स कुतः शङ्कितुमपि शक्यते । तस्मात् तन्न तस्य ज्ञानबाधकमित्यर्थः ॥ २९ ॥

शब्दश्चातो कामकारे ॥ ३० ॥

सिद्धमाह **शब्द** इत्यादि । 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन, ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' इत्यादिवाक्याद्यतो ज्ञानं सर्वकर्मदहनसमर्थम्, अतः फलदशायां **कामकारे** यथेष्टाचारे न दोषः । अतश्च अत एव साधनदशायामकामकारे कामकाराभावार्थे शब्दः 'शान्तो दान्त' इत्यादिरूपः श्रूयते । तथा च ज्ञानभक्तिमा-

र्गीययोः साधनदशायामाराादुपकारकाणां सन्निपत्त्योपकारकाणां च करणमावश्यकमिति सिद्धम् ॥ ३० ॥ इति द्वितीयं सर्वापेक्षेत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३१ ॥ (३-४-३.)

एवं ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वे सिद्धे जातज्ञानस्याश्रमकर्म कर्तव्यं न वेति चिन्त्यते । तत्र फलस्य जातत्वात् कृतस्यापि कर्मणो ज्ञानेन नाश्यत्वात् न कर्तव्यमिति प्राप्ते, आह **विहितेत्यादि** । यथा ज्ञानिनाप्यनापदि शिष्टानामेवान्नं भक्षणीयं विहितत्वात्, तथाश्रमकर्मापि विहितत्वादेव कर्तव्यम्, तथा चानापद्यशिष्टान्नभक्षणवन्नित्यत्यागोऽपि दोषाय, निषिद्धत्वस्य तौल्यादित्यर्थः ॥ ३१ ॥

सहकारित्वेन च ॥ ३२ ॥

शमदमादीनामन्तरङ्गसाधनानां सहकारीण्याश्रमकर्माणीति तद्रहितैः शमादिभिरपि ज्ञानं न स्थिरीकर्तुं शक्यते । अतस्तानि कर्तव्यान्येवेत्यर्थः । अत्राश्रमधर्माणां सहकारित्वोक्त्या ज्ञानाग्निस्मृतौ ज्ञानस्य कर्मणां यः संसारवासनाजनकत्वरूपः स्वभावः, स एव नाश्यते, न तु स्वरूपमिति ज्ञाप्यते, तेन न कश्चिद्विरोध इति ॥ ३२ ॥

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३३ ॥

एवं पूर्वकक्षाविश्रान्तं ज्ञानमार्गीयज्ञानस्थैर्यसाधनमुक्त्वा, भक्तिमार्गीयज्ञानभक्तिस्थैर्यसाधनानि वदन् तेषामावश्यकत्वमप्याह **सर्वथेत्यादि** । त एव श्रवणकीर्तनादयो भगवद्धर्मा एव, सर्वथापि वर्णाश्रमादिधर्माणां भगवद्धर्माणां च युगपदुपस्थितौ वर्णादिधर्माणामनुरोधमकृत्वापि कर्तव्या इत्यर्थः । तेषामावश्यकत्वे हेतुमाह **उभयलिङ्गादिति** । उभयोक्तं लिङ्गम्, उभयलिङ्गम्, तस्मात्, श्रुत्युक्तात्स्मृत्युक्ताच्च लिङ्गादित्यर्थः । श्रुत्युक्तं लिङ्गं तु, ‘तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः, नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्’ इति । अत्र प्रथमपाद एवकारेण भगवदतिरिक्तनिषेधपूर्वकं यत् तद्विज्ञानविधानम्, तद्विज्ञानसाधनीभूतश्रवणकीर्तनाद्यात्मकतद्यत्नालिङ्गम् । द्वितीये पादे, प्रज्ञापदोक्तं तत्स्मरणं यद्विहितं तदपि, तत उत्तरार्द्धे तादितरानेकशब्दविचारनिषेध इतरशब्दनिन्दा च तद्ध्यानस्य दुष्टत्वं बोधयन्ती भगवद्धर्माणामवश्यकर्तव्यत्वे लिङ्गम् । स्मृत्युक्तं तु, ‘शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति आभिक्ष्णश’ इति, ‘सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः’ इति, अत्र श्रवणादीनामभीक्ष्ण्यं सातत्यं चावश्यकर्तव्यतालिङ्गम् । एतेन भगवद्धर्माणामात्मधर्मत्वेनान्तरङ्गत्वात् आश्रमधर्माणां देहधर्मत्वेन बहिरङ्गत्वात् भगवद्धर्माविरोधेनैव ते कर्तव्या इति स्थितम् । उक्तश्रुतौ भगवद्धर्मा एवोच्यन्ते इत्यत्र लिङ्गं तु तद्ब्राह्मणसमाप्तौ ‘अयमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः’ इत्यादिभगवन्माहात्म्यकथनम् । यद्यपि सूत्रे तच्छब्देन सन्निहितानां पूर्वोक्तानामाश्रमधर्माणां परामर्शः संभाव्यते, तथापि हेतुबोधके विषयवाक्ये भगवद्धर्माणामेव परामृष्टतया तेषामेवावश्यकत्वं साध्यवाक्ये

विवक्षितमिति तच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थकत्वमेव बोध्यम्, साध्यसिद्धेर्हेत्वधीनत्वादिति न कोऽपि शङ्कालेशः ॥ ३३ ॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३४ ॥

प्राधान्येन भगद्धर्मा एव कर्तव्या इत्यत्र हेत्वन्तरमनेनाह **अनभिभवमिति** । ‘सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तपति, नैनं पाप्मा तपति’ इत्यनेन भगवद्धर्मानुरोधादाश्रमकर्माकरणजदोषैरभिभवाभावं च श्रुतिर्दर्शयति, यतो भगवद्धर्मा एवोत्तमानि साधनानीति तान्येवावर्तनीयानीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३५ ॥

उक्तोपष्टंभार्थं आश्रमधर्माणां हीनतां दर्शयति । **तद्दृष्टेः**, तस्मिन्भगवत्येव दृष्टिस्तात्पर्यं यस्य पुंसस्तस्य **अन्तरा** आश्रमधर्मा व्यवधानभूताः इत्यपि श्रुतिर्दर्शयतीति पूर्वेण संबन्धः । श्रुतिस्तु, ‘एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नो एवायमात्मा नायं लोक’ इति, अत्र ऋणापाकरणहेतुत्वेन लौकिकोत्कर्षहेतुत्वे च प्रजाया अभीष्टत्वेऽपि तदुत्पादनव्यासङ्गेन भगवदानन्दानुभवेऽन्तरायो भविष्यतीति भगवद्दृष्ट्या प्रजायामुपेक्षां दर्शयति । तस्मादाश्रमधर्मा भगवद्धर्मेभ्यो हीना इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अपि स्मर्यते ॥ ३६ ॥

कैमुतिकेनापि तत उत्कर्षं भगवद्धर्माणामाह **अपीत्यादि** । ‘तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह’ इति वाक्ये भगवद्भक्त्यन्तरायता ज्ञानवैराग्ययोरश्रेयबोधनात्स्मर्यते । तथा सति बहिरङ्गानामन्तरायत्वे किं वाच्यमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३७ ॥

ज्ञानादिमार्गेभ्यो भक्तिमार्गस्य फलतोऽप्युत्कर्षमाह **विशेष इत्यादि** । **स्मर्यत** इत्यत्राप्यनुषज्यते । स च भगवतो भक्ताधीनत्वरूपः । ज्ञानिषु मुक्तिपर्यन्त एव, न ततो विशेषरूपः । भक्तेषु तु ‘अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज’ इति नवमस्कन्धे, दशमे च ‘एवं संदर्शिता हरिणा भक्तवश्यता, स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशः’ इति स्मर्यते । अतः फलतोप्युत्कर्ष इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३८ ॥

गूढाभिसंधिमुद्घाटयन् फलितार्थमत्राह **अत इत्यादि** । **अतः** पूर्वोक्तश्रुतिरूपाद्धेतोः, **इतरत्**, भक्तिमार्गीयं भगवदीयत्वम्, **ज्यायः**, मुक्तिरूपात् फलादप्यधिकमिति फलितार्थः । अत्र हेत्वन्तरमाह **लिङ्गाच्चेति** । मुक्तानां तु केवलं स्वरूपमेवास्ति निर्मुक्तमायम्, न तु देहेन्द्रियादिकं भजनानन्दानुभवयोग्यं निरध्यस्तत्वात्, भक्तानां तु देहेन्द्रि-

यादिकमपि मायातत्कार्यरहितत्वेनानन्दरूपत्वेन च भगवदुपयोग्येवेति, तथा च तेषां भजनानन्दभावकायाः लिङ्गस्थूलदेहात्मकसामग्र्या आधिक्यादिदं ज्याय इत्यर्थः । भगवतो मुक्तोपसृप्यत्वस्य पूर्वमुक्तत्वात्, श्रीभागवते च ' देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्' इति देहादिहीनत्वेऽपि पुरवासित्वान्यथानुपपत्त्या जडात्मकदेहेन्द्रियादिभिन्नानन्दात्मकतत्सूचनाच्च तथेति हृदयम् । तेन स्वरूपतः साधनतः फलतश्च ज्ञानादिभ्यो भगवद्धर्माणामुत्कृष्टत्वात् आश्रमधर्माणां तेषां चैककालसन्निपाते भगवद्धर्मा एव कार्याः, अन्ये तु गौणकाल इति सिद्धम् ॥३८॥ इति तृतीयं विहितत्वाच्चाश्रमकर्मेत्यधिकरणम्॥३॥

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः ॥३९॥(३-४-४.)

अथेदं चिन्त्यते । तदीयानां क्वचित्सायुज्यमपि भवति, किं वा न भवतीति । तत्र भक्तिमार्गस्यापि साधनरूपत्वात्तस्यापि मुक्तावेव पर्यवसानात् तदीयत्वस्यापि साधनावस्थायामुत्कृष्टरूपत्वात् तस्यापि मुक्तावेव पर्यवसानमिति भक्तिज्ञानमार्गयोः फलतो न कश्चिद्विशेष इति प्राप्ते, आह **तद्भूतेत्यादि** । तुशब्देन मर्यादामार्गीयतदीयत्वव्यवच्छेदः । **तद्भूतस्य** पुष्टिमार्गीयभगवद्भावं प्राप्तस्य **जैमिनेरपि** कर्मजडस्यापि, **नातद्भावः** न भगवद्भावतिरोधानम् । अत्र जैमिनिग्रहणं कैमुतिकन्यायसूचनार्थम्, जैमिन्युपरि चेदनुग्रहः स्यादयमत्यन्तहीनाधिकार्यपि तदीयत्वान्न हीयेत, किमुत अन्यो मध्यमाधिकारी ज्ञानादिनिष्ठ इति । तत्र हेतूनाह **नियमेत्यादि** । नियमात्, अतद्रूपात्, अभावाच्चेत्यर्थः । तत्र नियमस्तावत्, तैत्तिरीयके ' ते ते धामानि ' इत्यादिमन्त्रेषु गोकुलादीनि लीलास्थानानि निरूप्य, तत्र कृतानि भगवत्कर्माणि ' पश्यत ' इत्यपि निरूप्य, पुनः ' तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' इत्यनेन सूरीणां सदा तत्स्थानदर्शनमुच्यते । सूरिपदेन पुरुषोत्तमज्ञानवन्तो भक्ता उच्यते । अतस्तेषामेव सदा तद्दर्शनं नियम्यते । यदि तेषां मुक्तिः स्यात्, तदा स नियमो भज्येत, अतो नियमात्तथेति । भक्तिमार्गीयतदीयत्वसाधनरूपतावारणायाह **अतद्रूपेति** । भावप्रधानो निर्देशः । अतद्रूपत्वात् । उक्तभगवदीयत्वस्य मुक्तिफलरूपत्वात्, 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः, सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा' इति श्रीभागवतस्मृतेः । 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः, अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' इति बृहदारण्यकश्रुतौ पूर्वं 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति ब्रह्मणि जीवस्य लयमुक्त्वा, लयस्वरूपं विवेक्तुमस्मिन्मन्त्रे सर्वकामविमोकेऽस्यामृतत्वभवनमुक्त्वा, ' अत्र ब्रह्म समश्नुते ' इति तुरीयपादेऽस्मिँल्लोक एव ब्रह्मभोग उच्यते, ' समश्नुते' इत्यस्य 'सोऽश्नुते' इतिवत् 'अश भोजन' इत्यस्य प्रयोगात्, संभवति श्रुत्यन्तरैकवाक्यत्वेऽर्थान्तरस्यान्याय्यत्वात् । अतो भक्तिमार्गीयतदीयत्वस्य मुक्तिफलत्वान्न तस्य साधनरूपत्वमित्यर्थः । किंच, **अभावात्** । फलं हि साधनादुत्तमं भवति, मुक्तिस्तु न भगवदीयत्वत उत्कृष्टा । तदुक्तं पञ्चमस्कन्धे पूर्वं भक्तिमार्गं निरूप्य ' तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इति । तथा चैतस्य भगवदीयत्वस्य मुक्तितोऽप्युत्कृष्टत्वेन इत उत्कृष्टस्यान्यस्याभावादस्य न कदाप्यभाव इति सिद्धमित्यर्थः ॥ ३९ ॥ इति चतुर्थं तद्भूतस्येत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

न चाधिकारकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ४० ॥ (३-४-५.)

अथेदं विचार्यते । पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृते, अनुमीयते श्रुतिरनेनेत्यनुमानं स्मृतिः, पतनबोधकमनुमानं पतनानुमानम्, तस्मात् । ब्रह्मादिलोकाधिकारं दत्त्वा अधिकारं फलं ददाति, न वेति । तत्र ध्रुवायेव ददातीति प्राप्ते, तत्राह **न चेत्यादि** । **आधिकारिकमपि** अधिकारसम्बन्धफलं चकारादधिकारमपि न तेभ्यो न ददात्येव । कुतः । **पतनानुमानात्**, 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुन[illegible]नोऽर्जुन' इति पतनबोधकस्मृतेरित्यर्थः । किंच । **तदयोगात्** । तादृशे भगवदीये पतनायोगात् । तथाच ' नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं पश्चात्तापमुपेयिवान् ' इति वाक्येन ध्रुवस्य मर्यादामार्गीयत्वावगमात् तादृशस्याधिकारोत्तरं तां ददाति, ये पुनः पुष्टावङ्गीकृताः, तेषां तु मुक्तावप्याकाङ्क्षाराहित्यात् तामेव न ददातीति दूरापेतमाधिकारिकमित्यर्थः ॥ ४० ॥

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४१ ॥

हेत्वन्तरमाह उपेत्यादि । तु पुनः, एके भक्ताः **उपपूर्वमपि**, आधिकारिकं फलमधिकारं उपपूर्वकपतनमपि मन्यन्ते । तथाचाधिकारिके फलेऽधिकारे च पतनमात्रं न हेयत्वप्रयोजकम्, किन्तु उपपतनरूपत्वमपि तत्प्रयोजकम्, भक्तिभावाच्च्युतेरित्यर्थः । अधिकारसमाप्तौ कदाचिदनुग्रहाशायाः संभवाच्च तस्योपपतनरूपत्वम्, मुक्तौ त्वपुनरावृत्तेः सापि नेति महापतनरूपत्वमिति भावः । तदुक्तं श्रीभागवते 'नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति, स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ' इति । किंच । **भावमशनवत्**, भक्तिमार्गीयं भावं साक्षाद्भगवत्स्वरूपभोगवन्मन्यन्ते, तदुक्तं श्रीभागवते षष्ठस्कन्धे नवमाध्याये 'अथ ह वाव तव महिमामृतविप्रुशा' इत्यादिना गद्येन । जीवस्य साक्षाद्भगवद्भोगोऽसंभावित इत्याशङ्कायामाह **तदुक्तमिति** । ' सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति, 'अत्र ब्रह्म समश्नुत' इति श्रुतिभ्याम्, तत् साक्षाद्ब्रह्मरसाशनमुक्तम् । तथा च पूर्णानुग्रहपात्रेषु आधिकारिकं फलमधिकारं च न ददातीति सिद्धम् ॥ ४१ ॥ इति पञ्चमं नचाधिकारिकाधिकरणम् ॥ ५ ॥

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४२ ॥ (३-४-६.)

अथेदं विचार्यते । प्रचुरभगवद्भावमात्रवतः साक्षात्स्वरूपरसभोगवतो वा गृहत्यागः कार्यो नवेति । तत्र 'मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः' इति वाक्यात् प्रचुरभाववतो गृहाणां बन्धकत्वं न, साक्षाद्भगवत्सम्बन्धफलस्य जातत्वेन साधनभूतो गृहत्यागो न

कार्य इति प्राप्ते, आह **बहिरित्यादि** । तुशब्द उक्तं पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । **उभयथापि** भावमात्रे साक्षाद्भगवत्संबन्धे वा, इति प्रकारद्वयेऽपि, **बहिः** गृहात् बहिर्गमनम्, गृहत्याग इतियावत्, स कर्तव्य एव । कुतः । **स्मृतेराचाराच्च** । 'त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु, मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग्विचरस्व गाम्' इत्येकादशस्कन्धे भगवद्वाक्यरूपस्मृतेः, उद्धवस्य तथाचाराच्च, उभयविधस्यापि भक्तस्य गृहत्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । न चोर्ध्वरेतःसूत्रे 'यदहरेव' इत्यादिश्रुतेर्गृहत्यागः प्रव्राजात्मा विचारित एवेति, किं पुनर्विचारेण इति शङ्क्यम् । अस्य तदतिरिक्तत्वात्, अत्र भक्तं प्रत्युपदेशेनाधिकारिभेदता मार्गभेदेन तथा निश्चयात् । न च फलस्य जातत्वात् 'न बन्धाय गृहाः' इति वाक्याच्च यथायथं तयोर्गृहत्यागवैयर्थ्यं शङ्क्यम्, तयोर्गृहस्य मुक्तिप्रतिबन्धकत्वाभावेऽपि तत्र व्यासङ्गान्तरावश्यकत्वात् गृहस्य प्रभुस्वरूपरसास्वादप्रतिबन्धसंभवात्, तत्त्यागे च विप्रयोगेन तदनुभवस्य सुखेन संभवात् त्यागस्य तयोरप्यावश्यकत्वादिति । यद्यप्ययं भक्त्यौत्कट्यस्वभावादेव तयोः संभवति, तथाप्यस्याश्रमान्तरत्वाभावेनावैधत्वं शङ्क्येतेति तन्निरासायायमनुज्ञातः । एतस्यापि मूलमेकादशस्कन्धे 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः, सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः' इत्यादय एकादशश्लोका ज्ञेयाः । तेन यथा संवर्तादीनां ज्ञानिनाम्, तथायं भक्तानामिति ज्ञेयम् । एतस्यैव प्रपञ्चनं संन्यासनिर्णयग्रन्थ इति च ॥ ४२ ॥

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४३ ॥

भवत्वयं संन्यासो वैधः, तथापि किं भक्त्यौत्कट्यस्वभावादेव सिध्यति, उत विहितत्वमवगत्य कार्य इत्याकाङ्क्षायां सूत्रद्वये व्यवस्थामाह **स्वामिन** इत्यादि । पुष्टिमार्गीयभक्तस्यास्मिन् विहितत्वादिज्ञानमप्रयोजकम्, तत्र हेतुः **स्वामिनः फलश्रुतेरिति** । 'नायमात्मा' इति श्रुतौ स्वामिनो भक्तिमार्गाधिष्ठातुर्भगवतो गोकुलेशादेव, 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इत्यनेन फलस्य भगवल्लाभरूपस्य श्रावणादिति आत्रेयो दत्त आचार्यो मन्यते । तथा च भक्त्यौत्कट्यस्वभावादेव प्राप्तत्वात् न विहितत्वज्ञानमप्यपेक्षत इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ४४ ॥

द्वितीयं पक्षमाह **आर्त्विज्यमित्यादि** । सर्वत्यागपूर्वकं यद्बहिर्गमनं भगवत्समीपगमनं तत् आर्त्विज्यं भक्तस्यर्त्विक्कर्मेत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । तस्यायमाशयः । यजमानो हि स्वकार्यार्थमृत्विज आदौ वृणीते, तथा भगवानपि 'तस्मादेकाकी न रमत' इत्यादिश्रुतेः स्वक्रीडायां जीवान् वृणीते इति 'यमेवैषः' इति श्रुत्युक्तं वरणं तदर्थम् । किंच, तत्र यथा 'यूनः स्थविरान्वा' इति वाक्यादेकरूपाणामेव वरणम्, तथात्र सर्वात्मभाववत्त्वेनैकरूपाणाम् । कर्मणो बाह्यत्वाद्देहधर्मेण वयसैकरूप्यम्, अत्र च लीलायां मनस एव प्राधान्यादान्तरं तत् । भक्तानामृत्विक्त्वेन निरूपणे हेतुत्वेन वरणस्य तात्पर्यान्तरमाह **तस्मै**

हि परिक्रीयत इति । हि यतो हेतोः **तस्मै** यजमान आरब्धकर्मसांगत्वायर्त्विक् **परिक्रीयते**, वरणेन स्वीयः संपाद्यते । तथा च प्रकृतेऽपि स्वचिकीर्षितलीलासाङ्गत्वाय तद्वरणम् । अतो भगवदिच्छामवगत्य बुद्धिपूर्वकं प्रयत्नेन गृहत्याग इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

श्रुतेश्च ॥ ४५ ॥

आथर्वणे गोपालतापनीये 'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्य'मिति भक्तेः संन्यासरूपत्वश्रावणादपि स कार्य इत्यर्थः ॥ ४५ ॥ इति षष्ठं बहिस्तूभयथेत्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४६ ॥ (३-३-७.)

ननु 'यमेवे'ति श्रुतिवरणमात्रं साधनं दर्शन आह । 'शान्तो दान्तः' इति श्रुतिस्तु शमदमादिरूपं साधनान्तरमाह । एवं श्रुत्योर्विरोधे किमादरणीयम्, किं नेति भवति संशयः । तत्र श्रुतित्वाविशेषादन्यतरबाधायोगेन समुच्चय एव युक्त इति प्राप्ते निर्णयमाह **सहकारी**त्यादि । वरणे सहकार्यन्तरस्य शमादेर्यो विधिः, स पक्षेण, वरणं हि पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विधोच्यते, तत्र मर्यादापक्षेण, पुष्टौ तु न तदपेक्षेति न श्रुत्योर्विरोधगन्धोऽपि, भिन्नाधिकारादित्यर्थः। ननु एतानि मानसाभ्यन्तरङ्गाणि साधनानि कुतः पाक्षिकाणि क्रियन्त इत्यत आह **तृतीय**मित्यादि । श्रुतौ हि कायिकादिभेदेन साधनं त्रिविधं विधीयते । तत्र तृतीयं मानसिकं मुख्यम् । तदपि **तद्वतो** मर्यादिकवरणजन्यस्नेहवतोऽपि तावदेव कर्तव्यम्, यावन्न पूर्णस्नेहोदयः । तत्र दृष्टान्तो **विध्यादिव**दिति । यथा तद्वतो विधिस्तदादिरर्थवादो वा न प्रवृत्तिप्रयोजकः, स्वत एव स्नेहस्वभावेन प्रवृत्तिसंभवात्, तथा विद्यात्मकफलाप्तौ शमादिकं मानसं साधनमपि न प्रयोजकम्, स्नेहादेव तत्संभवादिति । मानसिकस्यापि यत्राप्रयोजकत्वम्, तत्र कायिकवाचिकयोः किं वाच्यमित्याशयेनात्र तृतीयमेवोक्तम् । तेन पुष्टिमार्गे वरणेतरस्य नाकाङ्क्षा, मर्यादामार्ग एव तु तदाकाङ्क्षेति सिद्धम् ॥ ४६ ॥ इति सप्तमं सहकार्यन्तराधिकरणम् ॥ ७ ॥

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४७ ॥ (३-४-८.)

ननु छान्दोग्यान्ते 'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य, यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य, शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य, अहिंसन् सर्वाणि भूतानि, अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते, न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' इति श्रूयते । वाजसनेयिशाखायां तु, 'तद्ध स्म वैतत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते' इत्युपक्रम्य, 'अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति श्रूयते । एवमाश्रमद्वयेऽपि श्रौतत्वस्य मुक्तिफलकत्वस्य चाविशिष्टत्वात् विकल्पो वा कालभेदादिना क्रमिकत्वं वेति सन्देहे, युक्तेरुभयत्र तौल्याद्विकल्पे प्राप्ते, उपसंहारस्य तात्पर्यग्राहकत्वाद् गृहाश्रम एव श्रुतेस्तात्पर्यम् । त्यागोक्तिस्तु ब्रह्मैतादृशं यदर्थं

सर्वं त्यज्यत इति स्तुतिपरा । अतः **पूर्वाधिकरणैर्यत्प्रतिपादितं त्यागावश्यकत्वम् तद्युक्त**मिति प्राप्ते, गृहिणोपसंहारस्य हेतुत्वेन तत्तात्पर्यमाह **कृत्स्नेत्यादि** । त्यागे वाङ्मनसोरेव भगवति विनियोगः, न सर्वेन्द्रियाणाम् । गृहिणस्य तु सर्वैः प्रकारैर्भजनं संभवति, परिजनश्च कृतार्थो भवतीति, भजने कृत्स्नभावो भवति, अतस्तेनोपसंहारः कृत इत्यर्थः । अत्र गमकं तु श्रुतौ 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य' इति कथनम् । तदेतद्धृदिकृत्य कर्मठगृहिणं व्यावर्तयितुं सूत्रे तुशब्दमाह । श्रुतावात्मपदं च ब्रह्मपरम् । बाधकाभावे शक्तिसंकोचस्यान्याय्यत्वादिति । तथा च पञ्चमस्कन्धे भवाटवीसमाप्तौ 'यो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थदारान् प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम्, नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः' इति भरतवृत्तान्तस्य श्रीशुकैरनुवादात्त्यागाधिकाराभावे 'एवं गृहे स्थित्वा भगवद्भजनं कुर्यात्' इति बोधनायेदं व्यासचरणैरुक्तमित्यर्थः ४७

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४८ ॥

गृहिणोपसंहारे हेत्वन्तरमाह **मौनवदित्यादि** । **मौनवत्**, मननशीला वेदार्थविचारका वा मुनयः, तेषां भावः कर्म वा मौनमिति योगः । वाङ्नियमो मौनमिति रूढिः । तत्र योगापेक्षया रूढेर्बलवत्त्वात् 'मौनानीहानिलायामादण्डावाग्देहचेतसाम्' इति भगवतैकादशे रूढस्यैवार्थस्यादरणात् मौनं वाङ्नियमः, तच्च त्रिदण्डिधर्मोपलक्षकम् । तथा च तद्वत् **इतरेषां** ततोऽतिरिक्तानामात्मनि सर्वेन्द्रियसंप्रतिष्ठापनादीनामपि श्रुत्या गृहिण उपदेशात् युक्तो गृहिणोपसंहारः धर्मबाहुल्यादित्यर्थः । तत्र तु नियमनमात्रं वागादीनाम्, अत्र तु भगवति विनियोग इति तत आधिक्यमिति भावः ॥ ४८ ॥

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ४९ ॥

ननु भगवति सर्वेन्द्रियविनियोगाद्गृहिणोपसंहार इति यदुक्तम्, तन्न युज्यते । इतः पूर्वं 'शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयान' इति कर्ममार्गीयसाधनोपक्रमादित्याशङ्क्य, तत्तात्पर्यमाह **अनाविरित्यादि** । भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैवाभिवृद्धिस्वभावकत्वात्तमनाविष्कुर्वन् प्रकटमकुर्वन् भजेतेति ज्ञापनाय तदुक्तिः । अन्यथा 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य' इति न वदेत्, अतस्तथेत्यर्थः । मुख्यं हेतुमाह **अन्वयादिति**, ल्यब्लोपे पञ्चमी, भगवता सह अन्वयं संबन्ध प्राप्य इति । तथा च संबन्धाभाव एवाविष्करणम्, न तु संबन्धे । अतस्तथा भजनबोधनार्थं तथोपक्रम इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५० ॥

वैदिककर्मकरणे तात्पर्यमुक्त्वा, लौकिकतत्करणसमयमाह **ऐहिकमित्यादि** । ऐहिकं लौकिकं भोजनपुत्रोत्पादनादिकर्म, **अप्रस्तुतप्रतिबन्धे**, प्रस्तुतस्य भगवद्भजनस्य प्रतिबन्धविघटनं प्रस्तुतप्रतिबन्धः, तदभावे कार्यमितिशेषः । न तु प्रतिबन्धसंभावना

यामित्यर्थः । तत्करणे कावश्यकतेत्यत आह **तद्दर्शनादिति** । 'आचार्यकुलात्' इत्युपक्रम्य, अग्रे 'धार्मिकान् विदध'दिति श्रुतौ दर्शनात् । तथाच श्रुतौ वैदिकवल्लौकिकमपि भजनगोपनार्थमुच्यते, न तु तत्करणे तात्पर्यम्, तत्र श्रुत्युक्तत्वादैहिकाग्रह आवश्यकताभ्रमेण मा करोत्वित्येतदर्थं तत्समयमत्रोक्तवानिति ज्ञेयम् । एवं च यस्य मर्यादायां वरणं वर्तते, तेन साधनापरिपाकदशायमेवं गृहे स्थित्वा भजनं कार्यं तत्तात्पर्यं गोपयेतेति सिद्धम् ॥ ५० ॥ इत्यष्टमं गृहिणोपसंहाराधिकरणम् ॥ १८ ॥

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५१ ॥ (३-४-९.)

'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य' इति छान्दोगश्रुतौ मुक्तेर्ब्रह्मसंपत्तिः फलमुक्तम् । सा च 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्' इति सूत्रे भगवतो मुक्तोपसृप्यत्वबोधनेन भजनानन्दानुभवरूपैव सिध्यति । सा च सर्वात्मभाव एवेति च त्याग एव, गृहस्थितस्य भजनकृतिस्तु पूर्वोक्ताधिकाराभावे । तस्य च फलं ब्रह्मलोकाभिसम्पत्तिः पुनरावृत्त्यभावश्च श्रुत्या दर्शित इति मुक्तिपर्यन्तमेव फलम्, उत मुक्तिफलमपि भजनानन्दरूपं तस्य भवतीति संशये, मुक्तिपर्यन्ततताया एव श्रुतौ तस्योक्तत्वात् तृतीयस्कन्धे च 'हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते' इति कथनाच्च गृहिणो मुक्तिपर्यन्ततैवेति प्राप्ते, निर्णयमाह **एवमित्यादि** । **एवम्**, उक्तरूपस्य गृहिणो मुक्तिफलस्य भजनानन्दानुभवरूपस्यानियमः कादाचित्कत्वम् । भगवता दीयते चेत्, प्राप्नोति, नो चेत्, नेति, 'भगवान्मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति वाक्येन तस्य भगवदधीनत्वादिति **अनियम** औत्सर्गिकं हेतुमाह **तदवस्थे**त्यादि । 'न स पुनरावर्तते' इति श्रुत्यावृत्त्या तस्य मुक्त्यवस्था एवावधृतेः निर्धारात् । आवृत्तिः समाप्तिद्योतनाय । तथा च यद्यप्यनया श्रुत्या मुक्तिफलनियमाभाव एव समायाति, तथापि 'तस्य तावदेवे'ति श्रुतेः 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यनया पठितया भक्तिमार्गे च भगवत एवाचार्यतया तद्दयया भजनानन्दोपि भवतीति **सूत्रकारैस्तथोक्तम्** । तेन मुक्तिपर्यन्तं भगवद्भावस्य साधनमित्यपि निर्णीतम् ॥ ५१ ॥ इति नवमं मुक्तिफलानियम इत्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥ श्रीः ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भावप्रकाशिका ।

शास्त्रवित्तमश्रीमद्गोस्वामिश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रचरणविरचिता ।

(ब्रह्मसूत्रवृत्तिः ।)

चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥ (४–१–१)

पूर्वाध्याये साधनं निरूपितम्, इह फलं निरूपणीयम्, मुख्यमवान्तरं च । तत्रास्मिन्नधिकरणेऽवान्तरं फलं निरूप्यते । **आवृत्तिरि**त्यादि । तत्रायं संशयः । 'आत्मा वारे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । सोन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । तस्मिन् यदन्तस्तदन्तस्तदन्वेष्टव्य ' इत्यादिवाक्यैर्विहितं श्रवणादिकं सकृदनुष्ठेयम्, उतावर्तनीयमिति । तत्र तावत्सकृदेवेति प्राप्तम्, तावतैव शास्त्रार्थस्य कृतत्वसिद्धेः । न च तण्डुलनिष्पत्तिफलकावघातवद्दर्शनफलकानां श्रवणादीनामावृत्तिर्न्यायप्राप्तेति शङ्क्यम् । तत्र वैतुष्यरूपस्य द्वारस्य दृष्टत्वेनात्र च तादृशद्वाराभावेन तद्वैषम्यात् । अतः सकृत्कृतेनापि श्रवणादिना दर्शनसिद्धेरावृत्तिरप्रयोजिकेति प्राप्ते, प्रतिवदति ।

आवृत्तिः श्रवणादीनां कर्तव्येत्येव श्रुत्यभिमतम् । कुतः । **असकृदुपदेशात्** । छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्याने ' ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ' इति वाक्येन जडजीवयोर्ब्रह्मात्मकत्वस्य नवकृत्व उपदेशात् । यदि हि श्रवणादेः सकृत्करणेनैव शास्त्रार्थः सिध्येत्, एकस्मा एव पुनः पुनः किमित्युपदिशेत् । न चावघातवैषम्यम् । अत्राप्यसम्भावनाविपरीतभावनारूपान्तःकरणदोषनिवृत्तिरूपस्य दृष्टस्यैव द्वारस्य विद्यमानत्वात् ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

उक्त एवार्थेऽनेन हेत्वन्तरमुच्यते **लिङ्गा**दिति । श्रुत्यनुमापकत्वात्स्मृतिरत्र लिङ्गपदेनोच्यते । सा च '*यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः । तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्त*'मिति । अत्राञ्जनदृष्टान्तेन परिमार्गस्य दृष्टद्वाररूपत्वमेव बोध्यते । अत्र श्रवणादीनां स्वेन रूपेण साधनत्वेपि तेषामावर्त्यमानत्वेन रूपेण फलत्वम् । अत एव 'आत्मा वार' इति वाक्ये दर्शनं पूर्वमुक्त्वा, ततः श्रवणादिक-

मुच्यते, तेनात्मनः परोक्षज्ञानमप्यवान्तरफलमिति सिध्यति । तथा भक्तिमार्गेपि 'सतामयं सारभृतां निसर्गो यदर्थवाणी श्रुतिचेतसामपि । प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत्स्त्रियो विटानामिव साधुवार्ते'ति स्मृत्युक्तन्यायाद्बोध्यम् । न चास्यार्थस्यासौत्रत्वं शङ्क्यम् । अध्यायस्य फलविचारार्थत्वात् । श्रवणादीनामवान्तरफलत्वेऽनभिसंहितेत्र न तदावृत्तिं विचारयेदिति । अतस्तदावृत्तेरवान्तरफलत्वं निर्बाधम् ।

किञ्च । श्रुतौ कर्मज्ञानभक्तीनामुक्तत्वेपि न त्रयाणां फलतस्तौल्यम्, किन्तु ज्ञानभक्ती फलत उत्कृष्टे इति तत्रैव प्रयतनीयमिति बोधनायात्र कर्मफलमपि बोध्यते । तथा चायं सूत्रार्थः । **आवृत्तिः** पुनःपुनर्जन्म, तदप्यसकृत्, एतत्कर्मणां स्वतन्त्रतया करणे फलम् । तत्र हेतुः । **असकृदुपदेशात्** । वाजिनां बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणे 'एवमेवायं शारीर आत्माङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवते प्राणायैवे'ति । तत्रैव पुनः 'तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामती'त्युपक्रम्य, 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति, तत्रैव तदनुपदमेव, ' तद्यथा तृणजलायुके'त्युपक्रम्य, ' एवमेवायं पुरुष इदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा ब्राह्मं वा प्राजापत्यं वा दैवं वा मानुषं वान्येभ्यो वा भूतेभ्य' इति । तत्रैवाग्रे 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मण' इत्येवं पुनरुपदेशादित्यर्थः । **असकृ**दिति पदं देहलीदीपवत्साध्ये हेतौ च सम्बध्यते । लिङ्गात्मिका स्मृतिरपि गीतायां 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा' इत्यारभ्य 'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्त' इत्यादिरूपा द्रष्टव्या ॥ २ ॥ इति प्रथममावृत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥ (४–१–२)

एवं विद्याया अवान्तरफलं स्वतन्त्रकर्मफलं च विचार्य ज्ञानभक्त्योः फलं विचारयति **आत्मेती**त्यादि । तत्र ज्ञानभक्त्योरनावृत्तिसाधकत्वेनोत्तमत्वाय यत्कर्मणो जघन्यत्वमावृत्तिसाधकत्वादुक्तं ज्ञानाद्यङ्गभूतकर्मणस्तच्छेषत्वादनावर्तकत्वं च ' न स पुनरावर्तत ' इति श्रुतिबलेनोक्तम् । सा श्रुतिः किं सावधिकीमनावृत्तिं त्रिदशामरन्यायेन वदत्युत सर्वथाऽनावृत्तिमिति संशये सावधिकीमिति प्राप्तम् । तथा हि सिद्धान्तिनापि ह्यनावृत्तिवाक्यात्पूर्वं ' यावदायुषमेवं वर्तय'न्निति श्रुतिमनुसृत्य कर्मनैयत्यमवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । कर्मणां च प्ररोहैकस्वभावानां स्वभावस्य दुरतिक्रमत्वात्तत्फलानुभव आवश्यकः । किञ्च, 'य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ती'त्यादिश्रुतेः ज्ञाने सति मोक्षादनावृत्तिः, तच्च ज्ञानमतिदुर्लभम् । ' यतो वाचो निवर्तन्ते ' ' अगृह्यो न हि गृह्यत ' इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणोऽज्ञेयत्वश्रावणात् । एवं ब्रह्मणो ज्ञानाविषयत्वे तत्र भक्तिरप्यसम्भवदुक्तिका, ज्ञानाविषये स्नेहासम्भवात्, अत एवोपदेशासम्भवोपि । एवं प्राप्ते अभिधीयते **आत्मेती**त्यादि । तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासकः ।

इतिशब्दो हेतौ । 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरं' इत्यन्तर्यामिब्राह्मणे भगवतः सर्वात्मत्वेन श्रावणाद्भगवान् सर्वेषामात्मा इति हेतोर्ज्ञानमार्गीयास्तमुपगच्छन्ति 'आत्मेत्येवोपासीते'त्यादिश्रुतिभिरात्मत्वेनोपासीनाः 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुतेस्तदात्मकाः सन्तस्तं प्राप्नुवन्ति प्रविशन्ति । भक्तिमार्गीयास्त्वात्मात्मत्वेन तं भजन्तस्तस्योप समीपे गच्छन्ति । ग्राहयन्ति च स्वस्वमार्गीयरीत्या आत्मत्वेनात्मात्मत्वेन च स्वस्वशिष्यानुपदिशन्ति । तथा च श्रुतौ यथा अप्राप्यत्वाग्राह्यत्वादिकं निरूप्यते, तथा आत्मत्वात्मात्मत्वादिकमपि निरूप्यते । अतो भगवतो विरुद्धसर्वधर्माधारत्वाज्जीवसामर्थ्येनाग्राह्यत्वेपि स्वसामर्थ्येन तं तं प्रत्यात्मत्वेनात्मात्मत्वेन च हृदि स्फुरति, यथाधिकारं बहिरपि प्रकटीभवति । आत्मत्वेन हितकारित्वभावत्वात् । कर्म च प्ररोहैकस्वभावमपि भगवदर्थं भगवत्समर्पितं वा सत् कर्मनाशाय भवति । यथा भक्षितमौषधं पूर्वभक्षितान्नरसपाचनाय । अतः श्रुतिविचारे कर्मस्वभावस्य च विचारे विरोधाभावात् ज्ञानभक्त्योस्तदङ्गतया क्रियमाणस्य कर्मणश्च सर्वथा अनावृत्तिः फलं निर्बाधं श्रुत्यभिप्रेतं चेत्यर्थः ॥ ३ ॥

न प्रतीकेन हि सः ॥ ४ ॥

नन्वात्मत्वेन ज्ञानस्याभेदे तादात्म्ये वा पर्यवसानात्तत्तन्मार्गरीत्या आत्मत्वेन ज्ञाने तत्तन्मार्गीयो मोक्ष इति यदुक्तं तदसत् । 'आत्मेत्येवोपासीत एष म आत्मेति विद्या'दित्यादिषु वाक्येषु तदुक्तेरुपासनार्थत्वावगत्या 'आत्मनि तिष्ठ'न्नित्यादौ सर्वत्र तदुक्तेस्तत्तुल्यार्थत्वेन तस्याः फलार्थताया अयुक्तत्वादित्याशङ्कायां सूत्रान्तरं पठति नेत्यादि । सत्यमात्मत्वोक्तिरुपासनार्था, परन्तु तया श्रुत्या आत्मत्वमवगत्योपासनीयमित्युच्यते, न त्वात्मत्वेन ज्ञानस्य फलमपोद्यते । ततः पूर्वं 'प्राणन्नेव प्राणो भवती'त्यादिना प्राणादिशब्दानां आत्मनः कर्मनामत्वं पाचकपाठकादिवदुक्त्वा, 'स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येष एकैकेन भवती'त्युक्त्वा, अकृत्स्नतावारणार्थमात्मत्वेनोपासनं वदन् 'अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ती'ति आत्मनः सर्वतद्रूपत्वमिति स्वरूपमाह । तेन प्राणादिसर्वरूपस्यात्मनो यत्प्राणादिना एकदेशरूपेणोपासनं तत्प्रतीकोपासनम्, यद्धि अतद्रूपे तत्त्वेनोपासनं तत्प्रतीकमित्युच्यते । तादृशेन प्रतीकेनोपासनेन सः मोक्षो न भवतीति बोध्यते, न त्वात्मत्वेन ज्ञानान्मोक्षो न भवतीति । 'अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ती'त्यनेन कृत्स्नत्वरूपस्य फलस्यात्मोपासने बोधितत्वात् । कृत्स्नत्वं सर्वभावपूर्वकक्षा । सर्वभावश्च मोक्षपूर्वकक्षेति श्रुतिसिद्धत्वादिति । तथा च ज्ञानभक्तिभ्यामप्रतीकोपासने तदङ्गत्वेन नित्यनैमित्तिककर्मकरणे च सर्वथाऽनावृत्तिरूपं फलं निर्बाधमित्यर्थः ॥ ४ ॥

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

न'न्वात्मैवेदं सर्वम्' 'इदं सर्वं यदयमात्मे'त्यादौ ब्रह्मकार्ये सर्वस्मिन् प्रपञ्च आत्मदृष्टेः फलं मोक्ष एवोच्यते । 'तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार'

इति 'एतावदरे खल्वमृतत्व'मिति तत्रतत्र श्रावणात् । सा च दृष्टिः प्रतीकरूपैव । कार्यविषयककारणदृष्टिरूपत्वेनातस्मिंस्तद्दृष्टिरूपत्वात् । अतः पूर्वोक्तमयुक्तमित्यत आह ब्रह्मेत्यादि । सर्वस्मिन् प्रपञ्चे या ब्रह्मदृष्टिः, सा न प्रतीकरूपा । कटककुण्डलादेः सुवर्णरूपत्ववत्सर्वस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात् । सा चाधिकारोत्कर्षे सति तत एव भवतीत्यतोनूद्यते । अतस्तया मुक्तिकथनेपि न दोष इति प्रतीकोपासनान्न मुक्तिरिति यदुक्तं तत्साध्वेवेति पूर्वोक्तमक्षुण्णमित्यर्थः ॥ ५ ॥ इति द्वितीयमात्माधिकरणम् ॥ २ ॥

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥ (४–१–३)

पूर्वाधिकरणे ज्ञानभक्त्योर्मुख्यं भगवत्प्राप्तिरूपं कृपया सम्प्रदायप्रवर्तनरूपमवान्तरफलं तदङ्गभूतकर्मणां च ज्ञानाद्युपकाररूपं निरूप्यात्राङ्गोपासनफलं निरूप्यते आदित्येत्यादि । छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यायां 'अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचे'त्यादिना आदित्यवाय्वाकाशापःप्रभृतय आत्मत्वेनोपासनाविषयाः श्राविताः, तथा तत्रैव मधुविद्यायां 'असौ आदित्यो देवमध्वि'त्युपक्रम्य 'य एवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्त' इति श्रूयते । तत्र प्रतीकोपासनत्वमस्ति, न वेति संशये, तद्वाक्योक्तमुपासनं प्रतीकमिति युक्तम् । उक्तासु श्रुतिष्वादित्यादीनां प्रत्येकमुपास्यत्वेन श्रावणात् । यत्पुनः पूर्वं सर्वत्र ब्रह्मदृष्टेर्न प्रतीकत्वमित्युपपादितम्, तदयुक्तम्, उक्तश्रुतिविरोधात् । न च तद्विरोधादिदमेवायुक्तमिति शङ्क्यम् । ब्रह्मण एकत्वादेकप्रकारकेणाप्युपासनेन सर्वेषां फलसिद्धेः पृथक् पृथगुक्तौ गौरवात्प्रयोजनविशेषाभावाच्च । अतः सर्वस्य ब्रह्मत्वं नाभिमतम्, किन्तु यथा आदित्यादीनां प्रतीकत्वम्, तथा सर्वस्यापीति प्रतीकोपासनादेव तत्तत्फलमित्येवं युक्तत्वादिति प्राप्तम् । एवम्प्राप्ते उच्यते । आदित्येत्यादि । आदित्यादिषु याः ब्रह्मत्वमतयस्ता अङ्गे अङ्गविषयिण्यः आदित्यादीनां वैश्वानरविद्यायां 'मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूप' इति वाक्ये भगवदङ्गत्वेनैव सिद्धत्वाद्भगवतः प्रत्येकमप्यङ्गमुपासितं फलायैवं भवतीति भगवन्माहात्म्यबोधनार्थं ता विधीयन्ते । कुत एतत् । उपपत्तेः । उपपन्नं हि तेषां ब्रह्माङ्गत्वेन ब्रह्मत्वम् । नहि साकारव्यापकस्य ब्रह्मणोङ्गं न ब्रह्म । अतो न तत्र प्रतीकोपासनत्वम् । अपि च । मधुविद्याया'मसौ वा आदित्यो देवमध्वि'ति तस्य मधुत्वं परोक्षवादेन निरूप्य प्रतिदिक्करश्मीनां तत्कृपावलोकनरूपाणां मधुनाडीत्वं ऋचां मधुकृत्त्वमृग्वेदस्य पुष्पत्वं तासामेव ऋचाममृतादिरूपत्वं ताभिर्ऋग्वेदस्य तापं ताभिस्तप्तस्यर्ग्वेदस्य यश आदि रसजननं तत्क्षरणं तस्यादित्यमभितः श्रयणं तस्यादित्यरोहितरूपत्वमित्येवं प्रतिदिक्करश्मीनां ये रसास्तेषाममृतं च निरूप्य, तदग्रे 'तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति तदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति त एतदेवाभिसंविशन्त्ये-

तस्माद्रूपादुद्यन्ती'ति पठ्यते। तथा च दर्शनमात्रेण प्राणधर्माणां क्षुदादीनां निवृत्तिस्तस्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन ज्ञानं तत्रैव च विगाढभावेन लयस्तद्दर्शनानन्दानुभवार्थं तत उदयश्चेत्येतत्सर्वमादित्यस्य भगवदङ्गत्व एवोपपद्यते, न तु ब्रह्मप्रतीकत्वे। प्रतीकभूतासु वाग्धेनूपासनादिषु तथाफलाश्रवणात्। इदमपि हेतुबोधकेनोपपत्तिपदेनैव बोधितं ज्ञेयम्। एवमत्र फलदानोपपादनेन भक्त्यङ्गभूतं माहात्म्यं ज्ञापितम्। तेन भगवत एव फलत्वमिति सिद्धान्तो दृढीकृतः ॥ ६ ॥

आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥

स एव सिद्धान्तो ससाधनः प्रकाश्यते **आसीन** इत्यादि। पूर्वोक्ताङ्गोपासनाफलप्राप्त्या भगवति माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्य स्नेहस्य साधनसम्भवात् तदधीनः संस्तदग्रे भगवानासीनो भवति। एवं बहिः प्राकट्यबोधनेन भक्तवश्यता बोधिता। सा च श्रीभागवते तत्रतत्र प्रसिद्धा ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

अत्रान्तरं प्राकट्यमुच्यते। **ध्यानात्**। भावनौत्कट्यदशायां सततस्मरणरूपात् ध्यानात् ह्यासीनो भवतीत्यर्थः। एतेन स्थैर्यमुक्तं भवति ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

एवं भक्तेच्छया स्वरूपप्राकट्यं निरूप्य तदिच्छानुसारेण लीलानामपि तदाह **अचलत्वं चापेक्ष्येति**। भक्तेच्छामपेक्ष्य अचलत्वं चकाराच्चलत्वं च प्रकटयति। अनायासेन हि क्रियमाणं कर्म लीला। सा प्रसादेनैव करणे तथा भवतीत्यतस्तथेत्यर्थः ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

फलान्तरमाह। **स्मरन्ति**। चकाराच्छृण्वन्ति कीर्तयन्ति। श्रवणादिसङ्ग्रहश्च श्रीभागवते 'अथ ह वाव तव महिमामृतसमुद्रविप्रुषा सकृल्लीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मृतदृष्टसुखलेशाभासाः परमभागवता' इति गद्ये महिमलेहनादादृतः। एवमत्राङ्गोपासनफलं निर्णीतम् ॥ १० ॥ इति तृतीयमादित्याद्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥ (४–१–४)

पूर्वाधिकरणे द्विधाविर्भावरूपफलकथनेन भक्तयोरपि भावद्वैविध्यं सूचितम्। तत्र तयोर्द्वैविध्ये भावभेद एव हेतुरिति तयोस्तारतम्यमस्ति, किं वा भावविषयस्य रूपस्यैक्यात्तत्रास्तीतीह विचार्यते। तत्र विषयैक्येपि प्राकट्यप्रकारभेदस्य भावभेदकृतत्वादस्तीति प्राप्ते, निर्णयमाह **यत्रेत्यादि**। उक्तभक्तयोर्मध्ये यत्र यस्मिन् भक्ते एकाग्रता भगवत्स्वरूपविषयिणी ग्राहकचित्तवृत्तिधारा, न त्वन्तस्थत्वबहिष्ठत्वकृतो विशेषः, तत्र तस्मिन् भक्ते

अविशेषात्। तस्य भावे तद्दृश्ये भगवत्स्वरूपे च तारतम्याभावात्तयोरपि भक्तयोर्न तारतम्यम्, किन्तु तौल्यमेवेत्यर्थः। तथा चैकाग्र्याभावे भावतारतम्यम्, तेन च तयोस्तारतम्यम्, न तु प्राकट्यप्रकारभेदादिति भावः ॥ ११ ॥ इति चतुर्थं यत्रैकाग्रताधिकरणम् ॥ ४ ॥

आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥ (४–१–५)

उक्त एवार्थेनुप्रसङ्गेनान्यद्विचारयति **आप्रायणेत्यादि**। अन्तःप्राकट्यवतो यदा बहिः संवेदने सति बहिः पूर्वानुभूतभगवत्स्वरूपानुभवः, तदा पूर्वमन्तरन्वभूवमधुना बहिरनुभवामीत्यनुव्यवसायो भवति न वेति। तत्र भगवतः सर्वत्र वर्तमानत्वेपि देशकालात्मकविशेषणभेदेनानुभववैलक्षण्यात्तदुभयविशिष्टोऽनुव्यवसायो न्यायात्प्राप्तो भवतीति प्राप्ते, उच्यते। **आप्रायणात्**। श्रीभागवते 'प्रायणं हि सतामह'मिति भगवद्वाक्यात् स्वतः पुरुषार्थत्वेन प्राप्यं परमं पारलौकिकं फलमुच्यते। तन्मर्यादीकृत्य तस्य सैवावस्था सार्वदिकी, न तु बहिः प्राकट्येपि बहिष्ट्वानुसन्धानम्। ननु तर्हि तत्प्राप्त्यनन्तरं तस्य तत्रसायुज्यं तु भविष्यतीत्यत आह **तत्रापि हि दृष्टमिति**। **तत्रापि** प्रायणे प्राप्तेपि **दृष्टं** तच्चरणकमलस्पर्शसंवाहनावलोकनादिरूपं दृष्टमेव फलम्, न त्वदृष्टं सायुज्यम्। हि यतो हेतोः पुष्टिमार्गेङ्गीकृतः, अन्यथा पूर्वोक्तभाव एव न स्यात्। अतस्तस्य भावस्य सार्वदिकत्वं निःप्रत्यूहमित्यर्थः ॥ १२ ॥ इति पञ्चममाप्रायणाधिकरणम् ॥ ५ ॥

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥ (४–१–६)

अङ्गोपासनां प्रस्तुत्य तदीयपरमफलविचारे पुष्टिमार्गीयाणां फलमतीताधिकरणे निरूपितम्। इदानीं मर्यादामार्गीयस्य फलं चिन्त्यते। तस्य ज्ञाने सति कथं फलं भवतीति। तत्र मर्यादामार्गे ज्ञानानन्तरं भक्तेर्भवनात्तेन पूर्वं ज्ञानं सम्पादनीयम्। मध्यमाद्यधिकारिणा कर्मापि कर्तव्यम्, कर्म तु 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपी'ति वाक्यान्नाभुक्तं क्षीयते इति भोगो भवत्येव। तदा भोगानुकूलकर्मणा स्वजातीयं कर्मापि जन्यत इति तत्सन्तानेनुसीव्यमाने चित्तशुद्ध्यभावाज्ज्ञानोदयो दुर्घटः, तदभावे च भक्तेरप्यनुद्भवे तन्मार्गे मुक्तिरूपं फलं न शक्यवचनमिति प्राप्ते आह **तदधिगम इत्यादि**। तस्य **ब्रह्मणोऽधिगमे** ज्ञाने सति ज्ञानस्वभावादेव उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ उत्तराघस्याश्लेषोनुत्पादः, पूर्वाघस्य च विनाशश्च भवति। तत्र हेतुः। **तद्व्यपदेशात्**। छान्दोग्ये उपकोसलविद्यायां 'पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत' इति, तत्रैव वैश्वानरविद्यायां 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतै[illegible] ह्यस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त' इति तयोरघाश्लेषविनाशयोर्विशेषेण कथनादित्यर्थः। [illegible] च कर्मणां प्ररोहैकस्वभावत्वान्मध्यमाद्यधिकारिणां ज्ञानोदयदौर्घट्यं शङ्क्यम्। तैरपि फलाभिसन्धिराहित्येन परमेश्वरार्पणेन कर्मणां क्रियमाणत्वात्तादृशेन तेन बन्धकस्वभावकर्मणोनुत्पादनात्। यथा भक्ष्यत्वेऽविशिष्टत्वेपि

अन्नादजीर्णोत्पत्तिः, न तु तत्पाकार्थं भक्षितादौषधादपि, मात्रया तस्य भक्षणात्, तद्वत् । तथा च ततो यथा आरोग्यम्, तथात्र ज्ञानप्रतिबन्धाभाव इत्यदोषादिति ॥ १३ ॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

ननु मास्तु पापसम्बन्धो ज्ञानिनि, पुण्यसम्बन्धस्तु भविष्यत्येव । तस्य विहितत्वेनाविरुद्धत्वादित्याशङ्क्य तत्रापि पूर्वोक्तहेतुमतिदिशति **इतरस्येत्यादि** । **इतरस्य** पुण्यस्यापि । **एवम्** । 'उभे ह्येवैष एते तरत्यमृतः साध्वसाध्वसाधूनि' इति । 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणी'ति तरणक्षययोर्व्यपदेशात् । असंश्लेषः असम्बन्ध इत्यर्थः । ननु मर्यादामार्गीयस्य ज्ञानानन्तरं भरतवत् सङ्गदोषेण भगवद्भावाच्च्युतौ सङ्गदोषवत् विहितनिषिद्धकर्मसम्बन्धोपि शक्यवचन इति ज्ञानस्य न सर्वात्मना कर्मविरोधित्वमित्याशङ्क्य, तत्रापि नियममाह **पाते** त्विति । तुरप्यर्थे । **पाते** भगवद्भावात् च्युतावपि पुण्यपापयोरश्लेष इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥

ननु देहस्य कर्मजन्यत्वात् ज्ञानेन कर्मनाशे देहनाशस्याप्यवश्यकत्वाद्गुर्वभावे प्रवचनानुपपत्तिः,तदभावे च ज्ञानभक्त्योरप्यनुत्पत्तिप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य समाधत्ते **अनारब्धे**त्यादि । नारब्धं भोगायतनलक्षणं कार्यं याभ्यां ते अनारब्धकार्ये एव पापपुण्ये । **पूर्वे** । पूर्वसूत्रद्वये ज्ञाननाश्यत्वेनोक्ते । न तु यावत्तावच्छिन्ने । तथा च देहजनकस्थापककर्मसद्भावान्न प्रवचनाद्यनुपपत्तिरित्यर्थः । ननु 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणी'ति श्रुत्या 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुत' इति स्मृत्या च सर्वकर्मनाशस्यैव बोधितत्वात्कुतोयं सङ्कोच इत्यत आह **तदवधे**रिति । तुः शङ्कानिरासे । आरब्धकार्यस्य कर्मणो यत् ज्ञानेनादहनं तत् । **अवधेः** अखिलकारणकारणत्वेनाखिलपूर्वावधिभूतो यो भगवदिच्छारूपो हेतुस्तस्मात् । तादृशी तदिच्छा तु पञ्चमस्कन्धे भरतचरिते 'मृगदारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशित' इति 'उपभोगेन कर्मारब्धं व्यपनय'न्निति वाक्याभ्यामुक्ते ये योगविभ्रंशनभोगरूपे प्रारब्धकार्ये ताभ्यामनुमेयेति सर्वमनवद्यम् ॥ १५ ॥

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

ननु प्रारब्धकर्माभुक्तं न नश्यतीति ज्ञानिना तदेव भोगेन नाशनीयम् । न त्वन्यद्विहितं कर्तव्यम्, प्रयोजनाभावात्, दृश्यते तु तादृशामपि वशिष्ठादीनां तत्करणम्, अत उत्तरस्य कर्मणः संश्लेष आवश्यक इत्याशङ्क्य तत्प्रयोजनमाह **अग्निहोत्रा**दीति । अग्निहोत्रादिरूपविहितकर्मकरणं **तत्कार्यायैव** । तस्य भोगस्य यत्कार्यं प्रारब्धकर्मनाशस्तदर्थमेव । तुशब्दः शङ्काव्युदासाय । येषामग्निहोत्रादिकारकं प्रारब्धमस्ति, तैरेव भोगवत्तत् क्रियते, नेतरैः सनकादितुल्यैः । ननु कुत एवं ज्ञायत इत्यत आह **तद्दर्शना**दिति । 'पुण्यः पुण्येन

कर्मणा भवति पापः पापेने'ति श्रुतिः पूर्वकर्मणोग्रिमकर्महेतुत्वं दर्शयति तस्मात् । तथा च न तेनादृष्टान्तरसंश्लेष इत्यर्थः ॥ १६ ॥ इति षष्ठं तदधिगमाधिकरणम् ॥ ६ ॥

अतोन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥ १७ ॥ (४-१-७)

पूर्वाधिकरणे मर्यादामार्गीयस्य मर्यादयैव मुक्तिप्रतिबन्धस्तयैव तन्नाशश्चेति निरूपितम् । अत्र तु पुष्टिमार्गीयस्य प्रारब्धनाशः किं भोगेनोत भोगं विनेति विचार्यते । तत्र प्रारब्धस्य भोगैकनाश्यस्वभावस्य पूर्वं सिद्धत्वाद्भोगं विना पुष्टिमार्गीयस्यापि प्रारब्धं न नश्यति । मार्गभेदमात्रेण प्रारब्धस्वभावनाशस्याशक्यवचनत्वादिति प्राप्ते, अभिधीयते **अतोन्ये**त्यादि । एकेषां पुष्टिमार्गीयाणां भक्तानां उभयोः शुभाशुभप्रारब्धयोः प्रारब्धाप्रारब्धयोर्वा भोगं विनैव नाशो भवति । कुत एवमित्यत आह **अतोन्यापि** हीति । **हि** यतो हेतोः **अतोन्यापि** कर्मणो ज्ञाननाश्यत्वनिरूपिकायाः ज्ञानानाश्यप्रारब्धाक्षेपिकायाश्च श्रुतेः सकाशादन्यापि शाट्यायनिनां श्रुतिरस्ति । 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्या'मिति । तथा ज्ञानभोगाभ्यां कर्मनाशनिरूपिकायाः श्रुतेरेतस्याश्च परस्परविरोधपरिहाराय द्वयोर्विषयभेदस्यावश्यं वाच्यत्वादत्यनुग्रहभाजनमेतस्या विषयस्तद्रहितस्त्वन्यस्या इति सिद्ध्यति । तेन पुष्टिमार्गीयस्य भोगं विनैव कर्मनाश इत्यर्थः ॥१७॥

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

ननु 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तत्तदेवास्य वीर्यवत्तरं भवती'ति श्रुतौ ज्ञानवता कृतस्य कर्मणो वीर्यवत्तोक्त्या ज्ञानिनोपि कर्मफलस्यावश्यं वाच्यत्वेन कर्मश्लेषसिद्धेर्न पूर्वोक्तं साधीय इत्यत आह **यदेवे**त्यादि । हि यतो हेतोः विद्यावान् प्रारब्धक्षयायैव कर्म करोतीति तत् अन्यैः कृतात्कर्मणो वर्यिवत्तरम् । अतस्तत्कर्मान्तरं निवार्य स्वयमपि निरिन्धनवह्निवन्नश्यतीति न तेन श्लेष इति पूर्वोक्तं साध्वेवेत्यर्थः ॥ १८ ॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते ॥ १९ ॥

पुष्टिमार्गीयफलप्राप्तौ प्रतिबन्धाभावमुक्त्वा तत्प्राप्तिप्रकारमाह **भोगेने**त्यादि । **इतरे** अग्रे प्राप्यालौकिकदेहाद्भिन्ने स्थूललिङ्गशरीरे **क्षपयित्वा** पूर्वोक्तरीत्या कर्मनिवर्तनेन दूरीकृत्य, अथ भगवल्लीलोपयोगिदेहप्राप्त्यनन्तरं **भोगेन सम्पद्यते** । 'सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणे'ति श्रुत्युक्तेन परप्राप्तिरूपेण भोगेन सम्पन्नो भवतीत्यर्थः । अलौकिकत्वं विना अलौकिकदेहं विना चोक्तफलव्यवच्छेदाय तुशब्द इति सर्वमनवद्यम् ॥ १९ ॥ इति सप्तममतोऽन्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥ (४-२-१)

पूर्वपादे ब्रह्मज्ञानवतस्तत्तन्मार्गभेदात्प्रकारभेदेन कर्मक्षये स्थूलसूक्ष्मशरीरक्षपणोत्तरं ब्रह्मप्राप्तिरुक्ता । तत्र स्थूलशरीरत्यागः स्फुट इति तदनुक्त्वा सूक्ष्मशरीरत्यागप्रकारोऽस्मिन् पादे प्रदर्श्यते । तत्र केवलभगवत्कृपारूपस्य साधनद्वारकतद्रूपस्य वा साधनस्य पूर्णत्वे मार्गभेदेन सद्यो मुक्तिः यथायथं शारीरकब्राह्मणे आर्तभागब्राह्मणे चोक्ता । 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्ये'तीत्यादिना, 'यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो ने'त्यार्तभागप्रश्नेनेति 'होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेत' इत्यादिना च । तत्राद्यायां किं प्राणाः युगपल्लीयन्ते, उत क्रमेणेति संशये, युगपदेवेति । साधनसम्पत्तौ विलम्बे हेत्वभावादिति तावत्प्राप्ते, तत्राह वागित्यादि । वागिन्द्रियं मनसि सम्पद्यते, पूर्वं लीयते, तत्र हेतुः **दर्शनाच्छब्दाच्चे**ति । भगवद्दर्शनाद्वेणुनादादिरूपाच्छब्दाच्च । सूत्रे चोऽप्यर्थे । यं पुष्टिमार्गे भगवानङ्गीकरोति, तस्यान्तकालेऽपि दर्शनं ददाति । यथा वृत्रस्य । वेणुनादं वा श्रावयति, यथान्तर्गृहगताभ्यः, तस्यैकतानत्वाय । तदा नामादिग्रहणं कुर्वतो वाक् भगवदेकताने मनसि लीयते । यद्यपि युगपदपि वक्तुं शक्यते, तथापि 'तस्यैतस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवताया'मिति छान्दोग्ये क्रमश्रावणात्तथा आद्रियत इत्यर्थः ॥ १ ॥

अत एव सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

इन्द्रियान्तरलयप्रकारमाह **अत एवे**ति । अत एव पूर्वोक्ताद्दर्शनादेरेव हेतोः सर्वाणीन्द्रियाणि **अनु** वाचं सन्निहितां लक्षीकृत्य मनसि सम्पद्यन्ते । पश्चान्मनसि सङ्गतानि भगवदानन्देन सम्पद्यन्त इत्यर्थः । एतेन श्रुतौ वाक्पदमिन्द्रियान्तराणामप्युपलक्षकमिति बोधितम् ॥ २ ॥

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

तत् पूर्वोक्तसर्वेन्द्रियविशिष्टं मनः **प्राणे** आसन्ये लीयते । तत्र हेतुः । **उत्तरा**दिति । 'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनꣳहि सौम्य मन' इति मनसः प्राणोपश्रयणवाक्यादुत्तरं यत् प्राणबन्धनवाक्यं तस्मादित्यर्थः ॥ ३ ॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

सः सर्वेन्द्रियविशिष्टमनोविशिष्टः प्राण **अध्यक्षे** पुरो हृदि वा प्रत्यक्षविषये भगवति सम्पद्यते । तत्र हेतुमाह । **तदुपगमादिभ्य** इति । तस्य उपगमः अभ्युपगमः 'यमेवैष' इति श्रुत्युक्तोऽङ्गीकारः, आदिपदात् 'नायमात्मा बलहीनेने'ति श्रुत्युक्तं भगवद्वशीकरणसमर्थं भक्तिरूपं बलम् , भगवदनिङ्गितार्थत्यागरूपः प्रमादाभावः, सर्वात्मभावरूपं सलिङ्गं तपश्च, तेभ्यो हेतुभ्य इत्यर्थः । एवं पुष्टिमार्गीयसद्योमुक्त्यर्थं वागादिलयप्रकार उक्तः । तेन शारीरब्राह्मणे यदुक्तं 'मथाकामयमान' इत्यादिना तत्र यत्प्रतिपादितं 'अत्रैव समवनीयन्त' इति तस्य आत्मकामशब्दस्थात्मपदेनोक्तो य आत्मा तस्मिन्नेवं प्रकारेण समवनीयन्त इति बोधितम् ॥ ४ ॥ इति प्रथमं वाङ्मनोधिकरणम् ॥ १ ॥

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥ (४-२-२)

एवं पुष्टिमार्गीयस्य वागादिलयप्रकारमुक्त्वा मर्यादामार्गीयस्य सद्योमुक्तौ तद्वागादिलयप्रकारमाह । तत्र तस्य प्राणाः किं भगवति नीयन्ते, उत प्रकारान्तरमिति संशये, भगवतीत्येव युक्तम् । प्राप्तुरेकाशयत्वादेरत्रापि तुल्यत्वादिति प्राप्ते, निर्णय उच्यते **भूतेष्वि**ति । तस्य ते भूतेषु लीयन्ते । कुतः । **तच्छ्रुतेः** । 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीꣳ शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयत' इति श्रुतेः । न चेयमविद्वद्विषयेति वाच्यम् । 'यत्रायं पुरुषो म्रियत' इति पूर्ववाक्योक्तप्राणानुत्क्रमणरूपसद्योमुक्तिलिङ्गविरोधात् । न चाग्निं वागिति लयवाक्योत्तरं 'क्वाऽयं तदा पुरुष भवती'त्यार्तभागप्रश्ने 'तौ ह यदूचतुः कर्मैव तदूचतु'रित्यादिना 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेने'त्यन्तेन भूतलीनप्राणकस्य कर्माश्रयत्वश्रावणात्तस्याविद्वत्त्वे निश्चिते प्राणानुत्क्रमस्य विद्वदविद्वत्साधारण्यान्न तस्य सद्योमुक्तिलिङ्गत्वमिति वाच्यम् । तत्र कर्मपदस्य कर्मप्रधानकमर्यादामार्गपरत्वात् । अन्यथा कर्मणः प्ररोहैकस्वभावतया संसारजनकत्वेन मोक्षमार्गे निन्द्यत्वादत्र 'कर्मैव तत्प्रशꣳसतु'रित्युक्तकर्मप्रशंसाविरोधापत्तेः । न च 'पुण्यो वा पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेने'ति तत्र वाक्यशेषात्पुण्यमादाय सा प्रशंसेति वाच्यम् । तथा सति तत्र गोप्यांशस्याभावा'दाहर सौम्य हस्त आवामेवैतद्वेदिष्याव' इत्युक्त्वैकान्तगमनादिविरोधापत्तेः । किञ्च, विदुषः काममयताया आवश्यकत्वात्कामयमानस्य 'तमुत्क्रामन्त'मित्यादिनोक्तस्योत्क्रमस्यापि तत्पृष्ठलग्नत्वेन तदभावे हेतोर्वक्तुमशक्यत्वाच्च । न च तस्य तदानीं मोहवशगत्वात् कामाभाव इति वाच्यम् । तदापि सुषुप्तस्येव वासनावशेषस्य कामस्य सत्ताया आवश्यकत्वात् , अन्यथा 'यदा सर्वे प्रलीयन्त' इति श्रुत्या मुक्तेरेवापत्तेरिति । तस्माद्विद्वद्व्यवस्थैवात्रोच्यत इति निश्चयः ॥ ५ ॥

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

नन्वयं प्राणलयप्रकारो ज्ञानिनोस्तु, न तु भक्तस्यापि, तृतीयस्कन्धे कापिलेये 'मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः । न पश्यामि परम्भूतमकर्तुः समदर्शना'दिति मर्यादाभक्ते उत्कर्षविश्रान्तेरुक्तत्वात्तदिन्द्रियाणां तु भगवत्येव लय उचित इत्याशङ्कायामाह **नैकस्मिन्नि**ति । **एकस्मिन्** ज्ञानिनि भक्ते वा मर्यादानियमो न, किन्तूभयोरपि समानः । तत्र हेतुः । **दर्शयतो हि** । हि यतो हेतोः आर्तभागयाज्ञवल्क्यौ ' अत्र पुरुष ' इति सामान्यनिर्देशेन विशेषाकथनात्कर्मौक्तिककर्मप्रशंसाभ्यां मर्यादामार्गस्यैव विषयीकरणाच्च सामान्यत एव निर्णयं दर्शयतस्तस्मात् । तथा च यद्यवान्तरो ज्ञानभक्तिकृतो विशेषो विवक्षितः स्यात्, तदा सामान्येन न वदेताम्, अतस्तथेत्यर्थः ॥ ६ ॥ इति द्वितीयं भूताधिकरणम् ॥ २ ॥

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥ (४-२-३)

एवमधिकरणद्वयेन पुष्टिमर्यादास्थयोः क्रमेण वागादिलयं व्युत्पाद्य इत आरभ्य नवभिः सूत्रैस्तद्दाढ्यार्थं तास्ता शङ्का अपनुदन्ति । तत्र पूर्वं मर्यादापुष्टयोर्न कदाचिदन्यथाभाव इत्यत्र को हेतुरित्येतां निराचष्टे **समाने**त्यादि । आसंसृत्युपक्रमात् सृतिः संसरणं जीवानां स्वस्मात्पृथक्कृतानामविद्ययाहंताममतासम्बन्धस्तस्य य उपक्रम आरम्भः सृत्युपक्रमस्तं मर्यादीकृत्य । ल्यब्लोपे पञ्चमी । तदारभ्य साधनक्रमेण मोचनेच्छारूपा या मर्यादामार्गीयमर्यादा सा समाना, चोवधारणे, मुक्तिपर्यन्तमेकरूपैव । **अमृतत्वं चानुपोष्य** । उप पूर्वो वसिरनशनार्थको नियमान्तरस्याप्युपलक्षकः । चोप्यर्थे । यथा मर्यादामार्गीयमर्यादा सदा तुल्या, तथा उपवासादिरूपविहितसाधनामकृत्वा यदमृतत्वं तदपि पुष्टिमार्गे समानम् । तथा च मर्यादापुष्ट्योरन्यथाभावाभावे ' एष उ एवे'ति श्रुत्युक्तेच्छाविषयं ' ते नाधीतश्रुतिगणा' इत्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्यविषयं तत्तन्मार्गस्वरूपमेव हेतुरित्यर्थः ॥७॥

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा पुनः प्रकृतं परामृशति । ननु यद्यार्तभागब्राह्मणे सद्योमुक्तिप्रकार एव निरूप्यः स्यात्तदेन्द्रियलयकथनोत्तरं कृते 'काऽयं तदा भवतीति' प्रश्ने मुक्तो भवतीत्येवोक्तं स्यात्, न तु कर्मप्राशस्त्यमतो न तत्र सद्योमुक्तिप्रकार उच्यत इत्याशङ्कायामाह **तदाऽपीते**रिति । **तदा** नित्यलीलाप्रवेशलक्षणपुष्टिमार्गीयमुक्तिदशाविचारे **अपीतेः** मर्यादामार्गीयमुक्तेः **संसारव्यपदेशात्** संसार इति व्यपदेशः संसारव्यपदेशस्तस्मात्, तस्याः संसारत्वाभावेपि तस्यां भगवद्भजनानन्दानुभवाभावेन संसारतुल्यतया कथनादित्यर्थः । तदुक्तं श्रीभागवते श्रीशिवेन 'नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति । स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इति । तथा चात्र तन्न्यूनताबोधनार्थं श्रुतौ कर्माश्रयत्वकथनं मुक्तिप्रकारहेतुत्वाच्च कर्मप्रशंसेति तस्य सद्योमुक्तिप्रकारबोधकमक्षुण्णमित्यर्थः ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

ननु मुक्तेः संसारतुल्यत्वोक्तिः पुष्टिमार्गस्तुतिमात्रपराङ्गीकार्या, अन्यथा मुक्तिबोधकश्रुतेः प्रतारकत्वापत्तेरित्यत आह **सूक्ष्मम**ित्यादि । ये हि मर्यादामार्गीयास्तेषां मुक्तिरेवेष्टेति तेषां पुष्टिमार्गीयं तत्त्वं सूक्ष्मं दुर्ज्ञेयम्, यथा कर्मठानां मोक्षतत्त्वम् । अतो यथा मोक्षमजानतो मोक्षानिच्छून्वा प्रति कर्मनिरूपकश्रुतेर्न प्रतारकत्वं तदभीष्टफलप्रापकत्वात्, एवं मोक्षबोधकश्रुतेरपि तदिच्छून्प्रति तथात्वान्न प्रतारकत्वम् । तदुपदिष्टसाधनाचरणे तदुक्तफलप्राप्तेः । पुष्टितत्त्वस्यैतादृशत्वेपि तत्रेच्छाभावस्तु तादृशाधिकाराभावात् । अतोनुपपत्त्यभावात्पुष्टितत्त्वबोधकस्मृतिवाक्यस्य न स्तुतिमात्रपरत्वमित्यर्थः । नन्वेवंविधार्थस्य श्रुत्यनुक्तत्वात्किं तत्सत्त्वे मानमित्याकाङ्क्षायामाह **प्रमाणतश्च तथोपलब्धे**रिति । प्रमाणं श्रुतिः । सा च 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चने'ति तस्याः सकाशात् । अत्र पूर्वार्धे दुर्ज्ञेयत्वमुत्तरार्धे तत्सत्ता च बोध्यते । अन्यथा मनसोप्यप्राप्यस्य वेदनकथनं विरुद्धं स्यादतोधिकारिणामेव तज्ज्ञेयम्, न सर्वेषाम् । तदाह **उपलब्धेश्च तथे**ति ॥ ९ ॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

ननु यद्येवं तदा ब्रह्मविद इव तादृशा भक्ता अप्यधिकारिषु कुतो नोपदिशन्ति, तत्र हेतुर्वाच्यः । अन्यथा सर्वमेतदनुपपन्नमेवेत्यत आह **नोपमर्दने**ति । पुष्टिमार्गे तेषां भगवद्विरहभावो वा भगवत्सङ्गो वेति दशाद्वयमेव । तत्राद्ये उपमर्देनास्वास्थ्येन कृत्वा न उपदेशः कर्तुं शक्यः, न द्वितीये त्वतो भगवत्सन्निधानात् । अतोनुपदेशे हेतुसद्भावान्नानुपपन्नमित्यर्थः ॥ १० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ॥ ११ ॥

ननु ' रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवती'त्युपक्रम्य ' एष ह्येवानन्दया'तीतिश्रुत्यानन्दप्राप्तेः श्रावितत्वाद्दुःसहविरहभावस्तेषामशक्यवचनः । अथ स कथञ्चिदाद्रियते, तदानन्दतिरोभाव एव सिद्ध इति नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिरूपादक्षरैक्यरूपाद्वा मोक्षात्कथं तस्याधिक्यमतः पूर्वोक्तमनुपपन्नमेवेत्यत आह **अस्यैवे**ति । आनन्दात्मकरसरूपस्य भगवत एवायं धर्म **ऊष्मा** विरहतापः । कुतः । **उपपत्तेः** । व्यापकस्य भगवतः सर्वत्र सत्त्वेपि मायया तिरोधानात्तद्विरहः सर्वसाधारणस्तथापि न सर्वानुभवगोचरः, किन्तु रत्याख्यस्थायिभावात्मकरसरूपभगवदाविर्भावो यस्य हृदि तस्यैव तदप्राप्तिजस्तापोनुभवगोचरीभवति, नान्यस्येत्यन्वयव्यतिरेकरूपाया उपपत्तेः । तथा च रसरूपस्य वस्तुन एव तथात्वात्स तापो रसात्मक एवेति तदानन्दतिरोभावाभावान्न तस्य न्यूनतेति मुक्त्यपेक्षया तदाधिक्यं दुरपोहमित्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥

ननु 'न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखता'मिति श्रुत्या तादृशे भक्ते दुःखप्रतिषेधः क्रियत इति तादृशे कथं दुःखात्मको विरहतापः शक्यवचन इति सूत्रांशेनाशङ्कयांशान्तरेण समाधत्ते **प्रतिषेधादिति** । नशब्दः 'अस्यैवोष्मे'ति च पूर्वसूत्रद्वयादनुवर्तते । विरहतापो रसात्मकस्य भगवत एवोष्मेति न युक्तम् । 'न पश्य' इति श्रुत्या भगवद्दर्शनवतो दुःखप्रतिषेधात् । इति चेन्न । कुतः । **शारीरात्** । शरीरसम्बन्धिनः कर्मणः सकाशात् य ऊष्मा तापः तस्यैव प्रतिषेधात् । विरहतापस्य कर्माजन्यत्वात्तस्य न प्रतिषेध इत्यर्थः । अत्रापि उपपत्तेरिति पूर्वोक्त एव हेतुः । अन्यथास्य दुःखत्वेन कर्मजन्यत्वानुमाने मोक्षसुखस्यापि सुखत्वेन कर्मजन्यत्वशङ्कया मोक्षसुखमपि विप्लूयेत । अतस्तत्र यथा लौकिकत्वरूपोपाधिग्रासाद्धेतुर्दुष्टः, तथात्रापीत्येव बोध्यः ॥ १२ ॥

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

ननु लौकिकत्वस्योपाधित्वं तदा स्याद्यदा भगवद्विरहतापस्य कर्माजन्यत्वं प्रमाणसिद्धं स्यादित्याशङ्कायामाह **स्पष्ट** इति । एकेषां शाखिनां तैत्तिरीयाणां 'रसो वै सः रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतौ भगवत्स्वरूपलाभानन्तरं दुःखतन्निवर्तनलक्षणोर्थः स्पष्टः । तथाहि । अत्र रसात्मकभगवत्स्वरूपलाभे सत्यानन्दवत्त्वमुक्त्वा तस्यैव जीवनहेतुत्वं यदुच्यते, तन्मरणहेत्वनुपस्थितावसङ्गतं सन्मरणहेतुभूतं दुःखमुपस्थापयति । तदग्रे आनन्दजननकथनं च सुखविशेषम् । रसस्तु शृङ्गारात्मा, संयोगविप्रयोगाभ्यामेव पूर्णोनुभूतो भवति । अतस्तदनुभावनार्थं भगवानेव तान् रक्षतीति रसप्रकरणात् प्रतिवाक्यं 'ह्येव'शब्दयोरावृत्त्या चावसीयते । तस्मादयमर्थस्तत्र स्पष्ट इति विरहतापस्य भगवद्धर्मत्वे कर्माजन्यतायाः प्रमाणसिद्धत्वाल्लौकिकस्योपाधित्वं दुरपोहमिति पूर्वोक्तं निर्विचिकित्समित्यर्थः ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥

उक्तं दृढीकर्तुमुपबृंहणमाह **स्मर्यत** इति । श्रीभागवते दशमस्कन्धे 'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः । ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे ता बिभर्म्य'हमित्युपक्रम्य 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचने'ति भगवतोक्तम् । एतस्य भावस्य परमपुरुषार्थत्वं दुरापत्वं च तत्रैवोद्धववाक्ये । 'एताः परं तनुभृतो ननु गोपवध्वो गोविन्द एवमखिलात्मनिरूढभावाः । वाञ्छन्ति यं भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्म जन्मभिरनन्तकथारसस्ये'ति ॥ १४ ॥

तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥

नन्वेतादृशस्य रसानुभवस्य फलकोटौ क्वचिदप्यदर्शनादश्रवणाच्चैतस्य साधनकोटावेव निवेशोऽस्त्वित्याशङ्क्य तस्य फलकोटिपातित्वे प्रमाणमाह **तानीति** । **तानि** रसात्मकभगवत्प्राकट्यतद्दर्शनजदुःखतत्कृतमरणादिनिवृत्तितत्प्राकट्यतद्दर्शनाद्यानन्दस्वरूपरसानुभवादीनि वस्तूनि **परे** प्रकृतिकालाद्यतीते श्रीगोकुले सन्तीति **तथा** फलकोटिगत्वेन **हि** यतो हेतोः । **आह** ऋग्वेदश्रुतिः पठति । 'ता वां वास्तून्युष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरी'ति । अर्थस्तु, ता तानि वां युवयोः भगवत्तदन्तरङ्गभक्तयोः सम्बन्धीनि वास्तूनि वर्णविकृतेर्वस्तूनि स्थानानि वा गमध्यै प्राप्तुं उष्मसि कामयामहे । तानि कानीत्याकाङ्क्षायामाह । यत्र गोकुले वृन्दावने गावः भूरिशृङ्गा रुरुप्रभृतयो मृगाश्च सन्तीति शेषः । क्रूरमृगवारणायाह । अयासः शुभावहाः । तत्स्थानं कुत्रास्तीत्यत आह । अत्राह अत्रैव भूमावेव तत्पूर्वोक्तगुणविशिष्टम् । तर्हि भूमिष्ठत्वान्मुख्यं तन्न भविष्यतीति शङ्कानिरासायाह । उरुगायस्य वृष्णः परमं पदमिति, उरुभिर्गीयते, उरु यथा स्यात्तथा वा गीयत इत्युरुगायस्तस्य वृष्णः गोपीजने कामवर्षुकस्य भगवतः परमं वैकुण्ठादप्यधिकं तत्स्थानं भूरि बहुतरमवभातीति । तथा चात्रोष्मसीति काम्यत्वलिङ्गं फलकोटित्वगमकमित्यर्थः ॥ १५ ॥ इति तृतीयं समानाधिकरणम् ॥ ३ ॥

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥ (४–२–४)

एवं मर्यादामार्गतत्त्वात्पुष्टिमार्गीयतत्त्वस्योत्कर्षस्य दुर्ज्ञेयत्वं चोपपाद्येदं विचारयति । किमाधुनिकं कंचन कृपया नित्यलीलास्थाने नीतं ततः कदाचिद्वियोजयति न वेति । तत्र तोषस्य कादाचित्कत्वात्तत्साध्या स्थितिरपि कादाचित्कैवेति प्राप्ते सिद्धान्तमाह **अविभाग** इति । तत्र नीतस्य भक्तस्य ततोऽविभागः अवियोग एव । कुतः । **वचनात्** । तैत्तिरीयके उक्तर्गनन्तरं 'विष्णोः कर्माणि पश्यते'त्यृचा तत्र कृतानि कर्माण्युक्त्वा, तदग्रे पठति 'तद्विष्णोः परमं पदꣳसदा पश्यन्ति सूरय' इति । अत्र सूरिपदेनाधुना भक्त्या पुरुषोत्तमविदो भक्ता उच्यन्ते । 'भक्त्या मामभिजानातीति' वाक्येन भक्त्यैव तज्ज्ञानात् । तेषां च सदा दर्शनमुच्यते । अन्यथा लीलानित्यत्वेनैव तत्र स्थितगवादीनां भक्तानां च सदा दर्शनस्यार्थादेव पूर्वगम्याँ प्राप्तत्वात्सदा दर्शनं पुनर्न वदेत् । अतः पुनस्तद्वचनादाधुनिकस्यापि कृपया तत्प्राप्त्यनन्तरमविभाग एव । लीलानित्यत्वं तु विद्वन्मण्डने प्रभुचरणैरुपपादितं ततोवगन्तव्यम् । न च तस्य स्थानस्य परिच्छिन्नत्वात् भक्तानां च नानादेश्यत्वेन तत्र तत्र मरणे ततो निर्गत्यात्रागमनस्यावश्यकत्वात्सद्यो मुक्तिप्रसङ्ग एतद्विचारो न युक्त इति शङ्क्यम् । दहराधिकरणन्यायेन तन्नित्यत्वस्य परिछिन्नत्वेपि व्यापकत्वस्य एतस्य वजस्य तद्वृत्तिलाभस्थानतायाश्च व्युत्पादितत्वात् तादृशभक्तस्य यत्र क्वचन मरणेपि तदानीं लीलादिसहितस्य भगवतो हृदि वा बहिर्वा प्राकट्ये तत्स्थानादेरपि तत्रैव प्राकट्येन तत्रैव तस्य तत्प्राप्तेर्विद्वन्मण्डन एवोपपादितत्वेन सद्योमुक्तिविचार एतद्विचारस्य युक्तत्वादिति ॥ १६ ॥ इति चतुर्थमविभागाधिकरणम् ॥ ४ ॥

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥ (४-२-५)

एवं पुष्टिमार्गीयव्यवस्थां द्विविधं सद्योमुक्तिप्रकारं च दर्शयित्वा ज्ञानमार्गीयस्य क्रममुक्तौ निर्गमनप्रकारं दर्शयति **तदोकोग्रे**ति । स च प्रकारो बृहदारण्यके श्रूयते । 'स यत्रायं शारीर आत्मा अबल्यं नीत्य सम्मोहमिव न्येत्यथैतमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति न पश्यतीत्याहु'रित्यादिना करणग्रामपिण्डीभावमुक्त्वा, ततः 'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती'-त्यादिना 'इति तु कामयमान' इत्यन्तम् । अर्थस्तु, यः पूर्वब्राह्मणे एभ्योङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्ये-त्यादिना म्रियमाणावस्थ उक्तः सोयं शारीर आत्मा जीवो यत्र यस्यां म्रियमाणावस्थायां अबल्यं नीत्य बलभावं नितरां प्राप्य संमोहमिव न्येति संमोहः संमूढता विवेकराहित्यं तत् नितरां प्राप्नोति अथ एनं करणस्वामिनं एते प्राणा वागादयोभिसमायन्ति आभिमुख्येन निकट आयान्ति । स एतास्तेजोमात्राः विषयप्रकाशकानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि समभ्याददानः सम्यगाभिमुख्ये गृह्णान उपसंहरमाणो हृदयं स्वायतनमेवावक्रामति तल्लक्षीकृत्यायाति स यत्र वर्तते तत्र एष चाक्षुषः पुरुष आदित्यांशश्चक्षुर्देवतारूपः पराङ् पर्यावर्तते स्वकार्याद्विमुखो भवति अथ तदा स एव इत्यनेनोक्तश्चक्षुरधिष्ठाता अरूपज्ञो भवत्येकीभवति करणग्रामेण । तदा न पश्यतीत्याहुः पार्श्वस्थाः न पश्यतीत्याहुः । एवमग्रेपि । तदुत्तरावस्थामाह । तस्येत्यादि । तस्य लिङ्गोपाधिकस्य ह एतस्य मुमूर्षोर्हृदयस्य एतत्स्थानस्य अग्रं नाडीमुखं प्रद्योतते, पूर्वमप्रकाशमपि तदानीं प्रकाशते, तेन प्रद्योतेनैष आत्मा शरीरान्निष्क्रामति निर्गच्छति चक्षुराद्यन्यतमेभ्यः शरीरदेशेभ्यः । तदुत्तरव्यवस्थामाह । 'तमुत्क्रामन्त'मित्यादि । तं जीवात्मानम् । प्राण आसन्यः । प्राणा इन्द्रियाणि । अयं च निष्क्रमणप्रकारो यमगतिरहितानाम् । यमगतीनां तु 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलादि'-त्यादिवाक्यात् पिण्डितकरणग्रामस्य जीवस्य बलान्निष्क्रामणम् । एवं सति यद्यप्येतावत् ओकोज्वलनादिकं यमगतिराहितचर्षणीजीवानां विदुषां च साधारणम्, तथापि विद्वांस्तु नेतरवदितरनाड्या निष्क्रामति, किन्तु शताधिकयेत्याद्युक्तमार्गेण । श्रुतिस्तु छान्दोग्ये दहरविद्यास्था । शेषं स्फुटम् । तथा च हृदयाग्रप्रद्योतनपर्यन्तं विद्वदविदुषोस्तुल्यम् । निर्गमनमार्गः प्रकारश्च विदुषोतिरिक्त इति सिद्धम् । तथा चायं सूत्रार्थः । **तदोकोग्रज्वलनं** तस्य जीवस्य यदोको हृदयं तस्य यदग्रं नाडीमुखं तस्य ज्वलनं उक्ताभिस्तेजोमात्राभिः प्रकाशनं तदानीं ताभिः स्वस्वकार्यं विहाय पराङावर्तनेनैकीभूयेदमेव कार्यं क्रियते । अन्यथा तेषां तेजोमात्रात्वकथमनर्थकं स्यात्, तदा तत्प्रकाशितद्वारस्ताभिः प्रकाशितं द्वारं

निर्गमनमार्गो यस्य तादृशः सन् देहान्निष्क्रामति चक्षुष्टो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः । एतावत् विदुषामविदुषां च सर्वेषां मन्तृणां जीवानां साधारणम् । अथ विदुषो विशेषमाह **विद्ये**त्यादिति । **विद्या** प्रधानभूता उपासना तस्याः सामर्थ्यात्, **तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च** तस्याः विद्यायाः शेषभूता तदर्था या गतिः संन्यासरूपा तदङ्गभूता या अनुस्मृतिर्भगवत्स्मरणं तस्य योगो नैरन्तर्यं च, एताभ्यां हेतुभ्यां **हार्दानुगृहीतः** हृदि वर्तमानेन परमात्मनानुगृहीतः कृपाविषयीकृतः सन् **शताधिकया** 'शतं चैका च पुरुषस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ती'ति छान्दोगस्थदहरविद्यागतश्रुत्युक्तया एकशततम्या मूर्धन्यया नाड्या निष्क्रामतीति । तस्मादस्ति विद्वदविदुषोः निष्क्रमणे विशेष इति सिद्धम् ॥ १७ ॥ इति पञ्चमं तदोकोधिकरणम् ॥ ५ ॥

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥ (४-२-६)

ननु यथा उत्क्रमणे विशेषः, तथा 'या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल' इति छान्दोग्ये यदुक्तमुत्क्रमतो रश्म्यनुसारित्वम्, तदपि विदुष एव, उत साधारणमिति संशये, 'तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मा'मिति श्रावणात्तदग्र उक्तं 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमत' इति प्राप्ते, आह **रश्मी**ति । यथा हार्दानुग्रहाद्विदुषो गतिरन्यमार्गेण, तथा रश्म्यनुसार्यपि विद्वानेव, नान्यः । ऊर्ध्वाक्रमणश्रुत्यनन्तरम् । 'स ॐमिति वाह उद्वा मीयते स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषा'मित्यादित्यस्य विद्वद्द्वारताया अविद्वन्निरोधतायाश्च श्रावणात्तथेत्यर्थः ॥ १८ ॥ इति षष्ठं रश्म्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥ १९ ॥ (४-२-७)

विदुष उत्क्रमे यथा हार्दानुग्रहकृतो विशेषस्तथा कालविशेषकृतोपि विशेषोस्ति न वेति संशयेऽस्तीत्याशङ्क्य निषेधति **निशि ने**त्यादि । निशीतिपदं मुक्तिप्रतिबन्धककालविशेषोपलक्षकम् । तत्र न आदित्यद्वारेण गमनमिति चेत् । न । कुतः । **सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात्** । अनुग्रहहेतुभूतो यः पूर्वोक्तो गत्यनुस्मृतिसम्बन्धस्तस्य यावद्देहभावित्वाद्देहस्थितिपर्यन्तं सत्त्वात्तत्कार्यस्यानुग्रहस्यापि तथात्वाद्भवेदेवादित्यद्वारेण गमनम् । तथा च हार्दानुग्रह एव बलीयानिति कालोऽप्रयोजकत्वान्न प्रतीक्षणीय इत्यर्थः ॥ १९ ॥

अतश्चायनेपि दक्षिणे ॥ २० ॥

चोवधारणे । **अतः** उक्तसम्बन्धादेव हेतोः **दक्षिणे**ऽयने **अपि**शब्दात्कृष्णपक्षेपि सूर्यद्वारेण विदुषो गमनं निःप्रत्यूहमित्यर्थः ॥ २० ॥

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥

ननु 'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामी-' त्युपक्रम्य 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायण'मिति गीतायां भगवद्वाक्यात् ब्रह्मविदापि कालः प्रतीक्ष्य एवेति शङ्कायामाह **योगिन** इति । एते कालप्रतीक्षावत्यौ योगिस्मार्ते गती । न श्रौतसाधनवतः । तत्र हेतुः । योगिनः प्रति तादृशः कालः स्मर्यते । तत्र योगिनामेवोपक्रान्तत्वात् । अतो न दोषः । अथ कालमुखेन तत्रापि देवयानपितृयाणे एवोच्येत इत्युच्यते, तदा त्वग्न्यादिशब्दैर्मार्गस्था आतिवाहिक्यो देवता एवोच्यन्ते, न काल इत्युभयथाप्याविरोध इत्यर्थः । तस्माद्विद्यावतः क्रमेण मुक्तिं प्राप्तवतोपि न साधनान्तरापेक्षेति सिद्धम् ॥ २१ ॥ इति सप्तमं निश्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥ (४-३-१)

पूर्वस्मिन्पादे प्रथमं पुष्टिमार्गीयस्य मर्यादामार्गीयस्य च सद्योमुक्तिप्रकारं दर्शयित्वा ततः क्रममुक्तौ निर्गमनद्वारादिकं दर्शितम्, इह तु तेन द्वारेण निःसृतस्य ब्रह्मप्राप्तिमार्गस्तल्लोकस्तत्प्राप्तिप्रकारश्च दर्श्यते । तत्र स मार्ग किं ज्ञानिभक्तसाधारणः, उत ज्ञानिमात्रविषय इति संशये, यथा ज्ञानिनो नियमाभावः, तथा मर्यादामार्गीयस्यापीति प्राप्ते, निर्णयमाह **अर्चिरादिनेति** । छान्दोग्ये पञ्चाग्निविद्यायां 'तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणं पक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था' इति भक्तातिरिक्तानेवोपक्रम्य गतिश्रावणात् गीतायां च 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल' इत्युपक्रम्य 'गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना' इत्युपसंहारे निगमनेन । **तत्प्रथितेः**, तेषां भक्तातिरिक्तानामिव प्रसिद्धेस्त एवार्चिरादिना मार्गेण गच्छन्ति, भक्तास्तु प्रायशः सद्य एव मुच्यन्त इत्यर्थः । यद्यपि क्रममुक्तिबोधकेषु तत्तदुपासनावाक्येषु 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोक'मित्येवं भिन्नानि भिन्नानि पर्वाण्युच्यन्त इति नानामार्गता सम्भाव्यते, तथापि सूत्रे 'अर्चिरादिने'त्ये-

कवचननिर्देशान्मार्गैकत्वमादृतम् । तत्र तत्र श्रुतौ देवयानपदेनैव मुक्तिमार्गस्य निर्देशो द्वितीयस्मिन् पितृयाण इति 'जायस्व म्रियस्वे'त्यस्मिन् तृतीयनिर्देशश्च बीजम् । तस्मान्नानापर्वविशिष्ट एक एव क्रममुक्तिमार्ग इति सिद्धम् । तत्र तत्र पर्वभेदकथनं तु तस्य तस्य तत्र तत्रैव भोग इति बोधनार्थम् । यथैकस्मिन् महापथेऽवान्तरवसतिग्रामेषु बहुषु सत्स्वपि न सर्वेषां सर्वत्र भोगः, किन्तु कस्यचित्क्वचित्कस्यचिदन्यत्रेति तद्वदिति न तेन मार्गभेदापत्तिरिति च ॥ १ ॥ इति प्रथममर्चिराद्यधिकरणम् ॥ १ ॥

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥ (४-३-२)

ननु छान्दोग्ये पञ्चाग्निविद्यायामुपकोसलविद्यायां च वायुर्न पठ्यते, वाजसनेयके पञ्चाग्निविद्यायां मासानन्तरं संवत्सरो न पठ्यते, तत्स्थाने देवलोकः पठ्यते, आदित्यानन्तरं चन्द्रमा न पठ्यते । कौषीतकिपर्यङ्कविद्यायां 'स एतं देययानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकमिति वाय्वादयः पठ्यन्ते । एवं सत्यर्चिरादिमार्गे वायोरनुक्तत्वात्स कुत्रापि निवेशयितुं न शक्यः, एवमग्रेपीति मार्गभेदपक्ष एव युक्तः इत्याशङ्कायां पूर्वं वायुनिवेशमाह **वायुमब्दादिति** । संवत्सरलोकानन्तरं वायुलोको निवेशनीयः । तत्र हेतुमाह **अविशेषे**त्यादि । भूलोकसंबन्धित्वमर्चिरादीनां संवत्सरादीनामस्तीत्यविशेषः, अन्तरिक्षे लोकसंबन्धित्वं वायोरस्तीति विशेषः ताभ्याम् । अयमर्थः । अग्निहोत्रादिकर्मभिश्चित्तशुद्धावुपासनाभिर्ज्ञानोदये क्रममुक्तिं प्राप्नोति । अर्चिश्चाग्नेर्न भिद्यत इति अग्निलोकस्य प्राथम्यम् । कर्म भूलोक एव भवति । 'पृथिवी दीक्षा तया अग्निदीक्षया दीक्षित' इत्यादिश्रुतिभिः पृथिव्यग्निप्रधाना, अतः पूर्वं तल्लोके भोगस्तस्य भवति, तथा अहरादिसंवत्सरान्ते काले कर्मण उपासनायाश्च प्रायशो विधानात्ततस्तल्लोके भोगः । एवमेतेषां संवत्सरान्तानां भूसंबन्धित्वम् । अतस्तन्मध्ये वायोर्न प्रवेशः । किन्तु 'वायुरन्तरिक्षस्याधिपति'रिति श्रुतेर्वायुरन्तरिक्षसंबन्धीति तदुत्तरं वायोर्निवेशस्ततस्तल्लोकभोगादीति । तत उपर्यादित्यलोकः 'सूर्यो दिवोधिपति'रिति श्रुतेः । अतस्तस्मादर्वागेव युक्त इत्यर्थः । एवं च वाजसनेय्युक्तो देवलोकोपि वायोरुपर्यादित्यात्पूर्वं निवेशनीयः । 'सूर्यो दिवोधिपति'रिति श्रुतेरिति बोध्यम् ॥ २ ॥

तडितोऽधि वरुणः संबन्धात् ॥ ३ ॥

पूर्ववदेवाशङ्कायामाह **तडित** इत्यादि । तडितः तडिल्लोकस्याधि उपरि वरुणलोको निवेशनीयः । तत्र हेतुः । **संबन्धात्** । 'विशाला हि विद्युतो नृत्यन्ति तीव्रस्तनितनिर्घोषो जीमूतोदरेष्वि'ति ब्राह्मणेन लोकेपि तडितामप्संबन्धिदर्शनेनाप्संबन्धद्वारा वरुणसंबन्धात् । अतो वरुणस्य तडिदनन्तरं निवेशो युक्त इत्यर्थः ॥ ३ ॥

वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती ॥ ४ ॥

स्पष्टार्थं सूत्रम् ॥ ४ ॥ इति द्वितीयं वाय्वित्यधिकरणम् ॥ २ ॥

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ५ ॥ (४–३–३)

ननु छान्दोग्ये विद्युदनन्तरं पठ्यते 'तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयती'ति । तत्र संशयः । पूर्वं मार्गैक्यस्य साधनेपि यस्य वरुणादिलोकसंबन्धो विद्युदनन्तरं तं स पुरुषो ब्रह्म प्रापयत्युत नेति । तत्र वचनस्य यावद्वचनत्वाद्वरुणलोकादिगतान्न प्रापयतीति प्राप्ते, आह **आतिवाहिका** इति । कौषीतकिश्रुतौ प्रजापतिलोकोत्तरं ब्रह्मलोकस्य पठितत्वात्तेषां ब्रह्मप्राप्तिरावश्यकी । सापि मार्गैक्यात्प्रापकममानवं पुरुषमपेक्षते । अतो यत्र स नोक्तस्तत्रापि सोऽवगन्तव्यः । तादृशाश्च बहवः सन्तीति ज्ञापनाय बहुवचनम् । अतिवहनमतिवाहः भावे घञ् । तत्सबन्धी आतिवाहिकः । अतिक्रम्य प्रापयिता, ते बहव आतिवाहिका भगवत्सेवकाः सन्ति । तत्र हेतुः । **तल्लिङ्गा**दिति । 'तत्पुरुषोऽमानव' इति वाक्योक्तामानवत्वलिङ्गात् । तेनेदं ज्ञाप्यते । यथा विद्याबलादर्चिरादिलोकमारभ्य प्रजापतिलोकपर्यन्तप्राप्तिस्तथा न ब्रह्मप्राप्तिः, किन्तु भगवदीयपुरुषानुग्रहणैवेति । तथा च यद्यपि श्रुतावमानव इत्येकवचनं तथापि प्राप्याणां बाहुल्येन प्रापकाणां बहुत्वमपि लिङ्गादेवावगन्तव्यम् ॥ ५ ॥

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ६ ॥

ननु छान्दोग्य उपकोसलविद्यायां बृहदारण्यके पञ्चाग्निविद्यायां वार्चिरादिमार्गगतानां अपुनरावृत्तिः श्राविता, 'तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ती'ति, किञ्च, देवयानः पन्था ब्रह्मविदामेवार्थं इति तेषां साक्षाद्वा परंपरया वा ब्रह्मवित्त्वमप्यवश्यं वाच्यम्, एवं सति तेन ब्रह्मज्ञानेन सद्यो मुक्तौ संभवत्यां क्षयिष्णूनां क्षुद्रानन्दानां लोकानां परप्राप्तिविलम्बजनकानामर्चिरादिलोकानां प्राप्तिः कुतः । किञ्च, 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च य'दित्युपक्रम्य 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा, स्वर्गापवर्गमद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छती'ति भगवद्वाक्ये भक्तस्यान्यवाञ्छाफले उक्ते इति तत्रापि भक्तिसुखं हित्वा तादृशवाञ्छायां हेतुश्च वाच्य इत्याकाङ्क्षायामाह **उभये**त्यादि । देवयानस्यापि भगवतैव सृष्टत्वात्तत्र ब्रह्मविदो भक्तस्य च ज्ञानभक्त्योरुत्कर्षज्ञानात्तेन मार्गेण गमनाभावे तत्सृष्टिवैयर्थ्यं स्यादिति भगवानेव कांश्चित् ज्ञानिनो भक्तांश्च व्यामोहयति । 'संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतु'रिति श्रुतेः 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं चे'ति स्मृतेश्च । अतः उभयोः कयोश्चित् ज्ञानिभक्तयोर्भगवत्कृताद्व्यामोहात्तत्सिद्धेः तादृशवाञ्छाफलयोः सिद्धेस्तद्व्यामोह एव हेतुरित्यर्थः ॥ ६ ॥

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ७ ॥

ननु तडिल्लोकाद्वरुणलोकप्राप्त्यनन्तरं यस्य ब्रह्मप्राप्तिस्तस्य तल्लोकसंबन्धी पुरुषोस्ति ब्रह्मप्रापक उत नेति संशये, अस्तीति पूर्वः पक्षः, ब्रह्मप्राप्तेः प्रापकपुरुषाधीनत्वात् विद्युल्लोकस्य चातिक्रान्तत्वाद्वरुणादिलोकस्थस्यैव ग्राह्यत्वादिति प्राप्ते, आह **वैद्युतेने**ति । विद्युल्लोकस्थब्रह्मपुरुषेणैव वरुणादिलोकगतस्यापि ब्रह्मप्राप्तिः तल्लोकस्थात् नापि पुरुषं विना कुतः । **तच्छ्रुतेः** । 'तान् वैद्युतात्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयती'ति वाजसनेयिनां पञ्चाग्निविद्यास्थश्रुतेः । अत्र हि एत्य वैद्युताद्गमयतीति पदसंबन्धः । तस्मात्तथेत्यर्थः ॥ ७ ॥

इति तृतीयमातिवाहिकाधिकरणम् ॥ २ ॥

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ८ ॥ (४–३–४)

क्रममुक्तौ मार्गं विचार्य तत्फलं विचारयति । किं कार्यब्रह्मलोकप्राप्तिरुत **परस्य** । तत्र बादरिमतं पूर्वपक्षत्वेनाह पञ्चभिः । तत्र 'स एतान् ब्रह्म गमयती'त्यत्र **ब्रह्मपदेन किं** परमेव ब्रह्मोच्यते उत कार्यो ब्रह्मलोक इति संशये, ब्रह्मपदेन परं ब्रह्म न वक्तुं शक्यम् । परस्य व्यापकत्वेन देशविशेषगमयित्रोरनपेक्षितत्वात् । अतः कार्यं ब्रह्मलोकमत्र बादरिराचार्यो मन्यते । तत्र हेतुः । **अस्य गत्युपपत्तेः** । तस्य लोकस्य परिच्छिन्नत्वे अस्य जीवस्य गतेरुपपन्नत्वादित्यर्थः ॥ ८ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ९ ॥

हेत्वन्तरमाह **विशेषितत्वा**दिति । वाजसनेयके 'ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ती'ति श्रुतौ बहुत्वेन वासाधिकरणत्वेन च विशेषितत्वात्तथेत्यर्थः । न च छान्दोग्ये ब्रह्मेत्येकवचनमुक्तम् । लोकपदस्य तज्जन्यभोगपरत्वेन तत्र बहुत्वस्य कथनेपि तदधिकरणस्यैकत्वे तदविरोधात् ॥ ९ ॥

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ १० ॥

ननूपासनप्राप्यं चेत् कार्यं तदा तत्र ब्रह्मशब्दः कुतः प्रयुज्यत इत्याकाङ्क्षायां ब्रह्मपदप्रयोगे हेतुमाह **सामीप्या**दिति । तल्लोकस्थितानां ब्रह्मप्राप्तौ नान्यलोकव्यवधानमतः परब्रह्मसामीप्याद्ब्रह्मत्वेन तद्व्यपदेशः श्रुतौ कृतः । तुशब्देन तस्य वस्तुतो ब्रह्मत्वं व्यवच्छिद्यते ॥ १० ॥

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ ११ ॥

न'त्वाब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने'ति वाक्यात्ततः कार्याल्लोकात्पुनरावर्तन्ते । अत्र तु 'न तेषामिह पुनरावृत्तिरस्ती'ति पठ्यत इति तस्य कार्यत्वं न वक्तुं शक्यमित्यत आह **कार्यात्यय** इति । कल्पस्य समाप्तौ कार्यस्य ब्रह्मलोकस्य अत्यये नाशे सति तदध्यक्षेण कार्यलोकपतिना चतुर्मुखेन ब्रह्मणा सह जातो हिरण्यगर्भात्परं ब्रह्म ईश्वरं प्राप्नोतीति अपुनरावृत्तिश्रुतिर्न विरुध्यते । अत्र प्रमाणमाह **अभिधाना**दिति । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे' इति श्रुतौ परस्य चतुर्मुखायुषः समाप्तिकाले परं यदमृतं ब्रह्म तत्प्राप्य सर्वे परिमुक्ता भवन्तीति कथनात् । तथा च न विरोध इत्यर्थः ॥ ११ ॥

स्मृतेश्च ॥ १२ ॥

अत्र स्मृतिमपि प्रमाणयति **स्मृते**रिति । सा च 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रति संचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पद'मिति वदति । अत्रापि तथेत्यर्थः । तेन बादरिमते कार्यस्यैव प्राप्तिरिति सिद्धम् ॥१२॥ इति चतुर्थं कार्यं बादरिरित्यधिकरणम् ॥४॥

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १३ ॥ (४-३-५)

अत्रापि 'स एतान् ब्रह्म गमयती'त्येव विषयवाक्यम् । पूर्ववदेव सन्देहस्तद्बीजं च । पूर्वपक्षस्तु बादरिमतेन । तथा च कार्यमेवोच्यत इति प्राप्ते आह **पर**मिति । अस्मिन्वाक्ये ब्रह्मपदेन परमेव ब्रह्मोच्यते, न कार्यमिति **जैमिनि**राचार्यो मन्यते । कुतः । **मुख्यत्वात्** । ब्रह्मपदेन हि बृहत्त्वादिधर्मविशिष्टं वस्तूच्यते । तादृशं च परमेव ब्रह्म भवतीति ब्रह्मपदस्य मुख्या वृत्तिः **परस्मिन्नेव**, तस्मात् । तथा चोपासकस्याविद्यादिदोषाभावेन ब्रह्मप्राप्तिप्रतिबन्धाभावेपि भोजकादृष्टेन प्रतिबन्धाद्गत्युपपत्तौ, सुखभोगे ब्रह्मण एव कारणत्वात्सुखबाहुल्येन लोकपदे बहुत्वस्याप्युपपत्तौ सामीप्यनिबन्धनगौण्या अयुक्तत्वेनानुपपत्त्यभावे मुख्यार्थत्यागायोगात्तथेत्यर्थः ॥ १३ ॥

दर्शनाच्च ॥ १४ ॥

कार्यात्ययादिसूत्रद्वयोत्तरमाह **दर्शना**दिति । कौषीतकिश्रुतौ 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्ये'त्यादिना अग्न्यादिलोकवत्प्रजापतिलोकप्राप्तिमुक्त्वा अग्रे 'स ब्रह्मलोक'मिति दर्शयति । न हि तत्र ब्रह्मलोकपदे कार्यो लोक आदतुं शक्यते । पार्थक्येन प्रजापतिलोकस्योक्तत्वात्, अतस्तदतिरेकेण ब्रह्मलोकस्य दर्शनात्पूर्वोक्तश्रुतिस्मृत्योः प्रलयविषयत्वेनात्र तद्विषयाभावान्न ताभ्यां प्रकृतश्रुतिविरोधः परिहर्तुं शक्य इति बादरिमतमयुक्तमित्यर्थः॥१४॥

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ १५ ॥

युक्त्यन्तरमाह **नचे**त्यादि । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति यजुषि या परप्राप्तिः फलत्वेनोक्ता तद्विवरणं 'सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति ऋग्भागेन क्रियते । तत्र चोपक्रमानुरोधात्परेणैव ब्रह्मणा सह कामभोगलक्षणा प्राप्तिरुच्यते । अतः परप्राप्तिरेव श्रुतौ फलत्वेनाभिप्रेता । तथाच संसारगतिप्रतिकूलापत्तिः प्रतिपत्तिः तस्यामेव श्रुते**रभिसन्धि**रभिप्रायः । **न च कार्ये** । नैव कार्ये क्वापि दृष्टः । अतो 'ब्रह्म गमयती'त्यत्रापि या गतिर्ब्रह्मप्राप्तिरूपोच्यते, सापि परब्रह्मविषयैव युक्तेति ब्रह्मपदेनात्र परमेव ग्राह्यमित्यर्थः ॥१५॥ इति पञ्चमं परं जैमिनिरित्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

एवं चात्र व्यासपादैः स्वनामग्रहणेपि पूर्वं बादरिमतमुक्त्वा तस्यानुपपन्नत्वबोधकं जैमिनिमतं यत्पश्चादुक्तं तेनेदमेव व्यासचरणानामभिप्रेतम् । तेनेदं पूर्वोत्तरपक्षभेदेनैकमेवाधिकरणमिति ज्ञेयम् ।

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात्तत्क्रतुश्च ॥१६॥(४-३-६)

क्रममुक्त्यधिकारिणः प्रारब्धं भुक्त्वा अमानवेन पुरुषेण प्रापिताः परमेव ब्रह्म प्राप्नुवन्तीति सिद्धम् । तत्रेदं सन्दिह्यते । क्रममुक्तावातिवाहिकत्वेनाधिकृतः अमानवः पुरुषः किं सर्वानेवोपासकान् ब्रह्म प्रापयत्युत कांश्चिदेवेति । तत्र येर्चिरादिमार्गगास्तान्नेतुं स नियुक्त इत्यविशेषेण सर्वानेव नयतीति प्राप्तम् । तत्राह **अप्रतीकालम्बना**निति । श्रुतौ सर्वत्र ब्रह्मत्वेनैवोपासनाया उक्तत्वादुपास्येषु भगवद्विभूतिरूपत्वेन शुद्धब्रह्मरूपेषु तथात्वं ज्ञात्वा ये उपासते, ते अप्रतीकालम्बनास्तान् सः अमानवः पुरुषो **नयति ब्रह्म** प्रापयति, नेतरानिति बादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः । **उभयथा दोषात्** । ये हि श्रुतिर्ब्रह्मत्वेनोपासनायाः फलसाधनत्वं वक्ति, न तूपास्येषु ब्रह्मत्वं वक्तीत्येवं ज्ञात्वा ये उपासते, ते प्रतीकालम्बनाः, अतद्रूपे तद्रूपत्वेनोपासनं हि प्रतीकमित्युक्तं तेषां तदालम्बनत्वात् । तेषु च ब्रह्मरूपाणां अब्रह्मत्वेनासत्ताज्ञानमेको दोषः, 'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चे'दिति श्रुतेः । असत्त्वमनुसन्धायाप्युपासनायाः फलवत्त्वाय ब्रह्मत्वेन भावनमित्यपरः । 'योन्यथासन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे'ति श्रुतेः । एवमुभयप्रकारेण दोषात् । अत एतादृशान् विहाय पूर्वोक्तानप्रतीकालम्बनान्नयतीति । एवं ज्ञानमार्गीयव्यवस्थामुक्त्वा भक्तिमार्गीयस्य तामाह **तत्क्रतुश्चे**ति । भगवद्भजनलक्षणक्रतुश्च 'कथंचिद्यदि वाञ्छती'ति वाक्योक्तवाञ्छितभोगोत्तरममानवेन नीयत इत्यर्थः । यद्वा । पूर्वोक्तस्तत्क्रतुरमानवपुमपेक्षारहित एव स्वात्मानं ब्रह्म नयतीति । अस्मिन् लाकारप्रयोगविपरिणामाभावादयं पक्ष उत्तमः । न च मन आद्युपासनानां अप्रतीकत्वं न युक्तम्, 'मनो ब्रह्मेत्युपासीते'ति प्रकारवाचीतिशब्दशिरस्कब्र[illegible]प्रयोगेण तस्योपासनाप्रकारावच्छेदकताया एव भानेन उपास्यरूपब्रह्मत्वबोधनाक्षमत्वादिति वाच्यम् । तत्रेतिशब्दस्य हेत्वर्थकत्वात् । न च विनिगमकाभावः । मनो हि ब्रह्म मन उपास्वेत्यादेः पूर्ववाक्यस्यैव विनिगमकत्वात् । उपसंहारापेक्षया उपक्रमस्य प्रबलत्वादिति ॥१६॥ इति षष्ठमप्रतीकालम्बनाधिकरणम् ॥६॥

विशेषं च दर्शयति ॥ १७ ॥ (४-३-७)

पूर्वाधिकरणे उपास्यानां लिङ्गबलेन ब्रह्मत्वम्, तथा तदुपासने परंपरया साक्षाद्वा ब्रह्मप्राप्तिरिति सिद्धम् । तत्रेदं सन्दिह्यते । ज्ञानमार्गीयाणां भक्तिमार्गीयाणां चाविशेषेण ब्रह्मप्राप्तिरुत कश्चिद्विशेषोस्तीति । तत्रोभयोरपि परब्रह्मोपासकत्वेनाविशेष इति प्राप्ते, आह **विशेष**मित्यादि । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यस्य व्याख्यानभूता या ऋक् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति, सा ज्ञानिभक्तयोः फले विशेषं दर्शयति । तथा हि । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति व्याख्येये वाक्ये ब्रह्मवित् अक्षरज्ञानवान् आप्नोति, सान्निध्यादक्षरमाप्नोति, एतस्यार्थो 'यो वेदे'त्यन्तेन साधनविवरणाद्बोधितः । अथ 'निहितं गुहाया'मित्यादिना 'आप्नोति पर'मित्यस्यार्थो ब्रह्मणा

सह कामभोगरूपो विव्रीयते । तस्मादस्ति विशेष इति । न च व्याख्यानक्लेशादयमर्थो न युक्त इति शङ्क्यम् । 'नायमात्मा प्रवचनेने'ति श्रुतौ भगवल्लाभे वरणातिरिक्तसाधननिषेधादत्राक्षरज्ञानेन तल्लाभाङ्गीकारे तद्विरोधापत्तिरिति तदभावायैवं व्याख्यानस्य युक्तत्वादिति । चकारात् 'एवं सततयुक्ता य'इति प्रश्नमारभ्य 'मय्यावेश्य मनो ये माम्' 'येत्वक्षरमनिर्देश्य' इत्यक्षरसमाप्तिपर्यन्ता स्मृतिः संगृह्यते इति । तस्मादस्ति विशेष इति सिद्धम् ॥ १७ ॥ इति सप्तमं विशेषाधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ४ ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥ (४-४-१)

द्वितीयपादे सद्योमुक्तिक्रममुक्त्योः प्रकारं दर्शयित्वा तृतीये क्रममुक्तौ प्राप्यस्वरूपं प्राप्तिप्रकारश्च दर्शितः,समाप्तौ च ज्ञानमार्गीयभक्तिमार्गीययोः सद्योमुक्तावपि तत्क्रतुन्यायादक्षरप्राप्तिपुरुषोत्तमप्राप्तिरूपो विशेषः फलेस्तीति दर्शितम् । अत्र तु तत्फलं कथमनुभवतीत्यतस्तत्प्रकारो विचार्यते, मोक्षस्य निःसम्बोधतानिराकरणाय । सद्योमुक्तिस्तावद्बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणे अकामयमानमधिकारिणं प्रक्रम्योक्ता । 'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकाम आप्तकामो भवति न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति । अत्राग्रे 'स विश्वकृत्स हि विश्वस्य कर्ते'त्यारभ्य 'सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ती'त्यादिभिः सर्वकर्तृत्वादिधर्मवत्तया ब्रह्मणो विव्रीयमाणतया ब्रह्मणस्तादृशत्वादस्य जीवस्यापि ब्रह्मभावे सति तादृशत्वान्मुक्तस्यापि ससंबोधता । तदेतन्मनसि कृत्य 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत' इति श्लोके ब्रह्मसमशनरूपो ब्रह्मबोधप्रकारः सूचितः, स्वप्रतिज्ञानुरोधात्तु न सम्यग्विवृतः । पुष्टिमर्यादाभेदेन सद्योमुक्तेः सङ्कीर्णत्वाच्च । स चानुभवप्रकारो 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यत्र विवृत इति तं मनसि कृत्य सन्दिह्यते । किमन्तः स्थित एवाश्नुत उत पुनर्जन्म प्राप्येति । तत्र क्रमेण ब्रह्मलोकं प्राप्तानामपि 'न स पुनरावर्तत' इति 'तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ती'त्यादिश्रावणात्तेषामपि चेदनावृत्तिः, तदा साक्षाद्ब्रह्मसायुज्यं प्राप्तानां सा दूरनिरस्तेत्यन्तःस्थित एवाश्नुत इति प्राप्तम् । तत्र प्रतिवदति **सम्पद्येत्**यादि । ब्रह्मसम्पद्यापि स्थितस्य जीवस्य भजनानन्दे दित्सिते भगवत्कृपावशात्पुनराविर्भावो बहिःप्राकट्यं भवत्येव । तत्र हेतुः । **स्वेने**ति । स्वशब्दो भगवद्वाचकः । भूमविद्यायां

'आत्मन आविर्भावतिरोभावा'विति श्रावणात् । न चापुनरावृत्तिश्रुतिविरोधः । तत्रेहेतिपदेन प्रपञ्च एव तन्निषेधेनाविरोधात् । लीलायास्तु प्रपञ्चातीतत्वात् । ननु तथापि प्रकृते स विवक्षित इत्यत्र किं मानमित्यत आहुः **शब्दा**दिति । 'सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति ब्रह्मणा पुरुषोत्तमेन सह जीवस्य भोगबोधकात् वाक्यरूपाच्छब्दात् । तथा चात्रोक्तो भोगो विग्रहमन्तरेणासंभवन्नर्थतस्तं बोधयतीति स एव शब्दोत्र मानमित्यर्थः ॥१॥

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

ननु ब्रह्मसंपत्तिरेव मुक्तिरिति तत्संपन्नस्य मुक्तत्वम् । आविर्भावस्तु विभागे सति व्युच्चरणाद्भवति । तथा सति सृष्ट्यादाविव बन्धोपि संभाव्यत इति कथमाविर्भावस्य मुक्तित्वमित्याकाङ्क्षायां तदर्थं हेत्वन्तरमाह **मुक्त** इत्यादि । अत्र 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति वाक्ये मुक्तिः प्रतिज्ञाता । सा च 'सोऽश्नुत' इत्यादिना विव्रीयते इति तस्याशनस्य मुक्तित्वम् । अतः **प्रतिज्ञाना**दाविर्भूतो मुक्त इति तस्याविर्भावस्य न बन्धकत्वं न वा आवृत्तिरूपत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

नन्वत्र ब्रह्मणा सह कामभोग उच्यते, भोगस्तु गुणसाध्य एव प्रायो दृष्ट इति 'ब्रह्मणा सहे'ति ब्रह्मपदं सगुणपरमेव युक्तमिति न तस्य मुक्तित्वमित्याशङ्कायामाह **आत्मे**त्यादि । अत्र ब्रह्मपदेन आत्मा व्यापको मायागुणसंबन्धरहित एवोच्यते, न तु सगुणः । कुतः । **प्रकरणात्** । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्युपक्रम्य तत्पाठात् गुणातीतस्यैव तत्प्रकरणम् । न ह्यक्षरात्परः सगुणो भवति । अतो ब्रह्मपदेनात्र गुणातीतमेवोच्यतेऽतो न तस्य मुक्तित्वभङ्ग इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

ननु 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति भिन्नार्थप्रतिपादकं वाक्यम्, ऋक्च तदतिरिक्तार्थप्रतिपादिका, परस्पराकाङ्क्षाबोधकं पदं च नास्तीत्येकवाक्यत्वाभावान्नैकं प्रकरणमतोत्र ब्रह्मपदं सगुणवाचकमित्याशङ्क्य समाधत्ते **अविभागेने**त्यादि । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मितिपूर्ववाक्याविभागेनैवेयमृग्वर्तते । कुतः । **दृष्टत्वात्** । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति पूर्ववाक्यानन्तरं 'तदेषाभ्युक्ते'तिवाक्ये तच्छब्देन पूर्वोक्तमर्थमभिमुखीकृत्यैषा ऋगुक्तेति दृश्यते । अत एवमेकवाक्यत्वस्य दृष्टत्वादत्रार्चि गुणातीतमेव प्रतिपाद्यम् । अग्रे च 'तस्माद्वा एतस्मा'दित्यादिना मान्त्रवर्णिकमेव सर्वस्मिन् प्रपाठक उच्यत इति प्रकरणमप्येकमेवेति नात्र सगुणं वक्तुमुचितमित्यर्थः ॥ ४ ॥ इति प्रथमं संपद्याविर्भाव इत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥ (४-४-२)

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मसायुज्यं प्राप्तोप्यतिकृपया बहिराविर्भूतो भगवता सह सर्वान् कामानश्नुत इति पूर्वसूत्रद्वये सिद्धम् । तदग्रिमसूत्रद्वये च भगवतः परमात्मात्मत्वम् । तत्र

पूर्वसूत्रद्वयविषय इदं चिन्त्यते—आविर्भूतो जीवः किं प्राकृतेन शरीरेणाश्नुते, उताप्राकृतेनेति । तत्र भोगस्य लौकिकताया एव दृष्टत्वादयमपि भोगस्तादृश एवेति तदायतनमपि लौकिकमेव मन्तव्यमिति प्राप्ते तत्राह **ब्राह्मेणे**त्यादि । **ब्राह्मेण** ब्रह्मण इदं ब्राह्मं ब्रह्मणा भगवत स्वभोगानुरूपतया संपादितं सत्यज्ञानानन्दात्मकं यच्छरीरं तेन शरीरेण पूर्वोक्तान् भोगानश्नुत इति **जैमिनि**राचार्यो मन्यते । तत्र हेतुः । **उपन्यासादिभ्य** इति । उप समीपे न्यासो व्युत्पादनं विवरणमिति यावत्, स आ दर्येषां तद्गुणसंविज्ञानः ते उपन्यासादयस्तेभ्यः । तथा च 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति ब्रह्मविदः परप्राप्तिं प्रतिज्ञाय तद्विवरणमस्यामृचि 'सोऽश्नुत' इत्यादिना क्रियते, स उपन्यासः आदिपदेनाग्रेऽन्नमयादीनां विभूतिरूपाणां बहूनां कथनं तेभ्यो हेतुभ्यः । यदि हि मुक्तानां ब्राह्मं शरीरं श्रुतिर्नाभिप्रेयात्, तदा परप्राप्तिमेवं विवृणुयात्, अन्नमयादीनां चोपास्यत्वादिना विभूतिरूपतां न स्फुटीकुर्यात्, अतस्तथेत्यर्थः । एवमेकं मतमुक्तम् ॥ ५ ॥

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥

अत्र मतान्तरमाह **चिती**त्यादि । 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन' इति श्रुतौ घनपदेन अकृत्स्नत्वनिवारकेण कृत्स्नपदेन च ज्ञानात्मकविग्रहात्मकत्वं ब्रह्मणो बोध्यते, अन्यथैतत्पदद्वयं न वदेत्, प्रयोजनाभावात्, अतस्तादृशेन सह भोगकर्त्रा तादृशेनैव भवितव्यमिति **चिति** चिद्रूपे ब्रह्मणि **तन्मात्रेण** चिन्मात्रेण रूपेण कामान् भुङ्क्ते, भगवतः पूर्णानन्दत्वात्तत्संबन्धेन तदानन्दाननुभवति । न तु विग्रहेण। श्रुतौ जीवस्य विग्रहवत्ताया अनुक्तत्वात् । अत्रोपपादकं हेतुमाह **तदात्मकत्वा**दिति । प्रथमे मैत्रेयीब्राह्मणे तस्यापि विज्ञानघनत्वश्रावणेन जीवस्य स्वभावत एव चिदात्मकत्वादि**त्यौडुलोमि**राचार्यो मन्यते । कामपदेन चेच्छोच्यते, 'सोकामयते'त्यादौ तथादर्शनात् । तथा चैतज्जातीयकानन्दानुभवोस्य भवत्वितीच्छानुभवे तद्विषयानन्दानुभवोपि तस्य चिन्मात्रेणैव रूपेणेत्यर्थस्तस्य मते संपद्यते ॥ ६ ॥

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

एवं मतद्वयमुक्त्वात्र भगवान् व्यासः स्वमतमाह **एवमपी**त्यादि । सत्यं जीवश्चिन्मात्रः, परन्तु 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मेतस्य विवरणर्चि **एवमप्युपन्यासात्** 'यो वेद निहितं गुहाया'मिति विग्रहं विनानुपपद्यमानाया हृदयाकाशबोधकगुहाया उक्तया । 'सोऽश्नुत' इति जीवस्य भोगे स्वतन्त्रतायाः 'ब्रह्मणा सहे'ति भोगे ब्रह्मणो गुणभावस्य, 'विपश्चिते'ति भोगचातुर्यस्य च तादृशस्योक्त्या विग्रहवत्त्वेनाप्युपन्यासात् । **पूर्वभावात्** । भक्तस्य तत्प्राप्तेः पूर्वमेव भगवदिप्सितभोगानुरूपविग्रहाणां सत्त्वात् । जीवचिन्मात्रताया अबाधेनाविरोधं **बादरायण** आचार्यो मन्यते । तथा च चिन्मात्रत्वं ब्राह्मशरीरवत्त्वं चोभयमप्यविरुद्धमित्यर्थः ॥ ७ ॥

सङ्कल्पादेव च तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

अत्र हेत्वपेक्षायामाह **सङ्कल्पे**त्यादि । जीवस्य भजनानन्दं दातुं यो भगवतः सङ्कल्पः विचारस्तस्मादेव हेतोः स एवं विग्रहं प्राप्नोति, न तु सर्वः । तत्र प्रमाणापेक्षायामाह **तच्छ्रुते**रिति । 'नायमात्मे'त्युपक्रम्य 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतेः । आत्मा हि परस्तस्य लाभः प्राप्तिस्तत्र वरणरूपः सङ्कल्प एव हेतुतया श्राव्यत इति तथेत्यर्थः । चकारात्तज्जनिता तदनुरूपा परमार्तिरपि संगृह्यते ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

पुष्टिमार्गीयस्यैव तथाकरणे हेतुमाह **अत एवे**त्यादि । यतो हेतोः पुष्टिमार्गीयाणां वरणादिरूपं साधनं स्वस्वरूपात्मकं फलं च स्वयमेव **अत एव** हेतोः **अनन्याधिपतिः** न विद्यते साधनं च फलं च भगवदतिरिक्तं येषां तेऽनन्यास्तेषामधिपतिः स्वामी । तथा च तत्स्वामित्वमेव हेतुरित्यर्थः । चकारेण 'मदन्यत्ते न जानन्ती'त्यादिवाक्यं संगृह्यते ॥ ९ ॥

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

मुक्तस्य देहाङ्गीकारे बादरिः प्रत्यवतिष्ठत इत्याह **अभाव**मित्यादि । मुक्तस्य देहेन्द्रियाभावं बादरिराचार्यो मन्यते । तत्र हेतुः । **आह ह्येव**मिति । हि यतो हेतोः श्रुतिः **एवं** वक्ष्यमाणरीत्या देहाद्यभावमाह । 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितरदितरं पश्यती'त्याद्युक्त्वा 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्ये'दित्यादिना ब्रह्मविदो द्वितीयज्ञाननिषेधमाह । तथा च तस्य कामभोगवार्ता दूरतोऽस्तु तदाक्षेप्यो देहोपि न वक्तुं शक्य इत्यर्थः ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

जैमिनिस्तु तदुक्तं न मन्यत इत्याह **भाव**मित्यादि । जैमिनिस्त्वाचार्यो मुक्तस्य पुंसो देहादेर्भावं सत्तां मन्यते । तत्र हेतुः । **विकल्पामननात्** । विरुद्धं पक्षान्तरं विकल्पस्तस्यामननात् आसमन्ताद्विचारात्, 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुतिः परप्राप्तौ ब्रह्मज्ञानस्य हेतुत्वमाह, 'नायमात्मे'ति श्रुतिस्तु वरणमात्रस्य हेतुत्वमिति साधने विरुद्धं पक्षद्वयम् । तथा 'सोऽश्नुत' इत्यत्र परप्राप्त्युपन्यासः क्रियते, 'इहैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्यत्र तु लय उच्यते इति फले विरुद्धं पक्षद्वयम् । अतः श्रुत्योर्विरोधे सति तदभावाय ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेनाक्षरप्राप्तिस्तत्राप्ययरूपा, पुष्टिमार्गीयभक्तस्य तु 'सोऽश्नुत' इत्यादिनोक्ता पुरुषोत्तमभजनानन्दप्राप्तिर्वरणात्तत्साहाय्याद्वेति व्यवस्था श्रुत्यभिप्रेतेति तस्य व्यवस्थितविकल्पस्य सम्यग्विचारात्पुष्टिमार्गीयभक्तस्य भोगसाधनभूतविग्रहवत्त्वं निःप्रत्यूहं मन्यते, 'तत्केन कं पश्ये'दित्यादिना तु मर्यादामार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानसामयिकी व्यवस्थोच्यत इति न दोषः । एवं विषयत्वपक्षेपि तत्र पूर्वकक्षोच्यत इत्यदोष इति न किमप्यनुपपन्नमित्यर्थः ॥ ११ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोतः ॥ १२ ॥

एवं मतद्वयमुक्त्वा स्वसिद्धान्तमाह **द्वादशाहव**दित्यादि । बादरायणस्तु परमाचार्यस्तस्य शरीरमुभयविधं भूताजन्यत्वभोगायतनत्वाभ्यां धर्माभ्यां शरीरत्वाशरीरत्वोभयप्रकारकं मन्यते, तत्र हेतुः **अत** इति । भूमविद्यायां तस्य केवलं नित्यनिरवध्यानन्दरूपभूमात्मजन्यत्वश्रावणात् । तत्र हि 'यत्र नान्यत्पश्यती'त्यादिना केवलभावविषयत्वं भूम्नः पुरुषोत्तमस्य लक्षणमुक्त्वा, केवलभाववतो भक्तस्य विप्रयोगसामयिकीं व्यवस्थां च 'स एवाधस्तात्स उपरिष्टा'दित्यादिनोक्त्वा, ततः 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान' इत्यादिना तदनुवादपूर्वकं भक्तस्य संयोगावस्थामाह 'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द' इति वाक्येन । सा चावस्था 'सोऽश्नुत' इत्युक्तार्थसंवादिनीति रत्यादिभिर्देहेन्द्रियादिकं भक्तस्याक्षिपति । ततस्तत्कीदृशमित्याकाङ्क्षायां 'तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशे'त्यादिना प्राणाशास्मराकाशतेजोबाविर्भावतिरोभावान्नबलविज्ञानध्यानचित्तसङ्कल्पमनोवाङ्नाममन्त्रकर्मैतत्सर्वान्तानामुक्तत्वात्केवलानन्दप्रधानभूमजन्यत्वमाह । तत्रा'प्यात्मत' इत्यव्ययप्रयोगेणाविकृतत्वमात्मन आह, तेनैतादृशादात्मन उत्पन्नमेतादृशमेव तद्भवतीत्यर्थः संपद्यते । अतो मुक्तस्य यच्छरीरं तदेवमात्मजन्यत्वेन भूताजन्यत्वादशरीरम्', 'आत्मरति'रित्यादिना 'सोऽश्नुत' इत्यादिना च भोगश्रावणेन तदायतनत्वाच्च शरीरमित्युभयविधमित्यर्थः । नन्वानन्दमयाधिकरणे विषयश्रुतौ एवंविदो भक्तस्य एतल्लोकत्यागः 'अस्माल्लोकात्प्रेत्ये'त्यनेनोक्तः, सोत्र 'वाङ्मनसी'त्यादिना 'सोध्यक्षे तदुपगमादिभ्य' इत्यन्तेन व्युत्पादितः । या पुनस्तदग्रे 'एतमन्नमयमात्मानमुपसङ्क्रामती'त्यादिना विभूतिरूपाणां प्राप्तिरुक्ता फलानुभवोपयोगिनी, सात्र 'संपद्याविर्भावा'दिसूत्राभ्यामुक्त्वा 'ब्राह्मेणे'त्यादि'द्वादशाह'सूत्रान्तैः व्युत्पाद्यते । फलानुभवस्त्वतिविगाढभावेन सर्वात्मभावे सत्येव भवतीति तद्बोधनार्थं या पूर्वं विरहदशा, सा तत्र ब्रह्मवित्प्रपाठकश्रुतौ 'यतो वाचो निवर्तन्त'इत्यारभ्य 'उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुत' इत्यन्तेन भृगुप्रपाठके च 'हावुहावु'इत्यारभ्य 'अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां सुवर्णा ज्योती'रित्यन्तेनोक्ता । तथा सति यस्तादृशः स आनन्दमयं ब्रह्मस्वरूपमात्मादेशोक्तप्रकारेणाहंकारादेशोक्तप्रकारेण वानुभवतीति सिद्ध्यत्यतो विभूतिरूपाणां प्राणादीनां लयाङ्गीकारोनुपपन्न इति चेत् । न । अहंकारादेशे आत्मादेशे च सर्वस्मिन् स्वाभेदस्यात्माभेदस्य च भानोक्त्या लयस्यार्थादेव बोधितत्वात् । अथ तत्र तेषां भक्तानां पार्थक्येन प्राणाद्यभानमेवाभिप्रेतम् ,न सर्वात्मना लय इत्युच्यते, तदापि तस्यां दशायां ब्रह्मणा सह सर्वकामाशनरूपस्यात्मरतिरित्यादिनोक्तस्यानुभवस्याभावात् फलतस्तौल्यमेवेति तयाङ्गीकारो नानुपपन्न इति जानीहि । एकस्य मुक्तजीवदेहस्य विरुद्धोभयधर्मवत्त्वममन्वानमृष्यन्तरं बोधयितुं वैदिकं दृष्टान्तमाह **द्वादशाह**वदिति । 'यः कामयेत प्रजायेयेति स द्वादशरात्रेण यजेते'ति यजतिचोदनया द्विरात्रादिवदहीनत्वम् । तथा 'द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयु'रित्युपैतिचोदनया च सत्रत्वं द्वादशाहस्य गम्यते, तद्वत्, षष्ठ्यर्थे वतिः । एवमेतैरष्टभिः सूत्रैः संपद्याविर्भावसूत्रोक्तो मुक्तस्याविर्भावो विचारितः ॥ १२ ॥ इति द्वितीयं ब्राह्मेणेत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥ (४-४-३)

अतः परं 'आत्मा प्रकरणा'दित्यादिसूत्रद्वये यद्ब्रह्मस्वरूपमुक्तं तदत्र विचारयति **तन्वभाव** इत्यादिद्वाभ्याम् । तत्रावतारकालीनैर्द्रष्टृभिः पुरुषैरवतीर्णे भगवति व्रणश्रमग्लान्याद्यवस्था दृश्यन्त इति तस्य स्वरूपस्य कथमप्राकृतत्वमित्याशङ्क्य तन्निवारणाय तादृग्दर्शनं तदभावेपीत्यत्रोपपत्तिमाह **तन्त्वि**त्यादि । तुः शङ्कानिरासे । **तनु** भगवत्स्वरूपे व्रणश्रमादिदर्शनं व्रणाद्यभावे, अविद्यमानानां दर्शनं कथमुपपद्यत इत्यत आह **सन्ध्यव**दिति । स्वाप्निकपदार्थवत् । 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजत'इति श्रुतौ मायामात्रायाः सृष्टेरुक्तत्वात्तस्या यथा अविद्यमानाया एव वासनावशाद्दर्शनम्, तथा तेषामपि दर्शनमुपपद्यते । अत एवं दर्शनस्योपपत्तेः स्वरूपस्याप्राकृतत्वमप्रत्यूहमित्यर्थः । एतच्च ब्रह्माण्डपुराणे नारदं प्रति ब्रह्मणोक्तम् । तथा हि । 'निर्दोषश्चेत्कथं विष्णुर्मनुष्येषु प्रजायते । चिन्ताश्रमव्रणाज्ञानदुःखयुग्दृश्यते कथम् ॥ एवं मे संशयो ब्रह्मन् हृदि शल्य इवार्पित ।' इति नारदप्रश्ने, 'स्त्रीपुंसलानुषङ्गात्मा देहो नास्य विजायते । किन्तु निर्दोषचैतन्यसुखनित्यां स्वकां तनुम् । प्रकाशयति सैवेयं जनिर्विष्णोर्न चापरा । तथाप्यसुरमोहार्थं परेषां च कचित् कचित् । दुःखाज्ञानश्रमादींश्च दर्शयेच्छुद्धसद्गुणः । क व्रणादि क चाज्ञानं स्वतन्त्राचिन्त्यसद्गुणे । दौर्लभ्याच्चैव मोक्षस्य दर्शयेत्तानजो हरिः ॥ कृष्णो ह्यत्यक्तदेहोपि त्यक्तदेहस्य देहवत् । लोकानां दर्शयामास स्वरूपसदृशाकृति'मिति ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

एवं दोषदर्शन उपपत्तिकथनेन ब्रह्मत्वं निर्णीय गुणदर्शने तत्कथनेन ब्रह्मत्वं निश्चाययति **भाव** इत्यादि । अत्रापि पूर्वसूत्रादुपपत्तेरित्यनुवर्तते । तथा च रिङ्गणादिलीलासु परिच्छिन्नत्वादिना लौकिकवद्भासमाने मुग्धत्वादिभावे च यद्भक्तानां तद्वत्तया दर्शनं तत्तु **भावे** विद्यमान एव तादृशे धर्मे भवति । तत्र दृष्टान्तः । **जाग्रद्व**दिति । मोहाभाववतः पुंसो जाग्रद्दशायां यथा विद्यमानानामेव दर्शनं चक्षुःसन्निकर्षेण भवति तथेति । अत्रापि उपपत्तेरित्येव हेतुः । 'तेन लोकवत्तु लीला कैवल्य'मिति न्यायेन या लीलाः करोति, ता भगवतो नैसर्गिकधर्मरूपानन्दात्मकत्वेन विद्यमाना एव भक्तानां दर्शनगोचरतां प्राप्नुवन्ति । धर्मधर्मिणोर्भिन्नत्वेपि प्रकाशाश्रयादिन्यायेनाभेदात् । अत एव लीलानां कैवल्य एव प्रवेशात् 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' 'स यथा सैन्धवघन' इत्यादीनामपि न विरोध इति ब्रह्मत्वं तदापि निःप्रत्यूहमित्यर्थः । एवं द्वाभ्यां भगवत्स्वरूपं फलभूतं विचारितम् ॥१४॥ ईति तृतीयं तत्त्वभावाधिकरणम् ॥ ३ ॥

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥ (४–४–४)

एवमधिकरणत्रयेण फलप्राप्तिं सपरिकरं फलस्वरूपं च विचार्येदानीं फलानुभवोपकरणं विचारयति । तत्र भगवद्भोगरूपोनुभवो जीवस्य संभवति न वेति संशयः । तत्र 'सोऽश्नुत' इति श्रुत्या भोगस्योक्तत्वेपि जीवस्य पूर्णज्ञानक्रियाशक्त्योरभावेन योग्यत्वाभावात् 'न तत्सम' इति श्रुत्या साम्यस्य वक्तुमशक्यत्वान्न संभवतीति प्राप्ते तद्वारणायोपपत्तिमाह **प्रदीपवदि**त्यादि । सत्यं जीवसामर्थ्येन न संभवति, किन्तु **प्रदीपवदावेशः**, यथा प्रकृष्टः प्राचीनो दीपोऽर्वाचीनायां स्नेहयुक्तायां वर्त्यां प्रविष्टः स्वसामर्थ्येन तां स्वसमानकार्यक्षमां करोति, स्वयं च स्नेहाधीनस्थितिस्तस्यां भवति, तथात्रापि स्वावेशेन तौल्यसंपादनात्सर्वं संपद्यते इत्यर्थः । आवेशे प्रमाणमाह **तथा हि दर्शयती**ति । तैत्तिरीयारण्यके भर्तृसूक्तारम्भे 'भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति एको देवो बहुधा निविष्ट' इति श्रुतिस्तथा आवेशं दर्शयति । न चायं निवेशोन्तर्यामिरूपेण यः प्रवेशस्तदात्मक इति वाच्यम् । तस्यैकविधत्वेन बहुधेति पदकोपप्रसङ्गात् । अतः 'सोऽश्नुते सर्वान्कामा'नित्युक्तत्वाद्यस्य कामस्य यथा भोगो भवति, तदनुरूपो यस्तत्र तत्र प्रवेशः, स एव बहुधेति पदेऽभिप्रेयत इत्यर्थः । 'सर्वस्येशान' इति श्रुत्या सर्वेश्वरत्वेपि तत्पदं विहायात्र श्रुतौ भर्तृपदप्रयोगात् यं जीवं स्वीयत्वेन वृणुते, तस्य विवाहितः पतिरिव भर्ता भवतीति बोध्यते । तथा च स्वयं भर्ता सन् वरणजस्नेहातिशयेन भक्तैर्भ्रियमाणः सन् त इव स्वयमपि तान् स्वस्मिन्बिभर्ति । अत एव प्रदीपदृष्टान्तमुक्तवान् व्यासः । स्नेहराहित्ये त्वयोगोलकादिकमेव दृष्टान्तीकुर्यात् , तादृशप्रवेशस्य तत्रापि सत्त्वादिति । अतोयमेवाभिप्राय इत्यर्थः ॥ १५ ॥

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

नन्वस्थूलादिश्रुतौ 'न तदश्नोति कंचन न तदश्नोति कश्चने'त्यनेन भोगाभाव उच्यते, 'सोऽश्नुत' इति श्रुतौ च भोग इत्युभयोर्विरोधाभावाय सगुणनिर्गुणभेदेन विषयभेदोऽवश्यं वाच्य इत्याशङ्कायामाह **स्वाप्यये**त्यादि। **आविष्कृतं** आविष्कारः प्रादुर्भवनमिति यावत् तत् **हि** यतो हेतोः **स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षं** स्वाप्ययः सुषुप्तिः संपत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिस्तदन्यतरापेक्षमिति सुषुप्तौ संपत्तौ च भवति । तेनाद्ये प्रकारे यो भोगाभावः, स 'न तदश्नोति कंचने'त्यादिनोच्यते, यः पुनर्भोगः स द्वितीये प्रकारे 'सोऽश्नुत' इत्यादिनोच्यत इति विरोधाभावात्सगुणनिर्गुणविभागकल्पनं ब्रह्मणि न कर्तव्यमित्यर्थः ॥ १६ ॥ इति चतुर्थं प्रदीपवदित्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥ १७ ॥ (४–४–५)

एवं भोगोपकरणं विचार्य भोगप्रकारं विचारयितुमधिकरणान्तरमारभते । तत्र ब्रह्मणा सह भोगकरणे भक्तस्य लौकिकव्यापारोस्ति न वेति संशये भोगस्य सर्वत्र लौकिकव्यापारयुक्तत्वादस्मिन्नपि सोस्तीति प्राप्तम्, तत्राह **जगदि**त्यादि । प्राप्तसायुज्यभक्तस्य यद्ब्रह्मणा सह

भोगकरणम् ,तत् **जगद्व्यापारवर्जं** जगतो लोकस्य संबन्धी यो व्यापारस्तद्रहितम् । तत्र हेतुः। **प्रकरणादसन्निहितत्वाच्चे**ति । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र हि मुक्तिः प्रकृता, अत इदं मुक्तिप्रकरणम् , मुक्तौ च सर्वेषामिन्द्रियाणां ब्रह्मणि लये सति तेभ्यो भजनानन्दं दातुमानन्दरूपाणीन्द्रियादीनि दीयन्तेऽतस्तानि भजनार्थान्येवेति तेषां लौकिकव्यापारोऽसंभावितः । किञ्च, 'क्षयन्तमस्य रजसः पराक' इत्यादिश्रुतौ 'न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे । न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान्प्रधानम्, परं पदं वैष्णवमामनन्ती'ति द्वितीयस्कन्धे द्वितीयेध्याये वाक्यात् 'न यत्र माया किमुता परे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिता' इति नवमाध्याये लोकं प्रक्रम्य वाक्याच्च भगवद्धाम्नोऽक्षरस्य कालमायाद्यतीतत्वे तत्रत्यलीलाया अपि तथात्वेन प्राकृतस्य जगतो दूरतरत्वेनासन्निहितत्वमतस्तथेत्यर्थः । किञ्च, छान्दोग्ये 'भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इत्युक्त्वा 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमे'ति भूमलक्षणमुच्यते । तत्र 'नान्यद्विजानाती'त्येतावतैव चारितार्थ्येपि यत्पश्यतिशृणोतिभ्यां यदिन्द्रियान्तरस्यापि व्यापारोऽन्यविषयको निषिद्धः, तेन भगवद्विषयक एव सर्वेन्द्रियव्यापारः सिद्धो भवति, तेन भगवत एव सर्वेन्द्रियव्यापारविषयस्य स्वतन्त्रफलत्वमुक्तं भवति । तस्य सुखस्य प्रयोजनान्तराभावादिति १७

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥ १८ ॥

ननु छान्दोग्ये मुक्तिप्रकरण एव 'सर्वं ह पश्यः पश्यती'ति सर्वविषयकं प्रत्यक्षमुपदिश्यते, सर्वं च जगदेव 'सर्वं खल्वि'त्यादिश्रुतौ सिद्धम् । अतस्तद्विषयकप्रत्यक्षोपदेशान्मुक्तस्य जगद्व्यापारराहित्यं नोपपद्यते इति । किञ्च, 'सर्वं हि पश्यः पश्यती'ति श्रुतावेकवचनं यदुपदिश्यते, तेन भक्तेन सह क्रियमाणानां लीलानां तु देशकालभेदेन नैकत्वम् । तासां च सविशेषणानित्यत्वं भगवद्धर्मत्वात् पूर्वमुक्तम् , तच्च विशेषणभूतस्य भक्तस्यानेकदेहत्वे सिद्ध्यति, न त्वेकदेहत्वे विशेषणविघटनात् । अतो भक्तैकत्वस्य प्रत्यक्षोपदेशाल्लीलानित्यत्वं नोपपद्यत इति च सूत्रभागेनाशङ्क्य भागान्तरेण परिहरति **नेत्यादि** । इयमाशङ्का न कार्या । तत्र हेतुः । **आधिकारिके**त्यादि । अधिकारो लीलानुभवयोग्यता तस्येदं आधिकारिकं तेषां मण्डलं चक्राकारेण परिणतः समूहस्तस्मिंस्तिष्ठतीत्याधिकारिकमण्डलस्थं तस्योक्तिस्तस्याः सकाशात् । तथा च 'सर्वं ह पश्यः पश्यती'त्युक्त्वा अग्रे 'सर्वमाप्नोति सर्वश' इति कथनाद्दर्शनविषयवाचके सर्वपदेऽर्थं सङ्कोच्य लीलासंबन्धि यत्सर्वं तदेवोपदिश्यते, न तु जगदतो नानुपपन्नं जगद्व्यापारराहित्यम् । किञ्च, तस्यैवाग्रे 'एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशति'रित्यनेकरूपत्वं भक्तस्य पठ्यते इत्याधिकारिकदेहसमूहस्थ एव भक्तः 'सोऽश्नुत' इत्यादावुच्यतेऽतो विशेषणविघटनाभावाल्लीलानित्यत्वमपि नानुपपन्नमित्यर्थः ॥ १८ ॥

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

ननु लीलाविशेषणीभूतानां तत्तद्देशतत्तत्कालतत्तद्भक्तदेहानां नित्यत्वे सति 'श्वस्त्वद्देहमायास्य'इति प्रभुणोक्ते तदाशया तस्य भक्तस्य स्थितिर्नोपपद्यते । लीलानां नित्यत्वेन द्वितीयदिनरूपस्य कालस्य तदागमनस्य पूर्वदिवस उक्तिसमयेपि विद्यमानत्वात् । तथा 'श्व' इति प्रभूक्तिरपि तत एव नोपपद्यत इत्याशङ्क्य समाधत्ते **विकारे**त्यादि । ब्रह्मणा सह भोगकरणं **विकारावर्ति**। भगवल्लीला हि कारणरूपा विकृतिभिरनुक्रियते, 'तमेव भान्तमनुभाति सर्व'मिति श्रुतेरित्यनुकृत्यधिकरणे साधितम् , अतो भगवल्लीला प्रकृतिः । तद्विरुद्धः प्रापञ्चिकः पदार्थो विकारः कार्यत्वात् तस्मिन् विकारे न वर्तते । चकारात्तत्सलक्षणमपि । तथा च यं प्रति श्व इत्यादिकं वदति, तस्य वदनदिवसे भगवत्स्थितिज्ञानं न भवतीत्येतावतैव तदुपपत्तेर्न लीलानां तद्विशेषणानां कालादीनां च नित्यत्वभङ्ग इत्यर्थः । अत्र प्रमाणापेक्षायामाह **तथा हि स्थितिमाहे**ति । 'सर्वमाप्नोति सर्वश' इति श्रुतिरेकस्यैव भक्तस्य सर्वशः सर्वैः प्रकारैः सर्वलीलारसमाप्नोतीति वदन्ती उक्तरीत्यैव भक्तस्य लीलायां स्थितिमाह । अत एव 'आत्मत आशा आत्मत आविर्भावतिरोभावा'वित्युक्तम् । यतस्तथाकृतावेव रसोदयोर्तो रसस्वरूपमध्यपातित्वाल्लीलाया रसस्य च भगवदात्मकत्वात्सर्वमुपपद्यत इत्यर्थः । एवं च 'रसो वै स' इति श्रुतेर्लीलाविशिष्ट एव प्रभुः सुकृतत्वश्रावणाद्रसरूप इति तादृश एव परमं फलमिति ज्ञापितं भवति ॥ १९ ॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

भगवदीयार्थेषु युक्तिविरोधो भूषणमेव मन्तव्यो न तु दूषणमित्येतज्जीवहिताय बोधयन्नाह **दर्शयत** इत्यादि । एवं लौकिकयुक्त्याविरोधस्याकिञ्चित्करत्वं यथास्माभिरुक्तं तथा **प्रत्यक्षानुमाने** । 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' । 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'ति प्रत्यक्षं श्रुतिः, 'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजये'दिति स्मृतिः, 'न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुण ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणाशयदुरवग्रहवादिनां विवादानवसर' इति श्रीभागवतपञ्चमस्कन्धवाक्यस्मृतिश्चानुमानम् , ते उभे **दर्शयतो** बोधयत इत्यास्तिकेन श्रौतवादिना दुस्तर्केभ्यो न भेतव्यम्, किन्तु त्वचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वेन भगवत्स्वरूपस्यैव लीलाविशिष्टस्य परमफलत्वमवधेयमित्यर्थः ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

लीलाविशिष्टस्य भगवत एव परमफलत्वे हेत्वन्तरमाह **भोगे**त्यादि । यतः 'सोश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति श्रुतौ भक्तस्य सर्वकामभोगे ब्रह्मणः सहभावः श्राव्यते, स च भोगमात्रे भोग एव यत्साम्यं भक्तानुरूपत्वेन तत्तौल्यं तस्य लिङ्गं ज्ञापकम् । तस्मादपि

हेतोर्लीलाविशिष्टं पुरुषोत्तमस्वरूपमेव परमं फलमिति मन्तव्यमित्यर्थः । अत्र मात्रपदं 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत'इति श्रुतिविरोधपरिहारार्थम् । 'सोश्नुत'इति श्रुतौ कामानामशनीयत्वेनोक्तत्वात्तेषामेव फलत्वमिति न शङ्कनीयम् । एतस्याः श्रुते'राप्नोति पर'मिति यजुर्वाक्यविवरणरूपत्वात् कामभोगस्य स्वरूपानुभवरूपत्वाच्च । तथा चानुभूयमानस्यैव सुखस्य लोके पुरुषार्थत्वेनोक्तेरत्र भूम्नोपि सुखस्यानुभूयमानत्व एव परमफलत्वं सिद्ध्यतीति ज्ञापनायानुभवं प्रति द्वारतया कामा अत्रोच्यन्त इति बोध्यम् ॥ २१ ॥

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥

एवं पञ्चसूत्र्या भगवतः परमपुरुषार्थरूपत्वमुक्त्वा कर्मफलभोगानन्तरमावृत्तिवदत्राप्यावृत्तिर्भविष्यतीति शङ्कानिरासायाह **अनावृत्ति**रित्यादि । भक्तानां ज्ञानिनां चानावृत्तिः संसारे पुनरनागमनम् । तत्र हेतुः । **शब्दा**दिति । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' 'न तेषां पुनरावृत्ति'रित्यादिवाक्यरूपशब्दात् ज्ञानिनाम् , तथा भक्तानां तु 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य'इति श्रुतेर्वरणलभ्यः पुरुषोत्तम एव फलम् , स च 'अक्षरात्परतः पर' इति श्रुते'र्यस्मात्क्षरमतीतोह'मित्यादिगीतावाक्याच्चाक्षरात्परस्तत्प्राप्तिरेव 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुत्या बोध्यते । अत इदं वाक्यं परप्राप्तिप्रकाशनसामर्थ्येन भक्तानामनावृत्तिं बोधयतीति लिङ्गरूपाच्छब्दात्तथेत्यर्थः ॥ २२ ॥ इति पञ्चमं जगद्व्यापाराधिकरणम् ॥ ५ ॥

एवमस्मिन्पादे सपरिकरं पुष्टिमार्गीयाणां फलं विचारितम् । मर्यादामार्गीयाणामनावृत्तिरूपं च । तेनाक्षरोपासकानामक्षरे लयः, सविशेषोपासकानामक्षरे सार्ष्टिमुक्तिः, ज्ञानिभक्तानां भगवत्सेवनम्, पुष्टिभक्तानां तु स्वरूपानन्दानुभव इत्यस्मिन्नध्याये फलमेवं सिद्धमिति ज्ञेयम् ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जरजोधनः ।
कृष्णचन्द्रस्तत्त्वसूत्रवृत्तिं तत्पदयोर्न्यधात् ॥ १ ॥
प्रभवस्तेऽनेन तुष्यन्तु मयि ते दीनवत्सलाः ।
ततोतिरिक्तं न मम काङ्क्षितं क्वापि विद्यते ॥ २ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीव्रजनाथात्मजश्रीकृष्णचन्द्रविरचितायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ ४ ॥